जैन निबन्ध रत्नावली (भाग २)

[शोध खोज पूर्ण मौलिक निबन्ध]

लेखक

'विद्याभूषण' स्व० पं० मिलापचन्द्र कटारिया

केकड़ी (अजमेर-राजस्थान)



वि०नि०सं० २५१६ जनवरी १९९०

प्रकाशक

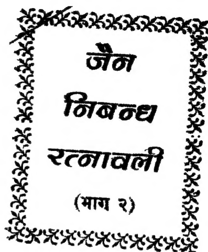
श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ

चौरासी, मथुरा-२८१००४ [उ०प्र०]

प्रकाशक :
प्रधानमंत्री, भा० दि० जैन संघ,
चौरासी-मथुरा

प्रथम संस्करण (प्रति १०००)
जनवरी १९९०
मूल्य : ३० रुपये

मुद्रक :
दिनेश प्रिंटिंग प्रेस
६१ जगन्नाथपुरी, मथुरा



जैन निबन्ध रत्नावली

(भाग २)

❀ साधुवाद ❀

जैन दर्शन के प्रकाण्ड विद्वान् स्व० पं० मिलाप चन्द्र जी कटारिया केकड़ी निवासी के विद्वत्ता पूर्ण लेख स्व० पं० कैलाश चन्द जी शास्त्री के सम्पादन में जैन सन्देश को वर्षों पूर्व निरन्तर प्रकाशित करने का गौरव प्राप्त हुआ है कुछ लेख अन्यत्र भी छपे हैं उस समय इन लेखों की भारतीय विद्वत् स्तर पर काफी सराहना की गई, हमें हर्ष है कि वर्षों बाद इन निबन्धों को संग्रहीत करके स्व० मिलाप चन्द्र जी कटारिया के सुयोग्य सुपुत्र पं० श्री रतनलाल जी कटारिया के सहयोग से इस जैन निबन्ध रत्नावली भाग २ को प्रकाशित करने का सौभाग्य भारतवर्षीय दिगम्बर जैन संघ चौरासी मथुरा को हो रहा है। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रकाशन में निम्न महानुभावों और ट्रस्ट की ओर से आर्थिक सहयोग प्राप्त हुआ तदर्थ हार्दिक साधुवाद।

५०००) स्व० पूज्य श्री मिश्रीलाल जी कटारिया केकड़ी की पुण्य स्मृति में बाबू श्रीपाल जी कटारिया [फर्म किस्तूरमल श्री मिश्रीलाल जी कटारिया केकड़ी]

५०००) सिंघई श्री टोडरमल कन्हैया लाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक ट्रस्ट कटनी [म० प्र०]

तारा चन्द प्रेमी
प्रधानमन्त्री

॥ श्रीः ॥

प्रदीपेनार्चयेदर्कं, उदकेन महोदधिं ।
वागीश्वरं तथा वाग्भिः, मंगलेन च मंगलं ॥

● त्वदीयं वस्तु हे विज्ञ ! तुभ्य मेव समर्प्यते ●
(अर्पित है गुणवंत, तुम्हीं को वस्तु तुम्हारी)

समर्पण



विद्वद्रत्न, प्रतिभामूर्ति, पाण्डित्य विभूति, सरस्वती पुत्र,
प्रज्ञापुंज, शोधखोज पटु, प्रख्यात उद्‌भट सम्पादक,
शुद्ध प्रामाणिक कुशल लेखक, प्राच्य विद्या-
महोदधि, शताधिक निबन्ध प्रणेता, अनेक
भाषा निष्णात, मार्मिक समालोचक,
निष्पक्ष विचारक, इतिहास
मर्मज्ञ, अनेक ग्रन्थमाला
निर्देशक, पुरातत्वज्ञ,
गुणिजनानुरागी,
सज्जनोत्तम, प्राध्यापक, मान्यवर, दिवंगत-

श्रीमान् डॉ० आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्याय

की पुनीत सेवा में
यह विद्वज्जनमनरंजनो ज्ञाननिधि महान् मौलिक कृति
सादर समर्पित

जन्म :	स्वर्गवास :
६ फरवरी सन् १९०६	८ अक्टूबर सन् १९७५
सदलगा (बेलगांव)	कोल्हापुर (महाराष्ट्र)



देहरा (तिजारा) में भगवान चन्द्रप्रभु की
५०० वर्ष प्राचीन प्रतिमा

प्रस्तुत 'रत्नावली' भाग २ में विद्वान् लेखक के उन मौलिक निबन्धों का महान संग्रह है जिनसे जैन साहित्य, संस्कृति, इतिहास, सिद्धांत, धर्म और समाज के सम्बन्ध में प्रामाणिक ज्ञान प्राप्त होता है.



इस निबन्ध रत्नावली भाग २ के लेखक स्व० पं० मिलापचन्द्र जी कटारिया केकड़ी (अजमेर-राजस्थान) निवासी हैं. अपने व्यवसाय में व्यस्त रहते हुए भी ज्ञानकी आराधना में लग कर इन्होंने इन रोचक शोध खोज पूर्ण निबन्धों का प्रणयन किया है. शास्त्रीय अध्ययन में तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक पद्धति की प्रमुखता का दिग्दर्शन इनके प्रस्तुत निबन्धों में प्राप्त होता है.

इनके निबन्ध जनसाधारण एवं विद्वान् दोनों के लिए ज्ञातव्य सामग्री से परिपूर्ण रहते हैं.



निबन्ध-सूची



संशोधन

नोट—पृष्ठ ६१ पर निबन्ध का नं० ४ दिया है वहाँ ५ होना चाहिये इसीतरह पृष्ठ८९७ पर निबन्ध का नं० ६ दिया है वहाँ ७ होना चाहिये। पृष्ठ १०४ पर नं० ७ दिया है वहाँ ८ होना चाहिये, पृष्ठ ११९ पर ८ दिया है वहाँ ९ होना चाहिये, पृष्ठ १२६ पर ९ दिया है वहाँ १० होना चाहिये। सिर्फ निबन्धों के नं० में गड़बड़ है और कोई गड़बड़ नहीं है। आगे क्रम नं० ठीक हो गया है जहाँ गड़बड़ है कृपया वहाँ पहिले से ठीक कर लेवें।

भूमिका

"जैन निबन्ध रत्नावली" का यह द्वितीय भाग है इसका प्रथम भाग सन् १९६६ में कलकत्ता से प्रकाशित हो चुका है।

इस ग्रन्थ (भाग २) के लेखक स्व० पं० मिलापचन्द जी कटारिया केकड़ी (अजमेर) निवासी हैं।

प्रथम भाग की तरह इस भाग में भी दि० जैन धर्म के अनेक विषयों पर–ग्रन्थोंपर–और ग्रन्थकारों पर शोध पूर्ण दृष्टि से प्रकाश डाला गया है। ५० निबन्ध प्रथम भाग में निबद्ध हैं और ५५ निबन्ध इस भाग में निबद्ध हैं।

ऐतिहासिक दृष्टि से शोध पूर्ण निबन्धों के लिखने में दिगम्बर जैन लेखकों में स्व० पं० नाथूरामजी "प्रेमी", स्व० पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार, स्व० सूरजभानजी वकील, स्व० डॉ० ज्योति प्रसाद जी, स्व० डॉ० ए. एन. उपाध्याय, स्व० डॉ० हीरालालजी, स्व० पं० परमानन्दजी शास्त्री आदि अनेक विद्वान इस युग में हो चुके हैं। इन सबमें स्व० पं० मिलापचन्दजी कटारिया का नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

शोध की दिशायें दो धारा में बहती हैं। प्रथम धारा में लेखक अपने तर्क और विश्वास को प्रमुख रखकर उपलब्ध प्रमाणों का उपयोग करता है। इससे उसके विचारों का पोषण होता है साथ ही ऐतिहासिक तथ्यों का प्रकाशन भी होता है। इस पद्धति को स्वीकार करने वाले लेखक प्रमाणों के आधार पर तो लिखते हैं पर प्रायः उन प्रमाणों का संग्रह करते हैं जो उनकी

श्रद्धा और विचार श्रेणी के पोषक हों। आगम के अनुकूल तत्वों के निर्णय पर उनकी दृष्टि नहीं रहती, बल्कि उसके विपरीत दृष्टिकोण भी अनेकों का रहता है और वे इसे बड़ी उपलब्धि मानते हैं कि लेखक प्राचीन आचार्यों के विरुद्ध भी निरंकुश होकर लिख सके हैं। इसे वे अपना पक्षपात रहित निर्णय मान लेते हैं और इसी के अनुरूप जनता में अपना रूप निखारते है।

दूसरी धारा के विद्वान्–आगम के श्रद्धानी होते हैं उनका विश्वास है कि जिनागम वीतरागी सन्तों की वाणी है जो सर्वज्ञ वीतराग तीर्थंकर महावीर भगवान के द्वारा प्रसूत है अतः सत्य तो वही है। भले ही उसके अनुकूल तर्क या प्रमाणों को हम अपनी छद्मस्थता से एकत्र न कर सके हों उनकी शक्ति उन प्रमाणों के अन्वेषण में लगती है, उसे विरुद्ध सिद्ध करने में नहीं।

स्व० पं० मिलाप चन्द जी कटारिया दूसरी धारा के निष्णात विद्वान् थे। आगम की प्ररूपणा को तर्क की कसौटी पर रखकर उसका यथार्थ रूप निखारते थे। यह भी अवश्य है कि उनकी दुधारू तलवार के सामने जिनागम के नाम से लिखे लेख व कपोल कल्पित विचार टुकड़े-टुकड़े हो जाते थे और जिनागम का यथार्थ रूप सामने आ जाता था।

प्रस्तुत ग्रन्थ में कटारिया जी के प्रायः सही प्रमाणों व तर्कों का दर्शन होता है। यह स्वीकार करने योग्य है कि आज कुछ ऐसे ग्रंथ भी भण्डारों में पाये जाते हैं जो वास्तव में न तो जिनागम हैं, न उनके लेखक जैनाचार्य हैं जिनके नामों का उल्लेख उन ग्रन्थों में ग्रंथकर्त्ता के रूप में लिखा गया है। इसका प्रमाण यह है कि उन आचार्यों के अन्य सुप्रसिद्ध ग्रंथों से उनका विषय मेल नहीं खाता, किन्तु उन आचार्यों के ही नहीं अन्य

सुप्रसिद्ध वीतरागी सन्तों के ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों से भी विरुद्ध पड़ते हैं।

यहाँ मैं उन ग्रंथों की विस्तृत चर्चा नहीं करना चाहता कारण वह विषयान्तर हो जायेगा तथापि "त्रिवर्णाचार", "सर्वोदय तीर्थ" आदि इसी कोटि के अनेक ग्रन्थ हैं। द्वादशांग का मूल रूप पूर्ण अ-प्रकट है मात्र उनके आंशिक ज्ञान के आधार पर ही आचार्यों ने षट्खंडागम–कषायपाहुड़–गोम्मटसार महा-पुराण–रत्नकरण्ड श्रावकाचार–त्रिलोकसार लब्धिसार आदि ग्रन्थों का निर्माण किया है। आचारांग आदि अंग और उत्पाद पूर्वादि पूर्वों का सद्भाव नहीं है तो भी आज लघु विद्यानुवाद आदि नाम से कल्पित ग्रन्थ प्रकाश में आ रहे हैं। जिनका विषय और प्रक्रिया स्पष्ट रूप से जैन धर्म के मूल सिद्धांतों के प्रतिकूल है।

जैनाचार्यों के नाम से शासन देवता पूजा के ग्रन्थ ज्वालामालनी कल्प, भैरव-पद्मावती कल्प आदि प्रकाशित हैं जिनमें मात्र उनकी पूजा आदि ही जिनागम विरुद्ध नहीं, किन्तु पूजा पद्धति भी हिंसा पूर्ण अभक्ष, अग्राह्य पदार्थों से लिखी गई है जैन प्रतिष्ठा पाठों के नाम पर गोबर-पूजा–आरती का भी विधान लिखा गया है।

यह सब कपोल कल्पित है। अथवा जिनागम को भ्रष्ट करने का ही प्रयास उन लेखकों द्वारा कल्पित जैनाचार्यों के नाम पर किया गया है।

स्व० पं० मिलापचन्दजी कटारिया ने अपने अनेक शोध पूर्ण लेखों में कतिपय विषयों का विश्लेषण करते हुये उनके

निराकरण पूर्वक जिनागम के रहस्य का उद्घाटन किया है। धवल पुस्तक ६ में आगम का स्वरूप इस प्रकार वर्णित है—पेज २५१

जो पूर्वापर विरोधरहित, निर्दोष हों, पदार्थ प्रकाशक हो ऐसे आप्त वचन ही आगम है

पूर्वापर विरुद्धादेर्व्यपेतो दोष संहतेः ।
द्योतकः सर्वभावनां, आप्त व्याहृति रागमः ॥६१॥



ग्रन्थ का विषय परिचय

इस ग्रन्थ में ५५ निबन्ध हैं ।

(१) कुछ में ग्रन्थों और ग्रन्थकारों की प्रचलित मान्यता की शोध पूर्ण समीक्षा है ।

(२) कुछ में इतिहास की विसंगतियों का तर्क पूर्ण खण्डन है ।

(३) कुछ लेख आचारों-विचारों में जो जो विकृतियां आगई हैं उनपर तीखा प्रहार है ।

(४) अनेक लेख सिद्धांतों की सतर्क प्रमाणता के निरूपक हैं ।

(५) कुछ सिद्धांत प्ररूपक हैं ।

सब लेखों के शीर्षक निबन्ध-सूची से जाने जा सकते है अतः पुनरावृत्ति न हो उनके नाम यहां न देकर केवल वर्गीकरण किया गया है तथापि कुछ लेख तो अवश्य अपनी विशेषता रखते हैं। जैसे

१-रात्रि भोजन त्याग (१) २-पंचकल्याणक तिथियां और नक्षत्र (२) ३-अलब्धपर्याप्तक और निगोद (४) ४-ऐलक-चर्या (५) ५-"समाधिमरण के समय मुनि दीक्षा" (१६) आदि अनेक लेख सतर्क सप्रमाण लिखे गये हैं जिनसे अनेक गलत धारणाओं का परिमार्जन होता है ।

कुछ लेख विद्वानों के लिए विशेष विचारणीय हैं उनमें ३ लेख निम्न प्रकार हैं :-

(१) सिद्धांताध्ययन पर विचार (१०)

(२) उद्दिष्ट दोष मीमासा (५३)

(३) साधुओ की आहार चर्या का समय (५०)

ग्रन्थकार का परिचय

स्व० पं० मिलापचन्द जी कटारिया का जन्म केकड़ी (अजमेर) में वि. सं. १९५८ में हुआ था। ये किसी विद्यालय या विश्वविद्यालय के छात्र न थे। स्कूल में स्वयं उपलब्ध साधारण शिक्षा प्राप्त थे तथापि जन्म जात संस्कारों या पूर्वोपार्जित धार्मिक संस्कारों से उनकी आत्मा संस्कारित थी अतः स्वयं के सत्प्रयत्न से उन्होंने संस्कृत-प्राकृत भाषा का अध्ययन किया तथा जैनधर्म, जैन सिद्धांत, जैन न्याय, जैन ज्योतिष और जैन प्रतिष्ठा विधि आदि विषयों की उल्लेखनीय जानकारी प्राप्त कर विद्वानों में अग्रगण्य बने।

वे अपनी सन्तान को भी उसी प्रकार धार्मिक संस्कारों से संस्कारित करते रहे उनके सुपुत्र श्री पं० रतनलाल जी कटारिया से और उनकी लेखनी से जैन जगत् परिचित है उनके भी लेख निबन्धावली के प्रथम भाग में हैं। पिता पुत्र दोनों की विचार धारायें जैसे एक ही मस्तिष्क से प्रसूत हों ऐसा लगता है।

कटारिया जी खण्डेलवाल दि० जैन जाति के भूषण हैं इनके पिताजी श्रेष्ठिवर्य श्री नेमिचन्द जी कटारिया थे। माता श्री का नाम दाखा बाई जैन पहाड़िया गोत्र की थीं। श्री मिलाप चन्द जी की पत्नी का नाम फूलबाई है वे श्री जीवन लाल जी चांदवाड़, बघेरा की सुपुत्री हैं। श्रीमती फूलबाई का स्वर्गवास आषाढ़ सुदी ६ सं. २०३७ को हो गया है।

स्व० पं० मिलापचन्दजी के २ पुत्र हैं? १. श्री रतनलाल कटारिया २. पदमचन्द कटारिया २ पुत्री हैं १. श्रीमती सुशीला कुमारी (बम्बई) तथा २. श्रीमती चन्द्रकांता देवी (ब्यावर)

पं० मिलापचन्द जी का स्वर्गवास वैशाख सुदी १० वि. सं २०२८ बुधवार (५ मई १९७१) में हो चुका है। आपके स्वर्गवास होने से एक श्रेष्ठ विद्वान् का अभाव हो गया। समाज के समस्त विद्वानों और समाज प्रमुख नेताओं ने "जैन संदेश" पत्र के विशेषांक में जो ४ मई १९७२ को प्रकाशित हुआ था उसमें शोक संवेदना के समाचार श्रद्धांजलियां संस्मरणात्मक लेख प्रकट हुये थे यह पं० जी के सम्बन्धमें एक सचित्र परिचयात्मक विशेषांक था।

पं० जी चारों अनुयोगों के विद्वान् थे, विवादग्रस्त विषयों को सुलझाने की उनकी अपनी निराली पद्धति थी। सामने वाले व्यक्ति के हृदय पर वे अपनी अमिट छाप छोड़ते थे। देहली पंचकल्याणक प्रतिष्ठा उनके आचार्यत्व में हुई थी और वहाँ मुझे उनका गहरा परिचय हुआ था। वे विद्वान् तो थे ही सुप्रतिष्ठित प्रतिष्ठाचार्य भी थे अनेक स्थानों पर पंचकल्याणक प्रतिष्ठायें कराईं साथ ही वेदी प्रतिष्ठा, कलशध्वजारोहण अनेक प्रकार के विधि विधान, जैन पद्धति से विवाह आदि भी बहु संख्या में उनके द्वारा सम्पन्न हुये है।

"विद्याभूषण" की उपाधि समाज ने उन्हें २०२४ में दी थी। वे शुद्ध आम्नायी मर्मज्ञ विद्वान् थे।

उनके कुछ अप्रकाशित लेख व ग्रंथ हैं जो प्रकाशन योग्य हैं। प्रतिष्ठा शास्त्र पर उनके कुछ शोध पूर्ण लेख अभी भी अप्रकाशित है। समाज के धनी सज्जनों से अनुरोध है कि उनके द्वारा लिखित अमूल्य सामग्री को प्रकाशित कर उसे सामने लावें। उनके सुपुत्र श्री रतनलालजी कटारिया के पास वह सब सामग्री सुरक्षित है। श्री रतनलाल जो भी स्वयं एक निष्णात

विद्वान् हैं जैन संदेश के वे यशस्वी सम्पादक व सुलेखक हैं पाठक उनकी लेखनी से सुपरिचित हैं।

यह निबन्धावली का दूसरा भाग-हम दि० जैन संघ मथुरा से प्रकाशित करने में लेखक के दिवंगत होने के १८ वर्षों के बाद सफल हो सके हैं। इसमें पंडितजी के ५५ निबन्ध संगृहीत हैं।

इस प्रकाशन में अपना योगदान देने वाली संस्था श्री दिगम्बर जैन संघ मथुरा के तथा आर्थिक सहयोग देने वाले सज्जनों के आभारी हैं जिनकी नामावली अन्यत्र प्रकाशित है।

जगमोहन लाल शास्त्री
कुण्डलपुर (दमोह) म० प्र०

मायामयौषधं शास्त्रं, शास्त्रं पुण्य निबंधनम्।
चक्षुः सर्वगतं शास्त्रं, शास्त्रं सर्वार्थ साधकम् ॥
स्वाध्यायाद्ध्यान मध्यास्ते, ध्यानात्स्वाध्याय मामनेत्।
ध्यान स्वाध्याय संपत्या, परमात्मा प्रकाशते ॥
जिणवयण मोसह मिणं, विसयसुह विरेयणं अमिद भूतं।
जरमरण वाहिहरणं, खयकरणं सव्वदुक्खाणं ॥



१

रात्रि-भोजन त्याग



ऐसा कौन प्राणी है जो भोजन बिना जीवित रह सके। जब तक शरीर है उसकी स्थिति के लिए भोजन भी साथ है। और तो क्या वीतरागी निस्पृह्टी साधुओं को भी शरीर कायम रखने के लिए भोजन की आवश्यकता पड़ती ही है, तो भी जिस प्रकार विवेकवानों के अन्य कार्य विचार के साथ सम्पादन किये जाते हैं उस तरह भोजन में भी योग्यायोग्य का ख्याल रक्खा जाता है। कौन भोजन शुद्ध है, कौन अशुद्ध है, किस समय खाना, किस समय नहीं खाना आदि विचार ज्ञानवानों के अतिरिक्त अन्य मूढ़ जन के क्या हो सकते हैं। कहा है—"ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः" वास्तव में जो मनुष्य खाने-पीने मौज उडाने में ही अपने जीवन की इतिश्री समझे हुए हैं उन्हें तो उपदेश ही क्या दिया जा सकता है किन्तु नरभव को पाकर जो हेयोपादेय का ख्याल रखते हैं और अपनी आत्मा को इस लोक से भी बढ़कर परजन्म में सुख पहुँचाने की जिनकी पवित्र भावना है उनके लिए ही सब प्रकार का आदेश उपदेश दिया जाता है। तथा ऐसों ही के लिए आगमों की रचना कार्यकारी है।

आगम में श्रावकों के आठ मूलगुण कहे हैं, जिनमें रात्रि भोजन त्याग भी एक मूलगुण है जैसा कि निम्न श्लोक से प्रगट है—

> आप्तपंचनुतिर्जीवदया सलिलगालनम् ।
> त्रिमद्यादि निशाहारोदुंबराणां च वर्जनम् ॥
>
> — धर्मसंग्रह श्रावकाचार

इसमें देव वन्दना, जीवदया पालन, जल छानकर पीना, मद्य, मांस, मधु का त्याग, रात्रि-भोजन त्याग और पंचोदंबर फल त्याग, ये आठ मूलगुण बताये हैं। जब रात्रि भोजन त्याग श्रावकों के उन कर्तव्यों में है जिन्हे मूल (खास) गुण कहा गया है तब यदि कोई इसका पालन नही करता तो उसे श्रावक कोटि में गिना जाना क्यों कर उचित कहा जा सकेगा? यदि कोई कहे कि रात्रिभुक्ति त्याग तो छठवी प्रतिमा में है इसका समाधान यह है कि—छठवी प्रतिमा को कई ग्रन्थकारों ने तो दिवामैथुन त्याग नाम से कही है। हाँ कुछ ने रात्रिभुक्ति त्याग नाम से भी वर्णन की है, जिसका मतलब यही हो सकता है कि इसके पहिले रात्रि भोजन त्याग में कुछ अतीचार लगते थे सो इस छठवी प्रतिमा मे पूर्ण रूप से निरतिचार त्याग हो जाता है। यदि ऐसा न माना जावे तो रात्रि भोजन त्याग को मूलगुणो में क्यों कथन किया गया बल्कि वसुनन्दि श्रावकाचार में तो यहाँ तक कहा है कि—रात्रि भोजन करने वाला ग्यारह प्रतिमाओं में से पहिली प्रतिमा का धारी भी नही हो सकता। यथा—

> **एयारसेसु पढगं विजदो णिसिभोयणं कुणं तस्स।**
> **ठाणं ण ठाइ तम्हा णिसिभुत्तं परिहरे णियमा ॥ ३१४ ॥**
> **— वसुनन्दि श्रावकाचार**

छपी हरिवंश पुराण हिन्दी टीका के पृष्ठ ५२६ में कहा है कि—

"मद्य, मांस, मधु, जूआ, वेश्या, परस्त्री, रात्रि भोजन, कन्दमूल इनका तो सर्वथा ही त्याग करना चाहिए। ये भोगोपभोग परिमाण में नहीं हैं।" मतलब कि हरएक श्रावक को चाहे वह किसी श्रेणी का हो रात्रि भोजन का त्याग अत्यन्त

आवश्यक है। यहाँ भोजन से मतलब लड्डू आदि खाद्य; इलायची, तांबूल आदि स्वाद्य; रबड़ी आदि लेह्य; पानी आदि पेय इन चारों प्रकार के आहारों से है। रात्रि के समय उक्त चार प्रकार के आहार के त्याग को रात्रि भोजन त्याग कहते हैं। शास्त्रकारों ने तो यहाँ तक जोर दिया है कि सूर्योदय और सूर्यास्त से दो घड़ी पूर्व भोजन करना भी रात्रि भोजन में शुमार किया गया है। यथा—

वासरस्य मुखे चांते विमुच्य घटिकाद्वयम् ।
योऽशनं सम्यगाधत्ते तस्यानस्तमितव्रतम् ॥

प्रथमानुयोग की कथनी पद्मपुराण में कथन है—जिस समय लक्ष्मण जी जाने लगे तो उनकी नव विवाहिता वधू वनमाला ने कहा कि—"हे प्राणनाथ! मुझ अकेली को छोड़ कर जो आप जाने का विचार करते हो तो मुझ विरहिणी का क्या हाल होगा?" तब लक्ष्मण जी क्या उत्तर देते हैं सुनिये—

स्ववधूं लक्ष्मणः प्राह मुंच मां वनमालिके ।
कार्ये त्वां लातुमेष्यामि देवादिशपथोऽस्तु मे ॥ २८ ॥
पुनरूचे तयेतीशः कथमप्यप्रतीतया ।
ब्रूहि चेन्नैमि लिप्येऽहं रात्रिभुक्तेरघैस्तदा ॥ २९ ॥
— धर्मसंग्रह श्रावकाचार

भावार्थ—हे वनमाले! मुझे जाने दो, अभीष्ट कार्य के हो जाने पर मैं तुम्हें लेने के लिए अवश्य आऊँगा। मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि अगर मैं अपने बचनों को पूरा न करूँ तो जो दोष हिंसादि के करने से लगता है उसी दोष का मैं भागी होऊँ।

सुनकर वनमाला लक्ष्मण जी से बोली—मुझे आपके आने में फिर भी कुछ सन्देह है इसलिए आप यह प्रतिज्ञा करें कि—"यदि मैं न आऊँ तो रात्रि भोजन के पाप का भोगने वाला होऊँ।"

देखा पाठक ! रात्रि भोजन का पाप कितना भयंकर है। प्रीतंकर के पूर्व भव के स्याल के जीव ने मुनीश्वर के उपदेश से रात्रि में जल पीने का त्याग किया था जिसके प्रताप से वह महा पुन्यवान् समृद्धिशाली प्रीतंकर हुआ था। वास्तव में बात सोलह आना ठीक है कि रात्रि भोजन अनेक दोषों का घर है। जो पुरुष रात्रि को भोजन करता है वह समस्त प्रकार की धर्म क्रिया से हीन है, उसमें और पशु में सिवाय सींग के कोई भेद नहीं है। जिस रात्रि में सूक्ष्म कीट आदि का संचार रहता है मुनि लोग चलते-फिरते नहीं, भक्ष्याभक्ष्य का भेद मालूम नहीं होता, आहार पर आये हुए बारीक जीव दीखते नहीं ऐसी रात्रि में दयालु श्रावकों को कदापि भोजन नहीं करना चाहिये। जगह-जगह जैन ग्रन्थों में स्पष्ट निषेध होते भी आज हमारे कई जैनी भाई रात्रि में खूब माल उड़ाते हैं। कई प्रान्तों के जैनियों ने तो ऐसा नियम बना रक्खा है कि रात्रि में अन्न की चीज न खानी—शेष पेड़ा, बरफी आदि खाने में कोई हर्ज ही नहीं समझते। न मालूम ऐसा नियम इन लोगों ने किस शास्त्र के आधार पर बनाया है। खेद है जिन कलाकन्द, बरफी आदि पदार्थों में मिठाई के प्रसंग से अधिक जीव घात होना सम्भव है उन्हें ही उदरस्थ करने की इन भोले आदमियों ने प्रवृत्ति कर अपनी अज्ञानता और जिह्वा लंपटता का खूब परिचय दिया है। श्री सकलकीर्ति जी ने श्रावकाचार में साफ कहा है कि—

भक्षितं येन रात्रौ च स्वाद्यं तेनान्नमंजसा ।
यतोऽन्नस्वाद्ययोर्भेदो न स्याद्व्रातादियोगतः ॥ ८३ ॥

अर्थ—जो रात्रि में अन्न के पदार्थों को छोड़कर पेड़ा, बरफी आदि खाद्य पदार्थों को खाते हैं वे भी पापी हैं क्योंकि अन्न और स्वाद्य पदार्थों में कोई भेद नहीं है। तथा और भी कहा है कि—

दंशकीटपतंगादि सूक्ष्मजीवा अनेकधाः ।
स्थालमध्ये पतन्त्येव रात्रिभोजनसंगिनाम् ॥ ७८ ॥

दीपकेन विना स्थूला दृश्यन्ते नांगिनः क्वचित् ।
तदुद्योतवशादन्ये प्रागच्छन्तीव भाजने ॥ ७९ ॥

पाकभाजनमध्ये तु पतन्त्येवांगिनो ध्रुवम् ।
अन्नादिपचनाद्रात्रौ म्रियन्तेऽनंतराशयः ॥ ८० ॥

इत्येवं दोषसंयुक्तं त्याज्यं संभोजनं निशि ।
विषान्नमिव निःशेषं पापभीतैर्नरैः सदा ॥ ८१ ॥

भक्षणीयं भवेन्नैव पत्रपूगीफलादिकम् ।
कीटाढ्यं सर्वथा दक्षैर्भूरिपापप्रदं निशि ॥ ८४ ॥

न ग्राह्यं प्रोदकं धीरैर्विभावर्यां कदाचन ।
तृट्शांतये स्वधर्माय सूक्ष्मजन्तुसमाकुलम् ॥ ८५ ॥

चतुर्विधं सदाहारं ये त्यजन्ति बुधा निशि ।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासस्य जायते ॥ ८६ ॥

अर्थ—रात्रि में भोजन करने वालों की थालियों में डाँस, मच्छर, पतंगे आदि छोटे-छोटे जीव आ पड़ते हैं। यदि दीपक न जलाया जाय तो स्थूल जीव भी दिखाई नहीं पड़ते और यदि दीपक जला लिया जाय तो उसके प्रकाश से और

अनेक जीव आ जाते हैं। भोजन पकते समय भी उस अन्न की वायु गंध चारों ओर फैलती है अतः उसके कारण उन पात्रो में जीव आ आकर पड़ते हैं। पापो से डरने वालों को ऊपर लिखित अनेक दोषों से भरे हुए रात्रि भोजन को विष-मिले अन्न के समान सदा के लिए अवश्य त्याग कर देना चाहिए। चतुर पुरुषों को रात्रि में सुपारी, जावित्री, तांबूल आदि भी नहीं खाने चाहिये क्योंकि इनमें अनेक कीड़ों की सम्भावना है अतः इनका खाना भी पापोत्पादक है। धीर-वीरो को दया धर्म पालनार्थ प्यास लगने पर भी अनेक सूक्ष्म जीवों से भरे जल को भी रात्रि में कदापि न पीना चाहिये। इस प्रकार रात्रि में चारों प्रकार के आहार को छोड़ने वालों के प्रत्येक मास में पन्द्रह दिन उपवास करने का फल प्राप्त होता है।

रात्रि भोजन के दोष के वर्णन में जैन धर्म के ग्रन्थों के ग्रन्थ भरे पड़े हैं। यदि उन सबको यहाँ उद्धृत किया जावे तो एक बहुत बड़ा ग्रन्थ हो सकता है। अतः हम भी इतने से ही विश्राम लेते हैं।

रात्रि भोजन खाली धार्मिक विषय ही नहीं है किन्तु यह शरीर शास्त्र से भी बहुत अधिक सम्बन्ध रखता है। प्रायः रात्रि भोजन से आरोग्यता की हानि होने की भी काफी सम्भावना हो सकती है। जैसे कहा है कि—

मक्षिका वमनाय स्यात्स्वरभंगाय मूर्द्धजः ।
यूका जलोदरे विष्टिः कुष्टाय गृहकोकिली ॥ २३ ॥
— धर्मसंग्रह श्रावकाचार (मेधावीकृत)

अर्थ—रात्रि में भोजन करते समय अगर मक्षिका खाने में आ जाय तो वमन होती है, केश खाने में आ जाय तो स्वर-

भंग, जूँवा खाने में आ जाय तो जलोदर और छिपकली खाने में आजाय तो कोढ उत्पन्न होता है। इसके अलावा सूर्यास्त के पहिले किया हुआ भोजन जठराग्नि की ज्वाला पर चढ़ जाता है—पच जाता है इसलिए निद्रा पर उसका असर नहीं होता है। मगर इससे विपरीत करने से रात को खाकर थोड़ी ही देर में सो जाने से चलना फिरना नहीं होता अतः पेट में तत्काल का भरा हुआ अन्न कई बार गम्भीर रोग उत्पन्न कर देता है। डाक्टरी नियम है कि भोजन करने के बाद थोड़ा-थोड़ा जल पीना चाहिए यह नियम रात्रि में भोजन करने से नही पाला जा सकता है क्योकि इसके लिए अवकाश ही नहीं मिलता है। इसका परिणाम अजीर्ण होता है। हर एक जानता है कि अजीर्ण सब रोगों का घर होता है। "अजीर्ण प्रसवा रोगा." इस प्रकार हिंसा की बात को छोड़कर आरोग्य का विचार करने पर भी सिद्ध होता है कि रात्रि में भोजन करना अनुचित है।

इस तरह क्या धर्मशास्त्र और क्या आरोग्य शास्त्र सब ही तरह से रात्रि भोजन करना अत्यन्त बुरा है। यही कारण है जो इसका जगह-जगह निषेध जैन धर्म शास्त्रो में किया गया है जिनका कुछ दिग्दर्शन ऊपर कराया गया है। अब हिंदू ग्रन्थो के भी कुछ उद्धरण रात्रि भोजन के निषेध में नीचे लिखकर लेख समाप्त किया जाता है क्योंकि लेख कुछ अधिक बढ़ गया है।

अस्तंगते दिवानाथे आपो रुधिरमुच्यते।
अन्नं मांससमं प्रोक्तं मार्कंडेयमहर्षिणा॥

— मार्कंडेयपुराण

अर्थ—सूर्य के अस्त होने के पीछे जल रुधिर के समान और अन्न मांस के समान कहा है यह वचन मार्कंडेय ऋषिका है।

महाभारत में कहा है कि—

मद्यमांसाशनं रात्रौ भोजनं कंदभक्षणम्।
ये कुर्वन्ति वृथा तेषां तीर्थयात्रा जपस्तपः ॥ १ ॥
चत्वारिनरकद्वारं प्रथमं रात्रि भोजनम्।
परस्त्रीगमनं चैव संधानानंतकायकम् ॥ २ ॥
ये रात्रौ सर्वदाहारं वर्जयन्ति सुमेधसः।
तेषां पक्षोपवासस्य फलं मासेन जायते ॥ ३ ॥
नोदकमपि पातव्यं रात्रावत्र युधिष्ठिर !
तपस्विनां विशेषेण गृहिणां ज्ञानसंपदाम् ॥ ४ ॥

अर्थ—चार कार्य नरक के द्वार रूप है। प्रथम रात्रि में भोजन करना, दूसरा परस्त्री गमन, तीसरा संधाना (अचार) खाना और चौथा अनन्तकाय कन्द मूल का भक्षण करना। ॥ २ ॥ जो बुद्धिवान एक महीने तक निरन्तर रात्रि भोजन का त्याग करते हैं उनको एक पक्ष के उपवास का फल होता है ॥ ३ ॥ इसलिए हे युधिष्ठिर ! ज्ञानी गृहस्थ को और विशेषकर तपस्वी को रात्रि में पानी भी नहीं पीना चाहिए ॥ ४ ॥ जो पुरुष मद्य पीते हैं, मांस खाते हैं, रात्रि में भोजन करते हैं और कन्दमूल खाते हैं उनको तीर्थयात्रा, जप, तप सब वृथा है ॥ १ ॥ और भी कहा है कि—

दिवसस्याष्टमे भागे मंदीभूते दिवाकरे।
एतन्नक्तं विजानीयान्न नक्तं निशिभोजनम् ॥

मुहूर्तोनं दिनं नक्तं प्रवदंति मनीषिणः।
नक्षत्रदर्शनान्नक्तं नाहं मन्ये गणाधिप ॥

भावार्थ—दिन के आठवें भाग को जब कि दिवाकर मन्द हो जाता है (रात होने के दो घड़ी पहले के समय को) "नक्त" कहते हैं। नक्त व्रत का अर्थ रात्रि भोजन नहीं है। हे गणाधिप ! बुद्धिमान् लोग उस समय को "नक्त" बताते है जिस समय एक मुहूर्त (दो घड़ी) दिन अवशेष रह जाता है। मैं नक्षत्र दर्शन के समय को "नक्त" नहीं मानता हूँ। और भी कहा है कि—

अंभोदपटलच्छन्ने नाश्नन्ति रविमण्डले।
अस्तंगते तु भुंजाना अहो भानोः सुसेवकाः ॥
मृते स्वजनमात्रेऽपि सूतकं जायते किल।
अस्तंगते दिवानाथे भोजनं क्रियते कथम् ॥

अर्थ—यह कैसा आश्चर्य है कि सूर्य भक्त जब सूर्य मेघों से ढक जाता है तब तो वे भोजन का त्याग कर देते हैं। परन्तु वही सूर्य जब अस्त दशा को प्राप्त होता है तब वे भोजन करते है। स्वजन मात्र के मर जाने पर भी जब लोग सूतक पालते है यानी उस दशा में अनाहारी रहते हैं तब दिवानाथ सूर्य के अस्त होने के बाद तो भोजन किया ही कैसे जा सकता है ? तथा कहा है कि—

नैवाहुति र्न च स्नानं न श्राद्धं देवतार्चनम्।
दानं वा विहितं रात्रौ भोजनं तु विशेषतः ॥

अर्थ—आहुति, स्नान, श्राद्ध, देवपूजन, दान और खास करके भोजन रात्रि में नहीं करना चाहिए।

कूर्मपुराण में भी लिखा है कि—

न द्रुह्येत् सर्वभूतानि निर्द्वन्द्वो निर्भयो भवेत् ।
न नक्तं चैव भक्षीयाद् रात्रौ ध्यानपरो भवेत् ॥

— २७ वां अध्याय ६४५ वां पृष्ठ

अर्थ—मनुष्य सब प्राणियों पर द्रोह रहित रहे। निर्द्वंद्व और निर्भय रहे तथा रात को भोजन न करे और ध्यान में तत्पर रहे। और भी ६५३ वें पृष्ठ पर लिखा है कि—

"आदित्ये दर्शयित्वान्नं भुंजीत प्राङ्मुखे नरः।"

भावार्थ—सूर्य हो उस समय तक दिन में गुरु या बड़े को दिखाकर पूर्व दिशा में मुख करके भोजन करना चाहिये।

इस विषय में आयुर्वेद का मुद्रा लेख भी यही है कि—

हृन्नाभिपद्मसंकोचश्चंडरोचिरपायतः ।
अतो नक्तं न भोक्तव्यं सूक्ष्मजीवादनादपि ॥

भावार्थ—सूर्य छिप जाने के बाद हृदय कमल और नाभिकमल दोनों संकुचित हो जाते हैं और सक्ष्म जीवों का भी भोजन के साथ भक्षण हो जाता है इसलिये रात में भोजन न करना चाहिये।

रात्रि भोजन का त्याग करना कुछ भी कठिन नहीं है। जो महानुभाव यह जानते हैं कि—"जीवन के लिए भोजन है भोजन के लिए जीवन नहीं" वे रात्रि भोजन को नहिं करते हैं।



२

पंचकल्याणक तिथियाँ और नक्षत्र



तीर्थंकरों को पच कल्याणक तिथियाँ लम्बे अरसे से गड़बड़ में चली आ रही हैं। इन तिथियों की उपलब्धि के खास स्थान पूजा पाठ के ग्रन्थ हैं। किन्तु सस्कृत में लिखी चौवीस तीर्थंकरों की पूजायें तो प्रचलित है नही, हिन्दी पद्यों में रची भाषा पूजाओं का ही इस समय अधिक प्रचार है। इन भाषा-पूजाओं में उल्लिखित कई पंच कल्याणक तिथियें आपस में एक दूसरे से मिलती नही हैं। यह तो निश्चित है कि भाषा पूजाओं में दी हुई तिथियों के आधार कोई प्राचीन संस्कृत प्राकृत के ग्रन्थ रहे हैं। इसलिए हम भी प्रकृतविषय में भाषा-पूजाओं को एक तरफ रखकर इस सम्बन्ध के अन्य प्राचीन संस्कृत प्राकृत के ग्रन्थों पर विचार करना उचित समझते है।

हमारी जानकारी में इन तिथियों के प्राचीन उल्लेख त्रिलोक प्रज्ञप्ति, हरिवंश पुराण और उत्तर पुराण इन तीन ग्रन्थों में मिलते है। किन्तु तीनों ही ग्रन्थों की कई तिथियें भी आपस में मिलती नहीं हैं। इनमें से त्रिलोक प्रज्ञप्ति और हरिवंश पुराण में सिर्फ चार हीकल्याणकों की तिथियाँ दी हैं, गर्भ-कल्याणक की तिथियों का कोई उल्लेख ही नहीं है। न जाने इसका क्या कारण है? पर हरिवंश पुराण में ऐसा भी है कि—उसके ६० वें पर्व में जहाँ कि तीर्थंकरों के अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवरण दिया है वहाँ तो गर्भ कल्याणक की तिथियों का कतई कथन नहीं है। किन्तु इसी ग्रंथ में जहाँ ऋषभदेव, मुनिसुव्रत, नेमिनाथ और महावीर इन चार तीर्थ-

करों का चरित्र लिखा है वहाँ इनकी गर्भ की तिथियें भी लिख दी हैं। इससे ऐसा जान पड़ता है कि ६० वें पर्व का यह कथन जिनसेन ने शायद किसी अन्य ग्रंथ से अर्थ रूप से ज्यों का त्यों उद्धृत किया है। इसलिए उसमें गर्भकल्याणक की तिथियें न होने से इसमें भी नहीं हैं। इस सम्भावना की पुष्टि इससे भी होती है कि इस ही हरिवंश पुराण पर्व १६ में भगवान् मुनिसुव्रत की कल्याणक तिथियों से नहीं मिलती है। यथा—

पर्व ६० में—

दीक्षातिथि—वैशाखसुद ६ (श्लोक-२२६)
ज्ञानतिथि—फागुणबुद ६ (श्लोक-२५७)
मोक्षतिथि—फागुणबुद १२ (श्लोक-२६७)
जन्मतिथि—आसोजसुद १२ (श्लोक-१७८)

पर्व १६ में—

काती सुद ७ (श्लोक-१२)
मगसर सुद ५ (श्लोक-६४)
माघ सुद १३ (श्लोक-७६)
माघ बुद १२ (श्लोक-१२)

इस प्रकार एक ही ग्रंथकार के एक ही ग्रंथ में मुनिसुव्रत के कल्याणकों की भिन्न-भिन्न तिथियों का कथन होना विद्वानों के सोचने की चीज है।

हरिवंश पुराण के ६० वें पर्व में जिस प्रकार तीर्थंकरों के अनेक ज्ञातव्य विषयों का विवरण दिया है। उसी प्रकार पद्मपुराण पर्व २२ में भी दिया है। किन्तु पद्मपुराण में

वहाँ किसी भी तीर्थंकर की कल्याणक तिथियों का कोई उल्लेख नहीं है। सिर्फ नक्षत्र दिये हैं।

अब हमको यह देखना है कि—कल्याणकों की जो तिथियें उक्त तीनों ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न रूप से पायी जाती हैं उनमें से कौन तिथि प्रमाण यानी सही मानी जावे और कौन नहीं। इसके लिए और नहीं तो भी यह तो अवश्य विचारणीय है कि उस तिथि के साथ जो नक्षत्र लिखा है वह उस तिथि से मेल खाता है या नहीं। अगर मेल नहीं खाता है तो अवश्य ही या तो वह तिथि गलत है या वह नक्षत्र गलत है। इसमें कोई सन्देह नहीं। क्योंकि ज्योतिष शास्त्र का यह नियम है कि हर मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन में उस मास का नाम वाला नक्षत्र जरूर आता है। जैसे चैत्र मास की पूर्णिमा या उसके अगले पिछले दिन में चित्रा नक्षत्र आवेगा। वैशाख की पूर्णिमा को विशाखा नक्षत्र आवेगा। ज्येष्ठा की पूर्णिमा को ज्येष्ठा नक्षत्र आवेगा। इत्यादि वास्तव में मासों के नाम ही मासांत में आने वाले नक्षत्रों के कारण पड़े हैं। जिस पूर्णिमा को जो नक्षत्र है उसके आगे के नक्षत्र जिस क्रम से उनके नाम हैं।

२७ नक्षत्रों के क्रमशः नाम इस प्रकार हैं :—

१. अश्विनी २. भरणी ३. कृत्तिका ४. रोहिणी ५. मृगशिरा ६. आर्द्रा ७. पुनर्वसु ८. पुष्य ९. आश्लेषा १०. मघा ११. पूर्वा फाल्गुणी १२. उत्तरा फाल्गुणी १३. हस्त १४. चित्रा १५. स्वाति १६. विशाखा १७. अनुराधा १८. ज्येष्ठा १९. मूल २०. पूर्वाषाढ़ २१. उत्तराषाढ़ २२. श्रवण २३. धनिष्ठा २४. शततारका २५. पूर्वा भाद्रपद २६. उत्तरा भाद्रपद २७ रेवती ॥

उसी क्रम से अगली प्रत्येक तिथि में प्रायः प्रत्येक नक्षत्र नम्बर वार आता जावेगा। जैसे चैत्र सुद १५ को चित्रा नक्षत्र है तो वैशाख बुद १० को या उसके अगले पिछले दिन में चित्रा के बाद का १० वाँ नक्षत्र शतभिषा आवेगा। इस हिसाब से सदा ही तिथियों के साथ किन्हीं निश्चित नक्षत्रों का सम्बन्ध पाया जा सकेगा। हाँ कभी-कभी एक या दो नक्षत्रों का आगा पीछा भी हो सकता है। इसके लिए कोई सा भी नया पुराणा किसी भी वर्ष का पंचांग उठाकर देख लीजिये। इस गणना के अनुसार हम जान सकते हैं कि अमुक मास की अमुक तिथि को अमुक-अमुक नक्षत्र ही हो सकते हैं। दूसरे नहीं। जबकि हमारे यहाँ कल्याणकों की हर तिथि के साथ नक्षत्र भी दिया गया है तो इस कसौटी को लेकर हम क्यों न जाँच करलें कि किस ग्रन्थ की तिथियाँ उनके साथ में लिखे नक्षत्रों से मिलती है और किसकी नही ? उक्त ग्रन्थो में सबसे प्राचीन त्रिलोक प्रज्ञप्ति ग्रंथ माना जाता है। अत: पहिले इसी की जाँच करते हैं। इस ग्रन्थ मे चार कल्याणकों की तिथियाँ और उनके साथ नक्षत्र दिये गये है। गर्भ कल्याणक के तिथि नक्षत्र नही लिखे हैं। इस ग्रंथ में लिखी तिथियों के साथ जब हम इसमें लिखे नक्षत्रों का मिलान करते हैं तो अनेक जगह तिथियों के साथ नक्षत्र नहीं मिलते है। नमूने के तौर पर नीचे की तालिका देखिये—(अधिकार ४)

जन्म कल्याणक—

सम्भवनाथ-मगसर सुद १५ ज्येष्ठा। सुमतिनाथ श्रावण सुद ११ मघा।

दीक्षा कल्याणक—

धर्मनाथ-भादवासुद १३ पुष्य। पुष्पदन्त-पोस सुद ११ अनुराधा।

ज्ञान कल्याणक—

सुमतिनाथ-पोस सुद १५ हस्त। विमलनाथ पोस सुद १० उत्तराषाढ़।

मोक्ष कल्याणक—

विमलनाथ-असाढ़ सुद ८ पूर्वभाद्रपद। मल्लिनाथ फागण बुद ५ भरणी।

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में इनके अलावा और भी तिथि नक्षत्र अनमेल हैं। जिन्हें लेख विस्तार के भय से यहाँ हम लिखना नही चाहते। उक्त तिथियों के साथ उक्त नक्षत्रो की संगति किसी भी तरह नहीं बैठ सकती है। अतः त्रिलोक प्रज्ञप्ति की ये तिथियाँ और नक्षत्र परस्पर अवश्य ही गलत हैं इसमे कोई सन्देह नहीं है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति की तिथियों के गलत होने में एक-दूसरा हेतु भी है। वह यह है कि त्रिलोक प्रज्ञप्ति में श्री मल्लिनाथ स्वामी का दीक्षा लिये बाद छद्मस्थ काल ६ दिन का बताया है। अर्थात् दीक्षा लिये बाद ६ दिन में उनको केवल ज्ञान हुआ है। किन्तु इसी त्रिलोक प्रज्ञप्ति में मल्लिनाथ की दीक्षा तिथि मगसर सुद ११ की और केवल ज्ञान तिथि फागण बुद बारस की लिखी है। दोनों में अन्तर ढाई मास का पड़ता है जबकि अन्तर पड़ना चाहिए ६ दिन का ही। इसी तरह उनमें लिखा अन्य भी कुछ तीर्थंकरों का यह छद्मस्थकाल उनकी तिथियों के साथ मेल नही खाता है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति जैसे प्राचीन ग्रंथ का इस प्रकार का पूर्वापर विरोध कथन अवश्य ही चिन्तनीय है।

इसी तरह हरिवंश पुराण में उल्लिखित तिथि नक्षत्र भी कहीं-कहीं अनमेल रहते हैं। जिनका विवरण लेखवृद्धि के भय से यहाँ छोड़ा जाता है। हरिवंश पुराण में जन्म और मोक्ष इन दो कल्याणकों के ही नक्षत्र दिये हैं। शेष कल्याणकों के नक्षत्र शायद इसलिये नहीं दिये कि उनके नक्षत्र भी वे ही हैं जो जन्म के हैं। कल्याणकों के नक्षत्रों का अनायास ही कुछ ऐसा योग बन गया है कि प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के पांचों कल्याणक एक ही नक्षत्र में हो गये हैं। जैसे ऋषभदेव के सभी कल्याणक उत्तराषाढ़ में हुए हैं। अजितनाथ के सभी रोहिणी में हुए हैं इत्यादि। कहीं कुछ मामूली फर्क भी है जिसका विवरण लेख के अन्त में दिये नक्शे से ज्ञात कर सकते है।

जब हम आचार्य गुणभद्रकृत उत्तर पुराण में लिखे तिथि नक्षत्रों में मेल को जांच करते हैं तो उन्हे हम एक दम सहीपाते हैं। यहाँ तिथियों के साथ जो नक्षत्र दिये गये हैं वे ज्योतिष सिद्धांत की गणना के अनुसार बराबर बैठते चले जाते है। कहीं कुछ भी अन्तर नही पड़ता है। ये मास पक्ष-तिथियाँ इतनी प्रामाणिक हैं कि पं० आशाधर जी ने इन्हीं को अपनाई है। आशाधर जी ने एक कल्याणमाला नामक पुस्तिका निर्माण की है जो सिर्फ ३५ श्लोक प्रमाण है। वह माणिक चन्द्र ग्रन्थमाला के "सिद्धांतसारादि संग्रह" के साथ छपी है। उसका अन्तिम पद्य यह है—

इतीमां वृषभादीनां पुण्यत्कल्याणमालिकाम्।
करोति कंठे धुर्यां यः सः स्याद्वाशाधरेड़ितः॥

इससे निश्चय ही यह पं० आशाधर की कृति है। इसमें आशाधर ने पंचकल्याणकों की जो मास पक्ष-तिथियाँ दी हैं

वे सब उत्तरपुराण के अनुसार ही हैं। और खूबी यह की है कि वर्णन मास-पक्ष तिथियों के अनुक्रम से किया है जिससे लिपिकारों के द्वारा भी कोई गल्ती होने की सम्भावना नहीं रहती हे और न किसी शब्द के विभिन्न अर्थ करने की गुंजायश ही।

हाँ कहीं-कहीं कल्याणमाला और मुद्रित उत्तर पुराण की तिथियों में भी कुछ भिन्नता दृष्टिगोचर होती है। उस पर भी यहाँ विचार कर लेना समुचित है। दोनों की तिथि-भिन्नता निम्न प्रकार है—

	मुद्रित उत्तरपुराण में—	कल्याणमाला में—
चन्द्रप्रभ का मोक्ष	फागुण सुद ७ ज्येष्ठा	फागुण बुद ७
धर्मनाथ का गर्भ	वैशाख सुद १३ रेवती	वैशाख बुद १३
अरनाथ का गर्भ	फागुण बुद ३ रेवती	फागुण सुद ३
मल्लिनाथ का ज्ञान	मगसर सुद ११	पोस बुद २
पार्श्वनाथ का ज्ञान	चैत बुद १४ विशाखा	चैत बुद ४

इसमें से जो तिथियें कल्याण माला की हैं वे सही हैं। क्योंकि जो नक्षत्र ऊपर उत्तर पुराण में दिये हैं उनकी संगति कल्याण माला की तिथियों के साथ बेठती है, मुद्रित उत्तर पुराण की उक्त तिथियों के साथ नहीं। अतः उत्तर पुराण की उक्त तिथियों के प्रतिपादक श्लोक लिपिकारों के प्रमाद से अशुद्ध लिखने में आ गये हैं। ऐसा ज्ञात होता है। इसमें से शुक्ल कृष्ण पक्ष का अन्तर तो हो जाना आसान ही है। और जो मल्लिनाथ के ज्ञानकल्याण की तिथि में अन्तर है वहाँ

भी पोस बुद २ की मिति ही सही है क्योंकि उत्तर पुराण में मल्लिनाथ का संयम अवस्था का दीक्षा दिन मगसर सुद ११ का लिखा है। अतः दीक्षा से ६ दिन बाद पोस बुद २ को इन्हें केवल ज्ञान हुआ यह सिद्ध होता है देखो उत्तरपुराण पर्व ६६ श्लोक ५१-५२। इनका हिन्दी अनुवादकों ने संगति पूर्वक ठीक अर्थ नहीं देकर जन्म की तरह ही अर्थात् मगसर सुदी ११ अर्थ कर दिया है किन्तु दोनों श्लोक युग्म हैं उनका अर्थ यह होना चाहिए कि जन्म की तरह के ही दिनादि (मगसर सुदी ११) में छाद्मस्थ्य काल के ६ दिन वीतने पर अर्थात् पोष बुदी २ को केवल ज्ञान हुआ।

रहा पार्श्वनाथ के ज्ञान कल्याण की तिथि में अन्तर सो यहाँ भी मुद्रित उत्तर पुराण के पर्व ७३ श्लोक १४४ में उल्लिखित चैत बुदी १४ की मिति वाला "चतुर्दश्यां" पाठ अशुद्ध है इस तिथि के साथ विशाखा नक्षत्र का मेल बैठता नहीं है इस वास्ते पाठ भी "चतुर्थ्यां च" चाहिए। चैत बुदी ४ को विशाखा नक्षत्र की संगति भी भली प्रकार बैठ जाती है। पार्श्वनाथ के सभी कल्याणक विशाखा नक्षत्र में हुए हैं अतः इनके ज्ञान कल्याणक में भी जो विशाखा बताया है वह ठीक है। उसका मेल चौथ के साथ ही बैठता है १४ के साथ नहीं अतः चैत बुदी ४ ही ज्ञानकल्याणक की तिथि है।

इस प्रकार कल्याण माला की तिथियां और उत्तर पुराण की तिथियों में जो मामूली फर्क था वह भी रफा होकर दोनों ग्रन्थों की सब ही तिथियां बराबर बराबर मिल जाती हैं। मुद्रित उत्तर पुराण में सम्भवनाथ की दीक्षा की तिथि और मुनि सुव्रत की जन्म तिथि का उल्लेख नहीं है ऐसा हस्तलिखित प्रतियों में उक्त तिथि सूचक पाठ छूट जाने

से हुआ है। वर्ना गुणभद्र स्वामी ने जब सब की ही कल्याणक तिथियें दी हैं तो वे इन दो तिथियों को न दें ऐसा कैसे हो सकता है। अथवा इसका कारण यह हो कि संभवनाथ का मृगशिर नक्षत्र तो निश्चित है ही और नियमतः यह नक्षत्र मगसर सुदी १५ को आता ही है अतः यह तिथि बिना बताये स्वतः ही सिद्ध हो जाती है इस ख्याल से ग्रन्थकार ने यह तिथि नहीं लिखी है। अब रही मुनिसुव्रत की जन्म तिथि की बात सो ३, ५, १८, २४ इन चार तीर्थंकरों को छोड़कर बाकी के तीर्थंकरो की अपनी-अपनी तप की जो तिथि है वही जन्म की तिथि है इस तरह मुनिसुव्रत की जो तप की तिथि वैशाख बुदी १० दी है वही जन्म तिथि हो जाती है इसलिए उसे अलग से नहीं दिया है।

इन प्रकार अशुद्ध पाठों की वजह से जो उत्तर पुराण की कुछ तिथियों में गड़बड़ पड़ी हुई थी वे तो शुद्ध करली गईं किन्तु फिर भी एक चीज का हल होना बाकी रह गया कि उत्तर पुराण की कुछ एक तिथियों की संगति उनके साथ में लिखे नक्षत्रों से नहीं बैठती है। नीचे हम उसी पर विवेचन करते हैं.—

(१) अरनाथ के सब कल्याणक रेवती नक्षत्र में हुए हैं किन्तु ज्ञानपीठ से प्रकाशित उत्तरपुराण पर्व ६५ श्लोक २१– "मार्गशीर्षे सिते पक्षे पुष्ययोगे चतुर्दशी," अर्थात् अरनाथ का जन्म मगसर सुदी १४ पुष्य नक्षत्र में लिखा है यहां तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बैठता नहीं है अतः यह पाठ अशुद्ध है शुद्ध पाठ 'पुष्ययोगे' के स्थान में 'पूषयोगे' होना चाहिए तब उसका अर्थ रेवती नक्षत्र होता है क्योंकि 'रेवती' का स्वामी देव 'पूषा' माना गया है। पुष्पदन्त कृत अपभ्रंश महापुराण

भाग २ पृष्ठ ३२८ पर भी "पूस जोइ चउ दह मइ वासरि" पाठ दिया है और टिप्पणी में भी "पूस जोइ का अर्थ "रेवती" नक्षत्र ही किया है।

यहाँ यह बात ध्यान में रखने की है कि उत्तर पुराण में सभी तीर्थंकरों के जन्म कल्याण के नक्षत्र बताते हुए नक्षत्र का नाम न लिखकर उसके स्वामी देव का नाम ही लिखा गया है।

(२) नमिनाथ के सब कल्याणक अश्विनी नक्षत्र में हुए हैं किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण में इनका जन्म पर्व ६६ श्लोक ३० में 'आषाढे स्वाति योगे' अर्थात् आषाढ़ वद १० स्वाति नक्षत्र में लिखा है यहां भी तिथि के साथ नक्षत्र का मेल बनता नही है अतः यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'आषाढे-ऽश्विनी योगे' होना चाहिए अर्थात् 'स्वाति, की जगह अश्विनी होना चाहिए। आषाढ वद १० के साथ अश्विनी की संगति बैठ जाती है। यहाँ यह शंका नही करनी चाहिए कि ग्रंथकार ने जन्म नक्षत्रों में तो नक्षत्र के स्वामी देव के नाम दिये है फिर यहाँ अश्विनी नक्षत्र नाम कैसे दिया इसका उत्तर यह है कि अश्विनी नक्षत्र के स्वामी देव का नाम भी अश्विनी ही है।

(३) विमलनाथ का मोक्ष पर्व ५६ श्लोक ५५ में "आषाढस्योत्तराषाढे" अर्थात् अषाढ़ बुदी ८ उत्तराषाढ मे लिखा है किन्तु शुद्ध पाठ "आषाढस्योत्तरा भाद्रे होना चाहिए क्योंकि आषाढ बुदी ८ को उत्तर भाद्रपद ही पड़ता है और यही नक्षत्र विमलनाथ के अन्य सब कल्याणको में है।

(४) वासुपूज्य के सब कल्याणक शतभिषा नक्षत्र में हुए हैं किन्तु मुद्रित उत्तर पुराण में इनकी दीक्षा तिथि फागुण बुदी १४ ज्ञान तिथि माघसुदी २ और मोक्ष तिथि भादवा सुदी १५ की लिखी है और तीनों का नक्षत्र विशाखा लिखा है लेकिन इन तीनों तिथियों के साथ विशाखा की संगति किसी तरह बैठती नहीं है, 'शतभिषा' के साथ बैठती है यहाँ भी पाठ की अशुद्धि ही जान पड़ती है। तीनों पाठों में विशाखा वाक्य अशुद्ध ही जान पड़ता है तीनों पाठों में विशाखा,वाक्य अशुद्ध है उसके स्थान में शुद्ध वाक्य भिषका' अथवा 'भिषाका' होना चाहिये। शतभिषा के आगे 'का' प्रत्यय लगाने से शत 'भिषका' या शत 'भिषाका' रूप बनता है—जिसका संक्षिप्त नाम भिषका या भिषाका होता है जैसे सत्यभामा का भामा, यह संक्षिप्त नाम होता है। ग्रंथकार गुणभद्र ने भी यहाँ "शतभिषाका" इस वाक्य का संक्षिप्त नाम "भिषाका" का प्रयोग किया है। प्रतिलिपि करने वालो ने भिषाका प्रयोग को अशुद्ध समझकर उसे विशाखा बना डाला है। इस तरह की गल्तियाँ अन्य कई हस्तलिखित ग्रंथों में भी देखने को मिलती है। और शुद्ध पाठ को अशुद्ध बना दिया जाता है। इसका एक उदाहरण इस लेख में ऊपर भी बताया गया है कि "आषाढेऽश्विनी योगे" यह शुद्ध पाठ था जिसका "आषाढे स्वातियोगे" ऐसा अशुद्ध बना दिया गया है। यह हम इस लेख में ऊपर लिख चुके हैं कि प्रायः प्रत्येक तीर्थंकर के अपने-अपने पाँचों कल्याणक अधिकतर एक ही नक्षत्र में हुए हैं। इस अपेक्षा से भी वासुपूज्य के गर्भजन्म की तरह शेष तीन कल्याणक भी शतभिषा में ही होने चाहिए।

एक ही नक्षत्र में प्रत्येक तीर्थंकर के प्रायः पांचकल्याणक होने के सम्बन्ध में इतना और समझ लेना चाहिए कि उत्तर पुराण में कहीं-कहीं उस नक्षत्र के स्थान में उसके पास वाले नक्षत्र का नाम दिया है। जैसे श्रेयांसनाथ के चार कल्याणक श्रवण नक्षत्र में और मोक्ष उनका धनिष्ठा में लिखा है। पार्श्वनाथ के चार कल्याणक विशाखा में और जन्म उनका अनिलयोग में लिखा है। अनिल कहिये पवनदेव यह स्वाति नक्षत्र का स्वामी माना जाता है। अत. यहाँ अनिल का अर्थ स्वाति नक्षत्र होता है। चन्द्रप्रभ के तीन कल्याणक अनुराधा में और जन्म उनका शक्रयोग में लिखा है। शक्र का अर्थ इन्द्र यह ज्येष्ठा नक्षत्र का स्वामी देव माना जाता है। अतः यहाँ शक्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है। मोक्ष भी इनका ज्येष्ठ में ही लिखा है। पुष्पदन्त के चार कल्याणक मूल नक्षत्र में और जन्म इनका जैत्र योग में लिखा है। जैत्र का अर्थ इन्द्र यह ज्येष्ठा का स्वामी माना जाता है। अतः यहाँ जैत्र का अर्थ ज्येष्ठा नक्षत्र होता है इत्यादि। इस प्रकार कल्याणकों के एक समान नक्षत्रों के साथ उनके समीप का नक्षत्र का नाम कहीं किसी कल्याणकों में दिये जाने का तात्पर्य यही समझना चाहिए कि उस तिथि को वे दोनों ही नक्षत्र क्रम से भुगत रहे थे। आप पंचांग उठाकर देखिए तो आपको बहुत बार एक ही तिथि में क्रमवार दो नक्षत्रों के अंश भुगतते नजर आयेंगे। बल्कि कभी-कभी तो एक ही तिथि में दो नक्षत्रों के अंश और पूरा एक नक्षत्र इस तरह तीन नक्षत्र भुगतते मिलेंगे। इसलिये समीप के नक्षत्र का नाम होने से उसे भी एक तरह से अन्य समान नक्षत्र के अन्तर्गत ही गिनना चाहिए और एक ही नक्षत्र में

पाँचों कल्याणक होने में इसे अपवाद कथन नहीं समझना चाहिए।

इस प्रकार उत्तरपुराण की सब तिथियों और उनके साथ लिखे हुए नक्षत्रों की संगति भी अच्छी तरह से बैठ जाती है। यहां मैं यह भी सूचित किये देता हूँ कि कवि पुष्प-दन्त कृत अपभ्रंश महापुराण में भी कल्याणकों के तिथि नक्षत्र उत्तर पुराण के अनुसार ही लिखे हैं। पं० आशाधर जी के सामने त्रिलोक प्रज्ञप्ति और हरिवंश पुराण के मौजूद होते हुए भी उन्होंने स्वरचित कल्याणमाला में इन दोनों ग्रन्थों की तिथियों की उपेक्षा करके एक उत्तरपुराण की कल्याणक तिथियों को स्थान दिया है। इससे उत्तरपुराण की तिथियों की प्रामाणिकता पर गहरा प्रकाश पड़ता है।

इस सारे ऊहापोह का फलितार्थ यही है कि—उत्तर पुराण की शुद्ध तिथियाँ वे ही हैं जो पं० आशाधर जी ने कल्लाणमाला में लिखी हैं। और कवि पुष्पदन्तकृत महापुराण में जो तिथि नक्षत्र लिखे हैं वे भी सब उत्तरपुराण के अनुसार लिखे हैं। यहाँ लिखी तिथियाँ भी कल्याणमाला से मिलती हैं। ये पुष्पदन्त गुणभद्राचार्य से करीब १७५ वर्ष बाद ही हुए हैं। इस तरह उत्तरपुराण, अपभ्रंश महापुराण और कल्याण-माला इन तीनों की तिथियें एक समान मिल जाने से तथा नक्षत्रों की संगति उनके साथ लिखी तिथियों के साथ बैठ जाने से तिथि विषयक गड़बड़ जो लम्बे अरसे से हमारे यहाँ चली आ रही थी वह अब समाप्त हो गई है। अतः अब हमको हमारी पूजा पाठ की पुस्तकों को तिथियों को इसी माफिक शुद्ध करके काम में लेनी चाहिए।

इसके अलावा मूल ग्रन्थ में शुद्ध पाठ होने पर भी अनुवादकों ने कहीं-कहीं गलत मास-तिथि नक्षत्र लिख दिये हैं अतः सहूलियत के लिये पंचकल्याणक तिथियों का शुद्ध नकशा भी हम साथ में दिये देते हैं। इस विषय में एक विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि—महापुराण कार दक्षिणी होते हुए भी उन्होंने पंचकल्याणक तिथियाँ दक्षिणी पद्धति से नहीं देकर सभी उत्तरी पद्धति से ही दी हैं क्योंकि सभी तीर्थंकरों के पाँचों कल्याणक उत्तर प्रान्त में ही हुए हैं।



श्री पंच कल्याणक शुद्ध तिथि और नक्षत्र

तीर्थंकर	गर्भ	जन्म	तप	ज्ञान	मोक्ष	नक्षत्र
१ ऋषभनाथ	आषाढ़ कृ. २	चैत्र कृ. ९	चैत्र कृ. ९	फाल्गुन कृ. ११	माघ कृ. १४	उत्तराषाढ़
२ अजितनाथ	ज्येष्ठ कृ. ३०	माघ शु. १०	माघ शु. ९	पौष शु. ११	चैत्र शु. ५	रोहिणी
३ संभवनाथ	फाल्गुन शु. ८	कार्तिक शु. १५	मा.शी.शु. १५	कार्तिक कृ. ४	चैत्र शु. ६	मृगशिरा
४ अभिनन्दननाथ	वैशाख शु. ६	माघ शु. १२	माघ शु. १२	पौष शु. १४	वैशाख शु. ६	पुनर्वसु
५ सुमतिनाथ	श्रावण शु. २	चैत्र शु. ११	वैशाख शु. ९	चैत्र शु. ११	चैत्र शु. ११	मघा
६ पद्मप्रभ	माघ कृ. ६	कार्तिक कृ. १३	कार्तिक कृ. १३	चैत्र शु. १५	फाल्गुन कृ. ४	चित्रा
७ सुपार्श्वनाथ	भाद्रपद शु. ६	ज्येष्ठ शु. १२	ज्येष्ठ शु. १२	फाल्गुन कृ. ६	फा. कृ. ७	विशाखा
८ चन्द्रप्रभ	चैत्र कृ. ५	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	फाल्गुन कृ. ७	फा. कृ. ७	अनुराधा
९ पुष्पदंत	फाल्गुन कृ. ९	मा. शी. शु. १	मा. शी. शु. १	कार्तिक शु. २	भाद्रपद शु. ८	मूल
१० शीतलनाथ	चैत्र कृ. ८	माघ कृ. १२	माघ कृ. १२	पौष कृ. १४	आश्विन शु. ८	पूर्वाषाढ़
[redacted]	[redacted]	फा. कृ. १४	फाल्गुन कृ. १४	माघ शु. २	भाद्रपद शु. १[illegible]	[illegible]
१३ विमलनाथ	ज्येष्ठ कृ. १०	माघ शु. ४	माघ शु. ४	माघ शु. ६	आषाढ़ कृ. ८	उत्तराभाद्रपद
१४ अनन्तनाथ	कार्तिक कृ. १	ज्येष्ठ कृ. १२	ज्येष्ठ कृ. १२	चैत्र कृ. ३०	चैत्र कृ. ३०	रेवती
१५ धर्मनाथ	वै कृ. १३ रेवती	माघ शु. १३	माघ शु. १३	पौष शु. १५	ज्येष्ठ शु. ४	पुष्य
१६ शांतिनाथ	भाद्रपद कृ. ७	ज्येष्ठ कृ. १४	ज्येष्ठ कृ. १४	पौष शु. १०	ज्येष्ठ कृ. १४	भरणी
१७ कुन्थुनाथ	श्रावण कृ. १०	वैशाख शु. १	वैशाख शु. १	चैत्र शु. ३	वैशाख शु. १	कृत्तिका
१८ अरनाथ	फाल्गुन शु. ३	मा शी. शु. १४	मा.शी. शु. १०	कार्तिक शु. १२	चैत्र कृ ३०	रेवती
१९ मल्लिनाथ	चैत्र शु १	मा.शी शु. ११	मा.शी शु. ११	पौ.कृ. पुष्य २	फाल्गुन शु. ५	अश्विनी
२० मुनिसुव्रत	श्रावण कृ. २	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. १०	वैशाख कृ. ९	फा. कृ. १२	श्रवण
२१ नमिनाथ	आश्विन कृ. २	आषाढ़ कृ. १०	आषाढ़ कृ. १०	म. शी. शु. ११	वैशाख कृ. १४	अश्विनी
२२ नेमिनाथ	कार्तिक शु. ६ उत्तराषाढ़	श्रावण शु. ६	श्रावण शु. ६	आश्विन शु. १	आषाढ़ शु. ७	चित्रा
२३. पार्श्वनाथ	वैशाख कृ. २	पौष कृ. ११	पौष कृ. ११	चैत्र कृ. ४	श्रावण शु. ७	विशाखा
२४. महावीर	आषाढ़ शु. ६	चैत्र शु. १३	मा.शी.कृ. १०	वैशाख शु. १०	कार्तिक कृ. १४ स्वाति ३०	उत्तराफाल्गुनी

३

नन्दीश्वर भक्ति का १८ वाँ पद्य

(एक विलुप्त प्राचीन प्रथा)



निष्ठापित जिनपूजा श्चूर्णं स्नपनेन दृष्ट विकृत विशेषाः ।
सुरपतयो नंदीश्वर जिन भवनानि प्रदक्षिणीकृत्य पुनः ॥ १८ ॥

इस पद्य का "चूर्णस्नपनेन" वाक्य गम्भीर अध्ययन का विषय है। इस श्लोक का सही शब्दार्थ निम्न प्रकार है:—

"जिन्होंने जिन पूजा को समाप्त किया है और चूर्ण-स्नान से जिनमें विकार-विशेष देखा जाता है ऐसे इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के जिन मन्दिरों की प्रदक्षिणा करके फिर⋯⋯"

इसकी संस्कृत टीका में प्रभाचन्द्र ने "चूर्णस्नपनेन दृष्ट विकृत विशेषाः।" वाक्यों की व्याख्या ऐसी की है—(देखो—"क्रिया कलाप" पृष्ठ २४०)।

"चूर्ण सुगन्धि द्रव्याणां पिष्टं तेन स्नपनं अभिषवस्तेन दृष्टो विकृतो विकारवान् विशेषो यैः येषु वा" इसमें सुगन्धित द्रव्यों के पिसे हुए आटे को चूर्ण बताते हुए लिखा है कि—उस चूर्ण के स्नान से जिन इन्द्रों में विकार-विशेष दिखाई दे रहा था।

इसके विपरीत पं० लालाराम जी ने इस पद्य का अर्थ इस प्रकार किया है:—"सुगन्धित चूर्ण से अभिषेक करके जिन्होंने महाभिषेक और जिनपूजा पूर्ण करली है और इसीलिये जिनको महा आनन्द आ रहा है उस आनन्द से

जिनकी आकृति कुछ विकृत हो रही है ऐसे इन्द्र नन्दीश्वर द्वीप के उन चैत्यालयों की प्रदक्षिणा देते हैं" ॥ १६ ॥

यहाँ लालाराम जी ने पूजा समाप्ति के अवसर पर इन्द्रों द्वारा जिन प्रतिमाओं का सुगन्धित चूर्ण से अभिषेक किया जाना अर्थ किया है यह अर्थ किसी तरह उचित नहीं है क्योंकि—एक तो जिन-प्रतिमाओं का चूर्णाभिषेक कहीं नहीं बताया है। दूसरा, चूर्णाभिषेक के साथ जिन पूजा की समाप्ति यानि-जिनपूजा के अनन्तर प्रतिमा का चूर्णाभिषेक भी कहीं किसी शास्त्र में नहीं बताया है और न ऐसा कहीं प्रचलित ही है अतः 'चूर्ण स्नपन' शब्द का सम्बन्ध प्रतिमा के साथ न होकर इन्द्रों-देवों के साथ है और उन्हीं में विकार विशेष लक्षित किया गया है कोई प्रतिमा में माने ऐसा नहीं। चैत्य भक्ति में भी बताया है कि—"विगता-युध विक्रिया. विभूषा प्रकृतिस्थाः कृतिनां जिनेश्वराणाम्" ॥ १३ ॥ जिन प्रतिमा आयुध और अलंकारादि से रहित सदा स्वाभाविक रूप से युक्त होती है। इसके सिवा लालाराम जी साहब ने जो 'आनन्द' विषयक उल्लेख किये हैं उनके वाची भी कोई शब्द मूल श्लोक में नहीं है अतः उनका यह कथन भी निराधार है।

इस विषय को ठीक तौर से समझने के लिए आचार्य जिनसेन का निम्नांकित कथन देखिये जो उन्होंने जिन-जन्माभिषेक के पूर्ण होने के अवसर का 'आदि पुराण' में किया है—

गंधाम्बु स्नपनस्यांते जय कोलाहलैः समम् ।
व्यात्युक्षीम मराश्चक्रुः सच्चूर्णं गंधवारिभिः ॥
॥ १९९ ॥ पर्व १३

अर्थ—मेरु पर सुगन्धित जल से भगवान् का अभिषेक किये बाद देवों ने जय जय शब्द के कोलाहल के साथ उत्तम चूर्ण और सुगन्धित जल को आपस में एक दूसरों पर डाला।

इसी विषय को जटासिंह नन्दि कृत वरागचरित में भी स्पष्टता से बताया गया है निम्नांकित श्लोक देखिये—

ततः प्रहृष्टो वर चूर्णवासैः, सद्गंधिमिश्रैः सलिलैः सलीलम् ॥
लाक्षारसै रंजनरेणुमिश्च, चिक्षेप गात्रेषु परस्परस्य ॥
॥ १०१ ॥ सर्ग २३

अर्थ—पूजा किये बाद हर्षित हुए राजा ने लीला पूर्वक उत्तम सुगन्धित चूर्ण और उत्तम गंध मिश्रित जल को तथा लालरंग गुलाल को परस्पर में एक-दूसरों के शरीर पर डाला।

ऊपर के इन दो उद्धरणों से स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि—महाभिषेक पूजा समारोह की पूर्णता के अवसर पर इन्द्रादि देव आनन्द विभोर होकर आपस में सुगन्धित चूर्ण और रंग-रंगीला सुगन्धित जल एक दूसरे के शरीर पर डालते थे और इसी का अनुसरण प्राचीन काल में मनुष्य श्रावक भी करते थे जैसा कि ऊपर वरांग चरित्र में बताया है। यह प्रथा श्वेतांवरो के यहाँ तो अब भी प्रचलित है—उनके यहाँ पर्यूषण पर्व में एकम के रोज भगवान का जन्म कल्याणक मनाते हुए अभिषेक पूजा करके फिर सब भाई परस्पर एक दूसरे के कपड़ों पर केशरिया रंग का हाथ का छापा लगाते हैं। आज दिगम्बर सम्प्रदाय में इस प्रकार की परम्परा का लोप हो गया है किन्तु ऊपर लिखे नन्दीश्वर भक्ति पाठ के १८ वें पद्य का यही आशय है। उस पद्य में इन्द्रों का एक विशेषण "हृष्ट विकृत विशेषाः" लिखा है उससे तो यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है कि—इन्द्रों के परस्पर में सुगन्धित चूर्ण या सुगं-

धित जल डालने से ही उनको वेषभूषादि का रूप पलटा हुआ नजर आने लगा था। अतः उक्त पद्य का जो पं० लालाराम जी ने "सुगन्धित चूर्ण से प्रतिमा का अभिषेक किया जाना" अर्थ किया है वह ठीक नहीं है।

जैसे इन पण्डितों ने आदि पुराण के "गोदोहैः प्लाविता धात्री" वाक्य का दुग्धाभिषेक गलत अर्थ करके लोगों को भ्रम में डाल रखा था जिसका स्पष्टीकरण हमने "जैन निबन्ध रत्नावली" ग्रन्थ में किया है, उसी तरह की भूल ये लोग नन्दीश्वर भक्ति पाठ के उक्त श्लोक के अर्थ करने में भी कर रहे हैं।

उक्त पद्य की संस्कृत टीका में प्रभाचन्द्र ने भी प्रतिमा का चूर्ण-स्नपन करना नहीं बताया है किन्तु चूर्णस्नपनं से इन्द्रों में विकार विशेष होना लिखा है, इससे प्रभाचन्द्र के विवेचन का भी वही आशय प्रगट होता है जैसा कि आदि-पुराण और वरांगचरित्र में खुलासा लिखा गया है। अर्थात् इन्द्रों ने प्रतिमा का अभिषेक चूर्ण से नहीं किया किन्तु चूर्ण को आपस में एक ने दूसरों पर डाला ऐसा मूल ग्रन्थकार और टीकाकार दोनों का अभिप्राय साफ प्रगट होता है। यही बात सकलकीर्ति कृत आदिपुराण (लघु) में इस प्रकार लिखी है—

व्यातुक्षीं निर्मलां चक्रुः जय कोलाहलैः समम्।
पूरितैः कलशैः भक्त्या सचूर्णैर्गंधवारिभि ॥२०४॥

पार्श्वपुराण में भी इस प्रकार लिखा है :—

गंधाम्बुस्नपनस्यांते जयमंगलनि सत्स्वरैः।
व्यातुक्षी ममरायक्रुः सचूर्णैर्गंधवारिभिः ॥ १४ ॥

●★●

४

अलब्धपर्याप्तक और निगोद



संसारी जीव पर्याप्तक, निवृत्य पर्याप्तक और अलब्ध-पर्याप्तक ऐसे तीन प्रकार के होते हैं। अलब्धपर्याप्तक का पर्याय नाम लब्ध्यपर्याप्तक भी होता है[1]। जिस भव में जितनी पर्याप्तियें होती हैं उतनी को जो पूर्ण कर लेते हैं वे जीव पर्याप्तक कहलाते हैं। अगर उनके कम से कम शरीर पर्याप्ति भी पूर्ण हो जाये तब भी वे पर्याप्तक कहला सकते हैं। और जो पर्याप्तियों को पूर्ण करने में लगे हुए हैं किन्तु अभी शरीर पर्याप्ति को भी पूरी नहीं की हैं आगे पूरी करने वाले हैं वे जीव निवृत्यपर्याप्तक कहलाते हैं। तथा जो जीव एक उच्छ्‌वास के १८ वें भाग प्रमाण आयु को लेकर किसी पर्याय में जन्म लेते हैं और वहाँ की पर्याप्तियों का सिर्फ प्रारम्भ ही करते हैं। अत्यल्प आयु होने के कारण किसी एक भी पर्याप्ति को पूर्ण न करके मर जाते हैं वे जीव अलब्धपर्याप्तक कहलाते हैं। ऐसे जीवों के भव क्षुद्रभव कहलाते हैं। वे जीव १ उच्छ्‌वास में १८ वार जन्मते हैं और १८ बार मरते हैं। इस प्रकार के क्षुद्रभवो के धारी अलब्धपर्याप्तक जीव ही होते हैं अन्य नहीं। सभी सम्मूर्छन जन्म वाले जीव पर्याप्तक, निवृत्यपर्याप्तक और अलब्धपर्याप्तक होते हैं। शेष गर्भ और उपवाद जन्म वाले जीव पर्याप्तक-निवृत्यपर्याप्तक ही होते हैं,

---

१. शास्त्रों में सिर्फ 'अपर्याप्तक' शब्द से भी इसका उल्लेख किया है।

अलब्ध पर्याप्तक नहीं होते। विशेष यह है कि—सिर्फ सम्मूर्च्छिम मनुष्य अलब्ध पर्याप्तक ही होते हैं। वे पर्याप्तक-निवृत्यपर्याप्तक नहीं होते हैं। सभी एकेन्द्रिय-विकलेन्द्रिय जीवों का एकमात्र सम्मूर्च्छन जन्म ही होता है। सज्ञीअसंज्ञी पंचेन्द्रिय नरतिर्यञ्च सम्मूर्च्छन जन्म वाले भी होते हैं और गर्भज भी होते हैं। भोगभूमि में सम्मूर्च्छन त्रस जीव नहीं होते हैं। अतः वहाँ अलब्धपर्याप्तक त्रस जीव भी नहीं होते है। दिगम्बर मत में सम्मूर्च्छिम मनुष्यों को भी सज्ञी माना है। परन्तु श्वेताम्बर मत में उन्हे असंज्ञी माना है और उनकी उत्पत्ति भोगभूमि में भी लिखी है। जो जीव अलब्ध पर्याप्तक होते हैं उनकी जघन्य और उत्कृष्ट आयु एक उच्छ्वास के १८ वें भाग मात्र होती है। अर्थात् न इससे कम होती और न इससे अधिक होती है।

दिगम्बर मत में मनुष्यों के ९ भेद इस प्रकार बताये हैं :—

आर्य खण्ड, म्लेच्छ खण्ड, भोगभूमि और कुभोगभूमि (अन्तर्द्वीप) इन ४ क्षेत्रों की अपेक्षा गर्भज मनुष्यों के ४ भेद होते हैं। ये चारों ही पर्याप्त-निर्वृत्य पर्याप्त होने से ८ भेद होते हैं। सम्मूर्च्छन मनुष्य आर्यखण्ड में ही होते हैं और वे नियम से अलब्धपर्याप्तक ही होते हैं। अतः उसका एक ही भेद हुआ। इस १ को उक्त ८ में मिलाने से कुल ९ भेद मनुष्यों के होते हैं।

अलब्ध पर्याप्तक जीव एकेन्द्रिय को आदि लेकर पाँचों ही इन्द्रियों के धारी होते हैं। एकेन्द्रियों में पृथ्वीकायिक आदि अलब्धपर्याप्त-स्थावर जीव अपनी-अपनी स्थावरकाय में पैदा होते हैं। इसी तरह विकलत्रय अलब्धपर्याप्तकों के

उत्पत्ति स्थान भी पर्याप्त विकलत्रयों की तरह ही समझने चाहिये। तथा सम्मूर्च्छिम पर्याप्त तिर्यञ्चों के भी जो-जो उत्पत्ति स्थान होते है, उन्हीं में सम्मूर्छिम अलब्धपर्याप्तक पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों की उत्पत्ति समझ लेनी चाहिये। क्योंकि ये अलब्ध पर्याप्तक जोव गर्भज तो होते नहीं, ये तो सब सम्मूर्छिम होते हैं। अत जैसे अन्य पर्याप्त सम्मूर्च्छिम त्रस जीव इधर-उधर के पुद्गल परमाणुओं को अपनी कार्य बनाकर उनमें उत्पन्न हो जाते हैं। उसी तरह ये अलब्ध-पर्याप्तक त्रस जोव भी उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु अलब्ध-पर्याप्तक मनुष्यों की उत्पत्ति स्थान के विषय में स्पष्ट आगम निर्देश इस प्रकार हैं। —"कर्म भूमि में चक्रवर्ति-बलभद्र-नारायण की सेनाओं में जहाँ मल मूत्रों का क्षेपण होता है उन स्थानों में, तथा वीर्य, नाक का मल, कान का मल, दन्त-मल, कफ इत्यादि अपवित्र पदार्थों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते है। वे अलब्धपर्याप्तक होते हैं और उनका शरीर अंगुल के असंख्यातवें भाग प्रमाण होता है।

— "मूलाराधना पृष्ठ ६३८"

गोम्मटसार जीवकाण्ड की गाथा ६३ में लिखा है कि —सम्मूर्च्छिम मनुष्य नपुंसक लिंगी होते हैं। इसी प्रसंग में इस गाथा की संस्कृत टीका में लिखा है कि—"स्त्रियों की योनि, कांख, स्तन मूल और स्तनों के अन्तराल में तथा चक्रवर्ती की पटराणी बिना अन्य के मलमूत्रादि अशुचि स्थानों में सम्मूर्च्छिम मनुष्य उत्पन्न होते हैं।

श्री कुन्दकुन्दाचार्य सूत्र पाहुड़ में लिखते हैं कि—

लिंगम्मिय इत्थीणं थणंतरे णाहिकक्खदेसेसु।
भणिओ सुहुमो काओ तासं कह होइ पव्वज्जा ॥ २४ ॥

अर्थ—स्त्रियों की योनि में, स्तनों के बीच में, नाभि में और कांख में सूक्ष्म शरीर के धारक जीव (सम्मूर्च्छिम-मनुष्य) कहे गये हैं। अत: स्त्रियों की महाव्रती दीक्षा कैसे हो सकती है। (नहीं हो सकती है।)

इस विषय में कवि द्यानतराय जी का निम्न पद्य देखिये—

नारि जोनि थन नाभि कांख में पाइये।
नर नारिन के मलमूत्तर में गाइये॥
मुरदे में सम्मूर्च्छिम सैनी जीयरा।
अलबधपरयापत्ती दयाधरि हीयरा॥

— "धर्मविलास"

लोकप्रकाश (श्वेताम्बर ग्रन्थ) के ७ वें सर्ग के श्लोक ३ से ९ में लिखा है कि—

"मल, मूत्र, कफ, नासिकामल, वमन, पित्त, रक्त, राध, शुक्र, मृतकलेवर, दम्पति के मैथुनकर्म में गिरने वाला वीर्य[२] पुरनिर्द्धमन (खाल-चर्म, गंदी नाली) गर्भज मनुष्य सम्बन्धी सब अपवित्र स्थान, इतनी जगह सम्मूर्च्छिम मनुष्यों

---

२. जैनागम शब्दसंग्रह (अर्धमागधी—गुजराती कोश) मे पृष्ठ ३६८ पर इसी का पर्यायवाची "णगरनिद्धमण" (नगरनिर्धमन) का अर्थ इस प्रकार दिया है—शहर का गन्दा पानी निकालने का मार्ग, खाल। यहाँ दोनो अर्थ उपयोगी हैं, दोनों में सम्मूर्च्छिम मनुष्योत्पत्ति होती है।

की उत्पत्ति होती है[३]।

---

३. (i) जीवसमास की मलधारी हेमचन्द्र कृत संस्कृत वृत्ति (श्वेतांबर) में लिखा है—सम्मूर्छनं—गर्भनिरपेक्षं वात पित्तादिष्वेवमेव भवनं सम्मूर्छंस्तस्माज्जाताः सम्मूर्छंजा मनुष्याः एते च मनुष्य-क्षेत्र एव गर्भजमनुष्यामेवोच्चारादिषूत्पद्यन्ते नान्यत्र, यत उक्तं प्रज्ञापनायाम्—"कहि ण भंते ! सम्मुच्छिम मणुस्सा सम्मुच्छंति ? गोयमा ! अंतो मणुस्स खेत्तं पणया लीसाए जोयणसय सहस्सेसु अड्ढाइज्जेसु दीवसमुद्देसु पन्नरससु कम्मभूमीसु तीसाए अकम्मभूमीसु छप्पण्णाए अन्तर दीवेसु गब्भवक्कंतिय मणुस्साणं चेव इच्चारेसु वा पासवणेसु वा खेलेसु वा सिंघाणेसु वा वंतेसु वा पित्तेसु वा पूएसु वा सोणिएसु वा सुक्केसु वा सुक्क पोग्गलपरिसाडेसु वा वीपुरिस सजोएसु वा नगरनिद्धमणेसु वा सव्वेसु चेव असुइएसु ठाणेसु सम्मूच्छिम मणुस्सा समुच्छंति, अंगुलस्स असखेज्जइभागमित्ताए ओगाहणाए असण्णी मिच्छा-दिट्ठी सव्वाहिं पज्जत्तीहिं अपज्जत्तगा अंतोमुहुत्ताउया चेव कालं करेंति, सेत्तं सम्मुच्छिम मणुस्सा।"

(ii) कह भयवं उववज्जेपंणिदि मणुया सम्मुच्छिमाजीवा।
गोयम ! मणुस्सखित्ते णायव्वा इत्थ ठाणेसु॥
उच्चारे पासवणे खेले सिंघाणवंत पित्तेसु।
सुक्के सोणिय गयजीवकलेवरे नगर णिद्धमणे॥
महुमज्जमंस मंखण थी संगे सव्व असुइठाणेसु।
उप्पज्जंति चयंति च समुच्छिमा मणुय पंचिंदी॥

ठेक टाइप में छपे शब्द अन्यत्र नहीं मिलते।

— विचारसार प्रकरण (प्रद्युम्न सूरि) जीवाभिगमे

ऐसा झलकता है कि—जैनधर्म के जिन फिरकों में स्त्री मुक्ति मानी है उनके यहाँ स्त्रियों के नाभि, कांख, स्तन आदि अवयवों में सम्मूर्छिम मनुष्यों की उत्पत्ति का कथन नहीं किया है।

इनकी उत्पत्ति अढ़ाई द्वीप से बाहर नहीं है। क्योंकि जिन पदार्थों में इनकी उत्पत्ति होती है वे सब गर्भज मनुष्यों से सम्बन्धित होते हैं।

लोक में भोगभूमि-कर्मभूमि के जितने भी मनुष्य होते हैं उनसे असंख्यात गुणी संख्या इन सम्मूर्च्छिम मनुष्यों की रहती है। ऐसा मूलाचार पर्याप्ति अधिकार की गाथा १७५–१७८ और त्रिलोकप्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा २९३४ में कहा है।

जिस प्रकार सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्य अलब्ध पर्याप्तक होते हैं और उनकी काय एक अंगुल के असंख्यातवें भाग-प्रमाण की होती है, उस प्रकार से न तो सभी सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च अलब्धपर्याप्तक होते हैं और न उन सबकी काय एक अंगुल के असंख्यातवें भाग की ही होती है। बल्कि सम्मूर्छिम पंचेन्द्रियतिर्यञ्च मत्स्य की काय तो एक हजार योजन की लिखी है। जबकि गर्भज तिर्यञ्चों में किसी भी तिर्यञ्च की काय पांच सौ योजन से अधिक नहीं लिखी है। तथा न केवल सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च ही किन्तु एकेन्द्रिय से चौइन्द्रिय तक के तिर्यंच भी सब ही अलब्धपर्याप्तक नहीं होते हैं। हाँ जो तिर्यंच अलब्धपर्याप्तक होते हैं उन सबकी काय अलबत्ता एक अंगुल के असंख्यातवें भाग की होती है। किन्तु इसमें भी तरतमता रहती है; क्योंकि असंख्यातवें भाग के भी हीनाधिक भाग होते हैं। इसलिए

तो आगम में लिखा है कि—सबसे छोटा शरीर सूक्ष्म निगोदिया अलब्धपर्याप्तक का होता है। अगर सभी अलब्धपर्याप्तकों के शरीरों का प्रमाण एक समान होता तो केवल सूक्ष्मनिगोदिया का ही नाम नहीं लिखा जाता। (देखो ति० प्रज्ञप्तिद्वि० भाग पृष्ठ ६१८)।

अलब्धपर्याप्तक जीव सूक्ष्म और बादर दोनों तरह के होते हैं। तथा ये प्रत्येक वनस्पति और साधारण वनस्पति कायिक ही नहीं किन्तु सभी स्थावरकाय और सम्मूर्च्छिम-त्रसकाय के धारी होते हैं। तथा ये एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं।

कितने ही शास्त्रसभा में भाग लेने वाले जैनी भाई यह समझे हुए हैं कि—जो १ श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं वे निगोदिया जीव होते हैं। यह उनकी भ्रांत धारणा है। एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करना यह निगोदिया जीव का लक्षण नही है। यह तो अलब्धपर्याप्तक जीव का लक्षण है[४]। ऐसे अलब्धपर्याप्तक जीव तो केवल निगोद में ही नही, अन्य स्थावरों और त्रसों में भी होते हैं। जहाँ वे एक उच्छवास में १८ बार जन्म-मरण करते है। इसलिए एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करना यह निगोदिया का कतई लक्षण नहीं है। किन्तु एक शरीर में अनन्त जीवों का रहना यह निगोद का निर्बाध लक्षण है। निगोद का ही दूसरा नाम साधारण वनस्पति है जिन्हें अनन्तकाय भी कहते

४. देखिये—स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा—उस्सासट्ठारसमे, भागेओ मरदि ण समाणेदि। एक्को वि य पज्जत्ती, लद्धि अपुण्णो हवे सो दु॥ १३७॥

हैं : एक शरीर में रहने वाले वे अनन्त जीव सब साथ-साथ ही जन्मते हैं साथ-साथ ही मरते है और साथ-साथ ही श्वास लेते हैं। एक श्वास में १८ वार जन्म-मरण करने वाले अलब्धपर्याप्तक जीव तो न तो साथ-साथ जन्मते-मरते हैं, न साथ-साथ श्वास लेते हैं और न उन बहुतसों का कोई एक शरीर ही होता है। हाँ अगर ये जीव साधारण-निगोद में पैदा होते हैं तो बेशक वहाँ वे सब साथ-साथ ही जन्मते-मरते और श्वास लेते हैं। ये ही अलब्धपर्याप्तक जीव वहाँ एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते है। इनसे अतिरिक्त अन्य जीव निगोद में एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण नहीं करते हैं। तात्पर्य यह है कि समस्त निगोद में पर्याप्तक जीव भी होते है। उनमें एक अलब्धपर्याप्तक जीव ही सिर्फ एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण करते हैं, पर्याप्तक नहीं। पर्याप्तक जीव भी वहाँ अनन्तानन्त हैं जिनकी संख्या हमेशह अलब्ध-पर्याप्तकों से अधिक रहती है। निगोद ही नहीं अन्यत्र त्रसादिकों में भी जो अलब्धपर्याप्तक जीव होते हैं वे ही एक श्वास में १८ वार जन्म-मरण करते हैं, सब नहीं। सिद्धान्त-ग्रन्थों में इतना स्पष्ट कथन होते हुए भी लोगों में भ्रांत धारणा क्यों हुई ? इसका कारण निम्नांकित उल्लेख ज्ञात होते हैं:—

(१) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका (शुभचन्द्रकृत) पृष्ठ २०५ गाथा २८४ में—निगोदेषु जीवो अनन्तकालं वसति। ननु निगोदेषुएतावत्कालपर्यन्तं स्थिति-मान् जीवः एतावत्कालपरिमाणायुः किं वा अन्यदायुः इत्युक्तं प्राह—"आउपरिहीणो" इति आयुः परिहीनः **उच्छ्वा-साष्टादशैकभागलक्षणान्तर्मुहूर्तः स्वल्पायुर्विशिष्टः प्राणी।** इसका हिन्दी अनुवादक जी ने कोई अनुवाद नहीं किया है,

इसका हिन्दी अर्थ इस प्रकार है :—निगोद में जीव अनन्त-काल तक रहता है इससे क्या निगोद की इतनी आयु होती है ? इसका उत्तर है कि—यहाँ आयु 'परिहीन' पाठ का अर्थ है—एक उच्छ्वास के १८ वें भाग प्रमाण अन्तर्मुहूर्त की स्वल्पायु निगोद की होती है।

(२) बनारसी विलास (वि० सं० १७००) के कर्म-प्रकृति विधान प्रकरण में—

एक निगोद शरीर में, जीव अनन्त अपार।
धरें जन्म सब एकठें मरहिं एक ही बार ॥ ६५ ॥
मरण अठारह बार कर, जनम अठारह बेव,
एक स्वास उच्छ्वास में, यह निगोद की टेव ॥ ६६ ॥

(३) बुधजन कृत—"छहढाला" ढाल २—

जिस दुख से थावर तन पायो वरण सको सो नाहिं।
बार अठारह मरा औ, जन्मा एक स्वास के मांहि ॥ १ ॥

(४) दौलतराम जी कृत—छहढाला—

काल अनंत निगोद मंझार, बीत्यो एकेन्द्रीतनधार ॥ ४ ॥
एक श्वास में अठदस बार, जन्म्यो मर्‌यो भर्‌यो दुखभार ॥

(५) दौलत विलास—(पृष्ठ ५५)

सादि अनादि निगोद दोय में पर्‌यो कर्मवश जाय।
स्वांस उसांस मझार तहाँ भवमरण अठारह थाय ॥

(६) द्यानतराय जी कृत पद संग्रह—

ज्ञान बिना दुख पाया रे भाई।
भो दस आठ उसांस सांस में साधारण लपटाया रे, भाई०

काल अनंत यहाँ तोहि बीते जब भई मन्द कषाया रे,
तब तूं निकसि निगोद सिंधु ते थावर होय न सारा रे, भाई०

(७) बुध महाचन्द्र कृत भजन संग्रह—

(क) जिनवाणी सदा सुख दानी ।
इतर नित्य निगोद मांहि जे, जीव अनन्त समानी,
एक सांस अष्टादश जामन-मरण कहे दुखदानी ।। जिन०

(ख) सदा सुख पावे रे प्राणी ।
है निगोद वसि एक स्वांस अष्टादस मरण कहानी ।
सात-सात लख योनि भोग के, पढ़ियो थावर आनी । स०

(८) स्वरूपचन्द जी त्यागीकृत—स्वरूप भजन शतक

(क) काल अनन्त निगोद बिताये, एक उस्वांस लखाई ।
अष्टादश भव मरण लहे पुनि थावर देह धराई ।
हेरत क्यों नहीं रे । निज शुद्धातम भाई ।

(ख) दुख पायोजी भारी । नित इतर वंसि युग निगोद में,
काल अनन्त बितायो । विधिवश भयो उसांस एक में,
अठदस जनमि मरायो ।। दुख पायो जी भारी ।

इन उल्लेखों में निगोद (एकेन्द्रिय) के एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण बताया है । इससे प्रायः सभी विद्वानों तक ने एक श्वास में १८ बार जन्ममरण करना निगोद का लक्षण समझ लिया है जो भ्रान्त है, क्योंकि एक श्वास में १८ बार जन्म-मरण अन्य पंचस्थावरों और त्रसों में भी जो अलब्धपर्याप्तक हैं पाया जाता है अतः उक्त लक्षण अति व्याप्ति दोष से दूषित है। तथा सभी निगोदों में श्वास के १८ वें भाग में मरण नहीं पाया जाता (सिर्फ अलब्धपर्याप्तकों में ही पाया

जाता है, पर्याप्तकों में नहीं) अतः उक्त लक्षण अव्याप्ति दोष से भी दूषित है।

एकेन्द्रियों में महान् दुःख बताने की प्रमुखता से ये कथन किये गये हैं। इन सब उल्लेखों में "अलब्धपर्याप्त" विशेषण गुप्त है वह ऊपर से साथ में ग्रहण करना चाहिए "छहढाला" ग्रन्थ का बहुत प्रचार है यह विद्यार्थियों के जैन कोर्स में भी निर्धारित है अतः इसके अध्यापन के वक्त निगोद का निर्दोष लक्षण विशेषता के साथ विद्यार्थियों को बताना चाहिए ताकि शुरू से ही उन्हें वास्तविकता का ज्ञान हो सके और आगे वे भ्रम मे नहीं पड़े। टीकाओं में भी यथोचित सुधार होना चाहिए।

ग्रन्थकारों ने इस विषय में अभ्रान्त (निर्दोष) कथन भी किये हैं, देखो :—

(१) स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका पृष्ठ ३३ (गाथा ६८)

सूक्ष्म निगोदोऽपर्याप्तकः × × × क्षुद्रभवकालं १/१८ जीवित्वा मृतः।

(२) दौलत विलास (पृष्ठ १५)—सुधि लीज्यो जी म्हारी। लब्धि अपर्याप्त निगोद में एक उसांस मझारी। जन्ममरण नव दुगुण व्यथा की कथा न जात उचारी। सुधि लीज्यो जी म्हारी।

(३) मोक्षमार्ग प्रकाशक (तीसरा अधिकार) पं० टोडरमल्ल जी साहब।

पृष्ठ ९२ (एकेन्द्रिय जीवों के महान् दुःख)

बहुरि आयुकर्मतें इनि एकेन्द्रिय जीवनि विषै जे अपर्याप्त हैं तिनि के तो पर्याय की स्थिति उश्वास के १८ वें भाग मात्र ही है।

पृष्ठ ६६ (तिर्यञ्च गति के दुख)

बहुरि तिर्यञ्च गति विषै बहुत अलब्धपर्याप्त जीव हैं तिनि को तो उश्वास के १८ वें भाग मात्र आयु है।

पृष्ठ ६७ (मनुष्य गति के दुख) बहुरि मनुष्य गति विषै असंख्याते जीव तो लब्धिअपर्याप्त हैं ते सम्मूर्च्छन ही हैं तिनि की तो आयु उश्वास के १८ वें भाग मात्र है।

(४) नयनसुख जी कृत पद (अद्वितीय भजनमाला प्रथम भाग पृष्ठ ६०)

नैन चैन=नैनसुख। नैन=नयन, चैन=सुख= नयनसुख।

सुन नैन चैन जिन बैन अरे मत जनम वृथा खोवे।
तरस-तरस के निगोद से निकास भयो,
तहाँ एक श्वास में अठारह बार मरे थो।
सूक्ष्म से सूक्ष्म थी तहाँ तेरी आयुकाय.
परजाय पूरी न करे थो फिर मरे थो।

भाव पाहुड में कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है :—

छत्तीसं तिण्णि सया छावट्ठिसहस्सवारमरणाणि।
अन्तो मूहुत्त मज्झे पत्तोसि निगोयवासम्मि ॥ २८ ॥
वियलिंदिए असीदी सट्ठी चालीसमेव जाणेह।
पंचिन्दिय चउवीसं खुद्दभवंतोमुहुत्तस्स ॥ २९ ॥

इन गाथाओं में निगोद वास में ६६३३६ बार जनम-मरण एक अन्तर्मुहूर्त्त में बताया है। तथा विकलत्रय और

पंचेन्द्रिय के क्षुद्रभवों की संख्या बताई है किन्तु एकेन्द्रिय के क्षुद्रभवों की संख्या नहीं दी है बिना उसके ६६३३६ भवों का जोड़ नहीं बैठता है गोम्मटसार जीवकांड गाथा १२२ से १२४ में यही कथन है वहां एकेन्द्रियों के क्षुद्रभवों की अलग संख्या बताई है इस पर सहज प्रश्न उठता है कि क्या भाव पाहुड में यहाँ एक गाथा छूट गई है ? इसका समाधान यह है कि— अजित ब्रह्मकृत—"कल्लाणालोयणा" (माणिक चन्द्र ग्रन्थ-माला के सिद्धान्तसारादि संग्रह में प्रकाशित) ग्रन्थ में भी ये ही दो गाथायें ठीक इसी तरह पाई जाती हैं। श्रुतसागर ने भी सहस्त्रनाम (अध्याय ६ श्लोक ११६) की टीका में पृष्ठ २२७ पर ये ही २ गाथाएँ उद्‌धृत की हैं। इससे १ गाथा छूटने का तो सवाल नहीं रहता है। अब रहा एकेन्द्रिय जीवों के क्षुद्रभवों की संख्या का सवाल सो वह परिशेष न्याय से बैठ जाता है। वह इस तरह कि—विकलत्रय और पंचेन्द्रिय के क्षुद्रभवों की कुल संख्या गाथा २६ में २०४ बताई है इसे ६६३३६ में से बाकी निकालने पर अपने आप शेष ६६१३२ एकेन्द्रिय के क्षुद्रभव हो जाते हैं। कुन्दकुन्द के पाहुड ग्रन्थ सूत्र रूप हैं अतः यहाँ परिशेष न्याय का आश्रय लेकर १ गाथा की बचत की गई है।

निगोद का अर्थ साधारण अनन्तकायिक वनस्पति होता है देखो :—

(i) अनगार धर्मामृत पृष्ठ २०२ (माणिकचन्द्र ग्रन्थ-माला)

निगोत लक्षणं यथा—(गोम्मटसार गाथा १९० से १९२ धवला प्रथम भाग पृष्ठ २७०)

गोम्मटसारादि सिद्धांत ग्रन्थों में निगोद का कहीं भी १८ बार एक श्वांस में जन्म मरण करना ऐसा लक्षण नहीं दिया है प्रत्युत: एक शरीर में अनन्तजीवों का एक साथ निवास करना ऐसा लक्षण दिया है।

(साहारणोवयेण णिगोद शरीरा हवंति सामण्णा ।
ते पुण दुविहा जीवा बादर सुहमात्ति विण्णेया) ॥ १९० ॥

साहारणमाहारो साहारणमाणपाणगहणं च ।
साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं भणियं ॥ १९१ ॥

जत्थेक्कु मरइ जीवो तत्थ दु मरणं हवे अणंताणं ।
वक्कमइ जत्थ एक्को वक्कमणं तत्थ णंताणं ॥ १९२ ॥

(ii) स्वामिकार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका शुभचन्द्रकृत पृष्ठ २०४ (गाथा २८४)—

"नि नियतां गामनन्तसंख्याविच्छिन्नानां जीवानां गां क्षेत्रं ददातीति निगोदं । निगोदं शरीरं येषां ते निगोदाः निकोता वा साधारण जीवाः (अनन्तकायिकाः) ॥"

ऐसी हालत में उपरोक्त भाव पाहुड गाथा २८ में जो निगोद शब्द दिया है उसका अर्थ "अनन्तकायिक एकेन्द्रिय वनस्पति नही बैठता है क्योंकि ६६३३६ भव जो निगोद के बताए हैं उनमें त्रस स्थावर सभी हैं। इसका समाधान बहुत से भाई यह करते हैं कि—निगोद का अर्थ लब्ध्यपर्याप्तक करना चाहिए किन्तु यह अव्याप्ति दूषण से दूषित है क्योंकि सभी निगोद लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते बहुत से पर्याप्तक भी होते हैं। इसके सिवाय यह अर्थ निगोद के प्रसिद्ध अर्थ (अनन्त-

कायिक वनस्पति) से भी विरुद्ध जाता है। जयचन्द जी की वचनिका भी अस्पष्ट और कुछ भ्रांत है।

अतः हमारी राय में भावपाहुड गाथा २८ के 'निगोद' का अर्थ "क्षुद्र" करना चाहिए गाथा २९ में निगोद का पर्यायवाची क्षुद्र शब्द दिया भी है। इसके सिवा गोम्मटसार जीवकाण्ड में भी जो इसी के समान गाथा है उसमें भी निगोद की जगह क्षुद्र शब्द का प्रयोग है देखो- -

तिण्णिसया छत्तीसा छावट्ठि सहस्सगाणि मरणाणि।
अन्तो मुहुत्तकाले तावदिया चेव खुद्दभवा ॥ १२२ ॥

'निगोद' का 'क्षुद्र, कुत्सित, अप्रशस्त, हीन, अर्थ भी होता है देखो—

(१) सूत्र प्राभृत गाथा १८ "तत्तो पुण जाई निग्गोदं" में निगोद का अर्थ श्रुतसागर ने अप्रशंसनीय दिया है—

(निगोदं प्रशंसनीयगतिं न गच्छतीत्यर्थः)

(२) हरिवंश पुराण (जिनसेन कृत) सर्ग ४—

मृदङ्ग नाडिकाकारा निगोदा पृथ्वीमये ॥ ३४७ ॥
ते चतुर्थ्यांच पंचम्यां नारकोत्पत्तिभूमयः ॥ ३४८ ॥
सर्वेन्द्रक निगोदास्ते त्रिद्वारास्त्र त्रिकोणकाः ॥ ३५२ ॥
घर्मा निगोदजाः जीवा समुत्पत्य पतन्त्यधः ॥ ३५५ ॥

नरक में नारकियों के जो उत्पत्ति स्थानों इन्द्रक आदि बिल है उन कुत्सित स्थानों को यहाँ 'निगोद' कहा है।

संस्कृत टिप्पणकार ने भी यही अर्थ किया है:—"निगोद: नारकोत्पत्ति स्थानानि।"

धर्म विलास (द्यानतराय कृत) पृष्ठ १७ —(उपदेश शतक)

बसत अनन्तकाल बीतत निगोद मांहि।
अखर अनन्तभागज्ञान अनुसरे हैं।
छांसठि सहस तीन सै छत्तीस बार जीव।
अंतर मुहूरत में जन्मे और मरे हैं॥ ६८॥

दौलत विलास पृष्ठ ८०—जब मोहरिपु दीनी घुमरिया तसवश निगोद में पड़िया।

तहं श्वास एक के मांहि अष्टादश मरण लहाहि॥
लहि मरण अन्तमूं हूर्त में छयासठ सहस शत तीन ही।
षट्तीस काल अनन्त यों दुख सहे उपमा ही नहीं॥

पृष्ठ ३७—फिर सादि औ अनादि दो निगोद में परा,

जहं अंक के असंख्य भाग ज्ञान ऊबरा।
तहं भवअन्तमूं हुर्त के कहे गणेश्वरा।
छयासठ सहस त्रिशत छत्तीस जन्मधर मरा।
यों बसि अनन्तकाल फिर तहाँ ते नीसरा॥

इन उल्लेखों में ६६३३६ क्षुद्रभव सिर्फ निगोद-एकेन्द्रिय के ही बताए हैं यह ठीक नहीं है।

वृन्दावन कृत चौबीसी पूजा (विमलनाथ पूजा जयमाल) में यह कथन ठीक दिया हुआ है वहाँ देखो।

श्वेताम्बर ग्रन्थों में इस विषय में कथन इस प्रकार है :—

"जैनसिद्धान्त बोलसंग्रह" दूसरा भाग (सेठिया जैन ग्रन्थमाला बीकानेर) पृष्ठ १६-२१ में लिखा है :—

अनन्त जीवों के पिण्ड भूत एक शरीर को निगोद कहते हैं। लोकाकाश के जितने प्रदेश हैं उतने सूक्ष्म निगोद के गोले हैं एक एक गोले में असंख्यात निगोद हैं एक-एक निगोद में अनन्त जीव है। ये एक श्वास मे—**कुछ अधिक १७ जन्म मरण** करते हैं, (एक मुहूर्त में मनुष्य के ३७७३ श्वासो च्छ्वास होते हैं) एक मुहूर्त में **६५५३६** भव करते हैं, निगोद का एक भव २५६ आवलियों का होता है। सूक्ष्म निगोद में नरक से भी अनन्तगुणा दु.ख। अज्ञान से) है।

सत्तरस समहिया किर इगाणु पाणम्मि हुंति खुड्डभवा।
सगतीस सय तिहुत्तर पाणू पुण इग मुहुत्तम्मि ॥
पणसट्ठि सहस्स पणसय छत्तीसा इग मुहुत्त खुड्डभवा।
आवलियाणं दो सय छप्पन्ना एग खुड्डभवे ॥

दिगम्बर आम्नाय में जहाँ १८ वार जन्म-मरण बताया है श्वेताम्बर आम्नाय में कुछ अधिक १७ वार बताया है। दिगम्बर आम्नाय में क्षुद्रभवों की संख्या ६६३३६ बताई है तब श्वे० आम्नाय में ६५५३६ बताई है दिगम्बर आम्नाय में यह संख्या स्थावर और त्रस सभी लब्ध्यपर्याप्तकों की बताई है किन्तु श्वेताम्वर आम्नाय में इसके लिए सिर्फ एक निगोद शब्द का सामान्य प्रयोग किया है। दोनों आम्नायों मे इस प्रकार यह मान्यता भेद है (यह भेद सापेक्षिक है दोनो की संगति सम्भव है)

महान् सिद्धान्त ग्रन्थ धवला में निगोद का कथन—भाग ३ पृष्ठ ३२७, भाग ४ पृष्ठ ४०६, ४०८, भाग ७ पृष्ठ

५०६. भाग ८ पृष्ठ १६२, भाग १४ पृष्ट ८६ आदि में है। ब्रह्मचारी मूलशंकर जी देशाई ने अपनी वृहद् पुस्तक "श्री जिनागम" पृष्ठ १७५ से १८१ में धवला के कथनों की आलो- की है और यहाँ तक लिखा है कि—धवलाकार ने "निगोद" के अर्थ को समझा ही नहीं है किन्तु हमें देशाई जी के कथन में कुछ भी वजन नहीं मालुम पड़ता है। धवला का कथन कोई आपत्तिजनक नहीं है। अगर देशाई जी हमारे इस लेख की रोशनी में पुनर्विचार करें तो उन्हें भी धवला का कथन सुसंगत प्रतीत होगा।

भावपाहुड की उक्त २८ वीं गाथा की संस्कृत टीका श्रुतसागर ने शब्दार्थ मात्र की है। अतः उससे भी—विषय स्पष्ट नहीं होता है।

इन दिनों श्री शान्तिवीर नगर[५] से अष्ट पाहुड ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसके हिन्दी अनुवादक श्री पं० पन्नालाल जी साहित्याचार्य सागर हैं। अनुवादक जी ने उक्त गाथा २८ का अर्थ करते हुए लिखा है कि—६६३३६ भव निकोत जीवों के होते हैं न कि निगोद जीवों के। निकोत शब्द का अर्थ आपने लब्ध्यपर्याप्तक जीव किया है। किन्तु आपने ऐसा कोई शास्त्र प्रमाण नहीं लिखा जहाँ निकोत का अर्थ लब्ध्य- पर्याप्तक किया हो। वल्कि लाटी संहिता सर्ग ५ श्लोक ६१,

---

५. जिस तरह "श्री महावीर जी" पोस्ट आफिस है उसी तरह नदी के इस पार "श्री शांतिवीर नगर"—नाम से अलग नया पोस्ट आफिस खुल गया है।

९२, ९४, ८६ में साधारण और निकोत दोनों को एकार्थ-वाचक लिखा है।[6]

ऊपर जो ६६३३६ भव संख्या बताई है उसका मतलब यह है कि—एक अलब्धपर्याप्तक जीव जिसको कि त्रस और स्थावर पर्यायों में अलग-अलग अधिक से अधिक भव संख्या आगम में बताई है उन सब भवों को यदि वह लगातार धारण करे तो ६६३३६ भव धारण कर सकता है। इससे अधिक नहीं, इन सबों को धारण करने में उसे ८८ श्वास कम एक मुहूर्तकाल लगता है जिसे "अन्तर्मुहुर्त्त काल" संज्ञा शास्त्रों में दी है। इस हिसाब से—अलब्धपर्याप्तक जीव एक उच्छ्वास में १८ बार जन्मता है और १८ बार मरता है। अतः १८ का भाग ६६३३६ में देने से लब्ध संख्या ३६८५-१/३ आती हैं। यानी ३६८५ उच्छ्वासों में वह ६६३३६ भव लेता है और एक मुहूर्त्त के ३७७३ उच्छ्वास होते है। फलितार्थ यह यह हुआ कि ६६३३६ भव लेने में उसे ८८ श्वास कम एक मुहूर्त का काल लगता है। इन ६६३३६ क्षुद्रभवों में से किस-किस पर्याय में कितने-कितने भव होते है उसका विवरण इस भाँति है—

---

६. स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका पृष्ठ २०४ गाथा २८४ में लिखा है : —निगोदं शरीरं येषां ते निगोदाः निकोता वा साधारण जीवाः। भाव पाहुड गाथा ११३ की श्रुतसागर कृत संस्कृत टीका में भी निगोद और निकोत एकार्थवाची ही लिखे हैं।

मूलाचार (पंचाचाराधिकार गाथा २८ की वसुनन्दि कृत टीका) में पृष्ठ १९४-१९५ पर निकोत शब्द निगोद के पर्यायवाची रूप में दिया है।

एकेन्द्रियों के	—	६६१३२
द्वीन्द्रिय के	—	८०
त्रीन्द्रिय के	—	६०
चतुरिन्द्रिय के	—	४०
पंचेन्द्रियों में—		
असज्ञी तिर्यंच के	—	८
संज्ञी तिर्यंच के	—	८
मनुष्य के	—	८
	कुल जोड़=६६३३६	

देखो गोम्मटसार जोवकांड गाथा १२२—आदि तथा स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा बड़ा पृष्ठ ७६

एकेन्द्रियों के ६६१३२ क्षुद्र भवों का विवरण निम्न प्रकार है—

चार स्थावर और साधारण वनस्पति ये पाँचों सूक्ष्म वादर होने से १० भेद हुए। प्रत्येक वनस्पति बादर ही होती है अतः उसका एक भेद १० में मिलाने से ११ हुए। इन ११ का भाग उक्त ६५१३२ में देने से लब्ध ६०१२ आते हैं। बस हर एक अलब्धपर्याप्तक स्थावर जीव के ६०१२ क्षुद्रभव होते हैं। इस विषय को इस तरह समझना कि—कोई जीव किसी एक पर्याय में मरकर पुनः पुनः उसी पर्याय में लगातार जन्म-मरण करे तो कितने बार कर सकता है इसकी भी आगम में नियत संख्या लिखो मिलती है। जैसे नारकी-देव-भोग भूमिया जीव मरकर लगते हो दुवारा अपनो उसी पर्याय में पैदा नहीं हो सकते हैं। कोई जीव मनुष्य योनि में जन्म लिए

बाद फिर भी उसी मनुष्य योनि में लगातार जन्म ले तो वह ८ बार से अधिक नही ले सकता। पृथ्वी आदि ४ सूक्ष्म पर्याप्तक स्थावर जीव मर-मरकर अपनी उसी पर्याय में लगातार अधिक से अधिक असख्य बार जन्म ले सकते हैं। और पर्याप्तक निगोदिया जीव अनन्त बार जन्म ले सकते हैं। उसी तरह अलब्धपर्याप्तक जीव के लिये लिखा है कि—वह भी यदि अलब्धपर्याप्तक के भव धारण करे तो ऊपर जिस पर्याय में जितने भव लिखे है वहाँ वह अधिक से अधिक उतने ही भव धारण कर सकता है। जैसे किसी जीव ने सूक्ष्म निगोदिया में अलब्धपर्याप्तक रूप से जन्म लिया। यदि वह मरकर फिर भी वहाँ के वहाँ ही बार बार निरन्तर जन्म मरण करे तो अधिक से अधिक ६०१२ बार तक कर सकता है। इसके बाद उसे नियमतः पर्याप्तक का भव धारण करना पडेगा। भले ही वह भव निगोदिया का ही क्यों न हो। यदि वह पर्याप्तक में न जाये और फिर भी उसे अलब्धपर्याप्तक ही होना है तो वह सूक्ष्म निगोदिया में जन्म न लेकर बादर निगोदिया या अन्य स्थावर-त्रसों में अलब्धपर्याप्तक हो सकता है। वहाँ भी जितने वहाँ के क्षुद्रभव लिखे है उतने भव धारण किये बाद वहाँ से भी निकल कर या तो उसे पर्याप्तक का भव लेना होगा या उसी तरह अन्य स्थावर त्रसों में अलब्धपर्याप्तक रूप से जन्म लेना होगा। इस प्रकार से कोई भी जीव यदि सभी स्थावर त्रसो मे निरन्तर अलब्धपर्याप्तक के भवों को धारण करे तो वह ६६३३६ भव ले सकता है, इससे अधिक नहीं। ऊपर अलब्धपर्याप्तक मनुष्य के अधिक से अधिक ८ लगातार क्षुद्रभव लिखे है जिनका काल आधे श्वास से भी कम होता है। मतलब कि वह अर्द्ध श्वास कालमात्र

तक ही मनुष्य भव में रहता है। इतना ही काल अलब्ध-पर्याप्तक पंचेन्द्रिय संज्ञी-असंज्ञी तिर्यञ्चों का है। तदुपरांत उन्हें या तो किसी पर्याप्तक में जन्म लेना पड़ेगा या अन्य किसी स्थावरादि में अलब्धपर्याप्तक होना पड़ेगा।

यहाँ प्रश्न

अनादि काल से लेकर जिन जीवों ने निगोद से निकल-कर दूसरी पर्याय न पाई वे जीव नित्यनिगोदिया कहलाते हैं। नित्यनिगोदिया जीव पर्याप्तक ही नहीं, बहुत से अलब्ध-पर्याप्तक भी होते हैं। वहाँ के उन अलब्धपर्याप्तिकों ने भी आज तक निगोदवास को छोड़ा नहीं है। ऐसी सूरत में आप यह कैसे कह सकते हैं कि—निगोदिया अलब्धपर्याप्तक जीव अधिक से अधिक निरन्तर अपने ६०१२ क्षुद्रभव लिए बाद उन्हें निश्चय ही उस पर्याय से निकलना पड़ता है।

उत्तर

हाँ वहाँ से उन्हें भी अवश्य निकलना पडता है। अल-ब्धपर्याप्तक पर्याय को छोड़ कर वे पर्याप्तक—निगोद में चले जाते हैं। मूल चीज निगोद को उन्होंने छोडी नहीं जिससे वे नित्यनिगोदिया ही कहलाते हैं। इसी तरह वे पर्याप्त से अपर्याप्त और सूक्ष्म से बादर एवं बादर से सूक्ष्म भी होते रहते हैं। होते रहते हैं निगोद के निगोद में ही जिससे उनके निगोद का नित्यत्व बना ही रहता है।

निगोदिया जीव अलब्धपर्याप्तक अवस्था में निरन्तर रहें तो अधिक से अधिक सिर्फ ४ मिनट तक ही रह सकते. हैं। क्योंकि उनके लगातार क्षुद्रभव ६०१२ लिखे हैं। जो ३३४ उच्छ्वासों में पूर्ण हो जाते हैं। ३३४ उच्छ्वासों का काल ४

मिनट करीब का होता है। इस थोड़े से ४ मिनिट के समय में ६०१२ जन्म और इतने ही मरण करने से सूक्ष्म निगोदिया अलब्धपर्याप्तक जीवों के इस कदर संक्लेशता बढ़ती है कि उसके कारण जब वे जीव आखिरी ६०१२ वां जन्म लेने को विग्रहगति में ३ मोड़ा लेते हैं तो प्रथम मोड़ में ज्ञानावरण का ऐसा तीव्र उदय होता है कि उस समय उनके अतिजघन्य श्रुतज्ञान होता है। जिसका नाम पर्याप्तज्ञान है। यह ज्ञान का इतना छोटा अंश है कि यदि यह भी न हो तो आत्मा जड बन जाए। यह कथन गोम्मटसार जीव कांड गाथा ३२१ में किया है।

निगोद के विषय में एक और भ्रान्त धारणा फैली हुई है। कुछ जैन विद्वान् ऐसा समझे हुए हैं कि—'नरक की ७ वीं पृथ्वी के नीचे जो एक राजू शून्यस्थान है, जहाँ कि त्रसनाड़ी भी नहीं है वहाँ निगोद जीवों का स्थान है।"[7] ऐसा

---

७. (१) सूरत, जबलपुर आदि से प्रकाशित तत्त्वार्थ सूत्र (पाठ्य पुस्तक) में तीन लोक का नकशा दिया है उसमें ७ वें नरक के नीचे एक राजू में निगोद बताया है। ऐसा ही कथन कार्तिकेयानुप्रेक्षा (रायचन्द्र शास्त्रमाला) पृष्ठ ५६, ६२ में तथा सिद्धान्तसार संग्रह (जीवराज ग्रन्थमाला) पृष्ठ १४४ मे हिन्दी अनुवादकों ने किया है जब कि मूल और संस्कृत टीका में ऐसा कुछ नहीं है।
(२) जैन बाल गुटका (प्रथम भाग बाबू ज्ञानचन्द जैनी, लाहौर) पृष्ठ ३२ त्रसनाली के नीचे निगोद :—
(३) कर्मप्रकृति चरित्र (लोकानुप्रेक्षा के वर्णन में, हजारी लाल जी कृत भाषा) पृष्ठ १६१— नर्क निगोद पाताल विषै जहाँ क्षेत्र धुरा जू सांत बखानो।"

(४) द्यानतराय जी कृत चर्चा शतक के हिन्दी वचनिकाकार हर-जी मल जी ने पद्य ८, ११, १२, १३ की अपनी टीका में सातवें नरक के नीचे निगोद लिखा है (यह ग्रन्थ वीर प्रेस, जयपुर से प्रकाशित हुआ है)।

(५) बनारसी विलास (विक्रम संवत् १७०० में रचित) के "कर्म प्रकृति विधान" प्रकरण में लिखा है :—
जो गोलक रूपी पंचथाम, अण्डर खण्डर इत्यादि नाम।
ते सात नरक के हेट जान, पुनि सकल लोक नभ मे बखान।

(६) बुद्धि विलास (बखतराम शाह कृत विक्रम संवत १८२७) ग्रन्थारम्भ में—
रत्न शर्करा बालुका, पंक धूमतम मोदि।
बहुरि महातम सात ये तिनतल कही निगोदि॥ ११॥
प्रथम हि भूमि निगोदतलि लांबी चौड़ी जानि।
सात सात राजू कही, पुनि सुनिए गुणखानि॥ १६॥

(७) छहढाला (जैन पुस्तक भवन कलकत्ता की सचित्र) पृष्ठ ५— यद्यपि निगोद सर्वत्र पाये जाते हैं तथापि सात नरकों के नीचे खास निगोदों का स्थान है।

(८) "जैन मित्र" वैशाख सुदि ७ वी० नि० संवत् २४६४ "त्रिलोक परिचय" लेख में लेखिका ने लिखा है—
अधोलोक में नीचे सात नरक हैं इस सबसे नीचे निगोद लोक है।

समझना गलत है। जो सूक्ष्म निगोदिया जीव हैं वे तो त्रस नाड़ी और उससे बाहर सब लोक में ठसाठस भरे हुए हैं। ये ही नहीं, पृथ्वी आदि अन्य सूक्ष्म स्थावर जीव भी समस्त लोक में व्याप्त हैं। इसलिये सातवी पृथ्वी के नीचे ही निगोद कहना ठीक नहीं है, वह तो तीन लोक में सर्वत्र है। वह सातवीं पृथ्वी से नीचे भी है और अन्यत्र भी है। तथा ७ वीं पृथ्वी के नीचे केवल निगोद ही नहीं है वहाँ अन्य स्थावर जीव भी रहते हैं। ऐसा बृ० द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेवकृत संस्कृत टीका में लोकानुप्रेक्षा का वर्णन करते हुए कहा है—

"तस्मादधोभागे रज्जुप्रमाणं क्षेत्रं भूमि रहित निगोदादिपंच स्थावरभृतं च तिष्ठति।" अर्थ—उस सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजूप्रमाण क्षेत्र भूमि रहित है वहाँ निगोद को आदि लेकर पाँच स्थावर जीव तिष्ठते हैं।

स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका में (पृष्ठ ५६ में) भी इसी गद्य को उद्धृत करके यही बात दर्शायी है।[८]

---

८. और यही बात नरेन्द्रसेनाचार्यकृत—सिद्धान्तसार संग्रह अध्याय ६ श्लोक ९ में कही है:—ततोऽप्यस्तादधरा शून्य रज्जुमानं सुदुस्तरम्। क्षेत्रमस्ति निगोतादि जीवस्थान मनेकधा॥ इसमें निगोद के आगे आदि शब्द देकर पंचस्थावरों का संसूचन किया है। पं० प्रवर गोपालदास जी बरैया ने भी "जैन सिद्धान्तदर्पण" पृष्ठ १६६ में यही लिखा है:—"सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजू प्रमाण आकाश निगोदादिक जीवों से भरा हुआ है।" अतः सातवीं पृथ्वी के नीचे एक राजू में सिर्फ निगोद ही बताना बिल्कुल गलत है।

प्रश्न—"सूक्ष्मनिगोद सर्वत्र है यह ठीक है पर ७ वीं पृथ्वी के नीचे जो निगोद कही जाती है वह बादर निगोद है।"[१]

उत्तर—ऐसा कहना भी उचित नहीं हैं। क्योंकि बादर जीव बिना आधार के रह नहीं सकते ऐसा सिद्धान्त है। गोम्मटसार जीवकांड गाथा १८३ में लिखा है कि—"आधारे थूलाओ सव्वत्थ णिरंतरा सुहूमा।" बादर जीव आधार पर रहते हैं और सूक्ष्म जीव सर्वत्र बिना व्यवधान के भरे हैं। स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि—

पुण्णा वि अपुण्णा वि य थूला जीवा हवंति साहारा।
छव्विह सुहुमाजीवा लोयायासे वि सव्वत्थ ॥ १२३ ॥

अर्थ—चाहे पर्याप्त हो या अपर्याप्त हो सब ही बादर जीव आधार के सहारे से रहते हैं। तथा पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु-नित्य निगोद और इतरनिगोद ये ६ सूक्ष्म जीव लोकाकाश में सब जगह भरे हैं।

नरक की ७ वी पृथ्वी के नीचे एक राजू प्रमाण क्षेत्र में वातवलयों को छोड़कर बाकी सारा स्थान निराधार है। और बिना आधार के बादर शून्यमय जीव रहते नहीं है तो वहाँ बादर निगोद भी कैसे मानी जा सकती

१. पं० माणिकचन्द जी न्यायाचार्य ने "तीन लोक का वर्णन" लेख में (सरल जैन धर्म) पृष्ठ १०६ में) लिखा है:—अधो लोक में सबसे नीचे एक राजू तक बादर निगोद जीव भरे हुए हैं और उसके ऊपर छह राजुओं में सात पृथ्वियाँ हैं।

है ?[10] दूसरी बात यह है कि—गोम्मटसार जीवकांड गाथा १९९ में वनस्पतिकायिक-विकलत्रय पंचेन्द्रिय तिर्यञ्च और मनुष्यों के (केवल शरीर-आहार शरीर को छोड़कर) शरीरों में बादर निगोदिया का स्थान बताया है। और सातवीं पृथ्वी के नीचे वातवलयों को छोड़कर शेष स्थान में न प्रत्येक वनस्पतिकायिक है और न त्रस है इससे भी वहाँ बादर निगोद का अभाव सिद्ध होता है।

प्रश्न—सातवें नरक के नीचे नित्य निगोद का स्थान मान लें तो क्या हानि है ?

उत्तर—ऐसा त्रिलोकसार की आर्यिका विशुद्धमति जी कृत हिन्दी टीका के पृष्ठ १५१ तथा ग्रन्थारम्भ में दी गई त्रिलोका कृति में प्रदर्शित है। किन्तु वह भी शास्त्र सम्मत नहीं है। यह विशेष कथन उनका स्वकल्पित है। त्रिलोक सार की मूल गाथा संस्कृत टीका और वचनिका किसी में ऐसा कथन नहीं है और न किसी अन्य ग्रन्थ में ही ऐसा कथन है। पं० पन्नालाल जी आर्चिटेक्ट दिल्ली ने भी तीन लोक के नकशे में सातवे नरक के नीचे नित्य निगोद प्रदर्शित किया है—वह भी सम्यक् नहीं है। नित्य निगोद वहाँ मानने में यह बाधा आती है कि—नित्य निगोद सूक्ष्म तथा बादर दोनों प्रकार का होता है। देखो—गोम्मटसार जीवकांड गाथा ७३ (यही कथय 'पंचसंग्रह' तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की शुभचन्द्र

१०. चर्चा समाधान (चर्चा नं० ६५) में सातवें नरक के नीचे बादर निगोद (पंचकल्याणक) का अभाव बताया है। सुदृष्टि तरंगिणी में भी पं० टेकचन्द जी सा० ने लिखा है कि—सातवें नरक के नीचे बादर निगोद बताने वाले कौन हैं।

कृत टीका में है।) जबकि बादर निगोद सातवें नरक के नीचे सम्भव नहीं है क्योंकि वह एक राजू स्थान निराधार है। और 'आधारे थूलाओ' सूत्रानुसार बादर साधार रूप में ही होते हैं, निराधार रूप में कदापि नही। अतः नित्य निगोद की अन्यत्र भी विद्यमानता होने से इस स्थान को ही नित्यनिगोद का बताना ठीक नही है। इसके सिवा सातवे नरक के नीचे सूक्ष्म निगोद ही नही अन्य भी सूक्ष्म स्थावर जीव पाये जाते हैं। ऐसी हालत में उसे एक मात्र नित्य निगोद का ही क्षेत्र बताना भी समुचित नही है। अत सातवे नरक के नीचे न तो एक मात्र नित्य निगोद या इतर निगोद है किन्तु निगोदादि पंच सूक्ष्म स्थावर हैं ऐसा मानना ही परिपूर्ण और निर्दोष होगा। और सब मान्यता एकांगी एवं असम्यक् होगी। "त्रिलोक भास्कर" (पृष्ठ ३) में आर्यिका ज्ञानमती जीने भी सातवे नरक के नीचे नित्य निगोद बताया है वह भी इसी तरह सदोष है।

इससे यह भी प्रगट होता है कि जिस प्रकार प्रत्येक वनस्पति के आश्रित बादर निगोद होने से वह सप्रतिष्ठित कहलाती है उसी तरह त्रस जीवों के शरीरों के आश्रित भी बादर निगोद जीव रहते है अतः त्रसकाय भी सप्रतिष्ठित कहलाता है[11] गोम्मटसार की उक्त गाथा १९९ में यह भी लिखा है कि—पृथ्वी-जल-अग्नि-वायु इन ४ स्थावरों के शरीर,तथा देव शरीर नारकी शरीर, अहारक शरीर, और केवली का शरीर

---

११. अनागार धर्मामृत पृष्ठ ४६१ में मलपरीषह प्रकरण में लिखा है:—उद्वर्त्तन (उबटन, मैल उतारने) में बादर प्रतिष्ठित निगोद जीवों का घात होता है।

सिर्फ इन आठ शरीरों में निगोदिया जीव नहीं होते, शेष सब शरीरों में निगोद जीव होते है। इसलिए अमृतचन्द्र स्वामी ने पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के निम्न श्लोक में मांस में निगोद जीव होने का कथन किया है—

आमास्वपि पक्वास्वपि विपच्यमानासु मांस पेशीषु ।
सातत्येनोत्पादस्तज्जातीनां निगोतानां ॥ ६७ ॥

अर्थ—कच्ची, पक्की, पकती हुई मांस की डलियों में मांस जैसे वर्ण-रस-गंध वाले निगोद जीव निरन्तर ही उत्पन्न होते रहते है।

पुरुषार्थ सिद्धयुपाय के इस श्लोक में प्रयुक्त "तज्जातीनां निगोतानां" का अर्थ कोई ऐसा करते हैं कि—जिस जाति के जीव का मॉस होता है उसमें उसी जाति के जीव पैदा होते है। जैसे बैल का मॉस हो तो उसमें बैल जैसे ही सूक्ष्म त्रस जीव पैदा होते है।" ऐसा अर्थ करने पर जब निगोद शब्द के साथ सगति बैठती नही, क्योंकि निगोदिया जीव त्रस होते नही तब वे निगोत शब्द का लब्ध्यपर्याप्तक अर्थ करके संगति बैठाने का प्रयत्न करने लगते हैं पर निगोत का लब्ध्यपर्याप्तक अर्थ किसी शास्त्र में देखने में आया नहीं है। यह गड़बड़ 'तज्जातीनां' शब्द का ठीक अर्थ न समझने की वजह से हुई है। इसलिए 'तज्जातीनां' का सही अर्थ यों होना चाहिए कि—"उसी मांस की जाति के (न कि उसी जीव की जाति के) अर्थात् उस मांस का जैसा वर्ण-रस-गंध है उसी तरह के उसमें निगोद जोव पैदा होते हैं।" ऐसा अर्थ करने से कोई असंगतता नही रहती। जिस प्राकृत गाथा की छाया को लेकर पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में उक्त पद्य रचा गया

है उस गाथा में भी मांस में निरन्तर निगोद जीवों की ही उत्पत्ति बताई है। वह गाथा यह है—

आमासु अ पक्कासु अ विपच्चमाणासु मंसपेसीसु।
सययं चिय उववाओ भणिओ उ निगोअजीवाणं॥

यह गाथा श्वेताम्बराचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र के तीसरे प्रकाश में उद्धृत की है। स्याद्वादमंजरी के पृष्ठ १७६ पर भी यह गाथा उद्धृत हुई है। तथा पुरुषार्थ सिद्धयुपाय की पण्डित टोडरमल जी साव ने वचनिका लिखी है। उसमें उक्त पद्य नं० ६७ का अर्थ इस प्रकार किया है— 'आली होउ, अग्निकरि पकाइ होउ, अथवा पकती होउ कछु एक पकी होउ, ऐसे सबही जे मांस की डली तिनविषे उसही जाति के निगोदिया अनन्ते जीव तिनका समय-समय विषै निरन्तर उपजना होय है। सर्व अवस्था सहित माँस की डलिनी विषै निरन्तर वैसे ही माँस सारिखे नये-नये अनन्त जीव उपजे हैं।''

यहाँ टोडरमल जी साव ने भी माँस में माँस जैसे ही निगोद जीव की उत्पत्ति लिखी है। न कि लब्ध्यपर्याप्तकों की। और देखो सागारधर्मामृत अ० २ श्लोक ७ में पं० आशाधर जी भी माँस में प्रचुर निगोद जीव बताते हुए निगोत का अर्थ साधारण-अनन्तकाय लिखते हैं। लब्ध्यपर्याप्तक नहीं लिखते। यहाँ यह भी समझना कि—जैसे स्थावर वनस्पतिकाय में जो बादर निगोदजीव पैदा होते हैं। वे भी तो उस वनस्पति के रूप-रस-गन्ध जैसे ही पैदा होते हैं। वैसे ही त्रस जीवों के कलेवरों में समझ लेना चाहिए। यह एक जुदी बात है कि—तिर्यञ्चों के मांस में निगोद जीवों के अतिरिक्त लब्ध्यपर्याप्तक और पर्याप्तक कृमि आदि त्रस जीव भी पैदा

हो जाते है। यहाँ तक की उसमें सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय लब्ध्य-पर्याप्तक तिर्यञ्च तक पैदा हो सकते हैं। परन्तु इसका मायना यह नहीं है कि बैल के कलेवर में बैल जैसे पंचेन्द्रिय सूक्ष्म लब्ध्यपर्याप्तक जीव पैदा होते है। ऐसा कोई आर्ष प्रमाण हो तो बताया जावे। मनुष्य के कलेवर में लब्ध्य-पर्याप्तक मनुष्यों का पैदा होना ऐसा तो शास्त्रों में स्पष्ट कथन मिलता है। परन्तु जिस जाति के तिर्यंच का कलेवर हो उसमें उसी तिर्यंच जाति के लब्ध्यपर्याप्तक सूक्ष्म जीव पैदा होते हैं ऐसा कथन नही मिलता है। तथा जिस प्रकार सभी सम्मूर्च्छिम मनुष्य नियमतः लब्ध्यपर्याप्तक ही होते हैं। उस तरह सभी सम्मूर्च्छिम तिर्यंच लब्ध्यपर्याप्तक नहीं होते वे पर्याप्तक भी होते हैं। इस तरह दोनों में विषमता होने से यह भी नहीं कह सकते कि जैसी उत्पत्ति लब्ध्यपर्याप्तक मनुष्यों की है। वैसी ही तिर्यंचों की भी है। यद्यपि आगम में पंचेन्द्रिय तिर्यञ्चों के गर्भज और सम्मूर्च्छिम ऐसे दो भेद जरूर किये हैं। पर इसका मतलब यह नहीं है कि जो बैल, हाथी घोड़े गर्भजन्म से पैदा होते हैं वे ही सम्मूर्च्छिम भी होते हैं। सम्मूर्च्छिम पंचेन्द्रिय तिर्यंच और ही होते हैं— जिस जाति के गर्भज तिर्यंच होते हैं उसी जाति के सम्मूर्च्छिम तिर्यंच नहीं होते ऐसा कहने में कोई बाधक प्रमाण नजर नहीं आता है।

रत्नकरण्ड श्रावकाचार श्लोक ६६ की टीका में पं० सदासुख जी ने लिखा हैं :—"मनुष्य तिर्यंचनि के माँस का एक कण में एते बादर निगोदिया जीव हैं जो त्रैलोक्य के एकेन्द्रिय से पंचेन्द्रिय तक जितने जीव हैं उनतैं अनंतगुणे हैं तातै अन्न जलादिक असंख्यात वर्ष भक्षण करे तिसमैं जो

एकेन्द्रिय हिंसा होय ताते अनन्तगुणे जीवनि की हिंसा सुई की अणीमात्र माँस के भक्षण करने में है पृष्ठ १८१।" पं० सदासुख जी साब ने भी माँस में जो निगोदिया जीव सतत उत्पन्न होते हैं उन्हें एकेन्द्रिय ही माना है। किन्तु "श्री जिनागम" पुस्तक के पृष्ठ ३२३ पर देशाई जी ने इस कथन की आलोचना की है जो ठीक नहीं है। पं० सदासुख जी का कथन आगमानुसार है।

श्री मूलशंकर जी देशाई ने अलब्धपर्याप्तक त्रसों को त्रसनिगोद की संज्ञा दी है। किन्तु वे संख्यात या असंख्यात ही उत्पन्न होते है अनन्त नही। यहाँ अनन्त का उल्लेख होने से स्थावर निगोद ही ग्राह्य है जो अपर्याप्तक औरपर्याप्तक दोनों होते है जबकि त्रस निगोद पर्याप्तक नहीं होते।

आशा है बहुश्रुतज्ञ विद्वान और त्यागी वर्ग इस निबन्ध पर गहरे चिंतन के साथ अपने विचार प्रकट करने की कृपा करेंगे।



* ऐलक—चर्या *

क्या होनी चाहिये और क्या हो रही है ?

हमारे कितने ही भाई ऐलक और मुनि में इतना ही भेद समझते हैं कि ऐलक लंगोट लगाते हैं और मुनि लंगोट नहीं लगाते नग्न रहते हैं। इसके सिवाय दोनों की चर्या में और कोई अन्तर नहीं समझते। और ऐलक जी भी स्वयं ऐसा ही समझते हैं। किन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नही है और आगम भी ऐसी साक्षी नहीं देते। शास्त्रों में वाह्यवेश के सिवाय,दोनों की चर्या में भी कुछ अन्तर जरूर रखा है। पर वह अन्तर आज लोप किया जा रहा है और बहुत कुछ लोप हो भी चुका है जिसका भान विद्वानों तक को नही होता। किन्तु तद्विषयक आगमों के देखने वालों को उक्त भेद स्पष्ट नजर में आने लगता है वह कैसे छिपाया जा सकता है।

ऐलक यह एक श्रावक का उत्कृष्ट लिंग है। इसके ऊपर मुनि होने के अतिरिक्त और कोई श्रावक का दर्जा नहीं इसी अभिप्राय से किन्हीं ग्रन्थों में उनका लघुमुनि, देशयति, मुनिकुमार या ऐसे ही किसी नाम से उल्लेख किया गया है। जब तक शरीर पर वस्त्र का एक धागा भी पड़ा रहेगा तब तक मुनि नहीं कहाये जा सकते, फिर उनके पास तो वस्त्र की बड़ी सी कौपीन रहती है। इसलिए ऐलकों की मान्यता और चर्या ऐलकों ही के अनुरूप होनी चाहिये, न कि मुनि के तुल्य। लेकिन हम देखते हैं कि ऐलक पद के लिए पूर्वाचार्यों ने जो कुछ सीमा बाँधी थी आज उसका उल्लङ्घन किया जा रहा

है। इदानी लंगोटधारी मुनियों की एक नई सृष्टि हो रही है।

ग्रन्थों में लिखा है कि जो जिस प्रतिमा का धारी है उसे उससे नीचे की प्रतिमाओ का पालना भी अनिवार्य है। प्रसिद्ध आचार्य स्वामी समन्तभद्र के 'रत्नकरण्ड' ग्रन्थ क कौन नहीं जानता। जैन विद्यालयों के छोटे-छोटे विद्यार्थी तको उससे परिचित हैं उसमें साफ लिखा है कि—

श्रावक पदानि देवैरेकादश देशितानि येषु खलु। स्वगुणाः पूर्वगुणैः सह संतिष्ठन्ते क्रमविवृद्धाः ॥ १३६ ॥

अर्थ—अर्हन्त देव ने श्रावकों के ग्यारह पद बतलाये है। उनमें अपनी प्रतिमा के गुण पहिले की प्रतिमाओं के गुणों के साथ-साथ अनुक्रम से बढ़ते हुये रहते हैं।

यही बात निम्न ग्रन्थों में भी पायी जाती है—

अभ्यस्तव्रतमारोहेत्पूर्वं पूर्वव्रत स्थितः।

— सोमदेवकृत यशस्तिलक ४४ वां काव्य

स्थानेष्वेकादशस्वेवं स्वगुणाः पूर्वसद्गुणैः।
संयुक्ताः प्रभवन्त्येते श्रावकाणां यथाक्रमम् ॥ ५४६ ॥

— वामदेवकृत भाव संग्रह

"व्रतादयो गुणा दर्शनादिभिः पूर्व गुणैः सह क्रमप्रवृद्धाः भवंति।"

— चामुन्डराय कृत चारित्रसार संस्कृत पृष्ठ २

सकल कीर्ति ने "धर्मप्रश्नोत्तर" नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ६० में 'उत्कृष्ट श्रावक कौन कहलाता है? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए लिखा है कि—

"जो अपनी पूर्ण शक्ति से ग्यारह प्रतिमाओं का (न कि एक ११ वी का) पालन करते है वे उत्कृष्ट श्रावक कहलाते हैं।"

ग्रन्थों के इस कथन के अनुसार ऐलको को जो कि ११ वीं प्रतिमा के धारी होते हैं नीचे की दसों प्रतिमाओं का पालन करना चाहिये किन्तु आजकल के प्रायः ऐलक प्रोषध नाम की चौथी प्रतिमा का जिसमें अष्टमी चतुर्दशी को चार प्रकार के आहार का त्यागरूप प्रोषधोपवास करना होता है कोई पालन नहीं करते। वे तो अपने को मुनि की तरह अतिथि बतलाते हैं। कदाचित् किसी ग्रन्थ में प्रसंगोपात्त कहीं उन्हें अतिथि लिख दिया हो तो उसका यह अभिप्राय कदापि नहीं हो सकता कि पर्व तिथियों में उनके लिए उपवास करने का नियम टूट गया समझ लिया जावे। वहाँ अतिथि शब्द को भिक्षुक अर्थ मे लेना चाहिए क्योंकि ऐलक भिक्षाभोजी होते है। अगर अतिथि शब्द का यह मतलब न लिया जावेगा तो आचार्यों की आज्ञा एक दूसरे के विरुद्ध पड़ेगी।

बल्कि निम्नलिखित ग्रन्थों में ११ वीं प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करते हुये उसके धारी को पर्वतिथियों में उपवास करने की खासतौर से प्रेरणा की गई है—

'उववास पुणणियमा चउव्विहं कुणई पव्वेसु' ॥ ३०३ ॥

— वसुनन्दिकृत श्रावकाचार

"पर्वसु चोपवासं नियमतश्चतुर्विधं कुरुते।"

— तत्त्वार्थवृत्ति भास्कर नन्दि कत—अ० ७ सू० ३६ पृष्ठ १८१

'कुर्यादेव चतुष्पर्व्यामुपवासं चतुर्विधं' ॥ ३६ ॥ अ० ७
— आशाधरकृत सागारधर्मामृत

'चतुर्विधोपवासं च कुर्यात्पर्वसु निश्चयात्' ॥ ६३ ॥ अ० ८
— मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार

इन चारों उद्धरणों में 'निश्चयात्' आदि वाक्यों से इस बात का बहुत अधिक जोर दिया गया है कि वह निश्चय से चारों पर्वतिथियों में उपवास करे ही। स्वयं आशाधर ने स्वोपज्ञ टीका में उक्त श्लोकार्द्ध के कुर्यादेव' शब्द की व्याख्या करते हुए लिखा है कि—

कुर्यादेव अवश्यं विदध्यादसौ। कं उपवासमनशनं। किं विशिष्टं चतुर्विध चतस्रोविधा आहारास्त्याज्या यस्मिन्नसौ चतुर्विधस्तं। चतुष्पर्व्यां मासि मासि द्वयोरष्टम्योर्द्वयोश्चतुर्दश्योः।

ग्यारहवीं प्रतिमा में व्रत एक ऐसी ऊँची हद तक पहुच जाते हैं कि नीचे की प्रतिमाओं के व्रत बिना कहे ही उनमें अन्तर्लीन हो जाते हैं किन्तु प्रोषधोपवास प्रतिमा का वहाँ अन्तर्भाव नहीं होता इसलिए उसे यहाँ खासतौर से अलग कहा है।

मुनि और ऐलक में भेद डालने वाली यह तो हुई एक बात। अब हम एक दूसरी बात और बतलाते हैं। वह यह है कि—

आजकल जो ऐलक खड़े आहार लेते हैं यह विधान मुनियों के लिये है ऐलकों के लिए नहीं। इस विषय के लगभग सभी ग्रन्थों में ११ वी प्रतिमाधारी को केवल बैठे भोजन करने

इजाजत दी है। पाठकों की जानकारी के लिए उन सब प्रमाणों को नीचे उद्धृत किये देते हैं—

"पाणिपात्र पुटेनोपविश्यभोजी"

— चारित्रसार संस्कृत पृष्ठ १६

"भुंजइ पाणपत्तम्मि भायणे वा सुई समुव इट्ठो" ॥ ३०३ ॥

— वसुनन्दि श्रावकाचार

पाणिपात्रे भाजने वा समुपविष्टः सन्नेकवारं भुंक्ते।

— तत्त्वार्थ वृत्ति भास्कर नन्दि कृत अ० ७ सू० ३६ पृ० १८१

'स्वयं समुपविष्टोऽद्यात्पाणिपात्रेऽथ भाजने' ॥ ४० ॥ अ० ७

— आशाधरकृत सागारधर्मामृत

'आद्य: पात्रेऽथवा पाणौ भुंक्ते स उपविश्यवं ॥ ६३ ॥ अ० ८

— मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार

'उपविश्य चरेद्भिक्षां करपात्रेऽङ्ग संवृत:' ॥ ५६६ ॥

— वामदेवकृत 'भावसंग्रह'

लोचं पिच्छं च संधत्ते भुंक्तेऽसौ चोपविश्यवं ॥ २७२ ॥

— ब्रह्मनेमिदत्तकृत "धर्मोपदेशपीयूषवर्ष"

लोचं पिच्छं धृत्वा भुंक्तेह्य पविश्य पाणिपुटे।

— शुभचन्द्रकृत स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका

यही श्लोक श्रुतसागर ने षट्प्राभृत की टीका में उक्तंच रूप से लिखा है। ★

पाणिपात्रेऽन्यपात्रे वा भजेद्भुक्तिं निविष्टवान् ॥ १८५ ॥

— गुणभूषणकृत श्रावकाचार

★ देखो सूत्र पाहुड़ की गाथा २१ की टीका।

ऊपर के इन तमाम ग्रन्थों में उपविश्य, समुवइट्ठो, समुपविष्टः, निविष्टवान्' वाक्य से साफतौर से ऐलक के लिये बैठा रहकर भोजन करना लिखा है।

यहाँ इतनी बात और कह देना योग्य है कि ग्यारहवीं प्रतिमा का जो स्वरूप ग्रन्थों में मिलता है वह एक प्रकार से नहीं पाया जाता। इसकी संज्ञा भी एक रूप में नहीं मिलती। कहीं इसे उद्दिष्टविरत, कही उत्कृष्ठ श्रावक, और कहीं इस समूची हो प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहा गया है। कहीं इसके दो भेद किये हैं—१. प्रथमोत्कृष्ट और २. द्वितीयोत्कृष्ट। कहीं प्रथमोत्कृष्ट के भी दो भेद किये हैं—१. एक भिक्षा नियम और २. अनेक भिक्षा नियम। इतना सब कुछ होते हुए भी प्राचीन ग्रन्थों में कहीं ऐलक नाम की उपलब्धि नहीं होती। ऐलक नाम की कल्पना बहुत ही पीछे की जान पड़ती है। प्रचलित में जो क्षुल्लक और ऐलक कहलाते हैं वे क्रम से प्रथमोत्कृष्ट और द्वितीयोत्कृष्ट के भेदों में गणना किये जा सकते हैं। साधारणतया क्षुल्लक और ऐलक की चर्या में यह भेद है कि क्षुल्लक क्षौर (हजामत) कराता है, एक वस्त्र (पछेवड़ी) रखता है, और पात्र में भोजन करता है। किन्तु ऐलक केशों का लोंच करता है, कौपीन मात्र वस्त्र रखता है और करपात्र भोजी है। कुछ भी हो यह तो निश्चित है कि ११ वीं प्रतिमा के किसी भी भेद प्रभेद वाले के लिए बैठे भोजन करने के सिवाय आगम में कहीं खड़े भोजन का कथन नहीं है।

सागारधर्मामृत, धर्मसंग्रह-श्रावकाचार, और गुण-भूषणकृत श्रावकाचार में पहिले प्रथमोत्कृष्ट श्रावक के लिए बैठे भोजन का वर्णन किये बाद द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की केश लुंचन आदि उन क्रियाओं का वर्णन किया है जो प्रथमोत्कृष्ट

से द्वितीयोत्कृष्ट में विशेष हैं। शेष क्रिया में द्वितीयोत्कृष्ट के लिए 'तद्वद्द्वितीयः' 'तथा द्वितीयः' 'द्वितीयोऽपि भवेदेवं' इन वाक्यों से वही रहने दी है जो प्रथमोत्कृष्ट के लिए कही गई थीं। वसुनन्दि श्रावकाचार में भी इसी तरह से कथन किया गया है। जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रगट है—

एवं भेओ होई णवर विसेसो कुणिज्ज णियमेण।
लोचं धरिज्ज पिच्छं भुजिज्जो पाणिपत्तम्मि ॥ ३११ ॥

इस गाथा में लिखा है कि—११ वीं प्रतिमा में प्रथम भेद से दूसरे भेद वाले में यही विशेषता है कि यह नियम से लौंच करता है, पीछी रखता है, और पाणिपात्र में भोजन करता है। और कोई विशेषता नहीं है।[1]

जरा सोचने की बात है कि अगर ग्रन्थकारों को ऐलक के लिए खड़ा भोजन कराना अभीष्ट होता तो उक्त विशेषताओं के साथ एक विशेषता खड़ा भोजन की भी लिख देते। किन्तु ऊपर के किसी ग्रन्थ में ऐसा नहीं लिखा गया है।

धर्मोपदेशपीयूषवर्ष, भावसंग्रह और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में तो साक्षात् द्विनीयोत्कृष्ट श्रावक (जिसे वर्तमान में ऐलक कहते हैं) को ही बैठे भोजन की आज्ञा की है। रहा चारित्रसार सो उसमें उद्दिष्टविनि वृत नाम की समूची ही ११ वीं प्रतिमाधारी को बैठे भोजन करना प्रतिपादन किया है।

१—कौपीन मात्र वस्त्र का रखना भी इसकी विशेषता है वह यहाँ इसलिए नहीं बताई कि उसका कथन ऊपर गाथा में कर दिया था।

यद्यपि ऊपर लिखित प्रमाणों में बैठे भोजन का विधान करना ही खड़े भोजन का निषेध सिद्ध कर देता है। फिर भी कुछ भाई कहते हैं कि क्या हुआ अगर बैठे भोजन करना लिख दिया तो, कही यह तो नही लिखा कि 'ऐलक खड़े भोजन न करें।' ऐसे कदाग्रहियों के सन्तोष के लिए भी वैसा एक प्रमाण नीचे और दे देते हैं। जिसमें साफ खड़े भोजन का निषेध किया गया है—

क्षुल्लकेष्वेककं वस्त्रं नान्यन्न स्थितिभोजनम् ।
आतापनादियोगोऽपि तेषां शश्वन्निषिध्यते ॥ १५५ ॥

टीका—क्षुल्लकेषु-सर्वोत्कृष्ठ श्रावकेषु । एककं-एकं । वस्त्रं-अंवरं पटः। नान्यत्-अन्यं-द्वितीयं वस्त्रं न भवति। न स्थितिभोजनं उद्भीभूयभ्यवहारोऽपि न भवति। आतापना-दियोगोऽपि-आतापवृक्षमूलाभ्रावकाशयोगश्च । तेषां-क्षुल्लकानां। शश्वत्-सर्वकालं। निषिध्यतेप्रतिषिध्यते।

गुरु दासाचार्य का बनाया हुआ एक 'प्रायश्चित्त-समुच्चय' नाम का ग्रन्थ है। जिस पर श्री नन्दिगुरु ने एक संस्कृत टीका भी लिखी है। वही का यह श्लोक मय टीका के है इसमें लिखा है कि—"क्षुल्लकों के लिये एक वस्त्र का ही विधान है दूसरे का नहीं। वे खड़े होकर भोजन भी नहीं कर सकते और उनके लिये आतापनादि योग भी सदैव निषिद्ध है।

"यह कथन क्षुल्लक के लिए है, ऐलक के लिए नहीं। श्लोक में भी साफ क्षुल्लकों के स्थिति भोजन का निषेध किया है।"

ऐसी शंका भी नहीं करनी चाहिए। क्योंकि प्राचीन ग्रन्थों में ऐलक नाम आता ही नहीं। जिसे आज हम ऐलक

कहते हैं उसे ही शास्त्रकारों ने क्षुल्लक नाम से भी लिखा है। स्वयं इसी ग्रन्थ में इसके अगले ही श्लोक में इस रहस्य को खोल दिया है। यथा—

क्षौरं कुर्याच्च लोचं वा पाणौ भुंक्तेऽथ भाजने।
कौपीनमात्रतंत्रोऽसौ क्षुल्लकः परिकीर्तितः ॥ १५६ ॥

अर्थ—क्षौर कराओ चाहे लोच, हाथ में भोजन करो चाहे पात्र में वह कोपीन मात्र का धारी क्षुल्लक कहा जाता है।

इससे स्पष्ट है कि यहां उस ऐलक को भी क्षुल्लक कहा गया है जो लौंच करता है, करपात्र में भोजन करता है और कौपीन रखता है। इसलिए इस ग्रन्थ में जिस क्षुल्लक के लिये स्थितिभोजन करना मना किया है उसे ऐलक भी समझना चाहिए।

यह कथन उस वक्त का है जबकि ११ वीं प्रतिमा के २ भेद नहीं थे एक ही था और उसे क्षुल्लक (टीका में उत्कृष्ट श्रावक) ही कहते थे इसी से उसके एक वस्त्र ही बताया है। आज यह एक वस्त्र ऐलक के माना जाता है और क्षुल्लक के दो वस्त्र (कौपीन और उत्तरीय) माने जाते हैं।

यह तो हुई संस्कृत प्राकृत ग्रन्थों की बात। अब हम इसकी पुष्टि में भाषा ग्रन्थों के भी तीन प्रमाण लिख देते हैं—

(१) पं० बुधजन जी कृत—तत्त्वार्थ बोध पृ० १५६ में लिखा है—

अईलक महापुनीत, केश लौंचे निज करतें।
ले करपात्र अहार, बैठि इक श्रावक घरतें ॥ ८२ ॥

(२) दौलत क्रिया कोश में लिखा है कि—

क्षुल्लक, जीमें पात्र मंझार,
　　ऐलि करें करपात्र अहार।
मुनिवर ऊभा लेइ अहार,
　　ऐलि[1] अर्यका बैठा सार ॥ ६२७ ॥
　　　　— प्रतिमावर्णनाधिकार

(३) पं० भूधरदास जी कृत पार्श्वपुराण में —

यह क्षुल्लक श्रावक की रीत,
　　दूजो ऐलक अधिक पुनीत।
जाके एक कमर कोपीन,
　　हाथ कमण्डल पीछी लीन ॥ १९७ ॥

विधिसों बैठि लेहि आहार[2] पाणिपात्र आगम अनुसार।
करै केस लुंचन अतिघोर, शीत घाम सब सहै शरीर ॥ १९८ ॥

पाणिपात्र आहार, करै जलांजुलि जोड़ मुनि।
खड़ो रहै तिहिवार, भक्तिरहित भोजन तजै ॥ १९९ ॥

एक हाथ में ग्रास धरि, एक हाथसों लेय।
श्रावक के घर आयके, ऐलक असन करेय ॥ २०० ॥

यह ग्यारह प्रतिमा कथन, लिख्यो सिद्धांत निहार।
और प्रश्न बाकी रहे, अब तिनि को अधिकार ॥
　　　　— ९ वां अधिकार ॥

१—ऐलक

२—यहाँ के मन्दिर जी के शास्त्र भण्डार में जो हस्त लिखित पार्श्व-पुराण है उस में भी यही पाठ है।

तीनों ही भाषा ग्रन्थों में ऐलक के लिए बैठा भोजन लिखा है। साथ ही दौलत क्रिया कोश में अर्यका के लिये भी बैठे भोजन करने का विधान किया है। भगवती आराधना अध्याय १ गाथा ८३ की वचनिका में पण्डित प्रवर सदासुख जी सा० ने भी आर्यिका के लिये बैठकर आहार ग्रहण करने की बात लिखी है। आर्यिका उपचार महाव्रती होती है जबकि क्षुल्लक-ऐलक पंचम गुणस्थानी अणुव्रती ही होता है ऐसी हालत में जब आर्यिका तक बैठा भोजन करती है तो क्षुल्लक-ऐलक खड़े भोजन कैसे कर सकता है ? यह तो साधारण बुद्धि भी सोच सकता है। खड़ा भोजन तो निर्ग्रन्थ महाव्रती साधु ही करता है इसीलिए साधु के ही २८ मूलगुणों में 'स्थिति भोजन' नाम का एक मूल गुण बताया है, अन्य के नहीं। स्त्रियों में क्षुल्लिका और आर्यिका पद ही होता है ऐलिका पद नहीं।

पं० भूधरदास जी ने एक नई और बात लिखी है। वे लिखते हैं कि–मुनि जो पाणिपात्र में आहार करते हैं वे अंजुली जोड़ कर करते हैं परन्तु ऐलक अंजुली जोड़ कर नहीं करते। वह तो एक हाथ पर धरे हुए ग्रास को अपने दूसरे हाथ से उठा कर खाता है। न मालूम भूधरदास जी ने यह बात किस आधार से लिखी है। सम्भव है कि यह ठीक हो क्योंकि इस विषय के ग्रन्थों में सामान्यरूप से पाणिपात्र आहार का उल्लेख मिलता है। दोनों ही तरह को पाणिपात्र कह सकते हैं। विद्वानों को इसकी खोज करनी चाहिए। पं० भूधरदास जो इस स कथन को सिद्धांत के अनुसार लिखा बताते हैं।

यहाँ पर एक आक्षेप का समाधान करना अनुचित न होगा, कुछ भाई कहते हैं कि—"अगर ऐलक मुनि की तरह

खड़े भोजन करते हैं तो एक ऊँची क्रिया करते हैं इसमें बुराई क्या हुई" इसके उत्तर के पहिले यह जान लेना जरूरी है कि मुनि खड़े भोजन क्यों करते हैं ? इसका कारण पद्मनन्दि पंचविंशतिका में यों लिखा है कि—

यावन्मे स्थितिभोजनेऽस्ति दृढ़ता पाण्योश्च संयोजने ।
भुञ्जेतावदहं रहाम्यथ विधावेषा प्रतिज्ञा यतेः ।
कायेऽप्यस्पृहचेतसोन्त्यविधिषु प्रोल्लासिनः सन्मुने ।
न ह्येतेन दिवि स्थिति र्न नरके संपद्यते तद्विना ॥ ४३ अ० १

अर्थ—जब तक मेरे खड़ा रह कर भोजन करने और दोनों हाथों के मिलाने में दृढ़ता रहेगी तभी तक आहार करूंगा अन्यथा त्याग करूंगा ऐसी यति की प्रतिज्ञा होती है । इसी प्रतिज्ञा को दिखाने के लिए मुनिजन दोनों हाथ की अंजुलि मिलाये हुये खड़े रह कर भोजन करते हैं । वरना इससे कोई शरीर से निःस्पृही और समाधिमरण में उत्साही मुनि को स्वर्ग नहीं मिलता और न उसके बिना नरक हो ।★

निम्न श्लोकों में सोमदेव ने भी ऐसा ही कहा है—

न स्वर्गाय स्थितेर्भुक्ति र्न श्वभ्रायास्थितेः पुनः ।
किन्तु संयमिलोकेऽस्मिन् सा प्रतिज्ञार्थमिष्यते ॥
पाणिपात्रं मिलत्येतच्छक्तिश्च स्थिति भोजने ।
यावत्तावदहं भुञ्जे रहाम्याहारमन्यथा ॥

— 'तीसरा काव्य'

★ पं० गजाधरलाल जी ने जो उक्त ग्रन्थ में इसका अनुवाद किया है वह बहुत ही स्खलित है ।

मूलाचार संस्कृत पृष्ठ ४४, अनगार धर्मामृत संस्कृत पृष्ठ ६८२, आचार सार पंचमोधिकार श्लोक १२२ में भी मुनि के स्थिति भोजन में यही कारण बताया गया है।

पाठक समझ गये होंगे कि मुनि जो खड़े आहार लेते हैं उसमें कितनी भीषण प्रतिज्ञा है। ऐसे कठिन अनुष्ठान के लिये श्रावक को अयोग्य समझकर ही ग्रन्थों मे ११ वीं प्रतिमा-धारी के लिए बैठे भोजन की आज्ञा प्रदान की गई है। और इसी आधार पर शायद भूधरदास जी ने पार्श्वपुराण में ऐलक के लिये अंजुली जोड़ कर भोजन करने का भी उल्लेख नहीं किया मालूम होता है। जो ऐलक कौपीन मात्र को नहीं त्याग सकता उसमें इतना साहस कहाँ से आ सकता है ? और इसी-लिये उसके आतापनादि योगों का भी निषेध शास्त्रों में किया गया जान पड़ता है। खुद पं० वामदेव ने भावसंग्रह में ११ वीं प्रतिमा वाले के वीरचर्या न होने का कारण कौपीन मात्र परिग्रह बतलाया है। वह वाक्य इस प्रकार है—

'वीरचर्या न तस्यास्ति वस्त्रखंड परिग्रहात्'। ५४८।

सोचने की बात है अगर ऊँची क्रिया के बहाने शास्त्र-विरुद्ध प्रवृत्ति की जायेगी तो—आर्यिका-क्षुल्लक व ब्रह्मचारी गण भी खड़े भोजन करना प्रारम्भ कर देंगे फिर उन्हें कैसे रोका जायगा ? अतः शास्त्रानुसार प्रवृत्ति करने में ही सबका हित है इसी से त्यागी वर्ग में अनुशासन बना रहेगा, अन्यथा स्वच्छन्दता फैल जायेगी। अगर ऐलक शुद्ध मन से ऊँची क्रिया पालने की भावना रखते हैं तो साहस करके लंगोटी छोड़ दें फिर उन्हें कोई खड़े भोजन से रोकने वाला नहीं मिलेगा।

इस प्रकार इस विषय में जितना भी विचार किया जाता है किसी भी तरह ऐलक के लिये खड़ा भोजन सिद्ध नहीं होता। इस विषय के सभी संस्कृत प्राकृत के उपलब्ध ग्रन्थ देखे गये उनमें कोई एक भी ऐलक को खड़े आहार की आज्ञा नहीं देता और किसी में भी यह लिखा नहीं मिलता कि ऐलक के वास्ते पर्वतिथियों में प्रोषधोपवास करने का नियम नहीं है। इतना विवेचन किये बाद भी यदि किसी अर्वाचीन मामूली ग्रन्थ में इसके विरुद्ध लिखा मिल जावे तो वह प्रमाण नहीं माना जा सकता। क्योंकि आधुनिक किसी भी ग्रन्थ का कोई भी शास्त्रीय विधान तब तक मान्य नहीं हो सकता जब तक कि उसका समर्थन पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से न होता हो। मुझे उस वक्त बड़ा आश्चर्य होता है जब मैं वर्तमान के कुछ पण्डितों की लिखी हुई छोटी मोटी पुस्तकों में ऐलक के लिये खड़ा भोजन का कथन पढ़ता हूँ। बगैर शास्त्रों के देखे यों ही किसी सुनी सुनायी बात को शास्त्र का रूप दे देना बहुत ही बुरा है ऐसी पद्धति पण्डितों को शोभा नहीं देती।

जो ऐलक मुनियों की बराबरी करने के लिये पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों में आज्ञा न होते भी खड़ा भोजन करता है और पर्व तिथियों में उपवास नहीं करता वह शास्त्र विहित चर्या नहीं करता है। उसकी इस प्रवृत्ति का विचारशील शास्त्र-वेताओं को पर्याप्त विरोध करना चाहिये। विज्ञजनों की उपेक्षावृत्ति से ही शास्त्र विरुद्ध रीतियों का जन्म होता है। इति।

सम्पादकीय नोट—लेखक ने बहुत श्रम करके लेख

लिखा है विद्वानों को विचार करके इस विषय में अपना मत प्रगट करना चाहिये।

हम भी प्रमाण संचित करने का प्रयत्न कर रहे हैं परन्तु अभी तक लेखक के विरोध में सिवाय रूढ़ि के और कोई प्रमाण नहीं मिला है। मूलचन्द किशनदास कापड़िया सूरत द्वारा संगृहीत प्रकाशित (वीर सं० २४४०) "लोपन क्रिया विवरण" पुस्तक के पृष्ठ १३ पर लिखा है—ऐलक पदवीमां विशेषता एछे कि—"उभारही ने पाणिपात्रज आहारज करे" किन्तु यह किसी भ्रमवश या गलती से लिखा गया है क्योंकि इसके लिए कोई प्रमाण या आधार वहां नहीं दिया गया है। यही हालत पं० हीरालाल जी शास्त्री की है उन्होने भी श्रावकाचार संग्रह भाग ४ की प्रस्तावना पृष्ठ ६३ में ऐलक के खड़े भोजन करने की बात लिखी है जो निराधार है।



६

पं० टोडरमल जी और शिथिलाचारी साधु

जिन देव-शास्त्र-गुरू की हम नित्य पूजा करते हैं उनमें देव शास्त्र के साथ गुरू का नाम भी जुड़ा हुआ है। इससे प्रगट होता है कि—गुरू यानी मुनि का पद भी कम महत्व का नही है। गुरू के लिये एक कवि ने यहाँ तक लिख दिया है कि—"वे गुरू चरण धरे जहाँ जग में तीरथ होइ।" ऐसे महान् पद के धारी मुनि भी केवल वेषमात्र से ही मुनि न होने चाहिए, किन्तु वेष के अनुसार उनमें मुनिपने का वह उज्ज्वल चारित्र भी होना चाहिये जो मुनियों के आचार शास्त्रों में लिखा है। आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में गुरू का लक्षण इस प्रकार लिखा है—

विषयाशावशातीतो निरारंभोऽपरिग्रहः।
ज्ञानध्यानतपोरक्तस्तपस्वी स प्रशस्यते ॥

अर्थ—जो इन्द्रियों के विषयों की आशा से दूर रहता हुआ आरम्भ परिग्रह से रहित और ज्ञान-ध्यान तप में तल्लीन रहता है, वही प्रशंसनीय मुनि कहलाता है।

इस महान पद की सुरक्षा के लिए हमारे पूर्वाचार्यों ने मुनियों के शिथिलाचार पर बड़ी कड़ी दृष्टि रक्खी है। वेष-मात्र को तो उन्होंने आदरणीय ही नहीं माना है। उन्होंने इस दिशा में सावधान रहने के लिए मुनिभक्तों को जो आदेश दिया है उसके कुछ नमूने हम यहाँ लिख देना उचित समझते हैं—

मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्त्व है। इसलिए गुणस्थानों का क्रमसम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों ज्यों चारित्र बढ़ता जावेगा त्यों त्यों ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है—ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढ़ता नहीं।

सबसे पहिले इस विषय में हम महर्षि कुन्दकुन्द की वाणी उद्धृत करते हैं :—

असंजदं ण वंदे वत्थविहीणोवि सो ण वंदिज्जो।
दोण्णिवि होंति समाणा एगोवि ण संजदो होदि ॥ २६ ॥
— "दर्शनपाहुड़"

अर्थ—असंयमी कहिये जो कि महाव्रती नहीं है—गृहस्थ है उसकी वन्दना न करे। और जो वस्त्र त्याग कर नग्नलिंगी बन गया है परन्तु सकल संयम का पालन नहीं करता है वह भी वन्दना के योग्य नहीं है। दोनों ही यानी गृहस्थ और मुनि वेषी एक समान हैं। दोनों में एक भी संयमी-महाव्रती नहीं है।

उक्किट्ठसींह चरियं बहुपरियम्मो य गरूयभारो य।
जो विहरइ सच्छंदं पावं गच्छेदि होदि मिच्छत्तं ॥ ९ ॥
— 'सूत्र पाहुड़'

अर्थ—जो स्वच्छन्द कहिये जिनसूत्र को उलंघन कर **प्रवर्तता है**, वह उत्कृष्ट सिंह—चारित्र का धारी, बहुपरिकर्म-वाला और गच्छनायक ही क्यों न हो तब भी वह पापी और मिथ्यादृष्टि ही है।

भावविसुद्धिणिमित्तं बाहिरगंथस्स कीरए चाओ।
बाहिरचाओ विहलो अब्भंतरगंथजुत्तस्स ॥ ३ ॥ भा. पा.

अर्थ—भावों को निर्मल रखने के लिये बाहिर में परिग्रहों का त्याग किया जाता है। त्याग करके भी जो अभ्यंतर परिग्रह कहिये विषय कषायादि का धारी है तो उसके बाह्य-त्याग निष्फल है।

भावविमुत्तो मुत्तो णय मुत्तो बंधवाइमित्तेण।
इय भाविऊण उज्झसु गंथं अब्भंतरं धीरा ॥ ४३ ॥

देहादिचत्तसंगो माणकसाएण कलुसिओ धीर।
अत्तावणेण जादो बाहुबली कित्तियं कालं ॥ ४४ ॥

— "भावपाहुड़"

अर्थ—जो रागादिभावों का त्यागी है वही त्यागी माना जाता है। केवल कुटुम्बादि के त्याग कर देने मात्र से ही कोई त्यागी नहीं कहलाता है। हे धीर! ऐसी भावना रखकर तू अभ्यन्तर परिग्रह जो रागादि भाव उनका त्याग कर।

देहादि से ममत्व त्याग परिग्रह छोड़कर कायोत्सर्ग में स्थित हुए बाहुवली मानकषाय से कलुषितचित्त हुए कितने ही काल तक (एक वर्ष तक) आतापन योग में रहे तो उससे क्या हुआ? कुछ भी सिद्धि न हुई।

भावेण होइ णग्गो बाहिरलिंगेण किं च णग्गेण।
कम्मपयडीण णियरं णासइ भावेण दव्वेण ॥ ५४ ॥

— "भावपाहुड़"

अर्थ—भाव से भी नग्न होना चाहिये, केवल बाहरी नग्नवेष से ही क्या होता है? जो द्रव्यलिंग के साथ-साथ

भावलिंग का धारी है वही कर्म प्रकृतियों के समूह का नाश करता है।

बहुदोसाणावासो सुमलिणचित्तो ण सावयसमो सो ॥ १५३ ॥

— **"भावपाहुड़"**

अर्थ—जो साधु मलिनचित्त हुआ मुनिचर्या में अनेक दोष लगाता है वह श्रावक के समान भी नहीं है।

धुवसिद्धी तित्थयरो चउणाणजुदो करेइ तवयरणं।
णाऊण धुवं कुज्जा तवयरणं णाणजुत्तो वि ॥ ६० ॥

— **"मोक्षपाहुड़"**

अर्थ—चारज्ञान के धारी और जिनकी सिद्धि निश्चित है, ऐसे तीर्थङ्कर भी तपश्चरण करते हैं ऐसा जानकर विद्वान् मुनि को भी निश्चय से तपस्या करनी चाहिये।

सुहेण भाविदं णाणं दुहे जादे विणस्सदि।
तम्हा जहाबलं जोई अप्पा दुक्खेहि भावए ॥ ६२ ॥

— **"मोक्षपाहुड़"**

अर्थ—सुख की वासना में रहा ज्ञान दुख पड़ने पर नष्ट हो जाता है। इसलिये योगी को यथा शक्ति दुख सहने का अभ्यास करना चाहिये। अर्थात् परीषहों को सहना चाहिये।

णाणं चरित्तहीणं लिंगग्गहणं च दंसणविहूणं।
संजमहीणो य तवो जइ चरइ णिरत्थयं सव्वं ॥ ५ ॥

— **'शीलपाहुड़"**

अर्थ—चारित्रहीन ज्ञान को, सम्यक्त्वरहित लिंगग्रहण को और संयमहीन तप को यदि कोई आचरता है तो ये सब उसके निरर्थक हैं।

जो विसयलोलएहिं णाणीहिं हविज्ज साहिदो मोक्खो ।
तो सो सच्चइपुत्तो दसपुब्वीओ वि किं गदो णरयं ॥३०॥

— "शीलपाहुड़"

अर्थ—यदि इन्द्रिय—विषयों के लोलुपी शास्त्रज्ञानियों ने ही मोक्ष साध लिया होता तो दशपूर्वों का ज्ञाता होकर भी सात्यकिपुत्र-रुद्र नरक में क्यों जाता ?

यह तो हुआ श्री कुन्दकुन्द स्वामी का उपदेश । इन्हीं सबका सारांश आचार्य श्री समन्तभद्र स्वामी ने रत्नकरण्ड श्रावकाचार में एक ही पद्य में कह दिया है ।

गृहस्थो मोक्षमार्गस्थो निर्मोहो नैव मोहवान् ।
अनगारो गृही श्रेयान् निर्मोहो मोहिनो मुनेः ॥

अर्थ—गृहस्थ यदि निर्मोही है तो वह मोक्षमार्ग का पथिक है । किन्तु मुनि होकर मोह रखता है तो वह मोक्षमार्ग का पथिक नहीं है । मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ माना जाता है ।

आचार्य गुणभद्र को तो बन को छोड़ रात्रि में बस्ती के समीप आ जाने मात्र मुनियों की इतनी सी शिथिलता भी सहन न हुई है । वे आत्मानुशासन में लिखते हैं—

इतस्ततश्च त्रस्यंतो विभावार्यां यथा मृगाः ।
वनाद्विशन्त्युपग्रामं कलौ कष्टं तपस्विनः ॥ १९७ ॥

अर्थ—जिस प्रकार इधर उधर से भयभीत हुए गीदड रात्रि में वन को छोड़ गांव के समीप आ जाते है, उसी प्रकार इस कलिकाल में मुनिजन भी बन को छोड़ रात्रि में गाँव के समीप रहने लगे हैं । यह खेद की बात है ।

रानी रेवती की कथा में आचार्य महाराज ने श्राविका रेवती को तो आशीर्वाद कहला भेजा। परन्तु वहीं पर रहने वाले ग्यारह अङ्ग के पाठी किन्तु चारित्र भ्रष्ट भव्यसेन मुनि को आशीर्वाद कहला नहीं भेजा।। मोक्षमार्ग में सम्यक्त्व और चारित्र का ही सर्वाधिक महत्व है। इसलिए गुणस्थानों का क्रम सम्यक्त्व और चारित्र की अपेक्षा से है, ज्ञान की अपेक्षा से नहीं है। ज्यों-ज्यों चारित्र बढ़ता जायेगा त्यों त्यों ही आत्मा ऊपर के गुणस्थानों में चढ़ता जावेगा। ऐसी बात ज्ञान की वृद्धि के साथ नहीं है– ज्ञान बढ़ता रहे तब भी गुणस्थान बढ़ता नहीं। अल्पश्रुत के धारी शिवभूति मुनि ने अपना तुसमाष को घोषते हुए सिद्धि को प्राप्त कर लिया। यही बात मूलाचार में कही है—

धीरो वइरग्गपरो थोवं हि य सिक्खिदूण सिज्झदि हु।
ण य सिज्झदि वेरग्गविहीणो पढिदूण सव्वसत्थाइं ॥३॥

— मूलाचार–"समय साराधिकार"

अर्थ—धीर-वीर वैराग्यपरायण मुनि तो थोड़ा पढ़ लिखकर ही सिद्धि को पा लेता है। किन्तु वैराग्यहीन मुनि सब शास्त्रों को पढ़कर भी सिद्धि को नहीं पाता है।

इन सब उल्लेखों में मुनि के निर्मल चारित्र को प्रधानता दी है। अर्थात् किसी मुनि में अन्य सभी गुण हों और चारित्र की उज्ज्वलता न हो तो सब निरर्थक है।

यह तो हुआ पूर्वाचार्यों का कथन। तदनन्तर वि० सं० १३०० के करीब में मुनिवेषियों का जो कुछ हाल था उसे देखकर पं० आशाधर जी ने अनगार धर्मामृत के दूसरे अध्याय में अपने निम्न विचार व्यक्त किये हैं—

मुद्रां सांव्यवहारिकीं त्रिजगतीवंद्यामपोद्यार्हतीं,
वामां केचिदहंयवो व्यवहरन्त्यन्ये वहिस्तां श्रिताः ।
लोकं भूतवदाविशंत्यवशिनस्तच्छायया चापरे,
म्लेच्छन्तीह तकैस्त्रिधा परिचयं पुंदेहमोहैस्त्यज ।। ९३ ।।

इस पद्य का अर्थ आशाधर जी ने स्वोपज्ञ संस्कृत टीका में जैसा किया है उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है—

वर्तमान काल में एक प्रकार के अहंकारी साधु तो वे हैं जो समीचीन रूप से व्यवहार में आने वाली और तीन जगत से वन्दनीय ऐसी आर्हतीमुद्रा जिनमुद्रा को छोड़कर उससे उल्टी जटा रखना, भस्म रमाना आदि विपरीत मुद्रा को धारण किये हुए हैं वे तो तापसी आदि हैं। जिस प्रकार क्षुद्र लोग खोटे सिक्के (मुद्रा) बनाकर प्रचार में लाते हैं उसी प्रकार ये तापसी विपरीत मुद्रा को धारण कर साधु नाम से प्रचार में आ रहे हैं। दूसरी प्रकार के साधु वे हैं जो द्रव्य जिन-लिंग के धारी बाहर से यानी शरीर से (न कि मन से) जिन मुद्रा को धारण कर जैन मुनि कहलाते हैं किन्तु इन्द्रियें उनके वश में नहीं हैं। वे धार्मिक लोगों से अनेक ऐसी चेष्टायें कराते हैं जैसे उनको कोई भूत लग गया हो। अर्थात् बाहर से जैन मुनि का वेष देख कर बिचारे धर्म पिपासु भोले जैनी उन पर ऐसे आकर्षित हो जाते हैं कि वे मुनि जैसा कहते हैं वैसा ही वे करने लग जाते हैं। उन भोले भावुक लोगों की ऐसी चेष्टा देखने से ऐसा प्रतीत होने लगता है कि मानों इन जैनी भाइयों को कोई भूत-प्रेत लग गया है जिससे बावले होकर यद्वा तद्वा चेष्टायें करते हैं। तथा तीसरी प्रकार के साधु वे हैं जो द्रव्य जिनलिंग को धारण करके मठों में निवास

करते हैं। और मठों के अधिपति बने हुए हैं। वे जिनलिंग की नकल करके मुनियों की तरह दिखते हुए म्लेच्छों के समान लोक विरुद्ध व शास्त्र विरुद्ध आचरण करते हैं। इस प्रकार ये तीनों ही तरह के कुत्सित साधु मानों मनुष्य शरीर के आकार में साक्षात् मोह के रूप ही हैं। ऐसा जान कर सम्यक्त्व के आराधक भव्य जीवों को चाहिये कि वे इनको न तो मन से अनुमोदना करें न वचन से प्रशन्सा करें और न काय से संसर्ग रक्खें[1]।

इस वक्तव्य में पं० आशाधर जी ने द्रव्यलिंगी के धारी उन नग्न जैन मुनियों को भी छोटे तापसियों की श्रेणी में बैठा कर उन सबको ही उन्होंने पुरुषाकार मोह मिथ्यात्व बताकर उनसे संसर्ग न रखने का उपदेश दिया है, यह खास तौर पर ध्यान देने की चीज है। पण्डितआशाधर जी ने अपने मन्तव्य की पुष्टि में यहां एक पुरातन श्लोक भी उद्धृत किया है जिसमें लिखा है कि ऐसे ही कुसाधुओं ने भगवान जिनेन्द्र के निर्मल शासन को मलिन किया है। यथा—

पण्डितै र्भ्रष्टचारित्रैर्बठरैश्च तपोधनैः।
शासनं जिनचन्द्रस्य निर्मलं मलिनीकृतम् ॥

आशाधर जी के इस प्रकार के उल्लेख से साफ प्रगट

१—('लेख विस्तार के भय से हमने यहाँ टीका के संस्कृत वाक्यों को नहीं लिखा है। इतना जरूर है कि पं० आशाधर जी ने संस्कृत टीका में जैसा लिखा है उसी को हूबहू हमने हिन्दी में लिख दिया है। हमने अपनी तरफ से बढ़ाकर कुछ भी नहीं लिखा है यह बात मूल पुस्तक से मिलाकर कोई भी देख सकता है।)

होता है कि—वे भी जैन मुनियों के शिथिलाचार के सख्त विरोधी रहे हैं।

एक बात ऊपर लिखनी रह गई है वह यह कि—पद्मनन्दिपंचविंशतिका में शय्या हेतु तृणादि का ग्रहण भी मुनियों के लिये लज्जाजनक बताया है। यथा—

दुर्ध्यानार्थमवद्यकारणमहो निर्ग्रन्थताहानये।
शय्याहेतुतृणाद्यपि प्रशमिनां लज्जाकरं स्वीकृतम्॥
यत्तत्किं न गृहस्थयोग्यमपरं स्वर्णादिकं सांप्रतं।
निर्ग्रंथेष्वपि चेत्तदस्ति नितरां प्रायः प्रविष्टः कलिः॥५३॥

अर्थ—शय्या के निमित्त जहाँ तृणादि (पयाल) का ग्रहण भी मुनियों के लिये लज्जाजनक है। क्योंकि तृणादि दुर्ध्यान और पाप के कारण है, उनका उपयोग करने से निर्ग्रंथता में भी हानि पहुँचती है—तब यदि आजकल के निर्ग्रन्थ साधु लोग गृहस्थ योग्य अन्य स्वर्ण, वस्त्र, रुपैया, पैसा, घड़ी (वाच) मठ, मकान, खेत आदि रखते हैं तो समझना चाहिये कि घोर कलिकाल आ गया।

अब हम लेख के शीर्षक के अनुसार पं० टोडरमल जी का इस विषय में क्या मत था, यह बताते हैं—

देश भाषा में ग्रन्थ बनाने वाले पिछले पण्डितों में श्री पं० टोडरमल जी साहब बड़े ही गम्भीर विचारक और मननशील विद्वान हुए हैं। उन्होंने देश भाषा में अभूतपूर्व और उच्चकोटि का एक मोक्षमार्ग प्रकाशक नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ का निर्माण किया है, जिसमें जैन धर्म के कई विषयों पर बड़े ही मार्मिक ढंग से ऊहापोह किया गया है। यह ग्रन्थ

प्रत्येक जिज्ञासु के पढ़ने योग्य है। इसी में साधुओं के शिथिलाचार के विषय में भी विशद विवेचना की है। उसके हम यहाँ दो उदाहरण देते हैं। ये सब उद्धरण उसके ६ वें अधिकार के हैं—

"बहुरि इनि भेषीनिविषे केकेई भेषी अपने भेषी की प्रतीति करावने अर्थि किंचित् धर्म का अंग को भी पालें हैं। जैसे खोटा रुपैय्या चलावने वाला तिस विषे किछु चांदी का भी अंश राखै हैं। तैसे धर्म का कोऊ अंग दिखाय अपना उच्च पद मनावै है। इहां कोई कहै कि (उन्होंने) जो धर्म साधन किया ताका तो फल होगा। ताका उत्तर—जैसे उपवास का नाम धराय कणमात्र भी भक्षण करै तो पापी है। अर एकासन का नाम धराय किंचित् ऊन भोजन (पूरे भोजन में कुछ कम) करै तो भी धर्मात्मा है। तैसे उच्चपदवी का नाम धराय तामैं किंचित् भी अन्यथा प्रवर्ते तो महापापी है। अर नीची पदवी का नाम धराय किछु भी धर्मसाधन करै तो धर्मात्मा है। जातै धर्मसाधन तो जेता बनै तेता ही कीजिये किछु दोष नाहीं, परन्तु ऊँचा नाम धराय नीची क्रिया किये महापाप ही हो है। सोई षट्पाहुड़ विषें कुन्दकुन्दाचार्य करि कहा है—

जह जायरूवसरिसो तिलतुसमित्तं ण गहदि अत्थेसु।
जइ लेइ अप्पबहुयं तत्तो पुण जाइ णिग्गोयं ॥ १८ ॥
"सूत्रपाहुड़"

याका अर्थ—मुनिपद है सो यथाजातरूप सदृश है। जैसा जन्म होतें था तैसा नग्न है। सो वह मुनि अर्थ जे धनवस्त्रादिक वस्तु तिन विषें तिलतुषमात्र भी ग्रहण न करै। बहुरि कदाचित्

अल्प या बहुत वस्तु ग्रहैं तो तिसतैं निगोद जाय। सो इहां देखो गृहस्थपने मैं बहुत परिग्रह राखि किछू प्रमाण करै तो भी स्वर्ग का अधिकारी हो है। अर मुनिपने मैं किंचित् परिग्रह अंगीकार कियें ही निगोद जाने वाला हो है। तातैं ऊँचा नाम धराय नीची प्रवृत्ति युक्त नाहीं।

अब इहां कुयुक्ति करि जे तिनि कुगुरुनि का स्थापन करै हैं तिनिका निराकरण कीजिये है। तहां वह कहे हैं—गुरु बिना तो निगुरा होय, अर वैसे गुरु अबार दीसै नाहीं, तातैं इनही को गुरु मानना।

ताका उत्तर—निगुरा तो वाका नाम है जो गुरु मानै ही नाहीं। बहुरि जो गुरु को तो मानै अर इस क्षेत्र विषैं गुरु का लक्षण न देखि काहू को गुरु न मानै तो इस श्रद्धान तैं तो निगुरा होता नाहीं। जैसे नास्तिक तो वाका नाम है जो परमेश्वर को मानै ही नाहीं। बहुरि जो परमेश्वर को तो मानै अर इस क्षेत्र विषैं परमेश्वर का लक्षण न देखि काहू को परमेश्वर न मानै तो नास्तिक तो होता नाहीं। तैसे ही यह जानना।

बहुरि वह कहै है जैनशास्त्रनि विषैं अबार केवली का तो अभाव कह्या है, मुनि का तो अभाव कह्या नाहीं।

ताका उत्तर—ऐसा तो कह्या नाहीं इनि देशनि विषैं सद्भाव रहैगा। भरतक्षेत्र विषै कहैं है सो भरतक्षेत्र तो बहुत बड़ा है। कहीं सद्भाव होगा तातैं अभाव न कह्या है। जो तुम रहो हो तिस ही क्षेत्र विषैं सद्भाव मानोगे तो जहाँ ऐसे भी गुरु न पावोगे, तहाँ जावोगे तब किसको गुरु मानोगे। जैसे हंसनि का सद्भाव अबार कह्या है अर हंस दीसते नाहीं

तो और पक्षीनि कों तो हंस मान्या जाता नाहीं। तैसे मुनि का सद्भाव अबार कह्या है, अर मुनि दीसते नाहीं तो औरनि कों तो मुनि मान्या जाय नाहीं।

बहुरि वह कहै है एक अक्षर का दाता को गुरु मानै है। जे शास्त्र सिखावै या सुनावै तिनिकों गुरु कैसे न मानिये ?

ताका उत्तर—गुरु नाम बड़े का है। सो जिस प्रकार की महनता जाकै संभवै तिस प्रकार ताकों गुरु संज्ञा संभवं जैसे कुल अपेक्षा माता पिता को गुरु संज्ञा है। तैसे ही विद्या पढ़ावने वाले कों विद्या अपेक्षा गुरु संज्ञा है। यहाँ तो धर्म का अधिकार है। तातैं जाकै धर्म अपेक्षा महंतता संभवै सो ही गुरु जानना। सो धर्म नाम चारित्र का है। "चारित्तं खलु धम्मो" (प्रवचनसार १—७) ऐसा शास्त्रविषै कह्या है। तातैं चारित्र का धारक हो को गुरु संज्ञा है। बहुरि जैसे भूतादिक का भी नाम देव है, तथापि यहा देव का श्रद्धान विषै अरहंत देव ही का ग्रहण है; तैसे औरनिका भी नाम गुरु है, तथापि इहाँ श्रद्धान विषैं निर्ग्रन्थ ही का ग्रहण है। सो जिन धर्म विषै अरहंत देव निर्ग्रंथ गुरु ऐसा प्रसिद्ध वचन है।………तातैं बाह्य आभ्यन्तर परिग्रह रहित निर्ग्रंथ मुनि है सो ही गुरु जानना।

यहाँ कोऊ कहै—ऐसे गुरु तो अबार यहाँ नाहीं। तातै जैसे अरहंत को स्थापना प्रतिमा है तैसे गुरुनिको स्थापना ये भेषधारी हैं।

ताका उत्तर—जैसे राजाकी की स्थापना चित्रामादिक करि करै तो राजा का प्रतिपक्षी नाहीं। अर कोई सामान्य मनुष्य आपको राजा मनावै तो राजा तिसका प्रतिपक्षी होइ। तैसे अरहंतादिक की पाषाणादि विषैं स्थापना बनावै तो

तिनिका प्रतिपक्षी नाहीं। अर कोई सामान्य मनुष्य आपको मुनि मनावै तो वह मुनिनिका प्रतिपक्षी भया। ऐसे भी स्थापना होती होय तो अरहन्त भी आपको मनावो।

बहुरि वह कहै है—अबार श्रावक भी तो जैसे सम्भवै तैसे नाही। तातैं जैसे श्रावक तैसे मुनि।

ताका उत्तर—श्रावक संज्ञा तो शास्त्रविषैं सर्व गृहस्थ जैनी कौं है। श्रेणिक भी असंयमी था ताकौं उत्तर पुराण विषै श्रावकोत्तम कह्या। बारह सभाविषैं श्रावक कहे, तहाँ सर्व व्रतधारी न थे, जो व्रतधारी होते तो असंयत मनुष्यनिकी जुदी संख्या कहते सो कही नाहीं। तातै गृहस्थ जैनी श्रावक नाम पावै है। अर मुनिसंज्ञा तो निर्ग्रन्थ बिना कहीं कही नाहीं।....मुनि के अट्ठाईस मूलगुण हैं सो भेषीनिके दीसते नाहीं। तातै मुनिपनों काहू प्रकार करि संभवै नाही। बहुरि गृहस्थ अवस्था विषै तो पूर्वं जम्बू कुमारादिक बहुत हिंसादिक कार्य किये सुनिए हैं। मुनि होय करि तो काहूने हिंसादि कार्य किये नाहीं, परिग्रह राखे नाहीं, तातै ऐसी युक्ति कारजकारी नाहीं। बहुरि देखो आदिनाथजी के साथ च्यारि हजार राजा दीक्षा लेय बहुरि भ्रष्ट भये तब देव उनको कहते भये-जिनलिंगी होय अन्यथा प्रवर्तोगे तो हम दंड देंगे। जिनलिंग छोड़ि तुम्हारी इच्छा होय सो तुम करो। तातैं जिनलिंगी कहाय अन्यथा प्रवर्तै ते तो दंडयोग्य हैं, वंदनादियोग्य कैसे होय ?....अन्य जीव उनकी सुश्रूषा आदि करैं हैं ते भी पापी हो हैं। पद्मपुराणाविषैं यह कथा है—जो श्रेष्ठी (सेठ) धर्मात्मा चारणमुनिनि को भ्रमतैं भ्रष्ट जानि आहार न दिया तो प्रत्यक्ष भ्रष्ट तिनकों दानादिक देना कैसे सम्भवै ?

यहाँ कोऊ कहै-हमारे अन्तरंग विषें श्रद्धान तो सत्य है परन्तु बाह्य लज्जाकरि शिष्टाचार करें हैं सो फल तो अन्तरंग का होगा।

ताका उत्तर—षट्पाहुड़विषें लज्जादि करि वंदनादिक का निषेध दिखाया था सो पूर्वे ही कह्या था। बहुरि कोऊ जोरावरी मस्तक नमाय हाथ जुड़ावे तब तो यह सम्भवै जो हमारा अंतरंग न था। अर आपही मानादिक तै नमस्कार करें तहां अंतरंग कैसे न कहिये। जैसे कोई अंतरंग विषें तो मांस, मदिरा को बुरा जानें अर राजादिक का भला मनावने को मदिरा पान और मांस-भक्षण करें तो वाको व्रती कैसे मानिये? तैसे अंतरंग विषें तो कुगुरु सेवन को बुरा जानें अर तिनिका या लोकनि का भला मनावने को कुगुरुसेवन करें तो श्रद्धानी कैसे कहिये? यातें बाह्य त्याग किये ही अन्तरंग त्याग सम्भवै है। तातैं जे श्रद्धानीजीव हैं तिनकों काहू प्रकार करि भी कुगुरुनिकी सुश्रूषा आदि करनी योग्य नाहीं।.... श्रद्धानी तो रागादिक को निषिद्ध श्रद्धै है। वीतराग भाव को श्रेष्ठ मानै है। तातै जिनके वीतरागता पाइये वैसे ही गुरुओं को उत्तम जानि नमस्कारादि करै है। जिनके रागादि पाइये तिनकों निषिद्ध जानि नमस्कारादि कदाचित भी करै नाही।

कोऊ कहै—जैसे राजादिक को नमस्कार करें तैसे इनको भी करें है।

ताका उत्तर—राजादिक धर्मपद्धति विषें नाही। गुरु का सेवन धर्मपद्धति विषै है सो राजादिका सेवन तो लोभादिक तें हो है। तहां चारित्रमोह ही का उदय संभवै है। अर गुरुनि की जायगां कुगुरुनिकों सेयें तत्त्वश्रद्धान के कारण गुरु थे तिनतें प्रतिकूली भया, सो लज्जादितैं जानै कारण विषें

विपरीतता निपजाई ताकै कार्यभूत तत्त्वश्रद्धान विषै दृढ़ता कैसे संभवै ? तातैं तहांदर्शनमोह का उदय संभवै है।"

इस प्रकार पंडित प्रवर टोडरमलजी ने विवेचन किया है जिसे देखकर कहना पड़ता है कि—आपने भी साधुओं के शिथिलाचार के विषय में पूर्वाचार्यों का ही अनुसरण किया है।

इन्हीं के कुछ समय बाद पंडित जयचन्द जी भी बड़े ही प्रतिभाशाली विद्वान् हुये है। आपने संस्कृत प्राकृत के कोई तेरह चौदह ग्रन्थों की देशभाषा में बड़ी उत्तम टीकाये लिखी हैं।

आपने दर्शनपाहुड़ की २६ वीं गाथा की टीका के भावार्थ में इस सम्बन्ध में निम्न प्रकार कथन किया है-- (यह गाथा इस लेख में ऊपर उद्धृत हुई है।)

"जो गृहस्थभेष धारया है सो तो असयमी है ही। बहुरि जो बाह्य नग्नरूप धारण किया अर अन्तरंग में भावसंयम नाहीं है तो वह भी असंयमी ही है। तातं ये दोऊ ही असंयमी हैं, तातै दोऊ ही वंदवे योग्य नाहीं। इहा आशय ऐसा है जो ऐसे मति जानियो—जो आचार्य यथाजातरूप कूं दर्शन करते आवै है सो केवल नग्नरूप ही यथाजातरूप होगा, जातैं आचार्य तो बाह्य आभ्यंतर सर्व परिग्रह सूं रहित होय ताकूं यथाजातरूप कहैं हैं, अभ्यंतर भावसंयम बिना बाह्य नग्न भये तो किछू संयमी होय हैं नाहीं, ऐसे जानना।

इहां कोई पूछे—बाह्यभेष शुद्ध होय आचार निर्दोष पालता ताके अभ्यंतर भावों में कपट होय ताका निश्चय कैसे होय ? तथा सूक्ष्म भाव केवलीगम्य हैं, मिथ्यात्व होय ताका निश्चय कैसे होय, निश्चय बिना वंदने की कहा रीति ?

ताका समाधान—ऐसा जो कपट का जेतैं निश्चय नाहीं होय तेतैं आचार शुद्ध देखि वंदै, तामैं दोष नाहीं, अर कपट का कोई कारणतें निश्चय हो जाय तब नहीं वंदै। बहुरि केवलीगम्य मिथ्यात्व की व्यवहार में चर्चा नाहीं, छद्मस्थ के ज्ञानगम्य की चर्चा है। जो अपने ज्ञान का विषय ही नाहीं ताका बाध निर्बाध करने का व्यवहार नाहीं, सर्वज्ञ भगवान् की भी यही आज्ञा है। व्यवहारी जीव कूं व्यवहार का ही शरण है।"

मतलब यह है कि मुनिलिंग पूज्य है अवश्य, पर केवल द्रव्यलिंग यानी वेषमात्र पूजनीय नहीं है। मुनि का बाह्य वेष द्रव्यलिंग कहलाता है। और कषायोपशम संयम सम्यक्त्वादिका होना भावलिंग कहलाता है। जैनशासन में भावलिंग रहित द्रव्यलिंग मान्य नहीं है। और द्रव्यलिंग रहित भावलिंग भी मान्य नहीं है, न दोनों ही लिंग रहित तीसरी अवस्था ही मान्य है। जैनमत मे तो संयुक्त द्रव्य भावलिंग मान्य है। इस विषय मे सिक्के का उदाहरण अच्छा घटित होता है। अगर रुपया चांदी का हो पर उस पर सरकारी मोहर ठीक नहीं हो तो वह ग्राह्य नहीं होता। और जो मोहर ठीक हो पर वह चांदी का न हो तो वह रुपया भी ग्राह्य नहीं होता। तथा चांदी और मोहर दोनों ही ठीक न हो तो वह भी ग्राह्य नहीं होता। रुपया वह चलेगा जिसमें चांदी और मोहर दोनों ठीक होगी। बस यही बात मुनिलिंग के विषय समझना चाहिए। सिक्के की चांदी को भावलिंग और मोहर को द्रव्यलिंग जानना चाहिये। फलितार्थ यह हुआ कि—भावलिंग के साथ धारण किया द्रव्यलिंग ही सिद्धि का कारण होता है। अकेले द्रव्य लिंग से कुछ सिद्ध नहीं होती। यही बात कुन्दकुन्द स्वामी ने भाव पाहुड़ में लिखी है—

णग्गत्तणं अकज्जं भावणरहियं जिणेहिं पण्णत्तं।
इयणाऊण य णिच्चं भाविज्जहि अप्पयं धीर ॥५५॥

अर्थ—भावरहित नग्नपणा कार्यकारी नहीं है ऐसा जिनेन्द्र ने कहा है। यह जानकर हे धीर! सदा तू आत्मा को भावना कर।

सिक्के के दृष्टान्त में यह बात समझने की है कि-जिस रुपये में चांदी ठीक हो पर उस पर सरकारी छाप (मोहर) ठीक न हो तो भले ही वह व्यवहारिक क्षेत्र में चल नहीं सकेगा तथापि उसको चांदी का मूल्य तो कुछ मिलेगा ही किन्तु द्रव्यसिक्का तो गिलट का हो और मोहर उसकी ठीक हो तो वह तो कुछ भी मूल्य न पावेगा। इसी तरह द्रव्यलिंग रहित भावलिंग चाहे अन्तिम सिद्ध मोक्ष का साक्षात् साधक नहीं है तथापि परम्परा साधक तो हो ही जावेगा। जैसा कि शिव-कुमार भावश्रमण होकर संन्यास से मरण कर ब्रह्मस्वर्ग मे विद्युन्माली देव हुआ। वही जंबूकुमार के भव में भावलिंग के साथ द्रव्यलिंग को धारण करके मोक्ष में गया।

(देखो 'जंबू स्वामी चरित')

प्रश्न—ये मुनिवेषी शिथिलाचारी हैं तो क्या हुआ। पापपंक में लिप्त हम गृहस्थों से तो अच्छे ही हैं। मुनिनिन्दा करने से घोर पाप का बंध होता है।

उत्तर—जिनकी अभी जिह्वालंपटता, पैसे की तृष्णा, विषय वासना नहीं छूटी, इंद्रियें जिनकी वश में नहीं हैं, जो अपने आदर सत्कार के इच्छुक हैं, कषाय भाव रखते हैं और परीषह नहीं सहते है ऐसे मुनि हम गृहस्थों से अच्छे नहीं कहला सकते हैं। नग्न होना एवं पिच्छी कमंडलु धारण करना तो बाह्य भेष है। इस भेष के साथ अन्तरंग में त्याग वैराग्य

भाव हो तो अच्छा कहा जा सकता है। खाली भेषमात्र तो अच्छा नहीं कहा जा सकता। अगर हर सूरत में मुनि का वेषमात्र ही गृहस्थ से श्रेष्ठ होता तो आचार्य समन्तभद्र स्वामी रत्नकरण्ड श्रावकाचार में यह नहीं लिखते कि मोही मुनि से निर्मोही गृहस्थ श्रेष्ठ है। और महर्षि कुन्दकुन्द भी दर्शन पाहुड की २६ वीं गाथा में असंयमी मुनि को गृहस्थतुल्य नहीं बताते। फिर गृहस्थ तो यह दावा नहीं करता कि मुझे तुम ऊँचा मानो। वह तो भीतर बाहर एकसा है अतः गृहस्थ तो कपटी नहीं है। किन्तु ये मुनिवेषी तो अपने को परम गुरु कहते हुए गृहस्थों से प्रणाम विनय कराते हैं और अपनी जय-जयकार बुलाते हैं। परन्तु बाहर जैसा मुनि का रूप इन्होंने बना रक्खा है, तदनुसार ये मुनि का आचार पालते नहीं हैं अर्थात् भीतर से मुनि नहीं हैं तो यह तो कपट व्यवहार हुआ। तब ये गृहस्थों से अच्छे कैसे हो गये? गृहस्थों से कोई ठगाया तो नहीं जाता, इन भेषियों से तो भोली जनता पग-पग पर ठगाई जा रही है। व्याघ्र से इतना खतरा नहीं जितना कि गोमुख व्याघ्र से होता है। ऐसे ढोंगी साधुओं की आलोचना करना मुनि निन्दा नहीं कहलाती है। वे मुनि ही नहीं तो निन्दा करने का सवाल ही नहीं रहता।

प्रश्न—यह जानते हुए भी कि—"अमुक जैन मुनि आचारहीन है" तथापि लोकलाज से हम गृहस्थों को उन्हें भी भोजनादि देना पड़ता है। हमारे द्वार पर आने वाले अन्य कोई भी जब भूखे नहीं जाते तो ये तो जैन मुनि का वेष लेकर आते हैं, तब भला इनको आहार कैसे नहीं दिया जाये?

उत्तर—अन्य को आहार देने में और जैनमुनि को आहार देने में बड़ा अन्तर है। अन्य को आहार देना यह गृहस्थ का

शिष्टाचार लौकिक पद्धति में है, और जैनमुनि को आहार देना यह धर्म पद्धति में है। इसीसे जैन मुनि को जो आहार दिया जाता है वह गुरुभाव से नवधा भक्ति पूर्वक दिया जाता है। नवधा भक्ति उनको की जाती है जबकि हमारे गुरु सच्चे और श्रेष्ठ तपस्वी हों। अगर हम जानते हुए भी ढोंगी साधु की नवधा भक्ति करते हैं तो हम अवश्य ही परम्परा से चले आये जैनमुनि के आदर्श और पवित्र मार्ग को बिगाड़ते हैं। और ऐसा करके ढोंग को प्रोत्साहन देने से निश्चय ही हम पाप का बन्ध करते हैं. रही लोकलाज की बात, सो बुरा काम तो लोकलाज से करने पर भी बुरा फल देगा ही।

आचार्य नेमिचन्द्र त्रिलोकसार में कुभोग भूमिका वर्णन किये बाद गाथा ९२२ में लिखते हैं कि--इन कुभोग भूमियों में वे जैन मुनि जाते हैं जो मुनि होकर कपट करते हैं ज्योतिष व मन्त्रादि का प्रयोग करते हैं, धन की वांछा रखते हैं, ऋद्धियश-साता रूप तीन गारव दोष युक्त और आहार-भय मैथुन-परिग्रह संज्ञा के धारी है।

कुछ लोग पुलाकमुनि का उदाहरण देकर आधुनिक मुनियों के शिथिलाचार का पोषण करते हैं वह भी ठीक नहीं है। पुलाक मुनि का वर्णन तत्त्वार्थ सूत्र के ९ वें अध्याय के सूत्र ४६-४७ में आया है। उसकी सर्वार्थ सिद्धि टीका में पुलाक मुनि को भावलिंगी और सामयिक छेदोपस्थापना संयम के धारी निर्ग्रन्थ बताते हुए यह लिखा है कि--"इनके कभी-कभी कहीं पर परवश से पाँच महाव्रतों में से किसी एक की कुछ विराधना भी हो जाती है।" इस कथन को देखते हुए जो

मुनि परवश न होकर भी अहर्निश कितने ही मूलगुणों में दोष लगाते हैं वे पुलाक मुनि नहीं माने जा सकते हैं।

आजकल के कतिपय साधुओं के शिथिलाचार का तो अजीब ही हाल है परिताप इस बात का है कि—उनको भी मानने पूजने वाले कई भोले जैनी भाई हैं। यह अन्ध भक्ति महिला वर्ग में विशेष पाई जाती है। धनादि की लालसा से कुछ सेठ लोग भी इसमें साथ दे रहे हैं और कतिपय स्वार्थी पण्डित भी हाँ में हाँ मिला रहे हैं तथा देखादेखी साधारण जन भी इसी प्रवाह में बह रहे हैं। कोई कहता है अमुक साधु बड़े करामाती हैं मन्त्र-जन्त्र से भक्तों के कार्य सिद्ध करते हैं कुओं का पानी भी मीठा बना देते हैं। कोई कहते हैं अमुक साधु भत भविष्यत् की बातें बता देते हैं। कोई कहते हैं अमुक साधु के चरणों मे और गले में सांप खेलते हैं। कोई कहते है अमुक साधु अपने तप के प्रभाव से खण्डित मूर्तियों को जोड़ देते है, आदि। किन्तु इन सब में कोई तथ्य नहीं।

मुनियों में जो शिथिलाचार तीव्र गति से बढ़ता जा रहा है उसके कारण जैन धर्म की महान् अप्रभावना हो रही है—यह बड़ी ही चिन्ता का विषय है। दिगम्बरत्व की जो प्रतिष्ठा आज के पचास साठ वर्ष पहले जैनेतर लोगों के मन में थी वह आज कहाँ है? मैं इसमें भक्तों की जिम्मेवारी ही ज्यादा समझता हूँ। भक्तों का कर्तव्य है कि वे मूलाचार आदि मुनियों के आचार-ग्रन्थों को पढ़ें और उनके अनुसार जिनका आचरण ठीक न हो उन्हें मुनि नहीं मानें और उनके शिथिलाचार के विषय में उन्हें स्पष्ट कहें। जब तक भेष पूजा का

व्यवहार दूर नहीं होगा, तब तक इस रोग का इलाज कभी नहीं होगा। पण्डित टोडरमल जी ने भेष पूजा का जो डटकर विरोध किया था उससे एक क्रान्ति उत्पन्न हुई थी, आज भी वैसी क्रान्ति की जरूरत है। हमें किसी भेषी की निन्दा के भय से नहीं अपितु मुनित्व की वस्तुस्थिति को प्रकट करने के लिए निर्भय होकर अपने विचार प्रकट करना चाहिए। इस सम्बन्ध में जो अपनी जिम्मेवारी को नहीं समझते वे बहुत बड़ी गलती करते हैं।



६

चामुण्डराय का चारित्रसार

दिगंबर जैन समाज में "चारित्रसार" नामक ग्रन्थ के रचयिता चामुण्डराय समझे जाते हैं। ग्रन्थ के परिसमाप्तिसूचक गद्य से भी यही ध्वनित होता है। किन्तु ग्रन्थ की हालत को देखते हुए चामुण्डराय को उसका निर्माता नहीं कह सकते। अधिक से अधिक हम उन्हें संग्रहकर्ता कह सकते हैं। निर्माता और संग्रहकर्ता में भेद है। निर्माता वह होता है जो ग्रन्थ की शाब्दिक रचना का अपनी बुद्धि से प्रणयन करता है। किन्तु संग्रहकर्ता में यह बात नहीं है। वह दूसरों के रचित वाक्यों को संचित कर उसका कोई नया नाम धर देता है। 'चारित्रसार' की भी प्रायः यही हालत है। यद्यपि धर्मशास्त्र नये नहीं बना करते। परम्परा से जो वाङ्मय चला आता है उसी के अनुसार कथन उनमें रहता है और प्रामाणिक भी वे तभी माने जाते हैं। लेकिन यह बात उनके अर्थ के संबंध में है। शब्द से तो वे भी नये बनते हैं। प्राचीन गूढ़ अर्थ को स्पष्ट करना और अपने शब्दों में कहना यही नवीन धर्मशास्त्रकारों का काम होता है। इस प्रकार की नवीन कृतियों में कहीं कहीं प्राचीन आगमों के वाक्य भी बिना उक्तं च लिखे ज्यों के त्यों उद्धृत कर लिए जाते हैं। जैसा कि सर्वार्थसिद्धि के वाक्य राजवार्तिक में और राजवार्तिक के वाक्य श्लोकवार्तिक में पाये जाते हैं। किन्तु इनके कर्त्ताओं ने जितना कुछ दूसरों से लिया है उससे कई गुणा अपनी बुद्धि से बनाकर रक्खा है। इसलिए ऐसों को तो ग्रन्थकर्त्ता ही कहने चाहिए। पर जो ग्रन्थ का बहुभाग या

समग्र ही कलेवर दूसरे के रचे वाक्यों से भरते हैं और अपनी बुद्धि कुछ भी खर्च नहीं करते, या करते भी हैं तो इतनी सी जैसे ऊंट के मुंह में जीरा, वे उस ग्रन्थ के निर्माता नहीं कहला सकते। अपना आटा हो और दूसरे का नमक तो वह रोटी अपनी कही जायगी। पर दूसरे का आटा हो और अपना केवल नमक, तो वह रोटी दूसरे ही की कही जायगी। चारित्रसार के सम्बन्ध में भी यही बात घटित होती है। चामुंडराय की निज की रचना या तो उसमें कुछ भी नहीं है और हो भी तो नमक के बराबर—बाकी आटा सब दूसरों का ही उधार लिया हुआ है। यह बात चारित्रसार और तत्वार्थराजवार्तिक को तुलनात्मक ढंग से अध्ययन करने वाले का स्पष्टतः दृग्गोचर हो सकती है। राजवार्तिक में से अनेक जगह का चारित्र-विषयक गद्य-भाग उठा उठाकर चारित्रसार में ज्यों का त्यों या कुछ मामूला हेरफेर के साथ धर दिया गया है। चारित्र-सार का करीब तीन तिहाई हिस्सा राजवार्तिक की रचना से ही भरा हुआ है। नीचे हम दोनों के वे स्थान बताते हैं। जहाँ एक समान गद्य पाया जाता है—

चारित्रसार पृष्ठ २ पंक्ति चौथी (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २ वार्तिक ३) चारित्रसार पृष्ठ २-३ में सम्यक्त्व का अष्टांगस्वरूप (राजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ वार्तिक १) चा० सा० पृ० ४ सम्यक्त्व के अतीचार (रा० वा० अ० ७ सु० २३) चा० सा० पृ० ४ शल्यविवेचन (रा० वा० अ० ७ सू० १८) चा० सा० पृ० ५ पंचाणुव्रत के लक्षण (रा० वा० अ० ७ सूत्र २०) चा० सा० पृ० ५ से ७ तक अणुव्रतों के अतीचार (रा० वा० अ० ७ में देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृ० ८ से

१५ तक शीलसप्तक के सिर्फ लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ में देखो इस विषय के सूत्र) चा० सा० पृष्ठ २२-२३ सल्लेखना का लक्षण और अतीचार (रा० वा० अ० ७ सू० २२-३७) चा० सा० पृ० २४ से २६ तक सोलह कारण भावनायें (रा० वा० अ० ६ सूत्र २४) चा० सा० पृष्ठ २७ से ३० तक दशधर्मों का विवेचन (रा० वा० अ० ६ सू० ६ में बिल्कुल यही है)। फर्क इतना मा है कि यहाँ पहिले अलग अलग धर्म का स्वरूप बताकर वार्तिक २८ में दसों ही का विशेष कथन किया है। और चारित्रसार में इस विशेष कथन को प्रत्येक धर्म के वर्णन के साथ ले लिया है तथा यहीं पर चारित्रसार में सत्य के १० भेदों का जो वर्णन है वह (राजवार्तिक अ० १ सूत्र २०, वा० १२ वे पत्र से लिया गया है) चा० सा० पृ० ३० समितियों का कथन (रा० वा० अ० ६ सू० ५) चा० सा० पृ० ३२ से ३७ तक अष्ट शुद्धियों का वर्णन (रा० वा० अ० ६ सू० ६ वा० १६) चा० सा० पृ० ३७ ३८ चारित्रकथन (रा० वा० अ० ६ सू० १८) चा० सा० पृ० ३६ वाक् मन का कथन (रा० वा० अ० ५ सू० १६ वा० १५ तथा २०) चा० सा० पृ० ३६ संरंभ-समारंभ-आरम्भ-कृत कारितानुमत के लक्षण (रा० वा० अ० ६ सू० ८) चा० सा० पृ० ४० से ४३ तक पंच पापो के लक्षण और उनकी भावनायें (रा० वा० अ० ७ में इस विषय के सूत्र देखो। इसी अध्याय के ६ वें सूत्र में जो पंच पापों का विशेष कथन है उसे ही चारित्रसार में प्रत्येक पाप के वर्णन में छाँट लिया है) चा० सा० पृ० ४४ (रा० वा० अ० ७ सूत्र १० की व्याख्या) चा० सा० पृष्ठ ४५ से ४७ तक का कथन (रा० वा० अ० ६ सू० ४६-४७) चा० सा० पृ० ४८ से ५७ तक बाईस परीषहों का वर्णन (रा० वा० अ० ६ सूत्र ८ से १७ तक) चा० सा० पृ० ५६ से ६३ तक

तपोवर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र १९-२०-२२, किस दोष में कैसा प्रायश्चित लेना यह रा० वा० अ० ९ सूत्र २२ वा० १० में समूचा बता दिया है। इसे ही चारित्रसार में हरण के प्रायश्चित के वर्णन में उद्धृत कर लिया है) चा० सा० पृ० ६४ की अन्तिम कुछ पंक्तियाँ (रा० वा० अ० ९ सू० २२ वा० १० का अन्तिम अंश) चा० सा० पृ० ६५ से ६८ तक (रा० वा० अ० ९ सू० २३ से २६ तक) चा० सा० पृ० ७६ (रा० वा० अ० ९ सू० ४४) चा० सा० पृष्ठ ७८ से ८९ तक द्वादश भावनाओं का वर्णन (रा० वा० अ० ९ सूत्र ७ से लिया गया है। यहाँ चारित्र-सार पृष्ठ ८० का "तत्र यावंतो लोकाकाशप्रदेशा:.............." से लेकर "व्यवहारकालेषु मुख्य:" तक का पाठ रा० वा० अ० ५ सूत्र २२ वा० २५-२६ से लिया है) चा० सा० पृष्ठ ९३ से १०१ तक ऋद्धियों का वर्णन* (रा० वा० अ० ३ सूत्र ३६) चा० सा० पृष्ठ १०२ से १०३ तक त्याग आकिंचन्य ब्रह्मचर्य का स्वरूप (रा० वा० अ० ९ सूत्र ६ वा० २१-२२-२८ सम्भव है चारित्रसार में इस तरह के और भी उद्धरण हों। जितने हमारी नजरों से गुजरे वे यहाँ हमने लिखे हैं।

पाठक देखेंगे कि चारित्रसार में राजवार्तिक से कितना मसाला लिया गया है। चारित्रसार के कुल १०३ पृष्ठ हैं। जिनमें से करीब २५ पृष्ठ छोड़कर बाकी सारा ग्रन्थ राज-

---

* छापे की भूल से यहाँ दो एक स्थान में पंक्तियां उलट पलट हो गयी हैं, जिससे वर्णन का सिल-सिला टूट गया है। खेद है कि इस भूल की सूचना ग्रन्थ भर में कहीं नहीं दी है। ऐसी ही गड़बड़ पृष्ठ ३३ में भी हुई है।

वार्तिक से चर्चित है। एक तरह से इसे राजवार्तिक का चारित्र भाग कहना चाहिए।

यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि मुद्रित राजवार्तिक में अशुद्धियों की भरमार है। यहीं क्या अन्य अनेक जैनग्रन्थों का प्रायः यही हाल है। खासकर सैद्धांतिक ग्रन्थों की छपाई में तो पूर्ण ध्यान इस बात का अवश्य रहना चाहिए कि कही कोई अशुद्धि न रहने पावे। किन्तु क्या कहा जाय, जैनग्रन्थ-प्रकाशकों का अजब हाल है। उनकी कार्य-प्रणाली इस सम्बन्ध में बड़ी ही अव्यवस्थित है जो महान खेदजनक है।

चारित्रसार से राजवार्तिक की कई अशुद्धियाँ दूर की जा सकती हैं। चारित्रसार भी अशुद्धियों से खाली नहीं है। इसकी अशुद्धियाँ भी राजवार्तिक से दुरुस्त हो सकती हैं। क्योंकि दोनों में अशुद्धियाँ एक स्थानीय नहीं हैं। अस्तु,

कुछ लोग शायद यहाँ यह कहने का भी दुःसाहस करें कि "अकलंकदेव ने ही चारित्रसार से मसाला लेकर राजवार्तिक में रक्खा हो" ऐसा कहने वालों को यह समझ रखनी चाहिए कि अकलंकदेव चामुंडराय से लगभग दो सौ वर्ष पहिले हुए हैं। तब उन्होंने चामुंडराय की कृति में से कुछ लिया हो यह कैसे सम्भव हो सकता है? इसके अलावा जिनसेन ने आदि पुराण में अकलंकदेव का स्मरण किया है। और चामुंडराय ने अपने चारित्रसार पृष्ठ १२ में "तथा चोक्तं महापुराणे" कहकर आदिपुराण का एक पद्य उद्धृत किया है। इससे भी चामुंडराय अकलंकदेव के उत्तरवर्ती सिद्ध होते हैं। बल्कि

चामुंडराय ने ही खुद चारित्रसार के अन्त में एक पद्य देकर इस विषय को खूब स्पष्ट कर दिया है। चामुंडराय लिखते हैं कि 'तत्वार्थराजवार्तिक, राद्धांतसूत्र, महापुराण और आचार ग्रन्थो मे जो विस्तार से कथन हैं उसी को संक्षेप में इस चारित्रसार मे मैंने कहा है।" वह पद्य यह है:—

**तत्वार्थराद्धांतमहापुराणेष्वाचारशास्त्रेषु च विस्तरोक्तम् ।
आख्यात्समासादनुयोगवेदी चारित्रसारं रणरंगसिंहः ।।**

इस पद्य मे प्रयुक्त 'तत्वार्थ" शब्द का अर्थ "तत्वार्थराजवार्तिक करना चाहिए। तत्वार्थ के साथ राद्धात नहीं लगाना चाहिये। राद्धात नामका अलग ग्रन्थ है। उसका उक्तं च चारित्रसार पृष्ठ ७१ मे "आदाहीण पदाहीणं......." आदि प्राकृत गद्य दिया है। आचारशास्त्र यहाँ मूलाचारादि समझना चाहिए। चारित्रसार मे मूलाचार की भी गाथायें उक्तं च रूप से पाई जाती है।

इससे यह साफ सिद्ध हो जाता है कि चामुण्डराय न केवल अकलंकदेव के बाद के ही है किन्तु महापुराणकार जिनसेन और गुणभद्र के भी बाद के हैं। यही समय नेमिचंद्राचार्य का है। क्योंकि चामुण्डराय और नेमिचन्द्र की समकालीनता निर्विवाद है। अतः इतिहासज्ञों ने जो दूसरे प्रमाणों से उनका समय ११ वीं शताब्दी प्रकट किया है वह बिल्कुल ठीक जान पड़ता है। और अब तो उसमें कोई सन्देह ही नहीं है।

इस लेख में जिस चारित्रसार के पृष्ठों का उल्लेख किया है वह 'माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला' द्वारा प्रकाशित समझना चाहिए।

सं० नोट – कटारिया जी का यह लेख विचारणीय है। इस "चारित्रसार" के संग्रह ग्रंथ सिद्ध होने पर भी मैं समझता हूं कि पाठकों की दृष्टि मे विद्वद्वरेण्य चामुण्डराय जी का पाण्डित्य खटक नहीं सकता। क्योंकि इनके द्वारा रचित आजतक के उपलब्ध कन्नड-मात्र ग्रन्थों मे सर्वप्रथम 'आदिपुराण" ही इनकी विद्वत्ता का ज्वलन्त दृष्टान्त है। इसके अतिरिक्त यह भी निर्विवाद सिद्धान्त है एवं विज्ञ कटारिया जी भी सर्वथा सहमत होंगे कि हमारे यह चामुण्डराय जी संस्कृत के भी अच्छे ज्ञाता थे। इस चरित्रसार मे जिस प्रकार इन्होंने राजवार्तिकादि ग्रन्थो से प्रचुर सहायता लेकर उसका उल्लेख नहीं किया है उसी प्रकार अपने कन्नड आदि पुराण में भी बीच बीच मे प्रस्तुत विषय को प्रमाणित करने के लिए चामुण्डराय ने भिन्न भिन्न ग्रन्थों के कई संस्कृत प्राकृत पद्यों को उद्धृत किया है। पर वहाँ भी उनका उल्लेख नही करने से कुछ विद्वानों ने उन पद्यों को इन्हीं की रचना समझ रक्खा था। इसी भ्रम को दूर करने के लिए मैंने "विवेकाभ्युदय" (मैसूर) के एक लेख में सप्रमाण सिद्ध कर दिया है कि ये पद्य अमुक अमुक ग्रंथ के हैं।

के० बी० शास्त्री



७

राजा श्रेणिक या बिम्बसार का आयुष्य काल

जैन शास्त्रों में राजा श्रेणिक की आयु के विषय में कहीं कोई स्पष्ट निर्देश नही मिलता है कि उनकी कितनी आयु थी। तथापि उनके कथा प्रसंगों से उनकी आयु का पता लगाया जा सकता है। इस लेख में हम इसी पर चर्चा करते है :—

उत्तरपुराण के ७४ वें पर्व में राजा श्रेणिक का चरित्र निम्न प्रकार बताया है :—

"राजा कुणिक की श्रीमती राणी से श्रेणिक नाम का पुत्र हुआ। राजा के और भी बहुत से पुत्र थे। राजा ने एक दिन सोचा कि इन सब पुत्रों में राज्य का अधिकारी कौन पुत्र होगा ? निमित्तज्ञानी के बताये निमित्तों से राजा को निश्चय हुआ कि एक श्रेणिक पुत्र ही मेरे राज्य का उत्तराधिकारी बनेगा। तब राजा ने दायादों से श्रेणिक की रक्षा करने के लिए श्रेणिक पर बनावटी क्रोध करके उसे नगर से निकाल दिया। वहाँ से निकलकर श्रेणिक दूर देश में जाने की इच्छा से चलता हुआ नन्दिग्राम में पहुंचा। किन्तु नन्दिग्राम के निवासियों ने राजाज्ञा के भय से राजकुमार श्रेणिक को कोई आश्रय नहीं दिया। इससे नाराज हो श्रेणिक आगे बढ़ा। रास्ते में उसे एक ब्राह्मण का साथ हुआ। उससे प्रेमपूर्वक अनेक बातें करता हुआ श्रेणिक उस ब्राह्मण के

मकान पर जा पहुंचा। श्रेणिक की वाक्चातुरी, यौवन आदि गुणों पर मुग्ध होकर उस ब्राह्मण ने उसके साथ अपनी युवा पुत्री का विवाह कर दिया। श्रेणिक अब यहीं रहने लगा। यहीं पर श्रेणिक के उस ब्राह्मण कन्या से एक अभयकुमार नाम का पुत्र हुआ। एक दिन श्रेणिक के पिता कुणिक को अपना राज्य छोड़ने की इच्छा हुई। कुणिक ने ब्राह्मण के ग्राम से श्रेणिक को बुलाकर उसे अपना सब राज्य सम्भला दिया। अब श्रेणिक राज्य करने लगा। पीछे से अभयकुमार और उसकी माता भी राजा श्रेणिक से आ मिले।

(श्लोक ४१८ से ४३०)

उत्तरापुराण पर्व ७५ में लिखा है कि :—

सिंधुदेश की वैशाली नगरी के राजा चेटक के १० पुत्र और ७ पुत्रियाँ थीं प्रियकारिणी, मृगावती, सुप्रभा, प्रभावती, चेलना, ज्येष्ठा, चन्दना ये उन पुत्रियों के नाम थे। ये सब— वय में उत्तरोत्तर छोटी छोटी थीं। इनमें सबसे बड़ी पुत्री प्रियकारिणी थी जो राजा सिद्धार्थ को ब्याही गई थी जिससे भगवान् महावीर का जन्म हुआ था। और सबसे छोटी पुत्री चन्दना थी जो बालब्रह्मचारिणी ही रह कर महावीर स्वामी की सभा में आर्यिकाओं में प्रधान गणिनी हुई थी। तथा गंधार देश के महीपुर के राजा[1] सत्यकी ने

[1] उत्तर पुराण पर्व ५७ श्लोक में 'सत्यको' पद है जिससे नाम 'सत्यक' प्रकट होता है किन्तु इसी के आधार पर बने पुष्पदत्त कृत अपभ्रंश महापुराण में इसी स्थल पर (भाग ३ पृ० २४३ में) 'सच्चइ' पद है जिससे नाम सत्यकि' प्रकट होता है इसके सिवा उत्तर

पुराण ही में सर्ग ७६ श्लोक ४७४ में "सत्यकि-पुत्रक" पद देते हुए सत्यकि नाम सूचित किया है अतः पर्व ७५ श्लोक १३ में सत्यको की जगह सत्यकि (सत्यकी शुद्ध पाठ होना चाहिए) इससे छन्दों भग भी नहीं होता है।

हरिवंशपुराण, तिलोय पण्णत्ती, तिलोयसार, हरिषेण कथाकोश विचारसार प्रकरण (श्वे) सभी मे ११ वे रुद्र का नाम सच्चइ सुअ (सत्यकि सुत) देते हुए इस राजा का नाम सत्यकि ही प्रकट किया है। इसी राजा का मुनि अवस्था मे उत्पन्न पुत्र ११ वा रुद्र है। अतः हमने 'सत्यकि' ही नाम सब जगह दिया है। हरिषेण कथा कोष में सत्यकि के साथ कही कहीं सात्यकि नाम भी दिया है। ब्र० नेमिदत्त कृत आराधना कथाकोष मे तो सात्यकी ही दिया है। प्राकृत के 'सच्चइ' पद का सात्यकि और सत्यकि दोनो बन जाता है। तथा 'कि' भी ह्रस्व और दीर्घ दोनो रूपो मे हो जाती है।

ज्येष्ठा पुत्री की याचना उसके पिता राजा चेटक से की थी। परन्तु चेटक ने उसे नहीं दी जिससे क्रुद्ध हो सत्यकि ने चेटक से सग्राम किया। संग्राम में सत्यकि हार गया। अतः लज्जित हो वह दमधर मुनि से दीक्षा ले मुनि हो गया। इसी तरह चेलना पुत्री को भी राजा श्रेणिक ने माँगी थी परन्तु उस समय श्रेणिक की उम्र ढल चुकी थी जिससे चेटक ने उसे देने से इन्कार कर दिया था। फिर अभयकुमार के प्रयत्न से छिपे तौर पर चेलना के साथ श्रेणिक का विवाह हुआ था उस प्रयत्न में ज्येष्ठा का विवाह सम्बन्ध भी श्रेणिक के साथ होने वाला था किन्तु चेलना की चालाकी से वैसा न हो

सका। इसी एक कारण से विरक्त हो ज्येष्ठा ने अपनी मामी यशस्वती आर्यिका से दीक्षा ले ली थी और वह आर्यिका हो गई थी। (श्लोक ३ से ३४ तक)

उत्तरपुराण पर्व ७६ श्लोक ३१ आदि मे लिखा है कि—श्रेणिक ने महावीर के समवशरण में जा वहाँ गौतमगणधर से पूछा कि—"अन्तिम केवली कौन होगा ?" इस पर गौतम ने कहा कि—वह यहाँ समवशरण में आया हुआ विद्युन्माली देव है जो आज से ७ दिन बाद जम्बू नाम का सेठ पुत्र होगा। जिस समय महावीर मोक्ष पधारेंगे उस समय मुझे केवलज्ञान होगा और मैं सुधर्म गणधर के साथ विचरता हुआ इसी विपुलाचल पर आऊँगा। उस वक्त इस नगर का राजा चेलना का पुत्र[1] कुणिक परिवार के साथ मेरी वंदना को आवेगा। तभी जम्बूकुमार भी मेरे पास आ दीक्षा लेने को उत्सुक होवेगा। उस वक्त उसके भाई बन्धु उसे यह कह कर रोक देंगे कि—थोड़े हो वर्षों में हम लोग भी तुम्हारे साथ दीक्षा धारण करेंगे। बन्धु लोगों के इस कथन को वह टाल नहीं सकेगा और वह उस समय नगर में वापिस चला जावेगा। तदनन्तर परिवार के लोग उसे मोह में फंसाने के लिए चार सेठो की चार पुत्रियों के साथ उसका विवाह रच देंगे। इतने पर भी जम्बूकुमार भोगानुरागी न हो कर उल्टे दीक्षा लेने को उद्यमी होगा। यह देख उसके भाई बन्धु और कुणिक राजा (श्लोक ११३) उसका दीक्षोत्सव मनायेंगे।

---

1. उत्तर पुराण के अनुसार श्रेणिक के पिता का नाम भी कुणिक है और पुत्र का नाम भी कुणिक है।

उस वक्त मुझे विपुलाचल पर विराजमान जानकर वह जम्बू उत्सव के साथ मेरे पास आ मेरी भक्ति पूर्वक वंदना कर सुधर्मगणधर के समीप संयम धारण करेगा। मेरे केवलज्ञान के १२ वें वर्ष जब मुझे निर्वाण प्राप्त होगा तब सुधर्माचार्य केवली और जम्बूस्वामी श्रुतकेवली होंगे। उसके बाद फिर १२ वें वर्ष में जब सुधर्म केवली मोक्ष जायेंगे तब जम्बूस्वामी को केवल ज्ञान होगा। फिर वे जम्बू केवली अपने भव नाम के शिष्य के साथ ४० वर्ष तक विहार कर मोक्ष पधारेंगे।

उत्तरपुराण पर्व ७४ श्लोक ३३१ आदि में लिखा है कि: -

एक दिन उज्जयिनी के स्मशान में महावीर स्वामी प्रतिमा-योग से विराजमान थे। उनको ध्यान से विचलित करने के लिए रुद्र ने उन पर उपसर्ग किया। परन्तु वह भगवान को ध्यान से डिगाने में समर्थ न हो सका। तब रुद्र ने भगवान का[2] महतिमहावीर नाम रखकर उनकी बड़ी स्तुति की और फिर नृत्य किया।

---

2 भारतीय ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित उत्तर पुराण पृ० ४६५-६६ मे महति और महावीर ऐसे २ नाम अनुवादक जी ने दिए हैं किन्तु मूल में एक वचनांत पद होने से 'महतिमहावीर' यह एक ही नाम सिद्ध होता है: देखो पर्व ७४ 'समहतिमहावीराख्यां कृत्वा विविधा स्तुती:' ॥४३६॥ इसी के आधार पर आशाधर ने भी त्रिषष्ठि स्मृति शास्त्र में सर्ग २४ श्लोक ३४ में 'महतिमहावीर' यह एक नाम सूचित किया है। इसी तरह स्वकृत सहस्रनाम के श्लोक ८१ में भी 'महति महावीर' यह एक नाम देते हुए उसका

अर्थ इस प्रकार किया है—अस्य मसस्य हतिहंननं महति- । महती महावीरः = महति महावीरः। (पापों के नाश करने के शूरवीर) पाक्षिकादि प्रतिक्रमण (क्रियाकलाप पृ० ७३) में महदि-महावीरेण वड्ढमाणेण महाकस्सवेण" पाठ आता है इसमें भी 'महति महावीर' यह एक नाम ही सूचित किया है। महदि प्राकृत का संस्कृत में महति और महाति दोनों रूप बनते हैं अतः कवि असग ने अपने महावीर चरित में 'महातिमहावीर' यह एक नाम दिया है जिसका अर्थ होता है महान् से भी अत्यन्त महान् वीर। स्व० पं० खूबचन्द जी सा० ने इसके हिन्दी अनुवाद में अतिवीर और महावीर ऐसे दो नाम बताये हैं जो मूल से विरुद्ध हैं मूल में तो एक वचनांत प्रयोग किया है देखो स महाति महादिरेष वीरः प्रमदादित्यभिधामवाप्तस्य ॥ १२६ ॥ पर्व १७ । अतः असग के अनुसार भी 'महातिमहावीरः' यह एक नाम ही सिद्ध होता है। ✽

धनंजय नाम माला के श्लोक ११५ में लिखा है—सन्मति महति वीरो महावीरोऽन्त्यकाश्यपः ॥ यहाँ महतिः 'वीर' महावीर ऐसे अलग अलग नाम बताये हैं यह कवि की प्रतिभा है अमरकीर्ति ने इसके भाष्य में 'महतिः' नाम का अर्थ इस प्रकार किया है— महती = पूजा यस्य स महतिः । किन्तु उत्तरपुराण आदि में 'महति महावीर' यह एक नाम ही दिया है। दो नाम इसलिए भी नहीं हो सकते कि — उत्तर पुराण पर्व ७४ श्लोक २६५ में 'महावीर' यह नाम सर्पवेषी संगमदेव ने पहिले ही रख दिया था, देखो — स्तुत्वा भवान्महावीर इति नाम चकार सः ।

✽ सकल कीर्तिकृत महावीर चरित में भी 'महति महावीर' यह एक ही नाम ठीक उत्तरपुराणानुसार दिया है:—

स्वयं स्खलपितुं चेतः समाधेरसमर्थकः ।
स महति महावीराख्यां कृत्वा विविधी स्तुतिः ॥

ऊपर हम लिख आये हैं कि—राजा चेटक की पुत्री ज्येष्ठा कुंवारी ही आर्यिका हो गयी थी और राजा सत्यकि जो ज्येष्ठा को चाहता था वह भी मुनि हो गया था। उत्तरपुराण में इनका इतना ही कथन किया है। किन्तु अन्य जैन कथा ग्रन्थों में इनका आगे का हाल भी लिखा मिलता है। हरिषेण कथाकोश की कथा नं० ६७ में लिखा है कि—

एक बार ज्येष्ठा आदि कितनी ही आर्यिकायें आतापन योग में स्थित उक्त सत्यकि मुनिकी वंदनार्थ गई थीं[1]। वहाँ से लौट कर पहाड पर से उतरते समय अकस्मात् जल वर्षा होने लगी जिससे आर्यिकायें तितरबितर हो गई। उस वक्त ज्येष्ठा एक गुफा में प्रवेश कर अपने भीगे कपड़े उतार-कर निचोड़ने लगी। उसी समय वे सत्यकि मुनि भी अपना आतापन योग समाप्त कर उसी गुफा में आ घुसे। वहाँ ज्येष्ठा को खुले अंग देख एकांत पा मुनि के दिल में काम विकार हो उठा। दोनों का संयोग हुआ। ज्येष्ठा के गर्भ रहा। सत्यकि तो इस कुकृत्य का गुरु से प्रायश्चित ले पुनः मुनि हो गये। किन्तु ज्येष्ठा सगर्भा थी उसने अपनी गुर्वाणी यशस्वती के पास जा अपना सब हाल यथार्थ सुना दिया। गुर्वाणी ने उसे रानी चेलना के यहाँ पहुंचा दिया। चेलना

---

1. ब्र० नेमिदत्तकृत आराधना कथा कोश में इस जगह आर्यिकाओं का भगवान महावीर की वंदनार्थ जाना लिखा है। वह ठीक नहीं है। क्योंकि इस वक्त तक तो अभी महावीर ने दीक्षा ही नहीं ली है। तब उनकी वन्दना की कहना असगत है। जैसा कि हम आगे बतायेंगे।

ने शरण देकर ज्येष्ठा को गुप्त रूप से अपने पास रक्खा। वहीं उसके पुत्र पैदा हुआ। पुत्र जन्म के बाद ज्येष्ठा ने अपनी गुर्वाणी से प्रायश्चित लेकर पुनः आर्यिका की दीक्षा ग्रहण कर ली।

ज्येष्ठा के जो पुत्र हुआ था उसका लालन पालन भी चेलना ने ही किया। वह पुत्र बड़ा उद्दण्ड निकला। एक दिन उसकी उद्दण्डता से हैरान होकर चेलना के मुख से निकल पड़ा कि 'दुष्ट जार जात यहाँ से चला जा' यह सुन उसने अपनी उत्पत्ति चेलना से जाननी चाही। चेलना ने सब वृत्तान्त उस को यथावत् सुना दिया। सुन कर वह अपने पिता सत्यकि मुनि के पास जा दीक्षा ले मुनि हो गया। वह नवदीक्षित मुनि ग्यारह अंग दशपूर्वों का पाठी हो गया और रोहिणी आदि पांच सौ महाविद्याओं व सात सौ क्षुद्र विद्याओं की भी उसे प्राप्ति हो गई। वह विद्या के प्रताप से सिंह का रूप बनाकर उन लोगों को डराने लगा जो लोग सत्यकि मुनि की वन्दनार्थ आते जाते थे। उसकी ऐसी चेष्टा जानकर सत्यकि मुनि ने उसे फटकारा और कहा कि तू स्त्री के निमित्त से एक दिन भ्रष्ट होवेगा। गुरु वाक्य सुनकर सत्यकि पुत्र ने निश्चय किया कि मैं ऐसी जगह जाकर तप करूँ जहां स्त्री मात्र का दर्शन भी न हो सके तब मैं कैसे भ्रष्ट होऊंगा? ऐसा सोचकर वह कैलाश पर्वत पर जा पहुंचा और वहां आतापन योग में स्थित हो गया। वहाँ एक विद्याधर की आठ कन्यायें स्नान करने को आईं। उनकी अनुपम सुन्दरता को देखकर वह उन पर मोहित हो गया। ज्यों ही वे कन्यायें अपने वस्त्राभूषण उतार वापिका के जल में स्नान करने को घुसीं तब ही उसने

अपनी विद्या के द्वारा उनके वस्त्राभूषणों को मंगा लिया। वापिका से निकल कर उन कन्याओं को जब तट पर अपने २ वस्त्राभूषण नहीं मिले तो उन्होंने उन मुनि से पूछताछ की। मुनि ने उनसे कहा तुम सब मेरी भार्या बनो तो तुम्हारे वस्त्रादि तुम्हें मिल सकते है। उत्तर में उन कन्याओं ने कहा कि यह बात तो हमारे माता पिता के आधीन है। वे अगर हमें आपको देना चाहें तो हमारी कोई इंकारी नहीं है। उसने कहा अच्छा तो तुम सब अपने माता पिता को पूछ लो यह कह उसने उनके वस्त्राभूषण दे दिए। उन कन्याओं ने घर पर जा यह बात अपने माता पिता देवदारु को कही। देवदारु ने एक वृद्ध कंचुकी को भेजकर सत्यकि पुत्र से कहलवाया कि मेरा भाई विद्युज्जिह्व मुझे राज्य से निकाल आप राजा बन बैठा है। अगर आप उससे मेरा राज्य दिला सको तो मैं ये सब कन्यायें आपको दे सकता हूँ। सत्यकि पुत्र ने ऐसा करना स्वीकार किया और अपनी विद्याओं के बल से उसके भाई विद्युज्जिह्व को मारकर देवदारु को राजा बना दिया। तब देवदारु ने भी अपनी आठों कन्याओं की शादी सात्यकि के साथ कर दी। किन्तु वे सब कन्यायें रतिकर्म के समय उसके शुक्र के तेज को न सह सकने के कारण एक एक करके मर गईं। इसी तरह अन्य भी एक सौ विद्याधर कन्यायें मरण को प्राप्त हुईं। आखिर में एक विद्याधर कन्या ऐसी निकली जो इस काम में उसका साथ दे सकी। उसके साथ उसने नाना प्रकार के भोग भोगे। फिर इसी सत्यकी पुत्र (११ वें रुद्र) ने[1] आकर भगवान महावीर पर उपसर्ग किया था।

---

1 इस ११ वें रुद्र का असली नाम क्या था यह किसी ग्रन्थकार

न सूचित नहीं किया है किन्तु कवि असग ने महावीर चरित सर्ग १७ श्लोक १२५-१२६ में भव नाम दिया है। हरिषेण कथाकोश की कथा नं० ६७ में तथा श्रीधर के अपभ्रंश वर्द्धमान चरित आदि में भी भव दिया है लेकिन यह नाम नहीं है रुद्र का पर्यायवाची शब्द है देखो धनंजय नाममाला श्लोक ७० अथवा अमरकोष।

यह कथा श्रुतसागर ने मोक्ष पाहुड़ गाथा ४६ की टीका में भी इसी तरह लिखी है। ब्र० नेमिदत्त ने भी आराधना कथा कोश में लिखी है।

इस प्रकार उत्तरपुराण की कथाओं के ये उद्धरण ऐसे हैं जिनसे हम राजा श्रेणिक की आयु का अंदाजा लगा सकते है। श्रेणिक को देश निकाला होने पर उसने जो देशांतर मे एक ब्राह्मण कन्या से विवाह किया था और उससे अभयकुमार पुत्र हुआ था उस समय श्रेणिक की उम्र कम से कम १८ वर्ष की तो होगी ही। आगे चल कर इसी अभयकुमार के प्रयत्न से श्रेणिक का चेलना के साथ विवाह हुआ है ऐसा कथा में कहा है। तो चेलना के विवाह के वक्त अभयकुमार की आयु भी १८ वर्ष से तो क्या कम होगी? इसी प्रकार यहाँ तक यानी चेलना के विवाह के वक्त तक श्रेणिक की उम्र करीब ३६ वर्ष की सिद्ध होती है। उसी से कथा मे लिखा है कि श्रेणिक की आयु ढल जाने के कारण ही राजा चेटक अपनी पुत्री चेलना को श्रेणिक को देना नहीं चाहता था। अब आगे चलिये— चेलना की बहिन ज्येष्ठा को श्रेणिक की प्राप्ति न हुई तो वह दीक्षा ले आर्यिका हो गई। इसी आर्यिका के सत्यकी मुनि के संयोग से सत्यकि पुत्र (रुद्र) उत्पन्न हुआ है। चेलना की विवाह के बाद सत्यकी

पुत्र की उत्पत्ति होने तक कम से कम एक वर्ष का काल भी मान लिया जावे तो यहाँ तक श्रेणिक की उम्र ३७ वर्ष की होती है शास्त्रों मे रुद्रों के ३ काल माने हैं—कुमारकाल संयमकाल और असंयमकाल। हरिवंश पुराण सर्ग ६० मे लिखा है कि—

वर्षाणि सप्त कौमार्ये विंशतिः संयमेऽष्टभिः ।
एकादशस्य रुद्रस्य चतुस्त्रिंशदसंयमे ॥५४५॥

अर्थ—११ वे रुद्र का कुमारकाल ७ वर्ष, संयमकाल २८ वर्ष और असंयमकाल ३४ वर्ष का था।

यह विषय त्रिलोकप्रज्ञप्ति में भी आया है। उसके चौथे अधिकार की गाथा न० १४६७ इस प्रकार है :—

सगवासं कोमारो संजमकालो हवेदि चोत्तीसं ।
अडवीसं भंगकालो एयारसयस्स रुद्दस्स ॥१४६७॥

इसमें ११ वें रुद्र का संयमकाल ३४ वर्ष का और असंयमकाल २८ वर्ष का बताया है। यह गाथा अशुद्ध मालूम पड़ती है। इसलिये इसका कथन हरिवंशपुराण से नहीं मिलता है। इस गाथा में प्रयुक्त 'चोत्तीसं' के स्थान में 'अडवीस' और 'अडवीसं' के स्थान में 'चोत्तीसं' पाठ होना चाहिये। जान पड़ता है किसी प्रतिलिपिकार ने प्रमाद से उलट पलट लिख दिया है।

अब प्रकृत विषय पर आइये—रुद्र ने महावीर पर उपसर्ग किया तो वह ऐसा काम संयमकाल में तो कर नहीं सकता है। रुद्र की संयमकाल की अवधि उसकी ३५ वर्ष की उम्र तक मानी गई है जैसा कि ऊपर लिखा गया है इन ३५ वर्षों को श्रेणिक की उक्त ३७ वर्ष की उम्र में जोड़ने पर यहाँ तक श्रेणिक की उम्र

७२ वर्ष की हो जाती है। फिर संयमकाल की समाप्ति के बाद सत्यकि पुत्र का कैलाश पर पहुँच कर वहाँ विद्याधर कन्याओं को ब्याहने और एक-एक करके उन कन्याओं के मरने पर अंत में विशिष्ट विद्याधर कन्या के साथ रमण करते हुए भगवान महावीर तक पहुँच कर उन पर उपसर्ग करने में भी ज्यादा नहीं एक वर्ष भी गिन लें और महावीर को उनकी उम्र के ४२ वें वर्ष में केवलज्ञान हुआ उसी वर्ष में ही यह उपसर्ग भी मान लें तो इसका यह अर्थ हुआ कि महावीर को जब केवल ज्ञान पैदा हुआ तब राजा श्रेणिक की उमर लगभग ७३ वर्ष की थी। अर्थात् महावीर से श्रेणिक ३१ वर्ष बड़े थे। इस हिसाब से जब श्रेणिक ने चेलना से विवाह किया तब श्रेणिक ३६ वर्ष के थे और महावीर ५ वर्ष के थे। इतिहास में महावीर और गौतम बुद्ध को समकालीन माना जाता है। अतः उस वक्त गौतम बुद्ध भी बालक ही माने जायेंगे ऐसी हालत में उस वक्त हम श्रेणिक को बौद्धमती भी नहीं कह सकते हैं। बौद्ध धर्म के चलाने वाले खुद गौतम ही जब उस वक्त बालक थे तो उस समय बौद्धधर्म कहां से आयेगा ? अगर हम इतिहास की गड़बड़ी से बुद्ध और महावीर की वय में १०-१५ वर्ष का अन्तर भी मान लें तब भी श्रेणिक के समय में बौद्ध मत का सद्भाव नहीं था। इसीलिये हरिषेण कथाकोश में श्रेणिक को भागवतमत (वैष्णवमत) का बताया है卐 वह ठीक जान पड़ता है। तथा महावीर का निर्वाण उनकी ७२ वर्ष की वय मे हुआ माना जाता है अतः महावीर से

卐 पुण्याश्रवकथा कोश में भी वैष्णव धर्मी ही बताया है। देखो पृष्ठ ४१-४३ व नेमिदत्त के आराधना कथा कोश में भी वैष्णव (भागवत) धर्मी ही श्रेणिक को बताया है।

३१ वर्ष बड़े होने के कारण श्रेणिक की उम्र वीर निर्वाण के वक्त १०३ वर्ष की माननी होगी। उम्र का यह टोटल यहाँ कम लगाया गया है, इससे अधिक भी संभव हो सकता है वीरनिर्वाण के वक्त श्रेणिक जीवित थे कि नहीं थे यह उत्तरपुराण से स्पष्ट नहीं होता है। किन्तु हरिवंशपुराण में वीरनिर्वाण के उत्सव में श्रेणिक का शरीक होना लिखा है। और हरिषेण कथाकोश में कथा नं० ५५ में श्रेणिक का अंतकाल वीर निर्वाण से करीब ३॥ वर्ष बाद होना बताया है। यथा :-

ततो निर्वाणमापन्ने महावीरे जिनेश्वरे।
तिस्रस्समाश्चतुर्थस्य कालस्य परिकीर्तिताः ॥३०६॥
तथा मासाष्टकं ज्ञेयं षोड़शापि दिनानि च।
एतावति गते काले नूनं दुःखमनामनि ॥३०७॥
पूर्वोक्तः श्रेणिको राजा सीमंतं नरकं ययौ ॥३०८॥

अर्थ—महावीर के निर्वाण के बाद चतुर्थकाल के ३ वर्ष ८ मास १६ दिन व्यतीत होने पर दुःखम नाम के पाचवे काल में मनवांछित महाभोगों को भोग कर राजा श्रेणिक मर कर प्रथम नरक के सीमंत बिल में गया[1]।

उक्त १०३ वर्ष में वीर निर्वाण के बाद ये ३॥ वर्ष जोड़ने पर श्रेणिक की कुल आयु १०७ वर्ष करीब की बनती है।

---

1. उत्तरपुराण में चतुर्थकाल की समाप्ति मे ३ वर्ष ८॥ मास शेष रहने पर वीरनिर्वाण होना लिखा है। यहाँ ३ वर्ष ८ मास १६ दिन इसलिये लिखा है कि १६ वें दिन पंचम काल का प्रारभ होता है और उसी दिन में श्रेणिक की मृत्यु हुई है।

अब हम श्रेणिक की आयु के साथ जम्बूकुमार का संबंध बताते हैं—ऊपर उत्तरपुराण की कथा में लिखा है कि—गौतम केवली जब प्रथम बार विपुलाचल पर आये थे उस समय राजगृह का राजा कुणिक था। यानी राजा श्रेणिक उस समय नहीं थे वे मर चुके थे। अर्थात् वीर निर्वाण से ३॥। वर्ष बाद जब श्रेणिक न रहे तब तक प्रथम बार गौतम केवली विपुलाचल आये थे। उस समय बांधवों के अनुरोध में जम्बूस्वामी दीक्षा लेने र रुक गये। पुनः जब दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये तब उनके सान्निध्य मे सुधर्माचार्य के पास से जम्बू स्वामी ने दीक्षा ग्रहण की। इस दीक्षा को अगर हम अंदाजन वीर निर्वाण से यो कहिये गौतम के केवली होने से ६ वर्ष के बाद होना मान ले और दीक्षा के वक्त जम्बू कुमार की २० वर्ष की उम्र मानले तो कहना होगा कि वीरनिर्वाण के वक्त जम्बूकुमार १४ वर्ष के थे और जम्बू की १७॥। वर्ष की उम्र के लगभग तक श्रेणिक जीवित रहे थे। इसलिये जम्बू का श्रेणिक की राज सभा में आना जाना व श्रेणिक द्वारा सन्मान पाना तो संगत हो सकता है। परन्तु कुछ जैन कथा ग्रन्थों में लिखा है कि—' जम्बूकुमार की मदद से राजा श्रेणिक ने एक विद्याधर कन्या को विवाही थी" यह बात नहीं बन सकती है। क्योंकि उस समय राजा

राजा श्रेणिक उस वक्त अत्यत वृद्ध थे और कुणिक ने उन्हे बंदी बनाकर रखा था अतः राजा कुणिक को लिखा है इससे श्रेणिक की अविद्य मानता सिद्ध नही होती वीरनिर्वाण से ३॥। वर्ष के अन्दर ही (जब कि श्रेणिक जिन्दे थे) गौतम विपुलाचल पर आये हो यह भी संभव है।

श्रेणिक बहुत ही वृद्ध हो चले थे। जब जम्बू ११ वर्ष के थे तब श्रेणिक एक सौ वर्ष के थे। इसी तरह कुछ कथा ग्रन्थों में जम्बू के दीक्षोत्सव में श्रेणिक की उपस्थिति बताना भी गलत है। उत्तर पुराण के अनुसार ❀दुबारा गौतम केवली विपुलाचल पर आये थे तब जम्बू ने दीक्षा ली थी किन्तु प्रथम बार जब गौतमकेवली विपुलाचल पर आये थे उस वक्त भी श्रेणिक मौजूद न थे उस वक्त भी कुणिक ही का राज्य था ऐसा उत्तर पुराण में लिखा है तब जम्बू के दीक्षोत्सव में श्रेणिक को उपस्थित बताना अयुक्त है ● जम्बू की दीक्षा के वक्त श्रेणिक की विद्यमानता का उल्लेख हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोष में भी नहीं है।

इस निबन्ध में ३ कथा ग्रन्थों का उपयोग किया गया है— उत्तर पुराण, हरिवंश पुराण और हरिषेण कथा कोश का। तीनों ही ग्रन्थ प्राचीन हैं। उत्तरपुराण का रचना काल वि० सं० ९१० के करीब। हरिवंश पुराण का वि० सं० ८४० और हरिषेण कथा कोष का वि० सं० ९८८ है।

❀ दुबारा आने का स्पष्ट कथन नहीं है। प्रथमबार गौतम आये और कुछ दिन वहीं रहे तभी ही जंबू ने दुबारा आकर उनकी मौजूदगी में दीक्षा ले ली।

● वीरकवि कृत—'जंबू चरिउ' की संधि १० कडवक १९ में जबू की दीक्षा के वक्त श्रेणिक को मौजूद बताया है।



८

चातुर्मास योग

अनेकांत वर्ष १ पृ० ३२४ पर एतद् विषयक मुख्तार सा. का एक लेख देखो

इस विषय मे पं० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अध्याय ६ में इस प्रकार लिखा है—

ततश्चतुर्दशीपूर्वरात्रे सिद्धमुनिस्तुती।
चतुर्दिक्षु परीत्याल्पाश्चैत्यभक्तीर्गुरुस्तुतिम् ॥६६॥
शान्तिभक्ति च कुर्वाणैर्वर्षायोगस्तु गृह्यताम्।
ऊर्जकृष्णचतुर्दश्यां पश्चाद्रात्रौ च मुच्यताम् ॥६७॥

अर्थ—उसके बाद अषाढ शुक्ला चतुर्दशी की रात्रि के प्रथम पहर में सिद्ध भक्ति और योग भक्ति करके चारों दिशाओं में प्रदक्षिणा पूर्वक एक-एक दिशा में लघुचैत्यभक्ति पढते हुए तथा पंचगुरुभक्ति और शांतिभक्ति पढ़ते हुए वर्षायोग ग्रहण करे। और इस विधि से कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के चौथे पहर में वर्षा योग को समाप्त करे।

मासं वासोऽन्यदैकत्र योगक्षेत्रं शुचौ व्रजेत्।
मार्गेऽतीते त्यजेच्चार्थवशादपि न लंघयेत् ॥६८॥
नभश्चतुर्थी तद्याने कृष्णां शुक्लोर्जपंचमीम्।
यावन्नगच्छेत्तच्छेदे कथंचिच्छेदमाचरेत् ॥६९॥ युग्मम्

अर्थ—चतुर्मास के अलावा हेमतादि ऋतुओं में मुनि लोग एक स्थान में एक मास तक ठहर सकते हैं। आषाढ मास मे श्रमण संघ वर्षायोग स्थान को चला जाये और मगसिर का महीना बीतते ही वर्षायोग स्थान को छोड दे। यदि आषाढ़ के महीने में वर्षायोग स्थान मे न पहुंच सके तो कारणवश भी श्रावणकृष्णा चतुर्थी का उल्लंघन न करे। अर्थात् जहाँ चातुर्मास करना हो उस स्थान में श्रावण कृष्णा चौथ तक अवश्य २ पहुंच जावे। तथा कार्तिक शुक्ला पंचमी के पहिले प्रयोजनवश भी वर्षायोग स्थान को न छोड़े। वर्षायोग के ग्रहण विसर्जन का जो समय यहाँ बताया गया है उसका दुर्निवार उपसर्गादि के कारण यदि उल्लघन करना पडे तो उसका प्रायश्चित्त लेवे।

योगांतेऽर्कोदये सिद्धनिर्वाणगुरुशान्तयः।
प्रणुत्या वीरनिर्वाणे कृत्यातो नित्यवंदना ॥७०॥

अर्थ—कार्तिक कृष्णा चतुर्दशी की रात्रि के चौथे पहर में वर्षायोग का निष्ठापन किया जाता है। जैसा कि ऊपर लिखा है। यही समय भगवान् महावीर के निर्वाण का आ जाता है। इसलिए वर्षायोग के निष्ठापन के अनन्तर सूर्योदय हो जाने पर वीर निर्वाण क्रिया करे। उसमें सिद्धभक्ति निर्वाणभक्ति गुरुभक्ति और शांतिभक्ति करे। इसके बाद नित्यवंदना करे।

आशाधर के इस कथन से प्रकट होता है कि—वर्षायोग समाप्ति का क्रिया विधान तो कार्तिक कृष्णा १४ की रात्रि के पिछले भाग में ही कर लिया जाता है। परन्तु उसके अनन्तर ही उस स्थान को छोड़कर अन्यत्र बिहार नहीं किया जाता है। कम से कम कार्तिक शुक्ला ५ तक तो उसी स्थान में रहना

आवश्यक बताया है। इससे पहिले तो मुनिजन कदाचित् भी वहाँ से विहार नहीं कर सकते हैं। और अधिक से अधिक मग-सिर मास की समाप्ति तक भी उस स्थान को नहीं छोड़ने को कहा है।

मूलाचार समयसाराधिकार गाथा १८ की टीका में दश प्रकार के श्रमण कल्प का वर्णन करते हुए मास नाम के ९ वें कल्प का कथन इस प्रकार किया है—

"मासः योगग्रहणात् प्राङ् मासमात्रमवस्थानं कृत्वा वर्षा-काले योगो ग्राह्यस्तथा योगं समाप्य मासमात्रमवस्थानं कर्तव्यं। लोकस्थिति ज्ञापनार्थमहिंसादिव्रतपरिपालनार्थं च योगात्प्राङ्-मासमात्रमवस्थानं, पश्चाच्च मासमात्रमवस्थानं श्रावकलोकादि-संक्लेशपरिहरणाय अथवा ऋतौ २ मासमासमात्रं स्थातव्यं मासमात्रं च विहरणं कर्तव्यमिति मासः श्रमणकल्पोऽथवा वर्षाकाले योगग्रहणं चतुर्षु चतुर्षु मासेषु नंदीश्वरकरणं च मास श्रमणकल्पः।"

अर्थ—जिस स्थान में वर्षायोग ग्रहण करना है उस स्थान में वर्षाकाल से एक मास पहले ही उपस्थित होकर वर्षायोग ग्रहण करना और वर्षायोग की समाप्ति हो जाने पर भी एक मास भर वहीं ठहरे रहना इसे मास कल्प कहते हैं। वहाँ के लोगों की परिस्थिति को जानने के लिए और अहिंसादि व्रतों की पालनाके लिए उस स्थान में वर्षायोग से एक मास पूर्व ही चले जाते हैं। और श्रावक लोक आदिकों को सक्लेश न होने देने के लिए वर्षायोग की समाप्ति के बाद भी एक मास तक वहाँ ठहरे रहते हैं। अथवा प्रत्येक ऋतु में एक-एक मास तक एक जगह ठहरे रहना और एक-एक मास तक विहार करते रहना इसे भी मास नाम का श्रमणकल्प कहते हैं। अथवा वर्षाकाल में

वर्षा योग ग्रहण करना और चार-चार महीने में नंदीश्वर करना यानी आष्टाह्निक पर्व के ८ दिन तक एक जगह ठहरे रहना यह भी मास श्रमणकल्प कहलाता है।

भगवती आराधना गाथा ४२१ की मूलाराधना टीका में पं० आशाधर जी ने इस प्रकरण को विजोदया टीका से उद्धृत करते हुए निम्न प्रकार लिखा है—

"प्रावट्काले मासचतुष्टयमेकत्रावस्थानं। स्थावर जंगम-जीवाकुला हि तदा क्षितिरिति तदा भ्रमणे महान्-संयमः"......इति विंशत्यधिकं दिवसशतं एकत्रावस्थानमित्ययं उत्सर्गः। कारणा-पेक्षया तु हीनमधिकं वावस्थानं। संयतानामाषाढ शुक्लदशम्याः प्रभृति स्थितानामुपरिष्टाच्च कार्तिक पौर्णिमास्यास्त्रिंश-द्दिवसावस्थानं। ...... एकत्रेत्युत्कृष्टः कालः। मार्या दुर्भिक्षे ग्रामजनपदचलने वा गच्छनाशनिमित्ते समुपस्थिते देशांतरं याति। अवस्थाने सति रत्नत्रयविराधना भविष्यति इति पौर्णमास्यामाषाढ्यामतिक्रांतायां प्रतिपदादिषु दिनेषु यावच्च-त्वारो दिवसा[1] एतदपेक्ष्य हीनता कालस्य। एष दशमः स्थिति-कल्पो व्याख्यातः टीकायां। टिप्पन के तु द्वाभ्यां द्वाभ्यां मासाभ्यां निषद्यका द्रष्टव्येति।"

अर्थ—वर्षा काल में मुनियों को चार मास तक एक जगह रहना चाहिए। क्योंकि उस समय पृथ्वी स्थावरत्रस जीवों से व्याप्त हो जाती है इससे उस समय विहार करने से महान्

---

1 विजयोदया टीका में इस स्थान पर ४ दिन की जगह २० दिन लिखे हैं। इसका कारण वहां पाठ की अशुद्धि मालूम पड़ती है।

असंयम होता है। अतः वर्षा काल में एक सौ बीस दिन तक मुनियों का एक स्थान में रहना यह उत्सर्ग मार्ग है। कारण अपेक्षा से यह अवस्थान १२० दिन से हीनाधिक भी होता है। आषाढ शुक्ला दशमी से लेकर कार्तिक की पूर्णमासी के बाद तीस दिन तक यानी मगसिर शुक्ला १५ तक (५ मास ५ दिन) मुनियों का एक स्थान में रहना उत्कृष्ट काल कहलाता है। महामारी दुर्भिक्ष के होने पर जब लोग गाँव देश को छोड़ भागने लगें अथवा मुनि संघ के नाश होने का कोई कारण आ उपस्थित हो तो ऐसी हालत में मुनिजन जहाँ वर्षायोग ग्रहण किया है उस स्थान को भी छोड़ वर्षाकाल में अन्य स्थान मे जा सकते हैं। यदि न जावें तो उनके रत्नत्रय की विराधना होगी। यह स्थानांतर आषाढ की पूर्णमासी से चार दिन बाद तक—श्रावण कृष्णा ४ तक किया जा सकता है। इस अपेक्षा से काल की हीनता समझनी। इस प्रकार टीका में १० वाँ स्थिति कल्प का व्याख्यान किया है। टिप्पणमें तो दो-दो महीने में निषद्यका का दर्शनकरना दशवां स्थितिकल्प बताया है।

यहाँ यह ध्यान में रखने की बात है कि – दशवें पज्जो नाम के स्थिति कल्प का जो स्वरूप टिप्पण में बताया है। उसी से मिलता जुलता स्वरूप मूलाचार की टीका मे बताया है। वहां 'निषद्यका की उपासना करना" ऐसा स्वरूप पज्जो स्थिति कल्प का बताया है। जबकि भगवती आराधना की विजयोदया टीका में वर्षायोग के धारण करने को पज्जो-स्थितिकल्प बताया है। इस तरह भगवती आराधना की टोका और मूलाचार की टीका में इस विषय में एक बडा कथन भेद पाया जाता है।

नीचे हम इन सब कथनों का फलितार्थ बताते है —

(१) आषाढ़ शुक्ला १५ से कार्तिक शुक्ला १५ तक वर्षा काल माना जाता है। इन ४ मासों तक मुनियों का एक स्थान में रहना यह एक सामान्य नियम है।

(२) मूलाचार में लिखे मास कल्प के अनुसार वर्षा काल के प्रारम्भ से एक मास पूर्व और वर्षा काल की समाप्ति से १ मास बाद तक भी अर्थात् ज्येष्ठ शुक्ला १५ से मगसिर शुक्ला १५ तक मास ६ तक भी मुनिजन लगातार एक स्थान पर रह सकते हैं। इतना समय शास्त्र रचना के लिए उपयुक्त हो सकता है 卐

(३) वर्षा योग की स्थापना का समय आषाढ़ शुक्ला १४ का है। भगवती आराधना की टीका के अनुसार उसके भी पहिले आषाढ़ शु० १० तक मुनियों को वर्षा योग ग्रहण करने के अर्थ अपने इष्ट स्थान पर पहुंच जाना चाहिए। यदि किसी कारण वश उक्त समय तक न पहुँच सके तो भी श्रावण कृष्णा ४ का उल्लंघन तो कदाचित् भी नहीं किया जा सकता है। उल्लंघन करने पर प्रायश्चित्त लेना होगा।

(४) अनगारधर्मामृत में पं० आशाधरजी ने वर्षा योग की समाप्ति की सिर्फ क्रिया विधि (भक्ति पाठों का पढा जाना) कार्तिक कृ० १४ की रात्रि के पिछले भाग में करना बताई है। उसके दूसरे ही दिन विहार करना नही बताया है। बल्के उसके

卐 प्रत्येक पच वर्ष में दो मास बढ़ते हैं अतः जिस वर्ष चातुर्मास में अधिक मास हो उस वर्ष ७ मास तक भी एक स्थान पर स्थिति हो सकती है।

——रतनलाल कटारिया

बाद भी वर्षा काल की समाप्ति तक यानी कार्तिक शु० १५ तक या मास कल्प के अनुसार मगसिर शु० १५ तक भी वहीं पर ठहरा जा सकता है, कारणवश इससे पहिले भी विहार किया जा सकता है किंतु कार्तिक शु० ५ से पहिले तो कारणवश भी विहार नहीं हो सकता है। विहार करने पर प्रायश्चित लेना होगा।

(५) महामारी आदि कारणों से यदि वर्षाकाल में स्थान छोड़ने की जरूरत आ पड़े तो श्रावण कृ० ४ तक ही वे अन्यत्र जा सकते हैं। बाद में नहीं। बाद में जाने पर प्रायश्चित लेना होगा।

(६) चातुर्मास के अलावा हेमंतादि दो-दो मास की ऋतुओं में प्रत्येक ऋतु में १ मास तक मुनियों का एक स्थान पर ठहरे रहना और १ मास तक विचरते रहना ऐसा भी विधान मूलाधार में मास कल्प के स्वरूप कथन में किया है।

(७) मूलाचार में आष्टाह्निक पर्व के ८ दिन तक मुनियों को एक स्थान में रहने के विधान का भी आभास मिलता है।

(८) जो मुनि श्रावण कृ० ४ के बाद वर्षायोग ग्रहण करते हैं और कार्तिक शु० ५ से पहिले ही वर्षायोग को समाप्त कर विहार कर जाते हैं। वे मुनि प्रायश्चित्त के योग्य माने गये है अर्थात् ऐसे मुनियों को इसका प्रायश्चित्त लेना चाहिए।



६

सिद्धान्ताध्ययन पर विचार

क्षुधा आदि बाधाओं को मेटने के लिये जैसे पशुओं के आहार निद्रा भय मैथुन आदि कार्य होते हैं वैसे मनुष्योंके भी होते हैं किंतु जिस ज्ञान की विशेषता मनुष्य समाज में है वह पशुओंमें नहीं है इसीसे मनुष्य श्रेष्ठ समझा जाता है। किसीने ठीक ही कहा है कि— ज्ञानेन हीनाः पशुभिः समानाः' जिस प्रकार खान से निकला हुआ रत्न संस्कारके योग से बहुमूल्यवान् हो जाता है उसी प्रकार मनुष्य भी ज्ञान संस्कारसे महान् गिना जाता है। अथवा जैसे बारंबार अग्निसंस्कारसे सुवर्ण दीप्तिवान हो जाता है उसी तरह बारंबार ज्ञानाभ्याससे मनुष्य भी दीप्तिशाली माना जाता है। यह तो निश्चित है कि-माताके उदर से निकले बाद अगर मानव को शिक्षा ग्रहण से बिल्कुल ही रोक दिया जाए तो सचमुच वह पशुसे भी निकृष्ट हो सकता है। इसी विषयक नीतिका यह श्लोक कितना मर्मस्पर्शी है—

> शुनः पुच्छमिव व्यर्थं जीवितं विद्यया विना ॥
> न गुह्यगोपने शक्तं न च दंशनिवारणे ॥

इसमें कहा है कि-विद्याविहीन जीवन कुत्ते को पूंछकी भांति व्यर्थ है जो न तो गुह्यांगको ढक सकती है और न मक्खियों को ही उड़ा सकती है :

ज्ञानकी इतकी अधिक महिमा होने के कारण ही शास्त्रकारोंने स्वाध्यायको 'न स्वाध्यायात्परं तपः' पदसे सभी तपों में बढ़कर तप कहा है।

मूलाचार मे कहा है कि—

बारसविधह्मिय तवे सब्भतरबाहिरे कुसलदिट्ठे।
णवि अत्थि णविय होहदि सज्झायसम तवो कम्मम् ।।९७०
यही गाथा भगवती आराधना आश्वासर नं० १०७ पर है।
सूई जहा ससुत्ता ण नस्सदिहु पमाददोसेण।
एवं ससुत्त पुरिसो ण नस्सदि तह पमाददोसेण ।।९७१।।
'वट्टकेराचार्य।'

अर्थ—तीर्थंकर गणधरादिकर दिखाये अभ्यंतर बाह्य भेदयुक्त बारह प्रकार के तप में स्वाध्याय के समान उत्तम अन्य तप न तो है और न होगा।

जैसे सूक्ष्म भी सुई प्रमाद दोष से गिरी हुई यदि डोराकर सहित हो तो नष्ट नहीं होती–देखने से मिलजाती है, उसी तरह शास्त्र स्वाध्याय युक्त पुरुष भी प्रमाद दोष से उत्कृष्ट तप रहित हुआ भी संसार रूपी गढ्ढे में नहीं पड़ता।

जो ग्रंथ परमपूज्य केवली के बचनों की परम्परा लिये हों और जिन मे आत्मा का परमाराध्य मोक्ष की कारणी भूत कथनी हो उससे बढ़कर कौन हो सकता है?

वर्तमान के उपलब्ध जैन परमागम की रचना गौतम गणधर कथित सूत्र के आधार से हुई है। गौतम स्वामी ने किस समय किस प्रकार ग्रंथ रचना की यह वर्णन उत्तर

पुराण मे गुणभद्रसुरिने बडेही हृदयग्राही ढंग से किया है, पाठको की जानकारी के लिये उसे हम यहां देते हैं—

गौतम गणधर अपना जीवन वृत्तांत सुनाते हुये कहते हैं कि—

श्रीवर्धमानमानस्य संयमं प्रतिपन्नवान् ।
तदैव मे समुत्पन्नाः परिणामविशेषतः ॥३६८॥
ऋद्धयः सप्त सर्वांगानामर्थपदान्यतः ।
भट्टारकोपदेशेन श्रावणे बहुले तिथौ ॥३६९॥
पदार्थाद्यर्थरूपेण सद्यः पर्याणमन् स्फुटम् ।
पूर्वाह्ने पश्चिमे भागे पूर्वाणामप्यनुक्रमात् ॥ ३७०॥
इत्यनुज्ञातसर्वांगपूर्वार्थो धीचतुष्कवान् ।
अगानां ग्रंथसंदर्भ पूर्वरात्रे व्यधामहम् ॥३७१॥
पूर्वाणां पश्चिमे भागे ग्रंथकर्ता ततोऽभवम् ।
इति श्रुर्तार्द्धभिः पूर्णोऽभूव गणभृदादिमः ॥३७२॥
७४ वां पर्व.

अर्थ—श्री वर्द्धमान स्वामी को नमस्कार कर संयम धारण कर लिया। परिणामों की विशेष विशुद्धि होने से उसी समय मुझे सात ऋद्धियां प्राप्त हुईं। तदनंतर श्री वर्द्धमान भट्टारक के उपदेश से श्रावण कृष्ण प्रतिपदा के दिन सवेरे के समय सब अंगों के अर्थ और पद शीघ्र ही अर्थ रूप से स्पष्ट जान पड़े और इसी तरह उसी दिन के साम के समय अनुक्रम से सब पूर्वों के अर्थ और पदों का ज्ञान होगया। तथा चौथा मनःपर्ययज्ञान भी होगया। तदनंतर मैंने रात्रि के पहिले भाग में अंगों की ग्रंथ रूप से रचना की और रात्रि के पिछले भाग में पूर्वों की ग्रंथ रचना की इस तरह अंग और पूर्वों से रचना कर

मैं ग्रन्थकर्ता प्रसिद्ध हुआ हूं। इस प्रकार श्रुतज्ञानऋद्धि से पूर्ण होकर मैं श्री वीरनाथका पहिला गणधर हुआ हूं।

जिस जैन वाणी का प्रादुर्भाव इतनी महत्ता को लिए हुए है उसका प्रचार संसार में प्रचुरता के साथ होना चाहिए किन्तु इस विषय में जैन समाज आज जो भी कुछ कर रहा है वह सन्तोष प्रद नहीं कहा जा सकता। और तो क्या हम अब तक ग्रन्थ प्रकाश का प्रबन्ध भी ऐसा नहीं कर पाये जिसे ठीक कह सकें। इसके लिए हमारे पास द्रव्य की कमी नहीं है क्योंकि जो समाज प्रतिसाल मेला प्रतिष्ठा की धूमधाम में लाखों रुपये लगाती है उसके लिए यह कैसे कहें कि धन की कमी है? कमी है सिर्फ ग्रन्थ प्रकाशन में रुचि होने की। सच तो यह है कि धनी लोग इसे महत्व का काम ही नहीं समझते हैं इसका भी एक कारण है। पिछले कुछ समय में जैन समाज की बागडोर प्रायः ऐसे लोगों के हाथों में थी जो स्वयं मदांध और विवेकशून्य होकर परमगुरु के पदपर आसीन थे और इसी महान् पदपर अपने को हमेशा कायम रखने के लिये जनता को ज्ञानहीन बनाये रखना चाहते थे। इसके लिये लोगोंको उल्टी पट्टी पढ़ाई गई कि श्रावकों को सिद्धांत ग्रंथोंके पढ़ने का अधिकार नहीं है। गृहस्थों का तो केवल दान पूजा प्रभावना करना ही है। इसमें उनका कल्याण है। बस भोले लोग इस भुलावे में आगये। फल उसका यह हुआ कि जनता की रुचि पूजा प्रभावना के काम में ही इतनी अधिक बढ़ी कि आज भी वे अपने को न सम्हाल सके। खेद तो यह है कि उक्त प्रकार का स्वार्थ मूलक उपदेश ही नहीं दिया गया किंतु उसे संस्कृत प्राकृत भाषा में ग्रंथबद्ध भी कर दिया गया जिससे इस चक्कर में कतिपय विद्वान भी आते रहे। इस तरह यह

मिथ्या परम्परा चल पड़ी। आज भी कुछ पंडित कहलाने वाले ऐसे हैं जो कभी-कभी "श्रावकों को सिद्धान्ताध्ययन का अधिकार नहीं है" इस मिथ्या धारणा को प्रगट किया करते हैं। पं० उदयलालजी कासलीवालने तो 'संशयतिमिरप्रदीप' नामक पुस्तक में इस भ्रमपूर्ण मान्यता की दिलखोल पुष्टि की है और एक मात्र अवनति का मूल कारण ही श्रावकों का सिद्धांताध्ययन बताया है। उसमें अध्ययन तो दूर रहा आर्यिका और गृहस्थके सामने सिद्धांतग्रंथों का वांचना ही अयोग्य ठहराया गया है। बलिहारी है ऐसी समझ की! आश्चर्य इस बात का है कि जिसका विधान किसी भी आर्ष ग्रंथ में नहीं है उसे कुछ मामूली ग्रंथोंमें देखकर ही ये लोग कैसे प्रमाण कर लेते हैं? सिद्धांताध्ययन का निषेध हमें तो किसी ऋषिप्रणीत ग्रंथ में लिखा नहीं मिलता बल्कि विधान ही पाया जाता है। नीचे हम ग्रंथों के कतिपय उद्धरणों से यही सिद्ध करते हैं

भगवज्जिनसेनाचार्य आदिपुराण पर्व ३८ में श्रावकों के लिये क्रियाओं का वर्णन करते हुये कहते हैं कि—

पूजाराध्याख्यया ख्याता क्रियाऽस्य स्यात्तः परा।
पूजोपवाससंपत्या शृण्वतोऽङ्गार्थसंग्रहम्॥४९॥

ततोऽन्या पुण्ययज्ञाख्या क्रिया पुण्यानुबंधिनी।
शृण्वतः पूर्वविद्यानामर्थं सब्रह्मचारिणः॥५०॥

अर्थ—पूजा और उपवासरूप संपत्ति को धारणकर ग्यारह अंगों के अर्थ समूह को सुनने वाले श्रावक के पूजाराध्यनाम पांचवीं प्रसिद्ध क्रिया होती है।

तदनंतर अपने साधर्मी पुरुषों के साथ चौदह पूर्वों का अर्थ सुनने वाले श्रावक के पुण्य बढ़ाने वाली पुण्य यज्ञ नाम की छट्टी क्रिया होती है।

यह तो हुआ श्रावकों के पढ़ने सुनने का अधिकार। अब आर्यिकाओं का अधिकार भी देख लीजिये-मूलाचार के पंचाचाराधिकार में बट्टकेरस्वामी ने लिखा है कि—

तं पढिदुमसज्झाये णो कप्पदि विरद इत्थिवग्गस्स।
एत्तो अण्णो गंथो कप्पदि पढिदुं असज्झाए ॥८१॥

अर्थ—वे चार प्रकार के अंग, पूर्व, वस्तु, प्राभृत, रूप, सूत्र, कालशुद्धि आदि के बिना संयमियों को तथा आर्यिकाओं को नहीं पढ़ने चाहिये। इनसे अन्य ग्रंथ कालशुद्धि आदि के न होने पर भी पढ़ने योग्य माने गये हैं। इसमें आर्यिकाओं को कालशुद्धि आदि के होते हुये अंग पूर्वादि ग्रन्थों के पढ़ने की आज्ञा दी गई है। हरिवंश पुराण १२ वां सर्ग में भी लिखा है कि-जयकुमार द्वादशांगधारी भगवान का गणधर हुआ और सुलोचना ग्यारह अंग की धारिका आर्यिका हुई ॥५२॥

इन उल्लेखों से उन लोगों का भी समाधान होजाता है जो श्रावकों के लिये प्रचलित सिद्धांत ग्रन्थों के पढ़ने सुनने का तो अधिकार बताते हैं किन्तु गणधर कथित अंग पूर्वादि ग्रन्थों के अध्ययन का निषेध करते हैं, उन्हें अब अपनी उस मिथ्या धारणा को निकाल देना चाहिये। कहते हैं कि नेमिचन्द्राचार्य ने चामुण्डराय के सामने सूत्रपाठ करना बन्द कर दिया था और पूछने पर कहा था कि श्रावकों को सुनने का अधिकार नहीं है इत्यादि कथाएं काल्पनिक मालूम होती हैं। जहां ×श्लोक और

× टीप—

(सागारधर्मामृत अध्याय–७ वा —पृ० ५१२)

श्रावको वीरचर्याहः प्रतिमातापनादिषु ।।
स्यान्नाधिकारी सिद्धान्तरहस्याध्ययनेऽपि च ।।५०।।

टीका—न स्यात्कोऽसौ श्रावकः । किंविशिष्टोऽधिकारी योग्यः । क्व वीरेत्यादि—वीरचर्या स्वयं भ्रामर्या भोजनं, अहः प्रतिमा दिनप्रतिमा, आतापनादयस्त्रिकालयोगाः ग्रीष्मे सूर्याभिमुखं गिरिशिखरेऽवस्थानं, वर्षासु वृक्षमूले, शीतकाले रजन्यां चतुष्पथे, इत्येवं लक्षणास्त्रयः कायक्लेशविशेषाः । तथा सिद्धान्तस्य परमागमस्य सूत्ररूपस्य रहस्य च प्रायश्चित्तशास्त्रस्याध्ययने पाठे श्रावको नाधिकारी स्यादिति संबंधः ।।

अर्थात्—श्रावकों को वीरचर्या माने स्वयंभ्रामरी वृत्ती से भोजन करना, दिनप्रतिमा, और गर्मी के दिनों में सूर्य के सन्मुख पर्वत के शिखरपर योग धारण करना, वर्षाऋतु में वृक्ष के नीचे, शीतकाल की रात्रीयों में नदियों के किनारे अथवा चौहटे में योग धारण करना आदि आतापनादि योग धारण करने का अधिकार नहीं है । तथा इसी प्रकार सिद्धान्त अर्थात्—परमागम के सूत्रों और प्रायश्चित शास्त्रों के अध्ययन करने का भी श्रावकों को अधिकार नहीं है ।।५०।।

—०—

गाथा तक मिथ्या रचली जाती हैं वहां ऐसी कथाओं को गढ़ते कितनी देर लगती है ? ऋषि वाक्यों के सामने ऐसे कथन कदापि प्रमाण नहीं माने जा सकते । जिन सिद्धांतग्रंथों के बदौलत ही जैन धर्म का गौरव है । उनका पठन पाठन बन्द

करना भी क्या कभी उचित कहा जा सकता है ? यहां तो मूलभूत सम्यग्दर्शन ही तत्वार्थ श्रद्धान से होता है। मजा तो यह है कि—गोम्मटसार, लब्धिसार, राजवार्तिक, श्लोकवार्तिक आदि महाग्रंथों के रचयिताओं ने जब कहीं भी यह नहीं लिखा कि हमारे इस ग्रन्थ को श्रावक पुरुष न पढ़े तब ये दूसरे निषेध करने वाले कौन होते हैं ? प्रत्युत विद्यानंदस्वामी ने तो अपने अष्टसहस्री ग्रन्थ के अंत में कहा है कि—मेरे इस ग्रंथ को पढ़ने का अधिकार कल्याणेच्छु भव्यों के लिए नियत है। इससे अध्ययन का मार्ग कितना विशाल हो जाता है ? चामुण्डरायकृत चारित्रसार शीलसप्तक प्रकरण के 'स्वाध्यायस्तत्वज्ञानस्याध्ययनमध्यापनं स्मरणं च' वाक्य से स्वाध्याय का लक्षण ही तत्वज्ञान का पढ़ना पढ़ाना और चिंतवन करना किया है और जो खासकर ऐसा स्वाध्याय श्रावकों के षट्कर्म में प्रतिपादन किया गया है।

× टीप—वसुनंदी श्रावकाचार—पृ- १२८

गाथा—

दिण पडिमवीरचरिया—तियालजोगेसु णत्थि अहियारो।
सिद्धान्तरहस्साणवि अज्झयणं देसविरदाणं ॥३१२॥

दिनप्रतिमावीरचर्यात्रिकालयोगेषु नास्त्यधिकारः।
सिद्धान्तरहस्यानामप्यध्ययनं देशविरतानाम् ॥३१२॥

अर्थ—दिन में प्रतिमायोग, वीरचर्या, त्रिकालयोग और सिद्धान्त रहस्य के अध्ययन, ये ऊपर के बातें करने को देशविरति श्रावक अनधिकारी हैं।

नोटः—यह सब कथन क्षुल्लकादि सच्छूद्रों को लेकर है उन्हीं के लिये तप और सिद्धांत व प्रायश्चित ग्रंथों के अधिकृत पठन का निषेध किया प्रतीत होता है जैसाकि वैदिक ग्रंथों में भी पाया जाता है। इसी से दि० मत में शूद्रों को मुनि दीक्षा का भी निषेध है। इन सब बातों का त्रिवर्णों के लिए निषेध नहीं है।

क्या तत्वज्ञान से सिद्धान्त भिन्न है? यह तो निश्चित है कि, देशनालब्धि देशविरती तो क्या अव्रती तकके होती है उसी देशनालब्धिका स्वरूप आचार्य नेमिचन्द्र ने लब्धिसार में यों कहा है—

छद्दव्वणवपयत्थो देसयरसूरिपहुदिलाहो जो।
देसिदपदत्थधारणलाहो वा तदियलद्धी दु ॥६॥

अर्थ—छहद्रव्य और नव पदार्थों का उपदेश करने वाले आचार्य आदि का लाभ यानी उपदेश का मिलना और उन पर उपदेशे हुए पदार्थों के धारण करने (याद रखने) की प्राप्ति वह तीसरी देशनालब्धि है।

ग्रन्थाध्ययन का निषेध करना एक ऐसी निर्मूल और अयुक्त बात है कि जिसकी पुष्टि किसी भी परमागमसे नहीं होती है और तो और, खास समवशरण में ही भगवान की दिव्यध्वनि को तिर्यंच तक श्रवण करते हैं 卐 क्या कोई कह सकता है कि केवली की दिव्यध्वनि में द्वादश सभा के समक्ष सिद्धांतविषयक

卐 और इसीलिए वह 'श्रुत' कहलाता है। स्वयं भगवान् ने जिनको अधिकारी समझकर उपदेश सुनाया उन्हें अब कैसे अनधिकारी ठहराया जा सकता है क्या आप भगवान् से भी बड़े हैं?

उपदेश नहीं होता है? यदि कहो कि- "सिद्धांताध्ययन का अधिकार हो तो भले हो किंतु श्रावकों को अध्यात्म ग्रंथों के पढ़ने का तो अधिकार नहीं है सो भी ठीक नहीं है। जिनसेन स्वामी ने पंद्रहवीं ब्रह्मचर्य क्रिया का वर्णन करते हुये पर्व ३८ में कहा है कि —

सूत्रमौपासिकं चास्य स्याद्ध्येयं गुरोर्मुखात्।
विनयेन ततोऽन्यच्च शास्त्रमध्यात्मगोचरम् ॥११८॥

अर्थ - इसे प्रथम ही गुरुमुख से उपासकाचार पढ़ना चाहिए और फिर विनय पूर्वक अन्य अध्यात्मशास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए।

कुछ भी हो, किसी ग्रंथ के अध्ययन को मनाई करना बिल्कुल निःसार है। इसकी अनुपयोगिता का तो खासा प्रमाण यही है कि इस समय इस पर कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। केवल अंध परम्परा भक्तों की कहने भर की चीज रह गई है। अगर इस अनिष्टपूर्ण आज्ञा का पालन किया जाता तो बड़ा ही दुर्भाग्य होता—जैन धर्म की इस समय जैसी कुछ अवस्था है यह भी नहीं रहती। फिर भी सिद्धांत ग्रंथों का जैसा पठन पाठन होना चाहिए वैसा नहीं हो रहा है। प्रत्येक साल इसमें विद्यार्थी पास हो जाते हैं किंतु वे खाली पास ही हैं, उससे सन्मार्ग का महत्व वे द्योतित नहीं कर सकते। क्योंकि जिस उद्देश्य से इनका पठन पाठन होना चाहिए वह प्रायः नहीं है। पूर्वकाल में इनका अध्यन सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति, कषायों की मंदता और जैन मार्ग का गौरव प्रकट करना इन उद्देश्यों को लेकर होता था अब तो केवल टका पैदा करने और अपना आदर सन्मान होने के अर्थ

इनका पठन होता है। इसके लिए के जिन ग्रंथों के समीचीन अध्ययन के लिए कम से कम दस पन्द्रह वर्ष चाहिए उन्हें पांच चार वर्ष ही में जैसे-तैसे पढ़कर प्रमाणपत्र प्राप्त कर लेते हैं और फिर उनका मनन करना भी छोड़ दिया जाता है फल यह होता है कि पांच सात वर्ष बाद वे ग्रंथ अपठित से हो जाते हैं। ऐसे कितने ही विद्वान कहलाने वाले मिलेंगे जो नाम मात्र की पदवियों को चिपटाये हुए गर्वोन्मत्त फिरते हैं। काम पड़ने पर सिद्धांत विषयक खास शंका का समाधान ये नहीं कर सकते। निरंतर के अध्ययन बिना उनका प्रमाणपत्र बिचारा धरा ही रह जाता है, वह केवल दिखाने भर की चीज रह जाती है और उससे कुछ अर्थ नहीं निकलता। इस तरह के प्रमाणपत्रों से कुछ लाभ भले ही हो किंतु हानि भी पूरी होती है। इन्हें प्राप्त कर मनुष्य अपने को ऐसा कृतकृत्य समझने लगता है कि फिर उस विषय में कुछ भी प्रयत्न नहीं करता है। नतीजा जिसका यह होता है कि अंजुली के जल की तरह के शनैः २ सिद्धांत ज्ञान से खाली होते २ आखिर खोखले रह जाते हैं। सो ठीक ही है 'अनभ्यासे विषं विद्या' होता ही है। जिसकी स्थिति ही निरंतर मनन चिंतवन के ऊपर निर्भर है। उसका प्रमाणपत्र सर्वदा के लिये मानना ही विडंबना पूर्ण है। जहां-जहां इन प्रमाणपत्रों की खटपट नहीं है वहां बहुत बड़ा लाभ यह है कि मनुष्य को अपनी लियाकत दिखाने को हर समय अपने को तैयार रखना पड़ता है। इससे मेरा अभिप्राय परीक्षा देकर प्रमाणपत्र लेने की व्यवस्था उठा देने का नहीं है दीर्घकाल तक यथेष्ट अध्ययन होना चाहिये यह भाव है। अस्तु,

अन्त में हम यह लिखकर कि – 'किस तरह के ग्रन्थ काल शुद्धि आदि न होने पर पढ़ने योग्य हैं।' विराम लेते हैं।

मूलाचार पंचाचाराधिकार की गाथा ८२ में कहा है कि सम्यग्दर्शनादि चार आराधनाओं का प्रतिपादक ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरण निरूपक ग्रन्थ, पंच संग्रह ग्रन्थ, स्तोत्र ग्रन्थ आहारादि के त्याग का उपदेशक ग्रन्थ सामायिकादि षडावश्यक प्ररूपक और महापुरुषों का चरित्र वर्णन करने वाली धर्मकथा इस तरह के ग्रन्थ बिना कालशुद्धि आदि के भी पढ़ने योग्य माने गये हैं। कालशुद्धि आदि का वर्णन इसी पंचाचाराधिकार में है सो वहां से देख लें।

षट्खण्डागमभाग ६ में भी इन ग्रंथों को पढ़ने के अधिकार और विधि का विशेष वर्णन है देखो पृ० २५५ से २७५ तक

जगमोहन लाल शास्त्री

संपादक



११

भट्टारक सकलकीर्तिका जन्मकाल :

विक्रम की १५ वीं शताब्दि में ईडर की गद्दी के संस्थापक सकलकीर्ति नाम के एक प्रसिद्ध भट्टारक हो गये हैं। जिन्होंने संस्कृत में ४० करीब जैन शास्त्रों की रचना की है। इनके गुरु पद्मनंदि भट्टारक थे। इन पद्मनंदि के शिष्यों में शुभचन्द्र, देवेन्द्रकीर्ति और सकलकीर्ति ये तीन प्रमुख शिष्य थे।

उक्त पद्मनंदि की गुरुपरंपरा में वि० सं० १२७१ में धर्मचन्द्र भट्टारकी पद पर आरूढ़ हुये थे। वे हूमड़जाति के थे और २५ वर्ष तक पट्ट पर रहे। उनके बाद वि० सं० १२९६ में धर्मचन्द्र के पट्ट पर रत्नकीर्ति बैठे। ये भी हूमड़जाति के थे। ये १४ वर्ष तक पटट पर रहे। उनके बाद वि० सं० १३१० में दिल्ली में रत्नकीर्ति के पटट पर प्रभाचन्द्र बैठे। ये ब्राह्मण जाति के थे। ये ७५ वर्ष तक पट्ट पर रहे। तत्पश्चात् वि० सं० १३८५ पौष शुक्ला ७ को प्रभाचन्द्र के पट्ट पर वहीं दिल्ली में पद्मनंदि बैठे। ये ६५ वर्ष और १८ दिन तक पटट पर रहे। ये भी ब्राह्मण जाति के थे। इन्होंने अपनी १५ वर्ष और ७ मास की उम्र में ही दीक्षा ले ली थी। दीक्षा के १३ वर्ष और ५ मास बाद ये पट्टारूढ़ हुये थे। कुल आयु इन्होंने ९४ वर्ष की पाई। इस उल्लेख से यह प्रकट होता है कि—पद्मनंदि का पट्टकाल सं० १४५० तक रहा। यही समय उनके स्वर्गवास का समझना

चाहिये। तत्पश्चात् उनके तीन शिष्यों में से शुभचन्द्र सं० १४५० की माघ शुक्ला ५ को दिल्ली में उनके पट्ट पर बैठे। ये ५६ वर्ष तक पट्ट पर रहे। ये भी ब्राह्मण जाति के थे। इन्होंने अपनी १६ वर्ष की अवस्था में दीक्षा ली थी। दीक्षा लेने के २४ वर्ष बाद वे गुरु के पट्ट पर बंठे थे। इन शुभचन्द्र की कुल उम्र ६६ वर्ष की थी।

पद्मनंदि के दूसरे शिष्य देवेन्द्रकीर्ति के बाबत "सूरत के मूर्ति लेख संग्रह" नामक गुजराती भाषा की पुस्तक के पृ० ३५ पर ऐसा लिखा है—

"दिल्ली में स्थापित भट्टारकों की गद्दी की एक शाखा फिरोजशाह के वक्त में वि० सं० १३८१ में आमोद के पास गांधार में स्थापित हुई। तदनंतर सं० १४६१ में भट्टारक देवेन्द्रकीर्ति ने उसे वहां से उठाकर सूरत के पास रांदेर में स्थापित की। फिर देवेन्द्रकीर्ति के शिष्य भट्टारक विद्यानंदि ने वहां से उठा कर उसी गद्दी की स्थापना सूरत में की।"

इस लेख से कहा जा सकता है कि—पद्मनंदि के दिवंगत हुये बाद दिल्ली की भट्टारकी गद्दी की जो शाखा गांधार में थी वहां के भट्टारकी पद पर उनके दूसरे शिष्य देवेन्द्रकीर्ति आसीन हुये हैं।

अब रहे तीसरे शिष्य सकलकीर्ति उनका हाल जैन सिद्धांत-भास्कर १३ किरण २ में प्रकाशित एक ऐतिहासिक पत्र में निम्न प्रकार लिखा है—

"ढूंढाड़ देश में नेणवे (नैणवा) ग्राम में प्रभाचन्द्र के पट्टधर शिष्य श्रीपद्मनंदि के पास से सकलकीर्ति ने अपनी

२४ वर्ष की उम्र में दीक्षा ली और गुरु के पास रहकर ८ वर्ष तक व्याकरण–काव्य न्याय सिद्धांतादि शास्त्रों का अध्ययन किया। वे २२ वर्ष तक नग्न रहे। इनके पगले नोगाम में स्थापन किये। वि० सं० १४९९ तक वे जीवित रहे।" यह पत्र सं० १८०५ का लिखा है।

ऊपर हम बता आये हैं कि– वि० सं० १४५० तक इनके गुरु पद्मनंदि जीवित थे और इन पद्मनंदि के पास में सकलकीर्ति ने अपनी २४ वर्ष की वय में दीक्षा ली व दीक्षा के बाद ८ वर्ष तक उन्हीं पद्मनंदि के पास में रहकर उन्होंने शास्त्राध्ययन भी किया। तो इस हिसाब से सकलकीर्ति का जन्म समय वि० सं० १४१७ सिद्ध होता है। यह १४१७ का समय भी उस हालत में होगा जब सकलकीर्ति के अध्ययन करते ही गुरु का अंतकाल हो गया हो जिससे वे ८ वर्ष तक ही गुरु के पास अध्ययन कर पाये हों। संभव है इसी से उनका अध्ययन काल ८ वर्ष का लिखा हो।

किन्तु कुछ विद्वान् सकलकीर्ति का जन्म समय सं० १४४३ का मानते हैं, वह उचित नहीं जान पड़ता। क्योंकि वैसा मानने से पद्मनंदि के समय के साथ उसकी संगति नहीं बैठती है। पट्टावलियों में पद्मनंदि की गुरु परंपराओं और शिष्य परंपराओं का जो पट्टारोहण काल दिया हुआ है वह ऐसा शृंखला बद्ध है कि यदि उसकी एक भी कड़ी गलत हो जाती है तो उसकी आगे की परंपरा सारी की सारी गड़बड़ में पड़ जाती है। इसलिये उसे अमान्य नहीं किया जा सकता है। अगर हम सकलकीर्ति का जन्म काल सं० १४४३ का मानकर चलें और उन्होंने २५ वर्ष की उम्र में पद्मनंदि से दीक्षा ली एवं ८ वर्ष

तक गुरु के पास पढे इसका अर्थ यह हुआ कि-पद्मनंदि सं० १४५० तक भी जीवित थे। जब सं० १४५० तक ही पद्मनंदि की उम्र ६४ वर्ष की हो चुकी थी जैसा कि हम ऊपर बता आये हैं तो १४७६ तक उनका जीवित रहना मानने पर तो उनकी उम्र १२० वर्ष तक पहुँच जायेगी जो युक्त नहीं है। दूसरी बात यह है कि—"भट्टारक संप्रदाय" पुस्तक के पृ० ६७ में बिजोलिया का शिला लेख छपा है। जोकि वि० सं० १४६५ का उत्कीर्ण है। उसमें हेमकीर्ति यति की प्रशंसा करते हुये लिखा है कि—पद्मनंदि के पट्ट शिष्य शुभचंद्र के ये हेमकीर्ति शिष्य थे। अगर स० १४७६ में पद्मनंदि मौजूद होते तो इस शिला लेख में सं० १४६५ में ही शुभचन्द्र को पद्मनंदिका पट्टधर शिष्य नहीं लिखते। इसी तरह सं० १४६१ में गांधार की गद्दी (इसका जिक्र ऊपर देखो) के स्थानांतर करने में पद्मनंदि का नाम न लिखकर उनके अन्यतम शिष्य देवेन्द्रकीर्ति का नाम लिखा है। इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि स० १४६५ में ही नहीं स० १४६१ में भी पद्मनन्दि जीवित नहीं थे। अगर सकलकीर्ति का १८ वर्ष की उम्र में भी दीक्षित होना मान ले तो वह समय भी १४६९ का तो होगा ही तब भी उसकी संगति शिलालेख के कथन से नही बैठेगी।

"सकलकीर्तिनुरास" के आधार पर सकलकीर्ति का जन्मकाल सं १४४३ मानते हैं मगर इस रास के कर्त्ता कौन हैं ? और वे कब हये ? ऐसा कुछ ज्ञान नहीं होता है। सकलकीर्ति के समकालीन ब्रह्म जिनदास ने तो सकलकीर्ति का कोई रास नहीं लिखा है। ऐसी हालत में बिना किसी सबल प्रमाण के नगण्य रास के आधार पर पट्टावलियों को सहसा अप्रमाण कैसे मान लिया जावे ?

ऐसा आभास होता है कि ऐतिहासिक पत्रादि में जो सकलकीर्ति की ५६ वर्ष की अवस्था लिखी है वह ५६ वर्ष का काल दर-असल में उनके दीक्षा लेने के बाद का है जिसे गल्ती से उनकी सारी उम्र ही ५६ वर्ष की समझली गई है। और चूंकि सकलकीर्ति का अंतकाल सं १४९९ में हुआ यह निश्चित है ही अतः रास के कर्त्ता आदि ने ५६ वर्ष का जोड़ बैठाने के लिये उनका जन्म सं. १४४३ में होना लिख दिया है। और इसी तरह ३४ वर्ष की अवस्था में उनका आचार्य होना लिखा है, उसे भी ५६ का जोड़ बैठाने का प्रयत्नमात्र समझना चाहिये। क्योंकि वे २२ वर्ष तक नग्न रहे इस कथन की संगति भी तो बैठानी थी।

संभवतः सं. १४४३ में उनका जन्म न मानकर वह समय यदि उनकी दीक्षा का मान लिया जाये और उसके ३४ वर्ष बाद आचार्य होकर २२ वर्ष पर्यन्त नग्न रूप में रहना मान लिया जावे तो इस विषय की सब आपत्ति दूर हो सकती हैं। ऐसी सूरत में उनकी उम्र ८१ वर्ष की माननी होगी।

आशा है जो लोग उनकी कुल उम्र ५६ वर्ष की मानते हैं वे इस पर पुनः विचार करने का उद्यम करेंगे।

इतिहास की सही खोज वे ही लोग कर सकते हैं जो दुराग्रही नहीं होते हैं और जब तक पूर्ण निर्णय नहीं हो जाता तब तक तटस्थ होकर जैसा भी अनुकूल या प्रतिकूल प्रमाण मिलता जाता है तदनुसार ही निःसंकोच वृत्ति से अपने विचारों में तबदीली करते रहते हैं।



१२

जैनधर्म में जीवों का परलोक

"कल्याण" के पुनर्जन्म विशेषांक से उद्धृत
(जनवरी १९६८)

जिस धर्म का यह सिद्धान्त हो कि—अनेक योनियों में जन्म-मरण प्राप्त करके ये जीव अपने किये पुण्य-पाप के फलों को भोगते रहते हैं, वह धर्म 'आस्तिक धर्म' कहलाता है। इस दृष्टि से जैनधर्म भी एक आस्तिक धर्म है। उसका कहना है कि समस्त संसारी जीवों का अस्तित्व नारकी, देव, तिर्यंच (पशु, पक्षी कीड़े) और मनुष्य—इन चार भेदों में पाया जाता है। इन्हें ही चार गतियां कहते हैं अर्थात् संसारी जीवों का आवागमन सदा इन चार स्थानों में होता रहता है। हर एक गति के जीवों की अपनी अलग-अलग आयु होती है। जितनी जिसकी आयु होती है, उतने ही काल तक वह उस गति में रहता है। तिर्यंच और मनुष्य कारणवश अपनी निर्धारित आयु से पहले भी मर जाते हैं, जिसे 'अकाल-मरण' कहते हैं। नरक और देवगति में अकालमरण नहीं होता है। मरने के बाद वह जीव अपनी अच्छी-बुरी करनी के फल से या तो उसी गति में, जिसमें कि वह मरा है, फिर से जन्म लेता है, या अन्यान्य गतियों में जन्म लेता है। किन्तु नरक और देवगति के जीव लौटकर पुनः अपनी उसी गति में जन्म नहीं लेते हैं, अन्य गतियों में जाने के बाद

पुन: नरक और देवगति को प्राप्त हो सकते हैं। नियमतः देव और नरक दोनों ही गति के जीव तिर्यंच और मनुष्यगति में ही जन्म लेते हैं। देवों और नारकियों की आयु दस हजार वर्षों से कम नहीं होती, अधिक तो इतनी होती है कि जिसकी गणना लौकिक संख्या में नहीं आती। किसी भी गति से मरे हुए जीव को भवान्तर में जन्म लेने में निमेष (आँख की टिमकार) मात्र काल से भी बहुत कम समय लगता है। जिस शरीर में से निकलकर कोई जीव जब भवान्तर में जाता है, तब रास्ते में उस जीव का आकार पूर्व शरीर जैसा रहता है। जब वह भवान्तर में दूसरा नया शरीर ग्रहण करता है, तब उसके शरीर का आकार नये प्रकार का हो जाता है।

जैनधर्म के सिद्धान्तशास्त्रों में लिखा है कि देवों और नारकियों को वर्तमान भव की आयु के समाप्त होने में जब छः मास का समय शेष रह जाता है, तब उनके किसी अगले भव की आयु का निर्माण होता है। अर्थात् तब उनके भव की आयु (कर्म) का बन्ध होता है, और उस आयु के कर्म फल से जितनी आयु उसने बाँधी है, उतने समय तक उसे अगले भव (योनि) में रहना पड़ता है। इसी तरह मनुष्य और तिर्यंचों को अपनी वर्तमान भव की आयु के तीन भागों मे दो भाग व्यतीत हो जाने के बाद तीसरे भाग में अगले भव की आयु का बन्ध होता है। किन्तु इनको यह पता नही लगता कि हमारी आयु कितनी है, और अगले भव की आयुबन्ध का कौनसा समय है।

आयु बन्ध के समय में श्रेष्ठ परिणाम होने से अगले भव में अच्छी गति मिलती है। इसलिए मानवों को सदा ही अपना उत्तम आचार-विचार रखना चाहिए। पता नहीं, कब आयु-बन्ध का समय आ जाए।

उपर्युक्त चार गतियों में से मनुष्य और तिर्यंच (पशु, पक्षी, कीड़े) गति के जीवों का हाल तो प्रत्यक्ष ही है; अतः उनका वर्णन न करके यहाँ हम नरक और देवगति का वर्णन करते हैं—

कुल नरक सात हैं। जिस पृथ्वी पर हम रहते हैं, उसका नाम 'रत्नप्रभा' है। उसके भीतर कोसों तक के लम्बे-चौड़े अनेक बिल हैं। जमीन में ढोल के गाड़ देने पर जो पोलाई ढोल में रहती है, उस तरह के बिल हैं, जिनमें नारकी जीव रहते हैं। इस रत्नप्रभा पृथ्वी के भीतर बिलों में जितने नारकी रहते हैं, वह सब प्रथम नरक कहलाता है। इससे नीचे कुछ फासले पर 'शर्कराप्रभा' नाम की दूसरी पृथ्वी है। उसके भीतर भी उसी तरह के कितने ही बिल हैं, जिनमें नारकी जीव रहते हैं। यह दूसरा नरक कहलाता है। इसी तरह कुछ और फासले पर उत्तरोत्तर नीचे-से-नीचे पाँच पृथ्वियाँ और हैं जिनके बिलों में भी नारकी जीव रहते हैं, जिन्हें कि तीसरे से सातवाँ नरक कहना चाहिए। किसी एक नरक का नारकी अन्य नरकों में नहीं जा सकता, बल्कि किसी एकही नरकके भिन्न-भिन्न बिलों में रहने वाले नारकी अपने ही नरक में अपने बिल के सिवा अन्य बिल में भी नहीं जा सकते। इन सबकी आयु ऊपर की अपेक्षा नीचे के नरकों में अधिक है। प्रत्येक बिल में बहुतसे नारकी रहते हैं और प्रायः वे एक-दूसरे को मार-काट कर दुःख देते रहते हैं। यहाँ आने के बाद उन्हें अपनी पूरी आयु तक यहाँ रहकर दुःख सहना पड़ता है। चाहे उनके शरीरों को तिल-तिल मात्र भी क्यों न काट दिया जाए, वे अपनी आयु पूर्ण होने के पहले वहाँ से निकल नहीं सकते। उनके कटे हुए शरीर के टुकड़े पारे की तरह

मिलकर फिर एक शरीर रूप बन जाते हैं। नरकों में स्त्रियाँ नहीं होती हैं। उनका जन्म बिलों की छत के अधोभाग में होता है। उस समय वे चमगादड़ों की तरह औंधे मुँह लटकते हुए जन्मते हैं और नीचे जमीन पर गिरते हैं। जन्म लेने के बाद ही अपना मार-काट का काम शुरू कर देते हैं। सभी नारकियों का रूप बड़ा भयकर होता है। नरकों में आपस में मार-काट का ही दुःख नहीं होता, अपितु अन्य भी असहनीय दुःख होते हैं। वहाँ पर कितने ही बिलों में ऐसी भयानक गरमी पड़ती है कि जिस गरमी से लोहे का गोला भी गलकर पानी हो जाए। कितने ही बिलों में ऐसी प्रचण्ड ठंड पड़ती है कि जिससे लोहे के गोले का खण्ड-खण्ड हो जाए। प्यास उन नारकियों को इतनी अधिक लगती है कि सब समुद्रों का पानी पी जायें, तबभी उन की प्यास बुझे नहीं परन्तु उनको बिन्दुमात्र भी जल नही मिलता है। भूख उनको इतनी प्रचण्ड लगती है कि सारे संसार का अन्न खा जाएँ परन्तु उन्हें कणमात्र भी अन्न नही मिलता है। वहाँ की भूमि का स्पर्श ही इतना दुःखदायी है कि जैसे बिच्छुओं ने डंक मार दिया हो। ये सब दारुण दुःख नारकियों को उम्रभर भोगने पड़ते हैं। वहाँ क्षण भर भी सुख नहीं है। घोर पापों का फल भोगने के लिए प्राणियों को इन नरकों में जाना पड़ता है।

इसके विपरीत जो पुण्यात्मा होते हैं, वे देवलोक में जाकर सुख भोगते हैं। जिस मनुष्य लोक में हम रहते हैं, वह 'मध्यलोक' कहलाता है। उससे नीचे 'अधोलोक' है—उसमें नरक है। मध्यलोक से ऊपर 'ऊर्ध्वलोक' में देवों का निवास-स्थान है। वहाँ देव किसी पृथ्वी पर नहीं रहते हैं। वे सब विमानों में रहते हैं। इससे भी बहुत ऊपर स्वर्गलोक है। वह हमारे

नेत्रगोचर नहीं हैं। वहाँ उत्तम श्रेणी के देवों का निवास है। उससे भी ऊपर 'अहमिन्द्रलोक' है, जहाँ उनसे भी उत्कृष्ट देव रहते हैं। कुछ निम्न श्रेणी के देव अन्यत्र भी रहते हैं। स्वर्ग १६ माने गये हैं। प्रत्येक स्वर्ग के दायरे में बहुत से विमान होते हैं जिन सबका स्वामी उस स्वर्ग का एक इन्द्र होता है। उन सब विमानों के वासी सब देव उस इन्द्र की आज्ञा में रहते हैं। अलग-अलग स्वर्गों के प्राय: अलग-अलग इन्द्र होते हैं और हर एक स्वर्ग में बहुत से विमान होते हैं। हर एक स्वर्ग मानो एक-एक देश है. और बहुत से विमान उस देश में अलग-अलग प्रदेश या नगर हैं। प्रत्येक विमान में अनेक वापिकाएँ, महल और उपवन होते हैं। विमानों की लम्बाई-चौड़ाई काफी विस्तृत होती है। उन देशों के अलग-अलग राजा अलग-अलग इन्द्र कहलाते हैं। जैसे मनुष्यलोक में राजा, मन्त्री, पुरोहित, सेना, प्रजा आदि होते हैं, वैसे ही देवलोक में भी होते हैं। वहाँ के राजा को इन्द्र कहते हैं और प्रजा के लोग 'देव' कहलाते हैं। इन इन्द्रादि देवों का शरीर बहुत सुन्दर होता है। उनके शरीर में हाड़, मांस, रक्त, धातु, मज्जा, मल, मूत्र, पसीना नहीं होते हैं। उनको निद्रा नहीं होती, बुढ़ापा नहीं होता और किसी प्रकार का रोग नहीं होता। उनको प्यास नहीं लगती। वे खाते कुछ नहीं। बहुत वर्षों मे कहीं कभी भूख लगती है, तो उसी क्षण उनके कण्ठों में अपने आप अमृत झर पड़ता है। उससे वे तृप्त हो जाते हैं। वहाँ किसी प्रकार का उनको शारीरिक दु:ख नहीं होता है। इसी प्रकार से वहाँ सुन्दर देवियाँ होती हैं जिनके साथ वे देव नाना प्रकार के भोग-विलास करते हैं। वे देवियाँ वहाँ केवल भोग-विलास के लिए ही होती हैं। उनके गर्भ धारण नहीं होता है। देवों और देवियों की उत्पत्ति वहाँ किसी स्थान-

विशेष (जिसे उपपाद शैया कहते हैं) से होती है। पैदा होने के थोड़े ही समय बाद वे जवान हो जाते हैं और फिर उम्र भर जवान ही बने रहते हैं। उन सबकी कोई निश्चित आयु होती है। देवियों की आयु देवों से कम होती है। आयु समाप्त होने के बाद इन्द्रादि को भी अन्य योनियों में जन्म लेना पड़ता है। इसलिए मनुष्यादि की तरह वे भी संसारी जीव ही हैं। एक प्रसिद्ध प्राचीन जैनाचार्य स्वामी समंतभद्र ने कहा है—

> "श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात् ।
> कापि नाम भवेदन्या सम्पद्धर्माच्छरीरिणाम् ॥"

अर्थात्—धर्म के प्रताप से कुत्ता भी देव हो जाता है। देवयोनि में जन्म लेता है और पाप के फल से देव भी मरकर कुत्ते की योनि में जाता है। इसलिए प्राणियों के लिए धर्म से अतिरिक्त अन्य कोई क्या सम्पदा हो सकती है?

इस स्वर्ग लोक से ऊपर एक 'अहमिन्द्रलोक' भी है, जिसमें भी देवों का निवास है। देव भी स्वर्ग लोक जैसे ही हैं। उनकी आयु स्वर्ग लोक के देवों का निवास है। वे देव भी स्वर्ग लोक जैसे ही हैं। उनकी आयु स्वर्ग लोक के देवों से अधिक होती है। वहाँ देवियाँ नहीं होती हैं अतः वे आजीवन ब्रह्मचारी ही रहते हैं। उनकी गणना अति उत्तम देवों में की जाती है। उनके भी रहने के अनेक विमान हैं। उनमें राजा, मन्त्री, प्रजा आदि भेद नहीं हैं। सभी अपने आपको इन्द्र मानते हैं। इसी से वे 'अहमिन्द्र कहलाते हैं। इनको भी समय पूरा होने पर अन्य योनियों में जाना पड़ता है।

इस अहमिन्द्रलोक से ऊपर 'शिवलोक' है। वहाँ वे जीव

पहुँचते हैं, जिन्होंने मनुष्य जन्म में वैराग्य, तप, संयम के द्वारा अपनी आत्मा को पूर्ण शुद्ध बना लिया हो। ऐसे जीव संसार-चक्र से निकलकर शिवलोक में पहुंचते हैं। वहाँ वे अनन्तकाल तक अतीन्द्रिय, आत्मजनित सुख का अनुभव करते रहते हैं। उनका संसार का आवागमन सदा के लिए छूट जाता है। वे अनन्त ज्ञान-दर्शन सुख वीर्य के धारी होते हैं।

जैन धर्म में जीवों की तीन दशाएँ मानी गई हैं—शुभ दशा, अशुभ दशा और शुद्ध दशा। शुभ दशा वाले जीव पुण्यकर्म के फल से देवलोक को प्राप्त होकर सांसारिक सुख भोगते हैं। अशुभ दशा वाले जीव पाप कर्म के फल से नरकों में जाकर दुःख सहते हैं तथा कभी वे जीव पशु-योनि में भी जाकर दुःख उठाते हैं। जिनको शुभ और अशुभ—दोनों मिलकर मिश्रदशा होती है, वे जीव पुण्य और पाप—दोनों के मिश्रित फल से मनुष्य-योनि में जन्म लेकर वहां सुख-दुख दोनों को भोगते हैं। तीसरी, शुद्ध दशा वह है, जिसमें आत्मा के साथ पुण्यकर्म और पापकर्म का कुछ भी मैल नहीं रहता। आत्मा कर्म मलरहित पूर्ण शुद्ध बन जाती है। ऐसी शुद्धदशा मनुष्य-योनि में ही हो सकती है, अन्य योनियों में नहीं। शुद्धदशा वाला जीव मानवशरीर को छोड़कर सीधा 'शिवलोक' में पहुँच जाता है। वहाँ अब वह शरीर धारण नहीं करता। जहाँ शरीर है, वहाँ जन्म-मरण है, आवागमन है, और संसार का चक्र है। अतः शिवलोक के निवासी जीव अशरीरी होते हैं—उनको केवल वहाँ अपनी शुद्ध आत्मा ही होती है। मोक्षस्थान, मुक्तिस्थान, सिद्धालय इत्यादि नाम शिवलोक के ही पर्याय हैं।

वहाँ के जीव निरंजन, निर्विकार, चिद्रूप, परमात्मा,

परब्रह्म, सर्वज्ञ, ईश, सिद्ध इत्यादि नामों से पुकारे जाते हैं। ऐसे सिद्ध जीव वहाँ अगणित पहुंच चुके हैं और आगे भी पहुंचते रहेंगे। यह स्थान सृष्टि का ऊपरी आखिरी स्थान है। इससे ऊपर अलोक है, जहाँ एकमात्र आकाश के सिवा अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

इस प्रकार हमने यहाँ जीवों के आवागमन के स्थानों का जैनमतानुसार संक्षिप्त वर्णन किया है। जैनशास्त्रों में इस विषय का बहुत विस्तार से विवेचन है। जैनकथाग्रन्थों में ऐसी बहुत सी कथाएँ लिखी हैं, जिनमे जीवों के अनेक भवान्तरों का वर्णन किया गया है।



१३

क्या चन्द्र सूर्य का माप छोटे योजनों से है ?

दिनांक १८ नवम्बर सन् ६७ के वीरवाणी के गतांक में क्षुल्लकजा श्री सिद्धसागरजी का एक लेख "भारतीय अंतरिक्ष विज्ञान" नाम से प्रकाशित हुआ है । जिसमें हस्तलिखित संग्रहणीसूत्र" शास्त्र की दो अपूर्ण प्रतियों की चर्चा की गई है । इस सिलसिले में लिखा है कि (पृ० ५६ कालम २)।

"चंद्र का विमान छोटे योजन की अपेक्षा ५६/६१ योजन प्रमाण है । अर्थात् ५६/६१ × ८/१ मील के आयाम वाला है । और सूर्य का विमान ४८/६१ × ८/१ मील प्रमाण है ।

क्षुल्लकजी का ऐसा लिखना उचित नहीं है । क्योंकि ज्योतिष्क विमानों का भी माप जैन शास्त्रों में लिखा है वह सब बड़े योजनों की अपेक्षा से है । एक छोटा योजन जिसको उत्सेध योजन कहते हैं उससे पांचसौ गुणा एक प्रमाण योजन अर्थात् बड़ा योजन होता है । अतः सूर्य चंद्र की लंबाई चौड़ाई भी बड़े योजन की अपेक्षा से ही समझना चाहिये । अर्थात् आपने योजनांशों को ८ से गुणाकर मील बनाने को लिखा है । जबकि उसकी जगह योजनांशों को चार हजार के गुणाकर मील संख्या लाने

को लिखा जाना चाहिये था। आगम प्रमाण के लिये देखिये आचार्य श्री विद्यानंदि स्वामी कृत तत्वार्थ श्लोक वार्तिक का निम्न विवेचन—

"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टि—भागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया, सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।" मूलमुद्रित पृ० ३७८

अर्थ—सूर्य का व्यास एक योजन के ६१ भागों में ४८ भाग प्रमाण है। ऐसा कथन प्रमाण योजन की अपेक्षा से है। उत्सेध योजनों की अपेक्षा तो वही व्यास कुछ अधिक ३९३ योजनों का होना है।

क्षुल्लकजी की मान्यतानुसार सूर्य का व्यास सिर्फ ६। मील करीब ही होता है। जबकि श्लोकवार्तिक के अनुसार ३१४७॥ मीलों का होना है। दोनों में बहुत अंतर है। गोल होने से सूर्यादि का जितना व्यास यानी चौड़ाई है उतनी ही उनकी लंबाई है।

जहां तक हमारा ख्याल है सूर्यचंद्रादि का माप संग्रहणी सूत्र में भी छोटे योजन की अपेक्षा से नहीं लिखा होगा। और न अन्य जैन शास्त्रों में ही लिखा है। अगर कहीं लिखा हुआ देखा हो तो क्षुल्लकजी महाराज उसे प्रकट करने की कृपा करेंगे।

इन संग्रहणी सूत्रों का विषय और भी सविशेष रूप से तत्वार्थ सूत्र की टीका—राजवार्तिक–श्लोकवार्तिक आदि में एवं त्रिलोकसार, त्रिलोक प्रज्ञप्ति, जंबूद्वीप प्रज्ञप्ति और श्वे० लोक प्रकाशादि ग्रंथों में पाया जाता है अतः इन संग्रहणी सूत्रों को लेकर प्रो. इतना लंबा चौड़ा अतिशयोक्ति पूर्ण कथन किया गया

है. और आधुनिक विज्ञान वालों से जो अपील की गई है, उसमें विशेष सार प्रतीत नहीं होता।

"संग्रहणी सूत्र' नाम से एक ग्रंथ श्वेतांबरों के यहाँ से करीब ४० वर्ष पहिले प्रकाशित हुआ है।

हमने 'जैन निबंध रत्नावली' के 'उपलब्ध जैन ग्रंथों में ज्योतिष चक्र की व्यवस्था" शीर्षक निबंध में इस संग्रहणी सूत्र का उपयोग किया है। इसी श्वेतांबरीय ग्रंथ की वे प्रतियां हैं। क्षुल्लकजी ने जो अपने लेख में नमूनार्थ ८ गाथायें दी हैं वे इसी श्वे० ग्रन्थ की हैं और उनका नंबर भी मुद्रित ग्रंथ में ठीक वही है जो क्षुल्लकजी ने सूचित किया है।

क्षुल्लकजी महाराज ने मूलाचार के द्वितीयभाग में "संग्रहणी सूत्र' के छपने की बात लिखी है वह भी ठीक नहीं है। मूलाचार में तो 'पर्याप्ति संग्रहणी' नाम का अंतिम अधिकार है जो भिन्न है।

श्री क्षुल्लकजी ने जो यह लिखा है कि—

"आज का विज्ञान ज्योतिषियों में उत्पन्न होने के सही तरीके को नहीं जानता अतः राकेट में बैठ उस ओर पहुंचने में ये विज्ञ संलग्न हैं। ज्योतिष विमान में पहुँचने के लिए तापस बनना आवश्यक है—कहा भी है—"तावसजा जोइसिया"—गाथा नं० ११।"

आपने अच्छा तरीका बताया कि मर कर ज्योतिष मंडल में पहुँचा जाय। यह तो ज्योतिष मंडल है अगर स्वर्ग भी हो तो ऐसा कौन समझदार है जो मर कर स्वर्ग देखना चाहेगा।

वैज्ञानिक इतने बेवकूफ नहीं हैं जो ऐसी बातों में विश्वास करने लगें वे तो सदैव इसी जन्म में ज्योतिष मंडल में पहुँचने में प्रयत्नशील हैं। जैन शास्त्रों से भी इसमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। जब इस देह से ही वहां पहुँचा जा सकता है तो तापसी बनने की क्या आवश्यकता है? आपने अपने कथन से मिथ्या दृष्टि (तापसी) बनने का भी समर्थन कर दिया है। इस प्रकार आपका यह सबकथन समुचित नहीं है। जैन शास्त्रों में तो यह लिखा है कि--'मिथ्यादृष्टि तापसी मरकर ज्योतिर्लोक में पैदा होते हैं' आपने उसको घुमाकर उल्टा ही आशय निकाल डाला है जो समीचीन नहीं है।



१४

आर्यिकाओं का केशलौंच

हमारे यहां दि० जैन समाज में मुनियों के केशलौंचों के उत्सव होते हैं। जिनमें सैकड़ों-हजारों जैन अजैन लोग एकत्रित होते हैं। एक मेला सा हो जाता है। ऐसे उत्सवों में शामिल होने के लिये समाज की ओर से बाहर को आमंत्रण पत्रिकायें भी दी जाती हैं। इसी प्रकार के उत्सव हमारे यहां आर्यिकाओं के केशलौंचों के भी होते हैं। यद्यपि इस प्रकार के केशलौंचों के उत्सवों का समर्थन किसी जैन आगम से नहीं होता है। और जन समूह के बीच होने वाले मुनियों के इन केशलौंचों से भले ही कोई खास हानि नहीं भी मानी जावे किन्तु आर्यिकाओं का जनसमूह के बीच बैठ कर केशलौंच करना ना लौकिक दृष्टि से भी ठीक नहीं है। आर्यिकायें स्त्री जाति में होती हैं, स्त्री जाति में विशेषतौर पर लज्जा गुण होना यह लोकमर्यादा है। लोक-मर्यादा का पालन जैनधर्म में भी माना गया है। इसीसे जैनधर्म में मुनि की तरह आर्यिका नग्नलिंग धारण नहीं कर सकती हैं। जैनशास्त्रों में मुनियों की अलौकिकी वृत्ति बताकर भी कहीं कुछ काम उनके लिये लोकमर्यादा के भी रक्खे हैं। जैसे अस्पृश्यके स्पर्श होने पर दंडकस्नान आदि। इसी प्रकार जैनाचार्यों ने आर्यिकाओं के लिये भी लोकलज्जा का बड़ा ध्यान रक्खा है। यहां लज्जा का अर्थ है मुंह और हाथ पैरों के अतिरिक्त शेष अंगों को वस्त्र से ढके रखना। मुंह व हाथ पैर वस्त्राच्छादित होने से ईर्यासमिति

आदि में बाधा आती है। अतः उनकी छूट रहती है। तथा यथाशक्य पुरुष जाति से संपर्क नहीं रखना-उससे दूर रहने का ध्यान रखना। तदर्थं आर्यिकायें दीक्षा भी किसी मुनि से नहीं लेती हैं। आर्यिकाओं की किसी गुराणी से लेती हैं। ऐसे कई उल्लेख जैन कथाग्रंथों में आते हैं। उनके कुछ उदाहरण हम यहां जिनसेनगुणभद्र कृत महापुराण के देते हैं।

(१) ललितांग के जीव राजा वासव ने अरिंजय मुनि से दीक्षा ली। उसकी रानी प्रभावती ने तब ही पद्मावती आर्यिका से दीक्षा ली।

(२) जयकुमार को रानी सुलोचना ने ब्राह्मी आर्यिका से दीक्षा ली।

(३) संजयंत मुनि की कथामें राजा सूर्यावर्त ने मुनि चंद्रमुनि से दीक्षा ली, तब ही उसकी राणी यशोधरा ने गुणवती आर्यिका से दीक्षा ली।

(४) शांतिनाथ चरित्र में वज्रायुध की कथा में राजा कनकशांति ने विमलप्रभ मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी दोनों राणियों ने विमलमती आर्यिका से दीक्षा ली।

(५) नेमिनाथ के पूर्वभव में राजकन्या प्रीति मती की इच्छा प्रतिज्ञानुसार चिंतागति को पति बनाने की थी। ऐसा न होने पर प्रीतिमती ने विवृत्ता आर्यिका से दीक्षा ली। तब ही विरक्त हो चिंतागति ने भी दमवर मुनि से दीक्षा ली।

(६) देवकी के छह पुत्र मुनि होकर उसके घर भिक्षा के लिये आये। उनके पूर्वभवों की कथा में सेठ भानुदत्त ने अभय-नंदि मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी सेठानी ने जिनदत्ता

आर्यिका से दीक्षा ली। उसी भानुदत्त के ७ पुत्रों ने चोरी का काम करते हुये विरक्त होकर वरधर्म मुनि से दीक्षा ली। तब ही उनकी स्त्रियों ने जिनदत्ता आर्यिका से दीक्षा ली।

(७) श्रीकृष्ण की पटरानी गांधारी के पूर्व भव में राजा महेंद्रविक्रम ने चारण मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी रानी सुरूपा ने सुभद्रा आर्यिका से दीक्षा ली।

(८) श्रीकृष्ण की पटरानी पद्मावती के पूर्व भव में राजा मेघनाद ने धर्म मुनि से दीक्षा ली। तब ही उसकी रानी विमलश्री ने पद्मावती आर्यिका से दीक्षा ली।

(९) पांडवों के पूर्व भव में सोमदत्त आदि ब्राह्मणों ने वरुणाचार्य से दीक्षा ली। तबही उनकी स्त्रियों में से दो ने गुणवती आर्यिका से दीक्षा ली।

(१०) पांडवों ने नेमिनाथ से दीक्षा ली। कुंती, सुभद्रा, द्रौपदी ने राजमति से दीक्षा ली।

(११) जीवंधर ने महावीर से दीक्षा ली। उस की रानी ने चंदना आर्यिका से दीक्षा ली।

इन उदाहरणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि जिस प्रकार आर्यिका से कोई मुनि दीक्षा नहीं लेता था। उसी प्रकार आर्यिका की दीक्षा भी किसी मुनि के पास से नहीं ली जाती थी। ऐसा ही कुछ आचार शास्त्रों का नियम मालूम होता है। अगर ऐसा नियम न होता तो ऊपर लिखी कथाओं के उदाहरणों में पतियों ने जिस वक्त जिन मुनियों से दीक्षा ली, तब ही उनकी पत्नियों का उन मुनियों से दीक्षा न लेकर अन्य आर्यिकाओं से दीक्षा लेने का कथन क्यों आता?

भगवती आराधना के प्रथम अध्याय की गाथा ८३ की बचनिका में श्री पंडित सदासुखदास जी साहब ने ऐसा लिखा है—

'बहुरि अन्य परिग्रह कूं धारती जे स्त्री तिनकै हू औत्सर्गिकलिंग वा अपवाद लिंग दो प्रकार होय है। तहाँ जो सोलह हस्त पमाण एक सुफेद वस्त्र अल्पमोल का तातैं पग की एढीसूं लेय मस्तकपर्यंत सर्व अंगकूं आच्छादनकरि अर मयूर-पिच्छिका धारण करती अर ईर्यापथ में दृष्टि धारण करती, लज्जा है प्रधान जाकै सो पुरुषमात्र में दृष्टि नहीं धरती, पुरुषनितैं वचनालाप नहीं करती। अर ग्राम के वा नगर के अति नजीक नहीं अर अतिदूरहू नहीं ऐसी वसनिका में अन्य आर्यिका-निका संघ में वसती, गणिनी को आज्ञा धारण करती, बहुत उपवासादिक तपश्चरण में प्रवर्तती श्रावक के घर अयाचिक वृत्ति करि दोष रहित अंतराय रहित आप के निमित्त नहीं कियो जो प्रासुक आहार ताकि एक बार बैठि करि मौनतैं ग्रहण करती। आहार का अवसर बिना गृहस्थनि के घर धर्मकार्य विना नहीं गमन करती, निरंतर स्वाध्याय में लीन रहती, एक वस्त्र विना तिलतुष मात्रहू परिग्रह नही ग्रहण करती, पूर्व अवस्था संबंधी कुटुंबादिसूं ममत्व रहित रहती ऐसी जो स्त्री ताकै जो ये पंचपापनिका मन वचन काय कृत कारित अनुमोदना तैं त्यागकरि व्रतधारण समितिनि का पालना सो ही आर्यिका का व्रतरूप औत्सर्गिकलिंग कहिये सर्वोत्कृष्ट लिंग है।'

आर्यिकायें भिक्षा के लिये जिस ढंग से गमन करती हैं, उसका वर्णन मूलाचार के समाचार अधिकार में इस प्रकार किया है—

तिणिव पंचव सत्तव अज्जाओ अण्णमण रक्खाओ।
थेरीहिं सहंतरिदा भिक्खाय समोदरंति सदा ।।१६४।।

अर्थ—तीन या पांच या सात आर्यिकायें मिलकर वृद्ध स्त्रियों के साथ उनकी आड़ में होकर सदा भिक्षा के लिए गमन करती हैं। और आपस में एक दूसरे की रक्षा का भाव रखती हैं।

इस कथन से सहज ही यह जाना जा सकता है कि—आर्यिकायें वसतिका से किसी कार्यवश बाहर निकलती हैं तो आम जनता की निगाह से बचने के लिए आचार शास्त्रों में उनके लिए कैसे २ नियन्त्रण रक्खे हैं। जहाँ जैन शास्त्रों में आर्यिकाओं को पुरुषवर्ग से बचे रहने के लिए उनके दृष्टिपथ में न आने देने के लिए ऐसे-ऐसे आदेश दिए हैं। यहाँ तक कि कोई भी महिला किसी मुनि के पास से दीक्षा भी नहीं ले सकती है। ऐसी सूरत में एक जैन साध्वी मर्दों की भरी आमसभा में जहाँ जैन अजैन सैंकडों, हजारों आदमी विद्यमान हों वहाँ ऊँचे मंच में बैठ कर अपना शिर उघाड़ कर केश लौंचन करे यह कहाँ तक उचित कहा जा सकता है। इस पर दि० जैन समाज के ज्ञानवान् भाइयों को गम्भीरता पूर्वक सोच विचार करके निर्णय देना चाहिये। ऐसी उनसे मेरी विनती है।

हाँ यदि उन आर्यिकाओं को एकान्त में लौंच करना रुचिकर न हो तो भले ही वे महिलाओं की सभा में लौंच करलें परन्तु पुरुषों के समूह में तो उनका लौंच करना योग्य नहीं है।

वि० सं० २०२६ रक्षा बंधन पर एक आचार्य महाराज ने दिल्ली में एक ब्रह्मचारिणी को क्षुल्लिका की दीक्षा दी

आचार्यजी ने जनसमूह के बीच अपने हाथ से क्षुल्लिका का केशलौंच किया यह अत्यंत दूषित पद्धति है।

इन्द्रनंदि ने "नीतिसार समुच्चय" में लिखा है:—

न योषितः स्पृशेद्योगी, काष्ठ चित्र कृतापि च ।
किं पुनः स्पर्शनं तासां यासां स्मरणमापदे ॥८४॥

अर्थात्— काष्ठ कागज आदि पर बनी स्त्री मूर्ति का भी साधु स्पर्श न करे क्योंकि स्त्रियों का स्मरण मात्र ही अनेक आपत्तियों का आविर्भावक है फिर उनके स्पर्श की क्या कथा वह तो किसी भी तरह विधेय नहीं।

चित्रस्थामपि संस्पृश्य, योषितं नैव भुज्यते ।
तस्मिन्नहनि भुंजन्चेत्, षष्ठं स्यात्पापनाशनम् ॥८५॥

अर्थात्—स्त्री के चित्र का भी स्पर्श हो जाय तो साधु उस दिन भोजन का त्याग करे। और शुद्धि के लिए बेला (दो दिन तक उपवास) करे।

मूलाचार के चौथे समाचाराधिकार गाथा १६५ में बताया है :—

आर्यिका आचार्य-साधु की वंदना भी ५-७ हाथ दूर रहकर करें।

प्रथम तो क्षुल्लिका का केशलौंच ही शास्त्र-विरुद्ध है। दूसरे वह जनसमूह में करना और भी विरुद्ध है तीसरे किसी भी पुरुष के हाथ का स्पर्श होना तो अत्यंत ही दूषित पद्धति को प्रश्रय देना है। समाज को साहस के साथ ऐसी शालीनता रहित.

लोकापवाद को पैदा करने वाली प्रक्रियाओं का नियंत्रण कर जिनेन्द्र के पवित्र मार्ग को भ्रष्ट-विकृत होने से बचाना चाहिए। यही सच्ची जिनभक्ति है।

१८ हजार शील के भेदों को धारण करने वाले साधु परमेष्ठी के लिये उपरोक्त क्रिया किसी तरह शोभास्पद नहीं। "छहढाला" में लिखा है—"अठदम सहस विधि शीलधर चिद्ब्रह्म में नित रमि रहे" ॥१॥ छठीढाल।



१५

जैन धर्म में नाग तर्पण

नागतर्पण शब्द सुनकर शायद हमारे जैनीभाई चौकेंगे कि जैनधर्म में नागतर्पण कैसा ? उन्हें जानना चाहिये कि हमारे जैनशास्त्र भण्डारों में जहा एक ओर अमूल्य शास्त्ररत्न भरे हैं तो दूसरी ओर काचखण्ड भी रक्खे है। आश्चर्य इस बात का है कि हमारे कुछ संस्कृत के धुरन्धर विद्वानों ने भी इन काचखण्डों को अपनाया है।

जयपुर से पहिले अभिषेक पाठ संग्रह नाम से एक ग्रंथ प्रकाशित हुआ था। उसमें जिन अभिषेक पाठों का संग्रह किया है उनके कुछ मुख्य रचयिताओं के नाम इस प्रकार हैं—

पूज्यपाद, गुणभद्र, सोमदेव, अभयनन्दि, गजांकुश, आशाधर, अय्यपार्य, नेमिचन्द्र और इन्द्रनन्दी। यहाँ यह ध्यान मे रखना चाहिये कि पूज्यपाद, गुणभद्र, नेमिचन्द्र आदि नामवाले जो प्रसिद्ध आचार्य हमारे यहाँ हुए हैं वे ये नही हैं। उन नाम के ये कोई दूसरे ही हैं। पूर्वोक्त रचयिताओं में से एक गजांकुश को छोड़कर बाकी सभी ने अपने २ अभिषेक पाठों में नाग तर्पण लिखा है। पं० आशाधर जी ने अपने बनाये "नित्य-महोद्योत" नाम के अभिषेक पाठ में नागतर्पण इस प्रकार लिखा है।

उद्भात भोः षष्टिसहस्रनागाः
क्ष्माकामचार स्फुटवीर्यदर्पाः ।
प्रतृप्यतानेन जिनाध्वरोर्वी
सेकात् सुधागर्वमृजामृतेन ॥४८॥

अर्थ—पृथ्वी पर यथेष्ट विचरने से जिनका पराक्रम प्रकट है ऐसे हे साठ हजार नागों ! तुम प्रकट होओ । और जिन यज्ञ की भूमि में तुम्हारे लिए सिंचन किए इस जल से जो कि अमृत के गर्व को भी खर्व करने वाला है तुम तृप्त होगे । ऐसा कहकर ईशान दिशा में जलांजलि देवे । इति नागतर्पणं ।

यहाँ यह मालूम रहे कि—भूमिशुद्धि के लिए जो अभिमन्त्रित जल के छींटे दिए जाते हैं वह वर्णन तो आशाधर जी ने ऊपर श्लोक ४६ में अलग ही कर दिया है । यहाँ खास तौर से नागों के लिए ही जल देने का कथन किया है । यही श्लोक आशाधर जी ने प्रतिष्ठासारोद्धार में भी लिखा है ।

इन आशाधर जी से पहिले सोमदेव हुए उन्होंने भी यशस्तिलक में नागतर्पण का कथन इन शब्दों में किया है—

रत्नाम्बुभिः कुशकृशानुभिरात्तशुद्धौ,
भूमौ भुजंगमपती नमृतेरुपास्य ॥५३३॥

अर्थ पंचरत्न रखे हुए जलपात्र के जल से और डाभ की अग्नि से पवित्र की हुई भूमि पर जल से नागेन्द्रों को तृप्त करके ।

इन्होंने साठ हजार की संख्या नहीं लिखी है । अन्य ग्रंथकारों मे से किसी ने आशाधर का और किसी ने सोमदेव का

अनुमरण किया है। यहाँ नागों का अर्थ सर्प नहीं है किन्तु नागकुमार देव है। नागकुमारों का वर्णन या तो भवनवासी निकाय के भेदों में आता है या लवण समुद्र की ऊँची उठी जलराशि को थामने वाले वेलन्धर नागकुमारों में आता है। इनमें से वेलन्धर नाग कुमारो की संख्या तो लोकानुयोगी ग्रंथों में कहीं भी साठ हजार देखने में नही आई है। अलबत्ता भवनवासी नाग कुमारों के सामानिक देवों की संख्या राजवार्तिक में अवश्य साठ हजार लिखी है। शायद इसीके आधार पर आशाधर ने नागों की संख्या साठ हजार लिखी हो।

यहां के अमृत शब्द का अर्थ नित्यमहोद्योत की टीका में श्रुत सागर ने जल किया है। नमिचन्द्रकृत अभिषेक पाठ में अमृत की जगह स्पष्ट ही जल शब्द लिखा है अय्यपार्य ने अपने अभिषेक पाठ के श्लोक ७ मे अमृत के स्थान में शक्कर घृत लिखा है। यशस्तिलक की टीका में पं० कैलाशचंदजी और पं० जिनदास जी ने अमृत का अर्थ दुग्ध किया है। अभयनन्दिकृत लघुस्नपन के श्लोक ६ की टीका में अमृत का अर्थ जल किया है। ❀

यहां विचारने की बात है कि—जैन सिद्धांत के अनुसार देव लोक के देवों का मानसिक आहार होता है। वे जल, घृत, शक्कर, दूध का आहार लेते नहीं हैं। तब उनके लिये ऐसा कथन

❀ इस श्लोक में संरक्षणार्थं पाठ है वह हमारी समझ से अशुद्ध मालूम होता है उसकी जगह 'संतर्पणार्थं' पाठ होना चाहिये। टीकाकार भावशर्मा को अशुद्ध पाठ मिला इसीसे उसने खींचतान कर यहां अर्थकी संगति बैठाने का प्रयास किया है।

करना कैसे संगत हो सकता है ? और यहां यह नागतर्पण का विधान किस प्रयोजन को लेकर किया गया है ? क्या इसलिये कि—वे जिनयज्ञ में विघ्न न करें ? मगर जैनागम के अनुसार तो देवगति के सभी देव जिनधर्मी होते हैं तब वे जिनयज्ञ में विघ्न करेंगे भी क्यों ? और जो चीज उन्हें दी जा रही है वह उनके काम की न होने से वे विघ्न करते रुकेंगे भी क्यों यदि कहो कि—जैसे भगवान जिनेन्द्र क्षुधारहित हैं फिर भी हम उनकी पूजा नैवेद्य फलादि से करते हैं वैसे ही यहां नागकुमार देवों के विषय में समझ लेना चाहिये। ऐसा कहना ठीक नहीं है। क्योंकि भगवान की पूजा में द्रव्य चढाया जाता है वह उनके भोग के लिये नहीं चढाया जाता है। वह तो भक्ति से भेंटस्वरूप है किन्तु यहां तो आशाधर ने नागकुमारों को तृप्त करने की बात लिखी है। इस प्रकार के विधिविधान एक तरह से बाल क्रीडा के समान मालूम पड़ते है। इस पर मनन शील विद्वानों को विचार करना चाहिये। ब्राह्मण ग्रंथों मे देवपितरों को जल देकर तृप्त करने को तर्पण कहा है। उसी तरह का यहां यह नागतर्पण लिखा गया है।



१६

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र का समय

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र हैं इन्होंने प्रतिष्ठा-तिलक में अपने वंशका वर्णन इस प्रकार किया है—

वीरसैन, जिनसेन, वादीभसिंह और वादिराज इनके वंश में हस्तिमल्ल गृहाश्रमी हुये । इन हस्तिमल्ल के कुल में परवादिमल्ल मुनि हुये । और भी कई हुये जिन्होने दीक्षा ले जैनमार्ग की प्रभावना की । इसी कुल में लोकपाल द्विज गृहस्थाचार्य हुये जो चोल राजा के साथ अपने बंधुवर्ग को लेकर कर्नाट देश में आये । उनके समयनाथ नाम का तार्किक पुत्र हुआ । समयनाथ के आदिमल्ल, आदिमल्ल के चिंतामणि, चिंतामणि के अनंतवीर्य अनंतवीर्य के पार्श्वनाथ, पार्श्वनाथ के आदिनाथ । आदिनाथ के वैदिकोदंड । वैदिकोदंड के ब्रह्मदेव । और ब्रह्मदेव के देवेन्द्र नामक पुत्र हुआ जो संहिताशास्त्रों में निपुण था देवेन्द्र की भार्या का नाम आदिदेवी था । यह आदिदेवी की विजयपार्य और श्रीमती की पुत्री थी । इस आदिदेवी के चंद्रपार्य ब्रह्मसूरि और पार्श्वनाथ ये तीन सगे भाई थे । उस दंपति (देवेन्द्र-आदिदेवी) के तीन पुत्र हुये—आदिनाथ, नेमिचन्द्र और विजयम । आदिनाथ जिन संहिताशास्त्रों का पारगामी हुआ । इसके त्रैलोक्यनाथ,

जिनच द्रादि विद्वान पुत्र हुये। और विजयम ज्योतिष का पंडित हुआ जिसका समंतभद्र पुत्र साहित्य का विद्वान हुआ। तथा नेमिचन्द्र, अभयचन्द्र उपाध्याय के पास पढ़कर तर्क व्याकरण का ज्ञाता हुआ। नेमिचन्द्र के दो पुत्र हुये—कल्याणनाथ और धर्मशेखर। दोनों ही महा विद्वान हुये। नेमिचन्द्र ने सत्यशासन परीक्षा मुख्य प्रकरणादि शास्त्र रचे। राजसभाओं में प्रतिवादियों को जीत कर जिसने जैनधर्म की प्रभावना की जिसको राजा द्वारा छत्र, चंवर, पालकी भेंट में मिली। और जो स्थिर कदंब नगर का रहने वाला है ऐसे नेमिचन्द्र ने अपने मामा ब्रह्मसूरि आदि बन्धुओ के आग्रह से यह प्रतिष्ठातिलक ग्रंथ बनाया है।

इस पकार नेमिचन्द्र ने अपनी वंशावली तो विस्तृत लिख दी परन्तु वे किस साल संवत में हुये यह लिखने की कृपा नहीं की। यह गृहस्थ थे, इन्होंने उक्त प्रतिष्ठाग्रंथ आशाधरकृत प्रतिष्ठाशास्त्र को आधार बनाकर लिखा है। यद्यपि इन्होंने आशाधर का कहीं उल्लेख नहीं किया है किंतु दोनों में इतना अधिक साम्य है कि उसे देखकर यह निः संकोच कहा जा सकता है कि अंकुरारोपण आदि कुछ विशेष प्रकरणोंको छोड़कर बाकी सारा का सारा ग्रंथ नेमिचन्द्रने आशाधर के ग्रंथसे ज्यों का त्यों ले लिया है। सिर्फ दोनों में शब्द रचना का ही अन्तर है, प्रायः अर्थ इकसार है। दोनों का मिलान करने से यह बात कोई भी जान सकता है अतः उनके उदाहरण देने की मैं जरूरत नहीं समझता। किन्तु आशाधर प्रतिष्ठापाठ के कितने ही पद्य तो नेमिचन्द्र ने ज्यों के त्यों भी लिये हैं।

इससे स्पष्ट प्रकट होता है कि ये नेमिचन्द्र आशाधर के

बाद हुये हैं। बाद में होने का दूसरा हेतु यह है कि—इन्होंने अपने प्रतिष्ठातिलक के मंगलाचरण में इंद्रनंदि आदि कृत प्रतिष्ठाशास्त्रों के अनुसार कथन करने की बात कही है। और इंद्रनंदि ने अपनी जिनसंहिता में आशाधरकृत सिद्धभक्तिपाठ को उद्धृत किया है। तथा नेमिचंद्र ने अपने प्रतिष्ठाग्रंथ के १८ वें परिच्छेद में एकसंधिसंहिता के भी बहुत से श्लोक उद्धृत किये हैं। उधर एक संधि भी अपनी जिनसंहिता के २० वें परिच्छेद में इन्द्रनंदी का उल्लेख करते हैं। इन सब उल्लेखों से यही निश्चित होता है कि आशाधर के बाद इन्द्रनंदी के बाद एकसंधि और एक संधि के बाद नेमिचन्द्र हुए हैं। पं० आशाधर जी वि० सं. १३०० तक जीवित थे यह निर्भ्रांत है।

अय्यपार्य अपने बनाये "जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय" नामक प्रतिष्ठापाठ को वि० सं० १३७६ में पूर्ण करते हुये लिखते हैं कि—मैंने यह प्रतिष्ठाग्रंथ इन्द्रनंदी, आशाधर, हस्तिमल्ल और एक संधि के कथनों का सार लेकर बनाया है।

इन्द्रनंदि ने स्वरचित संहिता में एक जगह हस्तिमल्ल का उल्लेख किया। (देखो उसका तीसरा परिच्छेद) किन्तु जैन-सिद्धांतभास्कर भाग ५ किरण १ में हस्तिमल्लकृत प्रतिष्ठाविधान की प्रशस्ति छपी है उसमे हस्तिमल्ल ने भी इन्द्रनंदि का उल्लेख किया है। इससे हस्तिमल्ल और इन्द्रनंदि दोनों समकालिक सिद्ध होते हैं।

फलितार्थ यह हुआ कि हस्तिमल्ल, इन्द्रनंदि और एकसंधि ये अंतिम सब आशाधर के समय से लेकर वि० सं० १३७६ के मध्य में हुये हैं।

उक्त प्रतिष्ठातिलक के कर्ता नेमिचन्द्र कब हुए ? अब हम इस पर विचार करते हैं। इन नेमिचन्द्र ने जो अपनी वंशावली दी है उसके अनुसार ब्रह्मसूरि रिश्ते में इनके मामा लगते थे। नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल के कुल में होने वाले कोछपाल द्विज से लेकर अपने पिता देवेन्द्र तक करीब ६ पीढ़ी का उल्लेख किया है। इन पीढ़ियों का समय यदि दो सौ वर्ष भी मान लिया जाय तो नेमिचन्द्र का समय विक्रम की १६ वीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध बनता है। किन्तु नेमिचन्द्र के समय में ही उनके मामा ब्रह्मसूरि हुए हैं उन्होंने भी प्रतिष्ठाग्रन्थ बनाया है उसमें वे लिखते हैं कि—

'पांड्य देश में गुडिपत्तन नगर के राजा पांडव नरेन्द्र थे। गोविंद भट्ट यहीं के रहने वाले थे। उनके हस्तिमल्ल को आदि लेकर छह पुत्र थे। हस्तिमल्ल के पुत्र का नाम पार्श्वपंडित था। वह अपने बन्धुओं के साथ होयसल देश में जाकर रहने लगा था जिसकी राजधानी छत्रत्रयपुरी थी। पार्श्वपंडित के चन्द्रप, चन्द्रनाथ, और वैजय्य नामक तीन पुत्र थे। उनमें से चन्द्रनाथ अपने परिवार के साथ हेमाचल में जा बसा और दो भाई अन्य स्थानों को चले गए। चन्द्रप के पुत्र विजयेन्द्र हुआ और विजयेन्द्र के ब्रह्मसूरि।"

ब्रह्मसूरि के इस कथनानुसार हस्तिमल्ल उनके पितामह के पितामह थे। यदि एक एक पीढ़ी के २५-२५ वर्ष गिन लिए जायें तो हस्तिमल्ल उनसे लगभग सौ वर्ष पहले के थे। इससे नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि का समय विक्रम की १५ वीं शताब्दि का पूर्वार्द्ध सिद्ध होता है। ऊपर हम १६ वीं सदी का पूर्वार्द्ध बता आये हैं। दोनों में एकसौ वर्ष का अन्तर है।

यह अन्तर इस तरह दूर किया जा सकता है कि—नेमिचन्द्र ने जो वंशावली दी है उसमें वे अपना वंशक्रम १० पीढ़ी पूर्व में होने वाले लोकपाल द्विज से शुरू करते हैं। और ब्रह्मसूरि अपनी वंशावली अपने से ४ पीढ़ी पूर्व में होने वाले हस्तिमल्ल से शुरू करते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल से करीब एक सौ वर्ष पूर्व से अपनी वंशावली शुरू की है। इस प्रकार यह अन्तर रफा होकर नेमिचन्द्र का समय विक्रम की १२ वी सदी का पूर्वार्द्ध ही ठीक रहता है और यही समय ब्रह्मसूरि का भी है।

नेमिचन्द्र ने प्रशस्ति में लोकपाल हस्तिमल्ल के कुल में हुआ लिखा है। इसका अर्थ यह नहीं समझना कि लोकपाल हस्तिमल्ल के बाद हुआ है। चूंकि हस्तिमल्ल एक विख्यात विद्वान हुये थे इसलिए नेमिचन्द्र ने हस्तिमल्ल के पूर्वज लोकपाल आदि को हस्तिमल्ल के अन्वय में होना लिख दिया है। क्योंकि जिस वंश में कोई प्रसिद्ध पुरुष हो जाता है तो उसकी आगे पीछे पीढ़ियें उसी के नाम के वश से बोली जाया करती हैं। यहा इतना जरूर समझ लेना कि नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि दोनों समान वंश में होते हुये भी जिस संतान परंपरा में नेमिचन्द्र हुये हैं उस संतान परंपरा में न हस्तिमल्ल हुये और न ब्रह्मसूरि ही। अर्थात् नेमिचन्द्र और ब्रह्मसूरि दोनों के परदादों के परदादे आदि जुदे जुदे थे।

"बाबू छोटेलालजी स्मृति ग्रंथ" में डा० नेमिचन्द्र जी शास्त्री आरा वालों का "भट्टारकयुगीन जैन संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ" नामक लेख प्रकाशित हुआ है। उसमें लेखक ने न मालूम इन नेमिचन्द्र का समय (पृ० ११८) विक्रम की १३ वीं

सदी किस आधार से लिखा है ? आपने कुछ और भी ग्रंथकारों का समय यद्वातद्वा लिख दिया है। जैसे कि आपने भैरवपद्मावती-कल्प आदि मंत्रशास्त्रों के कर्त्ता मल्लिषेण का समय १३ वीं शती लिखा है। यह बिल्कुल गलत है। इन मल्लिषेण ने महापुराण की रचना वि० सं०-११०४ में पूर्ण की है। अतः ये ११ वीं सदी के अंत व १२ वीं सदी के प्रारम्भ में हुये हैं। इसी तरह आपने वाग्भट्टालंकार के टीकाकार वादिराज को तोडानगर के राजा मानसिंह का मंत्री और उनका समय वि० सं०-१४२६ लिखा है। यह भी ठीक नहीं है। उक्त वादिराजमानसिंह के नहीं रायसिंह के मंत्री थे और उनका समय वि० की १८ वीं का पूर्वार्द्ध था। इन वादिराज के बड़े भाई जगन्नाथ कवि भी बड़े विद्वान थे, जिन्होंने चतुर्विंशतिसंधान, सुखनिधान और श्वेताम्बरपराजय आदि अनेक ग्रंथ रचे थे। इन तीनों ग्रंथों की प्रशस्तियें वीर-सेवामन्दिर दिल्ली से प्रकाशित प्रशस्तिसंग्रह के प्रथम भाग में छपी हैं। सुखनिधान ग्रंथ में विदेहक्षेत्रीय श्रीपाल चक्रवर्ति का कथानक है। यह कथा आदिपुराण में जयकुमार के पूर्वभवों में आई है। इस ग्रंथ की रचना इन जगन्नाथ कवि ने सकलचन्द्र, सकलकीर्ति (ये सकलकीर्ति प्रसिद्ध सकलकीर्ति से जुदे है) और पद्मकीर्ति आदिकों की प्रेरणा से मालपुरा गाँव में की थी। ये खंडेलवाल जैन सोगाणी गोत्रके थे, शाह पोमराज के पुत्र थे और भ० नरेन्द्रकीर्ति के शिष्य थे। उक्त पद्मकीर्ति-सकलकीर्ति का समय भट्टारकसंप्रदाय पुस्तक के पृ -२०८ पर १८ वीं शती का प्रथम चरण लिखा है। यही समय वादिराज और जगन्नाथ का है। डा० नेमिचन्द्रजी शास्त्री ने शायद उक्त सकलकीर्ति को १५ वीं शती में होने वाले प्रसिद्ध सकलकीर्ति समझकर वादि-राजकृत वाग्भट्टालंकार का टीकाकाल वि० सं-१४२६ लिख

दिया हो ऐसा प्रतीत होता है। आपने उपदेशरत्नमाला के कर्त्ता भट्टारक सकलभूषण का समय विक्रम की १५ वीं शती लिखा है यह भी समीचीन नहीं है। स्वयं ग्रंथकार ने उपदेशरत्नमाला की समाप्ति का समय वि० सं० १६२७ दिया है। यथा—

सप्तविंशत्यधिके षोडशशत वत्सरेषु विक्रमतः।
श्रावणमासे शुक्ले पक्षे षष्ठ्यां कृतो ग्रंथः ॥२६५॥

अतः सकलभूषण १७ वीं शती के हैं। न कि १५ वीं शती के।

अद्यावधिनेक बहुत सी ऐतिहासिक सामग्री प्रकाश में आचुकी है इतने पर भी विद्वान लोग भूले करते हैं यह खेद की बात है। ★

★ नोट:—इसी तरह की—गलतियाँ विद्वद्परिषद् के सन् ६८ के अध्यक्षीय भाषण (मुद्रित) में की है देखो जैन मित्र ज्येष्ठवद ४-२०२५ के अंक में। भावसेन के विश्वतत्त्व प्रकाश तथा आशाधर के अध्यात्म रहस्य को अप्रकाशित बताया है किन्तु वे तो सन् ६८ से कुछ वर्षों पहिले प्रकाशित हो चुके हैं। एक जगह आपने लिखा है—"जिसमे कथा वस्तु एक ही नायक से संबद्ध हो वह महाकाव्य कहा जाता है" किन्तु यह ठीक नहीं है ऐसे को तो चरित-काव्य कहते हैं क्योंकि आपने स्वयं आगे उसी लेख में लिखा है कि एक व्यक्ति को मानकर लिखी गयी कथा कृतियाँ चरित काव्य में रखी जा सकती हैं।"

१७

जिनवाणी को भ्रमात्मक लेखोंसे बचाइये

अहा ! परमपावनी जिनेन्द्र की वाणी न होती तो अनादिकाल से भवन मे तापित प्राणियों का उद्धार कैसे होता ? इस जगत में यथार्थ मार्ग दिखाने वाले हितकारी अगर कोई हैं तो ये वीतराग देवके वचन ही हैं। जैन ग्रन्थों का विवेचन किसी पाखडी कषाय कलुषित क्षुद्र बुद्धि आत्माओं द्वारा नहीं हुआ है किंतु उसकी मूल रचना निर्दोषी आगमाधिपति सर्वज्ञ द्वारा आविर्भूत हुई है। यही कारण ह जो उसके कथन में आज तक कोई किसी प्रकार की अयथार्थता दिखलाने में कृतकार्य नही हो सका है। प्रत्युत उसकी जितनी ही जांच पड़ताल की जाती है वह असली सुवर्ण की तरह अधिकाधिक उज्ज्वल दिखलाई देने लगता है।

किन्तु हमें लिखते बड़ा ही दुःख होता है कि वही जगदुद्धारकर्त्री पवित्र जिनवाणी आज हमारे ही पंडितों द्वारा विकृत की जारही है। जिसका कुछ पता आपको आगे इसी लेख में मिलेगा और यह देखकर और भी अधिक खेद होता हैं कि आजतक उसके प्रतिबंध का कोई उपाय समाज की ओर से नहीं किया गया है। बल्कि समाज के किसी भी व्यक्ति ने इस

ओर ध्यान तक नहीं दिलाया है। इसलिये आज मैंने इस पर अपनी लेखनी उठाना उचित समझा है।

हमारे यहां प्राचीन जैन ग्रंथ प्रायः संस्कृत प्राकृत भाषा में मिलते हैं जिनका रसास्वादन तद्‌भाषा विज्ञ ही कर सकते हैं किन्तु अधिकतर जनता संस्कृत प्राकृतज्ञ नहीं है। अतः उन्हें भी जैनधर्म की शिक्षा मिलती रहे इसी उद्‌देश्य से पहिले के विद्वान—जयचन्दजी, दौलतरामजी, टोडरमलजी, सदासुखजी आदिकों ने संस्कृत प्राकृतमय आगमों की हिन्दी बचनिकाएं बनाई थीं। उनका किया हुआ प्रयास सफल भी खूब हुआ है। आज सर्वसाधारण में जो गहन जैन सिद्धांतों की कुछ २ चर्चा सुन पड़ती है यह श्रेय उन्हीं को है। उसी सदुद्‌देश्य को लेकर वर्तमान के कतिपय संस्कृत-प्राकृतज्ञ विद्वान भी आये साल जैन ग्रंथों का अनुवाद बना २ कर प्रकाशित किया करते है। लेकिन उनमें और इनमें बड़ा अन्तर है। तब के विद्वान इतने नाम के भूखे नहीं थे जितने कि अब हैं।

पहिले के विद्वानों के किये अनुवाद देखने से मालूम होता है कि उन्हें उत्सूत्र कथन करने में बड़ा भय लगता रहता था। वे विद्वान् शक्तिभर मूलग्रंथ के भाव को अन्यथापन से बचाये रखने का ध्यान रखते थे यहां तक कि जो बात समझ में नहीं आती थी तो फौरन अपनी अल्पज्ञता दिखाकर उस स्थल को बहु ज्ञानी से समझ लेने की कह देते थे जैसा कि पं० टोडरमलजी ने यत्रतत्र त्रिलोकसार मे लिखा है। किन्तु अबके विद्वान् ऐसा करना प्रायः उचित नहीं समझते। अपनी अल्पज्ञता स्वयं प्रकट करना निज के गौरव की भारी हानि समझते हैं। इन विद्वानों के अनुवादों में बहुत कम अनुवाद ऐसे मिलेंगे जिनमें

कहीं न कहीं अर्थ का अनर्थ न हुआ हो। इसका कारण है शास्त्रीय विषयों का अल्प परिचय। किसी जैन ग्रन्थ का अनुवाद अच्छा वैयाकरण और संस्कृत का प्रकांड ज्ञाता है इतने पर ही उसका अनुवाद ठीक नहीं होजाता किन्तु तद् ग्रन्थ विषयक परिज्ञान होना भी जरूरी है तभी अनुवाद में यथार्थता आ सकती है।

नीचे हम कुछ ऐसे विद्वानों के अनुवादों में अयथार्थता दिखलाते हैं जो जैन समाज में गणनीय समझे जाते हैं—

पंडित गजाधरलालजी और हरिवंशपुराण।

(१) मध्यलोक के नीचे एक तनुवातवलय है। पृष्ठ ५३।

(२) हैमवत, हरि, विदेह....ये मेरुपर्वत की उत्तर दिशा में है। पृ० ५३।

(३) हर एक मेरुपर्वत पर सोलह २ वक्षारगिरि हैं। पृ० ६४।

(४) मांस, मदिरा, मधु, जुआ, जिन वृक्षों से दूध झरता हो उनके फलों का खाना, वेश्या, पर स्त्री, इन सात व्यसनों का काल की मर्यादा लेकर त्याग करना नियम कहलाता है। पृ० २०६।

(५) कृष्ण ने बलभद्र के साथ अष्टम भक्त (चौला) धारण किया, पृ० ३६७।

ऊपर लिखित नं० १ से नं० ३ तक का वर्णन जिसे जैन-धर्म के क्षेत्र ज्ञान का थोड़ा भी परिचय है वह भी नहीं लिख

सकता। नं० ४ का निरूपण तो बिलकुल ही चारित्र में शैथिल्य लाने वाला है। क्या मांस, मदिरा जैसी चीजों का नियम रूप से त्याग कराने का उपदेश किसी जैनाचार्य का हो सकता है। कभी नहीं, इनका परित्याग तो यमरूपेण हुआ करता है। पांच उदंबर तीन मकार का त्याग तो श्रावक के मुख्य रूप से होता है। नं० ५ में अष्टम भक्त का अर्थ 'चौला" करना गलत है। 'तेला' लिखना चाहिये जैसा कि इसी हरिवंशपुराण के पृष्ठ ३६१ पर लिखा मिलता है कि—'उपवास विधि में चतुर्थक शब्द से उपवास, षष्ट शब्द से बेला, और अष्टम शब्द से तेला लिया गया है।' अफसोस है आपको यह भी स्मरण नहीं रहा।

अगर हमारे पास मूल ग्रंथ होता तो उसके श्लोक देकर उक्त अनुवादको सदोष सिद्ध करते तथापि पं० दौलतरामजीकृत बचनिका जो इससे बहुत पहिले की बनी हुई है उसमें से इन्हीं स्थलों को हम नीचे देते हैं। पाठक! देखेंगे कि इसमें कितना सुसंगत लिखा है।

(१) यह मध्य लोक मध्यतनुवातवलय के अनपर्यंत तिष्ठा है। पृ० ७४।

(२) सो ऐरावत तो सुमेरु की उत्तर ओर है अर भरत-क्षेत्र सुमेरु की दक्षिण ओर है। पृ० ७५।

(३) अथानंतर एक मेरु सम्बन्धी सोलावक्षारगिरि.... ... पृ० ८८।

(४) अर मांस मद्य मधु उदंबरादि पंच फलों का त्याग अर जिन वृक्षों में दूध झरे जंबू करोंदा आदि उनके फलों का त्याग अर जुवा, वेश्या, चोरी, परनारी, आखेट इत्यादि पापों

का त्याग सो श्रावकका धर्म कहिये। सो अभक्ष्य का त्याग तो यावज्जीव ही करना। अर भक्ष्यका भी यावज्जीव त्याग करे तो अति उत्तम है। अर प्रमाण रूप नेम करे तो भी भला। अर सप्तव्यसनों का अयोग वस्तुवों का यावज्जीव त्याग ही करना। पृ० २६७

(५) बलभद्रसहित कृष्ण तीन उपवास धारते भये। पृ० ४४२

पं० उदयलालजी कासलीवाल और संशयतिमिरप्रदीप। पृ० ५८ पर एक त्रिलोकसार की गाथा उद्धृत कर उसका जो अर्थ किया है वह देखिये कितना मजेदार है। गाथा—

चंदणा हिसेयणच्चण संगीयवलोय मंदिरेंहि जुदा।
कोडण गुणण गिह हि अविसालवरपट्टसालाहिं॥

अर्थ—चंदन करके जिन भगवान का अभिषेक, नृत्य, संगीत का अवलोकन, मंदिरों में योग्य क्रीड़ा का करना और विशाल पट्टशाला करके। यह गाथा भी कुछ अशुद्ध है और इसका अर्थ तो बिलकुल ही उलटपलट है। माणिकचन्द्र ग्रंथ-माला में छपे त्रिलोकसार की पृष्ठ ४०१ परकी गाथा शुद्ध मालूम होती है। उसमें 'चंदणाहिसेयण' 'मंदिरेंहिं' पद के स्थान में 'वदणाभिसेयण' 'मंडवेहिं' पाठ हैं।

जो उपयुक्त जान पडते हैं। इस गाथा में अकृत्रिम चैत्यालयों का वर्णन है और जिसका अर्थ संस्कृत टीका से ऐसा द्योतित होता है—

'वे चैत्यालय सामायिक करने, स्नान करने, नृत्य करने, संगीत करने, और अवलोकन करने के लिये बने हुये मंडपों

करके संयुक्त हैं। तथा क्रीडनगृह और शास्त्रादि अभ्यास करने के स्थान गुणनगृह व विस्तीर्ण उत्तम चित्रशाला सहित है।'

गाथा के इस अर्थ को देखते हुये उदयलालजी का उक्त अर्थ कितना असंगत है। 'चंदणा' 'वंदणा' आदि पाठ भेद से ही वैसा हुआ हो ऐसी बात नहीं है किन्तु गाथा का भाव ही आप पूरी तौर से न समझ पाये हैं। आप अगर अपने पूर्व हुये पं० टोडरमल्लजी कृत त्रिलोकसार की वचनिका भी जरा देख लेते तो इतने अंधकार में नहीं रहते। परन्तु देखे कौन, आपको तो जैसे तैसे कर जिनप्रतिमा के चन्दन का अभिषेक आर्षागम से सिद्धकर भोले भक्तों को प्रसन्न करना था। क्या इसी बलपर तेरहपंथ जैसे अल्पसावद्यमय वीतरागमार्ग पोषक संप्रदाय के खंडन करने का आपने प्रयत्न कर डाला।

पं० मनोहरलालजी और मूलाचार।

अनंतकीर्ति ग्रन्थमाला द्वारा प्रकाशित 'मूलाचार' में गाथा नम्बर ११६३वीं का अर्थ ऐसा लिखा मिलता है—

'सब अपर्याप्त सूक्ष्मकायों का सब तेजकायिकों का वायुकायिकों का असंज्ञियों का आगमन **पृथ्वीकायादि में व मनुष्यगतिमें** है।' इसमें रेखांकित वाक्य 'पृथ्वीकायादि व मनुष्यगति से है' ऐसा होना चाहिये। अन्यथा विपरीत तात्पर्य निकाला जा सकता है। गाथाकी संस्कृत छाया के 'तिर्यग्मनुष्येभ्यः' पद से भी ठीक अर्थ यही ध्वनित होता है। तथा भाषा चौवीस दंडक के 'तेजकाय अरु वायुजुकाय— इन बिन और सबै नर थाय" पद्य से भी इसी अर्थ की पुष्टि होती है।

पं० खूबचन्दजी और अनगारधर्मामृत।

(१) उपपाद जन्म वाले....जीवों को छोड़कर बाकी के त्रस जीव त्रस नाड़ी के बाहर नहीं पाये जाते। पृ० २६३

(२) पांच प्रकार के संयमों में किसी भी एक संयम के पालन करने वाले और प्रतिदिन संध्याकालों को मंदगति से दो कोस गमन करने वाले....मुनिके परिहारविशुद्धि संयम होता है। पृ० ४१८।

(३) आगम में जो वस्तु जिस दिन जिस पक्ष या जिस वर्ष में देने योग्य बताई है उससे पहिले या पीछे यदि उस वस्तु को दिया जाय तो उसे प्राभृत दोष से दूषित मानना है। पृ० ५२८।

(४) पृ० ७८१ पर के अखीर के उक्तंच श्लोक के अंतपद 'अंधोऽश्वोऽत्रनिदर्शनम्' का अर्थ गायब है।

ऊपर लिखित नं० १ में 'उपपाद जन्म वाले' का मतलब देवों का समझा जाना भले ही आपका अभिप्राय न हो किन्तु इससे ग्रंथ की स्वाध्याय करने वाले भ्रम में पड़ सकते हैं। यहां आपको खुलासा करना चाहिये था और "उपपाद जन्मवाले' ऐसा लिखना भी नहीं चाहिये था किन्तु उपपाद जीव' ऐसा लिखना चाहिये था जिसका मतलब होता है उस जीव से जो त्रस नाड़ी के बाहर से त्रस नाड़ी के अन्दर जन्म लेने को आता हो।

नं० २ का निरूपण जिन श्लोक—पदों के आधार पर किया गया है वे इस प्रकार हैं—'पंचैकयमः' 'मध्यान्ह'

कृद्विगव्यूति गच्छन् मंदं दिनं प्रति' क्या इनका ऐसा अर्थ नहीं हो सकता कि—'पांच प्रकार के संयमों में एक इसी परिहार विशुद्धिका धारी और मध्याह्न में प्रतिदिन दो कोस तक मंद गमन करने वाले' अगर ऐसा न माना जाये तो आगमांतर से विरोध आवेगा क्योंकि आगम में परिहार विशुद्धि संयम का सद्भाव सिर्फ प्रमत्त, अप्रमत्त इन दो गुणस्थानों मे ही बताया है। ऐसी हालत में आपके लिखे अर्थ मुजब पाँचों संयम इन दो ही गुणस्थानों में कैसे हो सकेंगे। रही संध्याकाल मे गमन करने की बात सो यह तो बिल्कुल ही उल्टा लिखा गया हे। गोम्मटसार की निम्नस्थ संस्कृत टीका वाक्यों पर ध्यान दीजियेगा—

'यः पंचानां सामायिकादीनां मध्ये परिहारविशुद्धिनामैकसंयमः' 'सध्यात्रयोनसर्वकाले द्विकोशप्रमाणविहारी' अर्थात् जो पांच सामायिकादि सयमों के मध्य एक परिहार विशुद्धि संयम का धारी तथा संध्यात्रय को छोड़कर बाकी सब काल में दो कोश विहार करने वाले....। श्लोकवार्तिक राजवार्तिक में भी ऐसा ही लिखा हुआ है।

नं० ३ के विषय में हमारा यही कहना है कि ऐसा कौनसा आगम है जिसमें ऐसा लिखा हो कि अमुक चीज अमुक वक्त भक्षण करने की है। कम-से-कम आपको भी एक दो उदाहरण तो देने चाहिये थे। आप स्याद्वाद वाचस्पति होकर भी इसे स्पष्ट नही कर सके यही आश्चर्य है बल्कि उल्टे ऐसा लिखकर पाठकों को चक्कर में डाल दिया। आपसे तो पं० सदासुखजी ही ठीक रहे जो उन्होंने भगवती आराधना में देखिये इसी विषय को कैसा खुलासा लिखा है जिसका भाव ऐसा है कि 'कोई गृहस्थ पात्रको किसी नियत समय के लिये दान देने का नियम

करके उसमें आगे पीछे देवे तो उसके प्रामृतदोष होता है।'

उक्त नं० ४ के पदका अर्थ तो आपने छोड़ ही दिया। शायद आपकी समझ में नहीं बैठा होगा। पर ऐसा लिखा तो नहीं, क्या इसलिये कि लिखने से अपने नाम के साथ लगी हुई विशाल पदवियों की शान में ठीक नहीं रहता था ? खैर उक्त पद के अर्थ को यदि आप जानना चाहें तो कृपया मूलाचार के षडावश्यकाधिकार की गाथा नं० १३३ 'अंघजय छोड़यदिट्टंता' पदकी संस्कृत टीका देखलें। लेख बढ़ने के भय से हम यहाँ नहीं लिख सकते।

पं० लालारामजी और आदिपुराण तथा गौतमचरित्र।

(१) जिसमें अनेक प्रकार के सच्चरित्र ब्राह्मण क्षत्रियादि वर्ण निवास करते है ऐसी वह अलका नगरी... सुशोभित होती थी आदिपुराण पृष्ठ ११८।

(२) यह लब्धिविधान व्रत भव्य जीवों को भादों और चैत इन दोनों महीनों के शुक्ल पक्ष के अन्त के दिनों में करना चाहिये, गौ० च० पृ० ८१।

नं० १ में आपने जिस अलका नगरी में ब्राह्मणादि वर्ण लिखे हैं लेकिन आपको इतनाभी ख्याल नहीं रहा है कि यहवर्णन कहां का है और वह अलका नगरी किस क्षेत्र की है। महानुभाव! यह वर्णन विदेह क्षेत्रका हो रहा है जिसके लिये आगम का ऐसा नियम है कि विदेह क्षेत्रों में क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र के अतिरिक्त और कोई वर्ण नहीं होता। भरतक्षेत्र में भी ब्राह्मण वर्ण का अस्तित्व हुंडावसर्पिणी के कारण हुआ है नहीं तो यहां भी यह

वर्ण नहीं हुआ करता है। आदिपुराण के जिस 'सद्वृत्तवर्ण-संकीर्णा सा पुरी तिलकायते' का आपने अर्थ किया है। उसमें ब्राह्मण शब्द ही है कहां, फिर आपने व्यर्थ ही आगम विरोधी अर्थ प्रकट कर दिया।

उक्त नं० २ में आपने जो लब्धिविधान व्रतकी तिथि बताई वह मूल ग्रंथ में तो नहीं है। गौतमचरित्र में तो स्पष्ट लिखा है कि—

'मासे भाद्रपदे चैत्रश्वेतपक्षे पुरा दिनैं' जिसका अर्थ होता है 'भादों, चैत के शुक्लपक्ष के पहिले के दिनों में यानी सुदी १-२-३ को यह व्रत करना चाहिये और प्रचलित में भी इन्हीं दिनों किया जाता है तथा ग्रंथांतरों में भी यही समय कहा है। समझ में नहीं आता आपने 'पुरा' शब्द का 'अन्त' अर्थ करके एक व्रत की तिथि में कितना विपर्यय कर दिया है? अनुवाद करते वक्त आप लोग न मालूम कुछ सोचते भी हैं या नहीं। आपके अनुवादित ग्रंथ अधिक संख्या में हैं ऐसी २ अनर्थमूलक बातें आपकी ओर से लिखी जानी सचमुच खेद जनक हैं।

ऊपर जिन ग्रन्थों के उद्धरण दिये हैं उनके साथ शुद्धा-शुद्धि पत्र भी नहीं लगे हुये हैं। हां गौतमचरित्र में शुद्धाशुद्धिपत्र लगा हुआ जरूर मिलता है पर उसमे ऊपर लिखी गलत बात का कोई जिकर नहीं है। मैंने यहां सिर्फ ग्रंथों के गलत अनुवाद बतौर नमूने के पेश किये हैं। मेरा दृढ़ विश्वास है कि इन पंडितों के अनुवादित ग्रंथों में ऐसे सैकड़ों स्थल अनर्थ को लिये हुये मिल सकते हैं। किंतु यह काम दिग्गज विद्वानों का है। मैंने तो सिर्फ समाज को सावधान करने के उद्देश्य से 'छोटे मुंह

बड़ी बात' की है। मुझे इस बात का बड़ा दुःख है कि ये मिथ्या प्रतिपादन मूल ग्रंथकर्ताओं के नाम से प्रकाश में आ रहे हैं और आते रहेंगे।

इसके दूर करने का सबसे अच्छा उपाय तो यही हो सकता है कि इस काम के लिए एक चुने हुये विद्वानों की समिति बनाई जावे। जिसका काम हो प्रकाशित होने वाले ग्रंथों का संशोधन करना और फिर छपाये जाने की आज्ञा देना। बिना इस समिति की स्वीकृति लिये कोई जैन ग्रन्थ कहीं से प्रकाशित न हो पावे एसी व्यवस्था की जावे तभी कुछ सुधार हो सकता है नहीं तो फिर ऐसी ही निरंकुशता इस काम में चलती रही तो उसके कटुक फल चखने के लिए समाज को तैयार रहना चाहिये।

ऐसा प्रबन्ध न हो तब तक निम्नस्थ बातों पर अनुवादक गण ध्यान दें तो बहुत कुछ अनर्थों से बच सकते हैं—

१-अनुवाद के साथ ग्रन्थ का मूल भाग भी प्रकाशित किया जावे ताकि पाठक मूल को देख कर अशुद्धि दूर कर सकें।

२-अच्छा हो उसी का अनुवाद किया जावे जिसका मूल भाग पहिले से माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला आदि से प्रकाशित हो रहा हो।

३-जिसकी पहिले संस्कृत, हिन्दी आदि भाषा में टीका उपलब्ध हों तो अनुवाद करते वक्त उन्हें भी आदि से अन्त तक देख लिया जावे।

४-ग्रन्थ छप जाने पर उसके प्रचार के लिए जल्दी न

करें किन्तु स्वयं उसे अथ इति पर्यन्त अच्छी तरह देखकर जहां-जहां अशुद्धि हों उसके दूर करने के लिए ग्रन्थ के साथ शुद्धा-शुद्धि पत्र लगाना न भूलें।

५–या मुद्रित ग्रन्थ को किसी दूसरे अच्छे विद्वान को दिखाकर फिर उसे प्रचारित करें। क्योंकि कभी-२ अपनी गलती खुद को नही दीखती है।

अन्त मे मैं यह कहे बिना नहीं रह सकता कि अनुवादकों को जैन धर्म के द्रव्य, क्षेत्र, चारित्र, पुराणादि के स्वरूप का मनन करके ही इस काम में हाथ डालना चाहिये। अन्यथा लाभ के बदले हानि ही होने की संभावना है। यह काम दुर्गम है और खाली संस्कृत व्याकरण का ज्ञान होने से ही यथार्थ सम्पादन नहीं किया जा सकता।

ऊपर जिन विद्वानों का जिकर किया गया है उन्हें इस लेख को देखकर नाराज न होना चाहिये। क्योंकि क्या आप यह नहीं चाहते कि जिनवाणी का प्रचार निर्दोष रूप से हो। इसी ख्याल से मैंने यह प्रयास किया है वरना मेरे किसी से द्वेषभाव नहीं है।



१८

पं० आशाधरजी का विचित्र विवेचन

पं० आशाधरजी ने सागारधर्मामृत चौथे अध्याय के श्लोक ५२ की टीका में लिखा है कि—परिगृहीता, अपरिगृहीता और प्रकट स्त्री, इनमें जिसका पति साथ में हो वह परिगृहीता स्त्री है और जो स्वतन्त्र हो, जिसका पति परदेश गया हो ऐसी कुलांगना या विधवा कुलांगना अपरिगृहीता स्त्री है। और वैश्या को प्रकट स्त्री कहते हैं। इनमें से जो सभी का त्यागकर केवल अपनी स्त्री में संतोष रखता है वह स्वदारसंतोष ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी है। तथा जो केवल परिगृहीता अपरिगृहीता रूप परस्त्री का त्यागी है किन्तु प्रकट स्त्री कहिये वेश्या का त्यागी नहीं है वह परस्त्री त्याग नामक ब्रह्मचर्याणुव्रत का धारी है! इस प्रकार ब्रह्मचर्याणुव्रत के दो भेद किये हैं।

जब किसी भी आर्ष ग्रन्थ में ब्रह्मचर्य के इस प्रकार के भेद दृष्टिगोचर नहीं होते तब आशाधरजी को ही ऐसे कथन करने की क्यों आवश्यकता पड़ी यह विचारणीय है। यद्यपि त्याग सभी भंग से हो सकता है पर इससे किसी खास व्रत का परमागम में वैसा लक्षण नहीं बांधा जा सकता। यों तो कथा-ग्रन्थों में "जो स्त्री मुझे न इच्छे उसे मैं भी न इच्छूं" ऐसा भी त्याग रावण ने किया है तथा एक कथा में केवल काक मांस

का त्याग भी किया है, तो क्या इससे आचार ग्रन्थों में भी ऐसा कथन करना योग्य हो सकता है ? कदापि नहीं।

यही कारण है कि अकलंक, समंतभद्र, विद्यानंदि, जिनसेन, पद्मनंदि, अमितगति, स्वामीकार्तिकेय, श्रुतसागर, शुभचन्द्र, चामुण्डराय, आदि ग्रन्थकर्ताओं ने कहीं भी आशाधरजी की तरह ब्रह्मचर्य के दो भेद नहीं किये हैं। सोमदेवसूरि ने ऐसा कुछ जरूर लिखा है सो वह भी ऋषि प्रणीत ग्रन्थों के सामने अमान्य ही है। सोमदेवसूरि कोई ऋषि नहीं थे, खुद आशाधरजी ही उन्हें सोमदेव पंडित के नाम से उल्लेख करते हैं। रहा सूरि कहना सो सूरि का अर्थ तो पंडित होता है और इसीलिये कविवर अर्हद्दास ने भी आशाधर नाम के साथ सूरि शब्द का प्रयोग किया है। यह तो निर्विवाद है कि आशाधर गृहस्थ थे।

यह कहो कि आचार्य समंतभद्र ने भी इस तरह "ब्रह्मचर्याणुव्रत के दो भेद किये हैं" ऐसा कहना सरासर झूंठ है, बहुत बड़ा छल है। उनके किसी भी वाक्य से वैसा भाव नहीं निकलता जैसा कि उनके निम्न श्लोक से प्रकट है—

न तु परदारान् गच्छति न परान् गमयति च पापभीतेर्यत् ।
सा परदारनिवृत्तिः स्वदारसंतोषनामापि ॥ रत्न० आ०

अर्थ—जो पापभीरु न तो आप परस्त्री के प्रति गमन करता है और न दूसरों को गमन कराता है। वह परस्त्री त्याग नाम अणुव्रती है, वही स्वदारसंतोषनाम से भी कहा जाता है।●

● समंतभद्र ने अन्य ४ अणुव्रतों में वैकल्पिक नाम नहीं दिया

किन्तु ब्रह्मव्रत में जो-२ नाम दिये हैं उनका कोई हेतु अवश्य होना चाहिए हमारी राय से - परदार निवृत्ति, कुमार विधुर (अविवाहित) की अपेक्षा और स्वदारसंतोष विवाहित की अपेक्षा है। समंतभद्र आचार्य ने जो परदार निवृत्ति और स्वदारसंतोष, ये २ नाम दिये हैं इनमें पहला निवृत्तिप्रधान है और दूसरा प्रवृत्तिप्रधान यानि एक निषेध परक है और दूसरा विधि परक। जैसे सम्यक्त्व कहो चाहे मिथ्यात्व का अभाव, एक ही बात है उसी तरह ब्रह्मचर्याणुव्रत के ये २ नाम एक ही अर्थ के द्योतक हैं इनसे दो भिन्न अर्थ नहीं निकाले जा सकते। हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने भी ऐसा ही कहा है—

> दारेषु पर कीयेषु परित्यक्तरतिस्तु यः।
> स्वदारेष्वेवसतोष स्तच्चतुर्थमणुव्रतम् ॥१४१॥ पर्व ५८

आगे के अतिचार श्लोक में इस व्रत का नाम स्वदार संतोष ही दिया है।

इसमें वेश्यासेवन करने वाला भी ब्रह्मचर्याणुव्रती होता है' ऐसा अर्थ कहां निकलता है? श्लोक के उत्तरार्द्ध में जो दो नाम दिये हैं वे कोई व्रत के दो भेद नहीं हैं किन्तु एक ही अभिप्राय के दो नाम हैं। वेश्या, कन्या आदि यावन्मात्र स्त्री का परस्त्री त्याग में शुमार करने के हेतु आचार्य ने उसीका स्वदार संतोष यह दूसरा नाम दिया मालूम होता है। इससे ग्रन्थकर्ता की दूरदर्शिता प्रकट होती है और साथ ही उससे आशाधर के उक्त कथन का खण्डन भी हो जाता है। यही नहीं ग्रन्थांतरों में वेश्यासेवी को ब्रह्मचर्याणुव्रती मानने से ही इंकार किया गया है। यथा—

> "तां वेश्यां सेवमानस्य कथं चतुर्थमणुव्रतम्"।
> सुभाषितरत्नसंदोह।

वेश्या सेवी के चौथा अणुव्रत कैसा ?

भगवज्जिनसेनाचार्य ने ऐसी मान्यता को विडंबनापूर्ण बताया है। जैसे—

कामशुद्धिर्मता तेषां विकामा ये जितेन्द्रियाः।
संतुष्टाश्च स्वदारेषु शेषाः सर्वे विडंबका. ॥३१॥ पर्व ३९

अर्थ—जो काम रहित जितेन्द्रिय मुनि हैं उन्हीं के काम शुद्धि समझनी चाहिये। अथवा जो गृहस्थ स्वदारसंतोषी है उनके भी कामशुद्धि मानी गई है। बाकी तो सब विडंबना है।

इसलिये आशाधरजी का यह कथन बहुत कुछ विचित्रता लिये हुये है। अस्तु, और भी आगे चलिये।

सागरधर्मामृत—चौथे अध्याय के श्लोक ५८ की टीका में लिखा है कि "ब्रह्मचर्याणुव्रती श्रावक किसी वेश्या वा दासी आदि व्यभिचारिणी स्त्री को भाड़े रूप कुछ द्रव्य देकर किसी नियतकाल पर्यंत स्वीकार करता है और उतने समय तक उसमें स्वस्त्री की कल्पना कर उसे सेवन करता है। इसलिये उसमें बुद्धि की कल्पना से 'स्वस्त्री' ऐसी व्रत की अपेक्षा होने से और उसे अल्पकाल तक स्वीकार करने से सार्वकालिक व्रत का भङ्ग नहीं होता। और वास्तव में वह स्वस्त्री नहीं है। इसलिये व्रत का भंग भी होता है। इस प्रकार भंग और अभंग दोनों होने से इत्वरिका गमन (व्यभिचारिणी सभोग) भी अतीचार होता है।"

यह जो ब्रह्मचर्याणुव्रत का अतीचार लिखा है वह तो और भी अधिक गजब ढाता है। जब स्वदार संतोषी के अपनी

स्त्री के सिवा अन्य यावन् मात्र स्त्रीका त्याग हो जाता है तो वह भाड़ा देकर किसी व्यभिचारिणी स्त्रीको या वेश्या को नियत काल तक सेवन करता है तो उसका वह व्रत नष्ट न होकर उसमें अतीचार ही कैसे लगता है ? और पैसा दे देने मात्र से ही वह कैसे परस्त्री सेवन के दोषसे बच जाता है ? अगर कोई स्त्री बिना पैसा लिये प्रेम से ही अनुकूल हो जाये तो उसका सेवन भी अतीचार हो सकता है या नहीं ? क्योंकि पैसा भी उसे अनुकूल बनाने को ही दिया जाता है। और यदि भाड़ा देने तथा नियत काल तक भोगने की अपेक्षा वह स्वस्त्री हो जाती है तो इस उपाय से अन्य परिगृहीतस्त्री का (जिसका पति मौजूद है ऐसी स्त्री का) सेवन भी अतीचार क्यों न हो सकेगा ?

तब तो स्वदार संतोषी परिगृहीता अपरिगृहीता और वेश्या को सेवनकर भी केवल सातिचार मात्र दोषी ही होगा ? फिर न जाने वह अनाचारी किस क्रिया से होगा ? अनाचार के (व्रत के समूल नष्ट होने के) फिर कोई सींग पूंछ होते हैं क्या ? इसी तरह परस्त्रीत्याग ब्रह्मचर्याणुव्रती के लिये यह लिखना कि—'वह किसी विधवा कुलांगना या ऐसी सधवा जिसका पति परदेश गया हो उसका सेवन करे तो इससे उसका ब्रह्मचर्य नष्ट न होकर अतीचार मात्र लगता है !' मानो आशाधरजी ऐसी कुलांगनाओं को परस्त्री ही नहीं समझते हैं। आशाधरजी के मतानुसार तो वह स्त्री परस्त्री कही जाती है जो पुरुषके साथ ही हो। अन्यथा पतिके परदेश जाने मात्रसे ही कैसे वह अपरिगृहीत मान ली जाती है, सो समझमें नहीं आता।

लोगों की विवेकशून्यता तो देखो कि वे ऐसे-२ कथन भी प्रमाणिक और आर्षसिद्ध करने की चेष्टा किया करते हैं। उनकी मोटी अकल में वह भी नहीं आता कि जो कार्य व्रतको समूल नष्ट करने वाले हैं उन्हें हम किसी के लिख देने मात्र से कैसे अतीचार मानते हैं। कम से कम अतीचारका लक्षण तो इसके साथ घटाना चाहिये। ऐसे लोगों के लिये तो जो 'पूर्व-काल में संस्कृत प्राकृतमें लिख दिया गया है वही आगम है, वही पूर्ण मान्य है, फिर उसमें चाहे कुछ भी लिखा हो।

आशाधरके इस अद्भुत सिद्धांतके अनुसार अगर कोई विधवा विवाह करता है तो उसको भी ब्रह्मचर्याणुव्रतमें मात्र अतीचार ही लग सकता है! इसको पुष्टि आशाधरके निम्न वाक्य करते हैं—

"अन्ये त्वपरिगृहीतकुलांगनामप्यन्यदारवर्जिनोऽतिचार-माहुः, तत्कल्पनया परस्य भर्तुरभावेनापरदारत्वादभंगो लोके च परदारतया रूढेर्भंग इति भंगाभंगरूपत्वात्तस्य"। इसमें लिखा है कि "अनाथकुलांगनाके सेवनमें परस्त्री त्यागी के अतीचार यों होता है कि उसका पति तो मौजूद नहीं है, इसलिये उसे परस्त्री तो कह नहीं सकते अतः उसके सेवन से व्रत का अभंग हुआ और लोकरूढ़िसे वह परस्त्री मानी जाती है अतः व्रत का भंग भी हुआ। इस प्रकार भंगाभंग होने से अतीचार ही कहला सकता है।" यही बात विधवा विवाहके मंडन में भी कही जा सकती है।

यदि कहो कि "किसी नियत कालतक सेवन करनेको ही आशाधरने अतीचार कहा है न कि सार्वकालिक सेवनको

और विवाह में नियत काल नहीं रहता'। इसके उत्तरमें उनकी ओर से भी कहा जा सकता है कि नियत कालका नियम वहां हो सकता है जो पैसा लेकर ऐसा करती है। क्योंकि जितने भाड़ेसे जितने समय तक दोनोंके ठहराव हुआ है उसके बाद वह उसकी नहीं रहती है, फिर वह स्वस्त्री से परस्त्री हो जाती है। किन्तु विवाह कराने वाली उमर भर तक उसकी स्वस्त्री बने रहने की शर्त करती है। ऐसी अवस्थामें परस्त्री त्यागी ब्रह्मचारी के लिये विधवा को उसकी मर्जी के माफिक घर में डाल लेने या लौकिक रीति से विवाह कर घर में रख लेने में आशाधरजी के मत के अनुसार सिवा अतीचार के और कोई अनाचार नहीं प्रतीत होता है ! बल्कि विवाह करनेवाले के तो अतीचार भी नहीं लगता है। क्योंकि पं० आशाधर ने लोक में परस्त्री माने जाने के कारण भंग कहा है सो अब तो लोक में इसे विवाह किये बाद कोई परस्त्री भी नहीं कह सकेगा ! यदि कहो कि 'यह तो आशाधर ने अन्य आचार्यों की सम्मति लिखी है तो उनका नाम लिखना चाहिये था या उक्तं च श्लोक देने चाहिये थे जैसे कि अन्यत्र भी दिये हैं। तथा अन्य की सम्मति भी हो तो आशाधर भी तो इसे ठीक समझते हैं तभी तो इसका उल्लेख किया है।

आशाधर के इस 'नियत काल' रूप अनोखे सिद्धांत के अनुसार तो कोई भी अणुव्रतधारण करना बिल्कुल बच्चों का खेल हो गया है। क्योंकि हत्यारा से हत्यारा भी कौनसा सदा आठ पहर ही खड्ग का वार करता रहता है व महाचोर और महाझूंठा भी कौनसा सदा ही चोरी और झूंठ बोला करता है। इससे क्या ये भी अणुव्रती समझे जाने चाहिये ?

अगर यही सिद्धांत हम स्त्रियों के ऊपर घटाने लगें तो यहां भी स्वपतिसंतोष और पर पुरुष त्याग नामके दो भेद ब्रह्माणुव्रतके करके स्त्रियों को खुली आज्ञा दे दें कि तुम भी किसी परपुरुषको कुछ द्रव्य देकर किसी नियतकाल उसके साथ संभोग करने लगो तो तुम्हारे स्वपतिसंतोष और परपुरुष त्याग नाम शील सर्वांगमें नष्ट न होगा। साथही यहां यह भी पूछा जा सकता है कि आशाधरके इस निरूपण के अनुसार चलने वाला पुरुष जिस समय वैसी स्त्रीके साथ समागम करेगा उस समय पुरुष की तरह वह सभोग कराने वाली स्त्री भी अनाचार से रहित समझी जायेगी या नहीं ? अगर नहीं तो क्यों नहीं ? जो कारण पुरुषके ब्रह्मचर्याणुव्रतको कायम रखने मे है वे ही यहां स्त्री के लिये भी है। ऐसा कोई उदाहरण बतलाइये कि स्त्री पुरुषकी रति क्रियामे दोनो में कोई एक दोषी हो और दूसरा न हो।

मतलब कि आशाधरका भाड़ा देकर नियतकाल स्वस्त्री बनाने का कथन तो बिल्कुल ही शिथिलाचार का पोषक और बहुत ही आक्षेपके योग्य है। बलिहारी है इसको प्रमाणभूत माननेवाले पंडितोंकी बुद्धिको जो ऐसे-२ कथन भी उनके दिमाग शरीफमे केवली वाक्य तुल्य मान्य किये जाते हैं।

इस प्रकारके वक्तव्यसे यह आप ही सिद्ध हो जाना है कि लोक जिसे व्यभिचारिणी और वेश्या कहते हैं वह आशाधर के मतसे ब्रह्मचारिणी है। क्योंकि ब्रह्मचारी पुरुष भाड़ा देकर जब इनके साथ समागम करते हैं तब ये किसी नियतकाल तक उनकी स्वस्त्री बन जाती है तो इन स्त्रियोंके भी वे पुरुष उस वक्त स्वपति बन जाते हैं। अगर स्वपति न माने जाकर वे

परपुरुष ही समझे जावें तो ये स्त्रियां भी उनके स्वदार नहीं मानी जा सकतीं। जहां परपुरुष ऐसी कल्पना है वहां भोगी जानेवाली स्त्री भला कैसे स्वस्त्री समझी जा सकती है?

मजा तो यह है कि पं० आशाधरजी अपने इस व्यभिचार पोषक सिद्धांत में बड़े-२ ऋषि मुनियों को भी शामिल करना चाहते हैं। वे लिखते हैं कि 'इत्वरिका परिगृहीतापरिगृहीता-गमनं" सूत्र से उमास्वामी ने तत्वार्थ शास्त्र में भी ऐसा ही कहा है। गमन शब्द का संभोग अर्थ करके आप निज मंतव्य की पुष्टि करते हैं।

विद्यानंदाचार्य ने इसी सूत्र की व्याख्या में लिखा है—

चतुर्थस्य व्रतस्यान्यविवाहकरणादयः।
पंचैतेतिक्रमा ब्रह्मविघातकरणक्षमाः॥

"स्वदारसंतोषव्रतविहननयोग्या हि तदतीचारा न पुन-स्तद्विघातिन एव पूर्ववत्"

इसमें लिखा है कि 'ब्रह्मचर्यनाम चतुर्थ अणुव्रत के ये परविवाह करणादि पांच अतीचार कहे हैं वे ब्रह्मचर्य के नष्ट करने में समर्थ हैं। यानी इनमें स्वदारसंतोषव्रतके खंडन करनेकी योग्यता है इसलिये अतीचार कहे जाते हैं। वे स्वयं नष्ट नहीं करते हैं।"

इससे सिद्ध है कि विद्यानंदिस्वामी उन्हें अतीचार मानते हैं जो व्रतके नष्ट करनेमें केवल परंपरा कारण पड़ते हों, किन्तु स्वयं नष्ट नहीं करते हों। इसीको उन्होंने "न पुनस्तद्विघातिन एव" पदसे कहा है। तथा ऐसा ही अन्य व्रतोंके अतीचारोंमें

कहाँ है। इस विवेचन से गमन शब्द का सेवन अर्थ कभी नहीं हो सकता है जैसा कि आशाधरजी ने लिखा है। क्योंकि "सेवन करना" यह ब्रह्मचर्य व्रतके नष्ट करनेमें कारण नही होता है इससे तो व्रत ऐसा नष्ट होता है कि कुछ भी बाकी नहीं बचता है। इसलिये गमन शब्द का श्लोकवार्तिक के अनुसार ठीक अर्थ वही हो सकता है कि स्त्रियों के यहां राग भावसे जाना आना वार्तालाप करना आदि। स्वस्त्री बिना अन्य सभी स्त्रियों के साथ ऐसे करने को श्रीविद्यानंद ने अतीचार कहा है क्योंकि परिगृहीत और अपरिगृहीतमें सभी स्त्रियें आगई हैं। पं० आशाधरकी तरह यहां वेश्यादि को बाहर नहीं रक्खा है। तथा विद्यानंदकी तरह अन्य अकलंक, पूज्यपाद, अमृतचंद्र आदि आचार्योंने भी स्वस्त्री के सिवा अन्य सभी स्त्रियों के त्याग को ब्रह्मचर्याणुव्रत कहा है। पुरुषार्थ सिद्धयुपाय में लिखा है कि—स्वस्त्री के सिवा अन्य सभी स्त्रियों के सेवन का त्याग कर देना चाहिये। यथा—

"निःशेषशेषयोषिन्निषेवणं तैरपि न कार्यम्"।

इस प्रकरण को नीचे प्रश्नोत्तरों से लिखते हैं—

प्रश्न—गमन शब्द का तो अर्थ सेवन निकलता है क्योंकि किसीको कहा जाये कि अमुक परस्त्री गामी है तो इसका यही मतलब होता है कि वह परस्त्री सेवन करता है?

उत्तर—गमन शब्द का प्रसिद्ध अर्थ तो जाना है न कि सेवन करना। फिर भी शब्दों का अर्थ प्रकरण देखके तदनुसार ही किया जाता है। अहिंसाणुव्रत में 'वध' नामक अतीचार लिखा है सो वधका प्रसिद्ध अर्थ तो प्राणव्यपरोपण होता है।

जैसे कहते हैं कि राम-रावण के युद्ध में करोड़ों मनुष्यों का वध हो गया तो इसका यही मतलब निकलता है कि वहां करोड़ों आदमी मारे गये। इससे क्या 'वध' अतीचारका प्राणव्यपरोपण अर्थ ले लिया जाना चाहिये ?

प्रश्न—अतीचारोंका प्रकरण है इसलिये यहां वध का दंड चाबुक से पीड़ा पहुंचाना अर्थ लेना चाहिये। क्योंकि प्राण-व्यपरोपण अर्थ ग्रहण से अतीचार न रहकर अनाचार हो जाता है।

उत्तर—तो फिर अतीचारोंका प्रकरण ही यहां पर है। यहां भी गमन शब्द का अर्थ जाना आना लेना चाहिये न कि काम सेवन, क्योंकि इससे भी अनाचार का प्रसंग आता है।

प्रश्न—अहिंसाणुव्रतमें तो 'वध' अतीचारका वर्णन करते हुये खुलासा लिख दिया है कि वध का प्राणव्यपरोपण अर्थ नहीं लेना। इस तरह गमन शब्द में क्यों नहीं लिखा कि गमन का अर्थ सेवन नहीं लेना।

उत्तर—आचार्यों को मालूम न था कि आगे ऐसे ऐसे वज्रमूर्खोंका अवतार होगा जो प्रकरण को नहीं देखेंगे और शब्दोंको पकड़कर यद्वातद्वा अर्थ करने बैठ जायेंगे। श्री विद्यानंद ने वध अतीचारका वर्णन करते हुए लिखा है कि —

'प्राणिपीड़ाहेतुर्वधः कशाद्यभिघातमात्रं न तु प्राणव्यपरोपणं तस्य व्रतनाशरूपत्वात्'

इसमें वध अतीचारका प्राण व्यपरोपण अर्थ नहीं लेनेमें हेतु दिया है व्रतका नाश होना। बस यही सब अतीचारोंके अर्थ

करनेमें भी इसी हेतुको ध्यान में रखना चाहिये। विद्यानंदने ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंके वर्णनमें 'पूर्ववत्' पद देकर खुलासा कर दिया है कि इन अतीचारोंका भी ऐसा अर्थ कदापि न करना चाहिये जो व्रतका नाश करनेवाला हो। इससे बढ़कर और क्या स्पष्ट लिखा जा सकता है।

प्रश्न मगर सभी ग्रंथकारोंने इत्वरिकागमन लिखकर ही क्यों विराम ले लिया? किसीको तो खुलासा करना चाहिये था। क्या इसमें कुछ न कुछ रहस्य नहीं है?

उत्तर—किन्हीं ग्रंथकारोंने खुलासा भी किया है। जैसा कि श्रुतसागर टीकाकार और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षाके टीकाकारके निम्न वाक्योंसे प्रकट है—

"गमनेइति कोऽर्थः—जघनस्तनवदननिरीक्षणं संभाषणं-पाणिभ्रूचक्षुरंतादि संज्ञाविधानमित्येवमादि कं निखिलं रागित्वेन दुश्चेष्टितं गमनमित्युच्यते"

सकलकीर्तिजीने भी प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें इत्वरिकाकी इच्छा करने मात्रको इत्वरिकागमन अतीचार कहा है। न कि संभोग करनेको।

प्रश्न—तुम तो कहते हो पर श्लोकवार्तिक, राजवार्तिकमें कामतीव्राभिनिवेशनामके अतीचारमें दीक्षिता, अतिबाला, तिर्यंचिणी आदिका उल्लेख किया है वह कैसे है?

उत्तर—ठीक है उसे भी समझ लीजिये। श्लोकवार्तिकमें के वाक्ये यों है—

' दिक्षितातिबालातिर्यग्योन्यादीनामनुपसंग्रह इति चेन्न, कामतीव्राभिनिवेशग्रहणात् सिद्धः" राजवार्तिकमें भी ठीक इन्हीं अक्षरोंमें कहा गया है किन्तु वहां इतना विशेष और है— 'उक्तोऽव दोषो राजभयलोकापवादादि' ।

इनका भावार्थ ऐसा है कि शंकाकारने शंका की है कि दीक्षिता, अतिबाला तिर्यंचिणी इनका समावेश इत्वरिका गमन नामके अतीचारमें क्यों नहीं किया गया है। क्या इनके साथ किया हुआ काम भाव ब्रह्मचर्यके लिये बाधक नहीं है ? इसका उत्तर आचार्य देते हैं कि इनका समावेश कामतीव्राभिनिवेश नामके अतीचारमें करना चाहिये । क्योंकि शृंगार विहीन नीरस उदासीन वंदनीया दीक्षिता और अतिबाला व तिर्यंचणिके प्रति काम विकारके भाव कामकी तीव्रतासे ही हो सकता है ।

इन वाक्योंमें तो कहीं भी आशाधरके मतसे अनुकूलता नहीं है । वहां दीक्षिताके साथ संभोगकी कल्पना करना तो असंगत है । दीक्षिता तो क्या तिर्यंचनीका सेवन भी सकलकीर्तिने प्रश्नोत्तर श्रावकाचारमें शीलसे च्युत होना लिखा है। और जो अकलंकाचार्यने इसमें राजभय लोकापवादका दोष कहा है उसका तात्पर्य यह है कि पर विवाहकरण, इत्वरिका गमन आदि किन्हीं अतीचारोंमें राजभयका दोष नहीं है किंतु दीक्षितादिके साथ की हुई प्रवृत्तिसे राजभय लोकापवादादिका भी दोष है । इसी विशेष बातको दिखलानेके लिये अकलंकस्वामीने 'उक्तोऽवदोषो राजभयलोकापवादादि' का उल्लेख किया है, और कोई कारण नहीं है । कुछ भी हो अतीचारके प्रकरणमें किसी वाक्यका व्रतनाशक अर्थ तो कदापि तीन कालमें भी नहीं हो सकेगा । हम पूछते है कि आशाधरके

मतानुकूल स्वदार संतोषी नामका ब्रह्मचर्याणुव्रती तो अन्य स्त्री और वेश्याको भाड़ा देदेकर व किसी नियत कालतक स्वस्त्रीकी कल्पनासे भोग भोगकर काम करता रहेगा तथा दूसरा भेद परस्त्री त्यागी ब्रह्मचर्याणुव्रती भी जिसके वैश्या सेवनकी तो आज्ञा ही है उसके अतिरिक्त अन्य स्त्रियोंको वह भी भाड़ा देकर स्वस्त्रीकी कल्पनासे सेवन करता रहेगा तो यह समझमें नहीं आता कि आशाधरजीने क्या तो ब्रह्मचर्यके भेद किये और कौनसे अब्रह्मके त्यागका इसमें प्रयोजन निकला ? यह तो एक प्रकारसे खाली थोथा वाग्जाल हुआ। एक महा विद्वानकी कृतिमे इतनी निःसारता ! किमाश्चर्यमतः परं ?

अगर कहो कि 'ऐसे अतीचार जो बताये हैं वे छोड़नेके लिये है कोई ग्रहण करनेके लिये थोड़े ही हैं' सो तो ठीक है, किंतु हमारा कहना यह है कि इन्हें अनाचार कहना चाहिये था। ऐसा पापाचार अतीचार कहलानेके योग्य नहीं है। अतीचार कहनेसे मुमुक्षु इन्हें हलके दर्जेका पाप समझकर इनके त्यागमें उपेक्षा कर सकता है।

स्ववचन विघात—

पं० आशाधरने सागारधर्मामृतके चौथे अध्यायके श्लोक १६ की टीकामें अहिंसाणुव्रतके अतीचारोंका वर्णन करते हुये लिखा है कि— "अंतरंग व्रतके भंग होने और बहिरंगव्रतके पालन होनेसे वधबंधनको अतीचार संज्ञा दी जाती है" इसी बातसे अब हम आशाधरोक्त ब्रह्मचर्याणुव्रतके अतीचारोंका विचार करते हैं तो वे अनाचार सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि इनमें ब्रह्मभाव रूप अंतरंग व्रतका नाश तो है ही और त्यागी हुईका सेवन करनेसे बहिरंग व्रतका नाश भी दिख ही रहा है।

इसी तरह उसी अध्यायके श्लोक ५५ में जो पं० आशाधरजीने परस्त्री सेवनमें विशेष द्रव्यभाव हिंसाका सद्भाव बताया वह इन अतीचारोंमे भी प्रकट है। इस प्रकार पं० आशाधरजीके वचन खुद अपने ही सिद्धांतके घात करनेवाले है।

पूर्वापर विरोध।

आगे विटत्वादि अतीचारके विवेचनमें आशाधरजी फरमाते हैं कि-"स्वदार संतोषीके 'मैंने वेश्यादिमें मैथुन करनेका ही त्याग किया है विटत्वादिका नहीं' ऐसा समझकर विटत्वादि करे तो अतीचार होता है"। इसमें संभोगके त्यागका उल्लेख है। इससे आशाधरजीने इत्वरिकागमनमें जो कुछ कहा है वह धराशायी हो जाता है। ●

दूसरे अध्यायके श्लोक ५८-५९ में कन्यादानको महापुण्य बतलाया है और आगे चलकर परविवाहकरणको जो कि कारितरूपसे महापुण्य होता है अतीचार बतलाया है, इत्यादि कथन बहुत कुछ पूर्वापर विरोधको लिये मालूम होते हैं।

क्रमभंग कथन।

परस्त्रीत्यागी ब्रह्मचारीके अध्याय ३ श्लोक २३ में 'किसी कन्याके साथ गांधर्व विवाहका निषेध करना और वेश्यासेवनकी

● पूर्व में सप्त व्यसन त्याग में वेश्यासेवन का त्याग आशाधर बता आये हैं तथा प्रथम प्रतिमा में उसे निरतिचार भी बता आये हैं फिर यहाँ दूसरी व्रत प्रतिमा में वेश्यासेवन को अतिचार बताना कितना ज्यादा आपत्तिजनक और स्ववचन विरुद्ध है यह विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं।

छुट्टी देना ऐसा है जैसा कि दिवा भोजनका त्याग कराकर रात्रि भोजन कराना। इससे अधिक और क्या क्रमभंगता होगी ?'

विलक्षण कथन।

चौथे अध्यायके श्लोक ५८ की टीकामें लिखा है कि 'स्वदारसन्तोष व्रतका धारी यदि अपना दूसरा विवाह करता है तो उसके परविवाहकरण नामका अतीचार लगता है' आपके इस उपदेशने तो चक्रवर्ति पदके धारी तीर्थंकरोंकी भी खूब खबर ली है। हजारों कन्याओंसे विवाह करनेके कारण वे भी स्वदारसंतोष ब्रह्मचर्य से गिरादिये गये ! इसी श्लोककी टीकामें आगे चलकर लिखा है कि—

"जिस दिन अपने पतिकी बारी किसी सौतके यहां हो उस दिन वह उसे सौतके यहां जानेसे रोककर उससे स्वयं संभोग करने लगे तो उस स्त्रीके ब्रह्मचर्याणुव्रतमें अतीचार लगता है। क्योंकि उस दिन वह अपना पति भी परपुरुषके समान है !"

यह कथन भी कैसा अनोखा है ! इससे स्त्री भर्तारका संबंध एक तरहसे गुड्डा-गुड्डीका खेल हो जाता है। जांबवतीने सत्यभामाके यहां जाते हुये कृष्णनारायणको छलसे रोककर उनके साथ संभोग किया, तो पं० आशाधरजीके उक्त कथनसे जांबवती जैसी पतिव्रता रानी क्या कुशीला हो गई ?

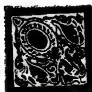
इत्यादि निरूपणसे पं० आशाधरजीके वचनोंका कोई मूल्य नहीं रहता है। और वे ऋषि वाक्योंकी समानता नहीं कर सके। उनका वह ग्रंथ खासकर शिथिलाचारका पोषक है।

आश्चर्य तो यह है कि साधारण ही नहीं कुछ विशेषज्ञ भी ऐसे हैं जो पं० आशाधरजीके परमभक्त हैं और इस ग्रंथको यहांतक चिपटाये बैठे हैं कि इसे विद्यालयोंके पठनक्रममें भी रख दिया है और इस तरह विद्यार्थियोंके लिये उनके प्रारंभिक जीवनमें ही उन्मार्गका बीजारोपण किया है। अगर ऐसा ग्रंथ छात्रोंको व्युत्पन्न बनाता है। तो भी कुछ कामका नहीं है। क्योंकि—

'मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयंकरः'

खेद है कि जिस जैनधर्ममें आप्त तककी परीक्षा की जाती है उसीमें ऐसे कथन भी आगमके नामसे आंख मीचकर माने जाते हैं!

नोटः— इस लेख के लिए वसुनंदि श्रावकाचार की प्रस्तावना पृष्ठ ३१ तथा जैन बोधक और सिद्धांत वर्ष ५१ अंक १२ (अप्रेल सन् ३५) भी देखिये।



१९

समाधिमरणके अवसर में मुनिदीक्षा

जब किसी ब्रह्मचारी आदि श्रावक की जिसदिन मृत्यु होने को होती है तो प्रायः आज-कल उसे नग्नलिंग धारण कराकर और उसका गृहस्थावस्था का नाम भी बदलकर मुनित्व का द्योतक दूसरा ही कोई नाम रखकर पूर्णतः उसे मुनिही मानलिया जाता है और मृत्यु के बाद उसको उसी नये नाम से पुकारा भी जाता है। परन्तु क्या यह प्रथा वर्तमान में ही देखने में आ रही है या पहिले भी थी? और इसका किसी समीचीन आगम से समर्थन भी होता है या नहीं, इस पर विचार होना आवश्यक है। यह नहीं हो सकता कि आजकल के साधु स्वेच्छा से जो कुछ कर दे वही प्रमाण मान-लिया जावे।

अंतिम समय में सावद्यक्रियाओं का त्याग कर सब परिग्रहों का छोड़ देना यह जुदी चीज है और मुनि बनना जुदी चीज है। मुनि बनने के लिये गुरु से दीक्षा लेनी पड़ती है और दीक्षा में प्रथम ही लौंच करना जरूरी होता है जिसे आजकल अंतिम समय में मुनि बनने वाले नहीं करते हैं। वे प्राचीन मर्यादा का भंग करते हैं। मरण के अवसर में मुनि बनने वालों को पंच समितियों षट् आवश्यक, स्थिति, भोजन, अस्नान, अदंतधावन, आदि मूल गुणों के पालन करने का अवसर ही

नहीं आता है। परीषहों का सहना, तपस्या आदि भी उन्हें नहीं करनी पड़ती है। फिर भी उन्हें मुनि मान लेना यह तो एक तरह से मुनित्व की विडंबना है। यदि कहो कि किसी की मुनि दीक्षा लिये बाद दस पांच घंटों में ही सर्पविष आदि से मृत्यु हो जाये तो क्या वह मुनि नहीं माना जा सकता ? क्योंकि उसको भी मुनि के मूलगुणों के पालने का अवसर नहीं प्राप्त हुआ है। उत्तर इसका यह है कि उसमें और इसमें अंतर है। उसको तो यह पता नहीं था कि-मेरी मृत्यु आज ही हो जायगी इसलिये उसके तो मुनि बनते वक्त यह संकल्प रहता है कि-मुझे मूलगुणों का पालन करते हुये परीषहें सहनी हैं एवं तपस्या करके निर्जरा करनी है इसलिये वह तो मुनि माने जाने के योग्य है किन्तु दूसरा मृत्यु की निकटता के वक्त मुनि बनने वाला जब यह देखता है कि-मैं अब मरने ही वाला हूं, यह भोगसामग्री व धन कुटुम्बादि सब थोड़ी ही देर में वैसे ही छूट रहे हैं तो इनको मैं ही क्यों न त्यागदूं जिससे मैं मुनि माना जाने लगूंगा और उससे मेरा बेड़ा भी पार हो जाय तो इसके सिवा और कल्याण का सरल मार्ग भी क्या हो सकता है ? ऐसा विचार कर वह मुनि बनता है। इस प्रकार दोनों की परिणति में बड़ा अंतर है।

दूसरी बात यह है कि-मुनि के भी जब यही वांछा रहती है कि-उसकी मृत्यु समाधि मरण पूर्वक हो तो श्रावक को अंतिम समय में मुनि बनने की क्या आवश्यकता है ? उसका भी लक्ष्य उस वक्त सल्लेखनापूर्वक मरण करने का ही होना चाहिये न कि मुनि बनने का। अपने जीवन में चिरकाल तक अणुव्रतों और महाव्रतों का पालना भी तभी सफल होता है जब समाधिमरण से देहांत हो। ऐसी हालत में मरणकाल में मुनि

दीक्षा लेना निरुपयोगी है। रत्नकंरड श्रावकाचारमें कहा है कि

अंतक्रियाधिकरणं तपःफलं सकलदर्शिनः स्तुवते।
तस्माद्यावद्विभवं समाधिमरणे प्रयतितव्यम् ॥२॥
अधिकार ५

अर्थ-तपश्चर्या का फल समाधिमरण पर आश्रित है ऐसा सर्वज्ञ भगवान् कहते हैं। इसलिये अंतसमय में अपनी सारी शक्ति समाधिमरण के अनुष्ठान में लगानी चाहिये।

आदि पुराण में राजा महाबल की कथा मे लिखा है—

'महाबल ने अवधिज्ञानी मुनि से अपनी शेष आयु एक मास की जानकर समाधिमरण में चित्त लगाया। आठ दिन तक तो उसने अपने घर के चैत्यालय में महापूजा की। तदनंतर उसने सिद्धवरकूट चैत्यालय जा, वहां सिद्धप्रतिमा की पूजाकर सन्यास धारण किया। उसने गुरू की साक्षी से जीवनपर्यंत के लिये आहार, पानी, देहकी ममता, व बाह्याभ्यतंर परिग्रहों का त्याग कर दिया। उस वक्त वह मुनि के समान मालूम पड़ता था। उसने प्रायोपगमन सन्यास लिया था। इस प्रकार वह २२ दिन तक सल्लेखना विधि में रहकर अंत में प्राण त्यागकर दूसरे स्वर्ग में ललितांग देव हुआ।"

इस कथा में भी महाबल के मुनि बनने की बात न लिखकर यही लिखा है कि 'वह मुनिके समान जान पड़ता था।' (देखो पर्व ५ का श्लोक २३२)

आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण के पर्व ३८ श्लोक १६१ में ऐसा लिखा है कि—"आचार्य को चाहिये कि-वह किसी को

मुनि दीक्षा देवे तो शुभ मुहूर्त देखकर देवे। अन्यथा उस आचार्य ही को संघबाह्य कर देना चाहिये।"

इस कथन से मृत्यु समय में मुनि दीक्षा देने का स्पष्ट निषेध सिद्ध होता है। क्योंकि अव्वल तो दीक्षा लेने वाले का मरण समय होना यही अशुभ है। दूसरे उस दिन सभी को शुभ मुहूर्त का संयोग मिल जाये यह भी संभव नहीं है।

अंतसमय में मुनि दीक्षा लेने देने का कथन जैन-शास्त्रों में कहीं नहीं है। इस विषय का वर्णन शास्त्रों में जिस ढंग से किया है उसका मतलब लोगों ने भ्रम से मुनि दीक्षा लेना समझ लिया है। जब कि वैसा मतलब वहां के कथन का निकलता नहीं है। इस प्रकार का वर्णन पं० आशाधरजी कृत सागारधर्मामृत के ८ वें अध्याय में निम्न प्रकार पाया जाता है-

त्रिस्थानदोषयुक्तायाप्यापवादिकलिंगिने।
महाव्रतार्थिने दद्याल्लिगमौत्सर्गिकं तदा ॥३५॥
निर्यापके समर्प्य स्वं भक्त्यारोप्य महाव्रतम्।
निश्चेलो भावयेदन्यस्त्वनारोपितमेव तत् ॥४४॥

अर्थ-अंडकोश और लिंगेन्द्रिय संबंधी तीन दोष युक्त भी हो तथापि आपवादिक लिंगी कहिये ११ वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक जो कि आर्य कहलाता है वह यदि महाव्रत का अर्थी हो तो उसे समाधिमरण के अवसर में आचार्य मुनि के ४ (लिंगों-चिह्नों) में से एक नग्नलिंग को देवे। अर्थात् वस्त्र छुड़ाकर उसको नग्न बनादे।

जब वह निश्चेल हो जाये तो अपने को भक्ति से निर्यापक

कहिये समाधिमरण कराने वाले आचार्य के अधीन करके और उनके वचनोसे अपने में महाव्रतों की भावना भावे। यह उत्कृष्ट श्रावक यदि लज्जा आदि के वश से समाधिमरण के वक्त वस्त्र त्याग न कर सके तो वह अपने में महाव्रतों का आरोपण नहीं कर सकता है। क्योंकि सग्रंथ को महाव्रतों के आरोपण करने का अधिकार नहीं है। उसे विना आरोपित किये ही महाव्रतों की भावना भानी चाहिये।

भगवती आराधना की गाथा ८० में नग्नत्व, लोंच, पिच्छिका धारण, और शरीर संस्कार हीनता ऐसे ४ चिह्न (लिंग) मुनि के बताये हैं।

इस प्रकरण में आशाधर ने श्लो. ३८ में ऐसा कहा है कि—

> औत्सर्गिकमन्यद्वा लिंगमुक्तं जिनैः स्त्रियाः।
> पुंवत्तदिष्यते मृत्युकाले स्वल्पीकृतोपधेः ॥३८॥

अर्थ—जिनेन्द्रो ने स्त्री के जो औत्सर्गिक और आपवादिक लिंग कहा है। उसमें औत्सर्गिक लिंग श्रुतज्ञों ने मृत्युकाल में पुरुष की तरह एकांतवसतिका आदि सामग्री के होने पर वस्त्र मात्र को भी त्याग देने वाली क्षुल्लिका के लिये माना है। अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार औत्सर्गिक लिंग धारण करने वाले पुरुष के मरण समय में औत्सर्गिक लिंग ही कहा है। और आपवादिक लिंग वाले के लिये ऊपर जैसा कथन किया है वैसा ही स्त्री के लिये भी समझना चाहिये। अर्थात् योग्य स्थान मिलने पर आर्यिका नग्न लिंग धारण करे और क्षुल्लिका भी नग्न लिंग धारण करे। किन्तु क्षुल्लिका यदि समृद्धिशाली घर

की हो यानी राजघराने आदि की हो और नग्न होने में उसे शर्म आती हो तो वह नग्न न होकर क्षुल्लिका के वेष में ही रह कर समाधि मरण करे।

ऊपर के श्लोकों में क्षुल्लक पुरुष के लिंग धारण का कथन किया है और इस श्लोक में स्त्री क्षुल्लिका के लिये कथन किया है। श्लोक में प्रयुक्त "स्वल्पीकृतोपधेः" वाक्य का अर्थ यहां क्षुल्लिका मालूम पड़ता है। पं० आशाधर जी ने इसी कथन को भगवती आराधना की गाथा ८१ की अपनी मूलाराधना टीका में निम्न प्रकार किया है।

"स्त्रियां अपि औत्सर्गिकं आगमेऽभिहितं, परिग्रहमल्पं कुर्वंत्या इति योज्यं। औत्सर्गिकं तपस्विनीनां, शाटकमात्र परिग्रहेऽपि तत्र ममत्वपरित्यागादुपचारतो नैर्ग्रन्थ्य व्यवहरणानुसरणात्। आपवादिकं श्राविकाणां तथाविधममत्व परित्यागाभावादुपचारतोऽपि नैर्ग्रन्थ्यव्यवहारानवतारात्। तत्र संन्यास काले लिंगं तपस्विनीनामयोग्यस्थाने प्राक्तन इतरासां पुंसामिवेति योज्यम्। इदमत्र तात्पर्यं -तपस्विनी मृत्युकाले योग्ये स्थाने वस्त्रमात्रमपि त्यजति। अन्या तु यदि योग्यं स्थानं लभते, यदि च महर्द्धिका सलज्जा मिथ्यात्त्व प्रचुर ज्ञातिश्च न, तदा पुंवद्वस्त्रमपि मुंचति। नो चेत् प्राग्लिंगेनैव म्रियते।"

अर्थ -आगम में स्त्री के भी उत्सर्ग लिंग बताया है वह अल्पपरिग्रहवाली श्राविका (क्षुल्लिका) के संन्यासकाल में बताया है। आर्यिकाओं के तो वैसे ही औत्सर्गिक लिंग होता है। क्योंकि उनके साड़ी मात्र में भी ममत्व न होने से उपचार से उनमें निर्ग्रन्थता का व्यवहार है। जबकि क्षुल्लिका

श्राविकाओं के उस प्रकार से ममत्व का त्याग नहीं होता इसलिये उनमें उपचार से भी निर्ग्रन्थता का व्यवहार नहीं है। अतः उनके आपवादिक लिंग होता है। सन्यासकाल में योग्य स्थान आदि न मिले तो आर्यिकाओं के पूर्वकालीन लिंग ही रहता है। तथा क्षुल्लिकाओं के सन्यासकाल में क्षुल्लक पुरुषों की तरह उत्सर्ग लिंग और अपवाद लिंग दोनों होते हैं। तात्पर्य यह है कि—आर्यिका मृत्युकाल में योग्य स्थान के मिलने पर वस्त्र मात्र को भी त्याग देती है और क्षुल्लिका योग्य स्थान मिलने पर यदि महर्द्धिका, सलज्जा और कट्टर मिथ्यात्वी जाति की न हो तो वह भी क्षुल्लक पुरुष की तरह वस्त्रों को त्याग कर नग्न हो जाती है। और यदि वह सलज्जा आदि हो तो समाधि मरण के समय में अपने पूर्वलिंग को धारण की हुई ही मरती है।"

क्षुल्लिका वह कहलाती है जो आर्यिका से कुछ अधिक वस्त्र रखती है और जितना रखती है उतने में भी उसके ममत्व भाव रहता है मस्तक के बाल कैंची आदि से उतरवाती है। उसे क्षुल्लक पुरुष के स्थानापन्न समझनी चाहिये। उसकी गणना श्राविकाओं मे की जाती है। और आर्यिका के अपनी साड़ी में ममत्व नहीं होता इसलिये वह सवस्त्रा होकर भी मुनि के स्थानापन्न समझी जाती है और इसी से शास्त्रों में उसके उपचार से महाव्रत माना है।

इन उपर्युक्त उल्लेखों से यही प्रगट होता है कि—उत्कृष्ट श्रावकों (क्षुल्लकों) के लिये समाधिमरण के अवसर में नग्न हो जाने की शास्त्राज्ञा है। जिससे कि उनमें महाव्रतों की स्थापना करके उन्हें आरोपित महाव्रती बना सकें। इसका अर्थ

मुनि दीक्षा नहीं है। क्योंकि ऐसा करना तो आर्यिका व क्षुल्लिका श्राविका के लिये भी लिखा है तो क्या नग्न हो जाने से इनकी भी मुनि दीक्षा मान ली जावे ? और तब क्या उनके छठा गुणस्थान समझा जावे ? नग्न हो जाना मात्र कोई मुनि दीक्षा नहीं है। मुनि दीक्षा में लौंच कराया जाता है, पिच्छिका पकड़ाई जाती है। पर यहां ऐसा कुछ नहीं लिखा है। न यहां उनको मुनि नाम से ही लिखा है। तब यह कैसे माना जावे कि समाधिमरण के वक्त में क्षुल्लक को मुनि दीक्षा देने का विधान है। यदि कहो कि क्षुल्लक के लौंच पिच्छी तो पहिले से ही चली आ रही है जिससे नहीं लिखा है। इसका उत्तर यह है कि भले ही पहिले से चली आवे तब भी मुनि दीक्षा के वक्त भी लौंचादि करा कर ही दीक्षा दिये जाने का नियम है। और सभी क्षुल्लक लौंच करें ही ऐसी भी शास्त्राज्ञा नहीं है। इसलिये यह भी नहीं कह सकते कि क्षुल्लक के लौंच पहिले ही से चला आ रहा है। यह विचारने के योग्य है कि—उक्त श्लोक ४४ में क्षुल्लक में महाव्रतों का आरोप करना लिखा है। इस आरोप शब्द पर भी ध्यान देना चाहिये। रत्नकरंड श्रावकाचार के 'आरोपयेन्महाव्रतमामरणस्थायि निःशेषम् ।।'१२५।। पद्य में भी महाव्रतों का आरोप करना ही लिखा है। मेधावी के श्रावकाचार में (अधिकार १० श्लो० ५४) तथा चामुण्डराय-कृत चारित्रसार में भी आरोप ही लिखा है। सभी ग्रन्थों में एक आरोप के सिवा दूसरा शब्द प्रयोग न करने में भी कोई रहस्य है। और इससे यही प्रतिभासित होता है कि–सन्यास काल में नग्न होने का अर्थ मुनि बनने का नहीं है। जिस पुरुष की कामेन्द्रिय में चर्मरहितत्व आदि दोष होते हैं उसको मुनिदीक्षा देने का आगम में निषेध किया है। उस प्रकार के

दोष वाले क्षुल्लक को भी ऊपर उद्धृत श्लोक ३५ में सन्यास काल में नग्नलिंग दिया गया है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि-यहां की इस नग्नता का मुनिदीक्षा से कोई सम्बन्ध नहीं है। चारित्रसार में लिखा है कि-गूढ ब्रह्मचारी नग्न वेष में रहकर ही विद्याध्ययन करता है। इसलिये सभी जगह नग्न हो जाने का अर्थ मुनि बनना नहीं है। सागराधर्मामृत के इसी ८वें अध्याय के अन्त में आराधक के उत्तम, मध्यम, जघन्य तीन भेद करके उनकी आराधनाओं का फल बताते हुए लिखा है कि-"उत्तम आराधक मुनि उसी भव में मोक्ष जाता है। मध्यम आराधक मुनि इन्द्रादि पद को प्राप्त होता है। और वर्तमान काल के मुनि जो कि जघन्य आराधक हैं वे आठवें भव में मोक्ष पाते है। इतना कथन किये बाद आगे आशाधर जी लिखते हैं कि यह तो मुनियों की आराधना अर्थात् समाधि-मरण का फल बताया। अब श्रावकों की आराधना का फल बताते हैं। जो कि श्रमणलिंग धारण कर समाधिमरण करते हैं।

इस कथन से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है कि समाधि-मरण के समय में जो श्रावक नग्न लिंग धारण करके आरोपित महाव्रती बनते है उनको आशाधरजी ने मुनि नही माना है।

यहां यह भी ध्यान रखना चाहिए कि-आशाधर ने जो यहां नग्नलिंग धारणकर आरोपितमहाव्रती बनने की बात लिखी है। वह भी आपवादिकलिंगी कहिये क्षुल्लक के लिये लिखी है न कि ७वीं प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी आदि के लिये। पं० मेधावी ने भी स्वरचित धर्मसंग्रह श्रावकाचार के ६वें

अध्याय में उत्कृष्ट श्रावक को अपवादलिंगी कहा है। यथा—

> उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक्क्षुल्लोऽत्रैव सूचितः।
> स चापवादलिंगी च वानप्रस्थोऽपि नामतः ॥ २८० ॥

अर्थ—उत्कृष्ट श्रावक जिसे कि पहिले इस ग्रन्थ में क्षुल्लक नाम से सूचित किया है उसीका नाम अपवादलिंगी और वानप्रस्थ भी है।

इस प्रकार प० आशाधरजी के उक्त विवेचन से यही फलितार्थ निकलता है कि-जिस श्रावक को समाधिमरण के अवसर मे नग्नलिंग दिया जाता है वह ११वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक होता है और वह आरोपित महाव्रती माना जाता है मुनि नहीं। उस समय की नग्नता मुनि अवस्था की नही है। किंतु सन्यास अवस्था की है। ऐसा समझना चाहिये।

इसलिये आजकल जो ११ वीं प्रतिमाधारी ही नहीं सातवीं प्रतिमाधारी ब्रह्मचारी तक को भी समाधिमरण के समय में साक्षात् मुनि बनाकर व उसका नाम ही बदलकर मुनिपने का नाम रख दिया जाता है यह सब शास्त्र सम्मत नहीं है। मनमानी है। मैंने यह लेख मननशील विद्वानों के विचारार्थ प्रस्तुत किया है। मेरा लिखना कहां तक सही है इसका निर्णय वे करेगे। निर्णय करते समय यह ख्याल रखेंगे कि-आशाधर ने समाधिमरण के इस प्रकरण में नग्नलिंग की चर्चा की है, न कि मुनि होने की। क्योंकि यहां इसीके साथ में आर्यिका व श्राविका के सम्बन्ध में भी नग्नता का कथन किया है। इससे यही सिद्ध होता है कि यहां जो वर्णन किया है वह नग्नलिंग का वर्णन किया है मुनि होने का वर्णन नहीं

किया है। अतः उसका अभिप्राय मुनिदीक्षा समझना उचित नहीं है। नग्न हुये बाद भी उसको महाव्रत देने की बात नहीं लिखी है। ऊपर उद्धृत आशाधर के ४४वें श्लोक पर ध्यान दीजिये। उसमें वह निर्यापक के वचनों से अपने में महाव्रतों का आरोपण करके महाव्रतों की भावना भावे, ऐसा लिखा है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि वह नग्न हुये बाद 'मैं महाव्रती हूँ' ऐसी कल्पना कर लेवे। साक्षात् महाव्रती मुनि अपने को न माने। रत्नकरंड श्रावकाचार के उक्त उद्धरण में आये "आरोपयेत्" की व्याख्या प्रभाचन्द्र ने भी महाव्रतों की स्थापना करना की है। धारण करना अर्थ नहीं किया है।卐

卐 आजकल आधुनिक मुनियों की मूर्तियां बनने का रिवाज चालू हो गया है मानो जैसे तीर्थंकर मूर्तियों से ऊब गये हों–यह सब हमारे अविवेक का परिणाम है। जिन मूर्ति और जिन मन्दिर के बजाय अब तो मुनि-मूर्ति और मुनि-मन्दिर का युग आ गया है। इस युग प्रवाहमें सब डुबकी लगाना चाहते हैं नई-नई होशियारी–कलाबाजी धर्म में भी प्रविष्ट हो गई है अब तो कोई भी जैनी बिना मुनिपद के मरने वाला ही नहीं इसके लिये मुनिदीक्षा की केशलौच तपस्यादि की भी कोई झंझट तकलीफ नहीं अन्त समय में झट से परिवार के लोग मुनि बना देंगे और सागरान्त नाम रखकर फिर उन मुनि की फोटूएं, पूजायें, स्तोत्र, चालीसा, समाधिस्थल, मूर्तियां बना देंगे। गरीब हो चाहे अमीर इसमें कोई क्यों पीछे रहेगा सब अपने दादा-पिता-भाई नाना-मामा आदि परिजनों की छोटी बड़ी मूर्तियाँ बनाकर जगह-२ मन्दिरों में विराजमान कर देंगे फिर तो भगवान की जगह सबके परिजन ही पूजे जाने लगेंगे। जब जगत में रजनीश आदि ४० करीब भगवान हो गये तो जैनी ही क्यों पीछे रहने लगे अभी पंचम काल (कलिकाल) के २१ हजार वर्ष में से सिर्फ २॥ हजार वर्ष ही बीते हैं अभी से इसका रंग चढ़ने लगा है।

२०

कातंत्र व्याकरण के निर्माता कौन है ?

इस ग्रन्थ में संस्कृत-व्याकरण का विषय ऐसे ढंग से गुंफित किया गया है जो न अधिक विस्तृत और न अधिक संक्षिप्त ही कहा जा सकता है। साथ ही क्लिष्ट भी नहीं है। व्याकरण की मध्यमरूप से शिक्षा पाने के लिये यह ग्रन्थ बहुत ही उच्चकोटि का है। वर्तमान में इसका विशेष प्रचार नहीं है। संभव है पहिले किसी समय इसका अच्छा प्रचार रहा हो। यह बात तो हमारी बाल्यावस्था में भी थी कि हमारे इधर इसका सन्धिपाठ अपभ्रंशरूप से विद्यार्थियों को कठस्थ कराया जाता था। और जिसको "सीधा" के नाम से बोला करते थे। इस ग्रन्थ को "कातंत्र" के अलावा "कौमार" और "कालापक" के नाम से भी कहते हैं। इसके कर्ता कोई 'शर्ववर्मा' हैं। किन्तु वे जैन थे या जैनेतर यह अभी विवादग्रस्त है। महाकवि सोमदेव भट्ट-रचित "कथासरित्सागर" में इस ग्रन्थ की उत्पत्ति की कथा मिलती है। उससे इसका निर्माता अजैन सिद्ध होता है। वह कथा उसके प्रथम लंबक षष्ठ तरंग श्लोक १०७ वें से लेकर सातवीं तरंग के श्लोक ११ वे तक है। उसका सारांश पाठकों की जानकारी के लिये यहां लिख दिया जाता है।

"एक समय राजा सातवाहन वसंत के उत्सव में रानियों के साथ जलक्रीड़ा कर रहा था। उस बीच में एक

रानी ने संस्कृत में राजा को कहा "हे नाथ मोदकैस्ताडय"। सुनकर राजा ने वहाँ लड्डू मंगवाये। तब वह रानी हंसकर बोली-हे राजन् यहां जल क्रीडा में मोदकों का क्या काम ? मैंने तो आप से यह कहा था कि "हमे जल से मत ताडना करो" आप 'मा' शब्द और 'उदक' शब्द की सधि भी नही जानते हैं और मौके को भी नही समझते हैं। उस समय राजा की और रानियों ने हंसी की। इससे राजा बड़ा लज्जित हुआ। वह जलक्रीड़ा छोड अपमान से खेदित हो — राजमहल में चला गया। वहां वह मौन पकड के चिन्तातुर सा रहने लगा। शर्ववर्मा और गुणाढ्य इन दो मंत्रियों ने राजा से बातें करना चाहा पर राजा बोला नहीं। तब शर्ववर्मा ने राजा का मौनभंग कराने के अभिप्राय से एक चौंका देनेवाली बात कही कि मुझे रात्रि को एक स्वप्न हुआ है — जिसका फल यह है कि सरस्वती आप के मुख में प्रवेश कर गई है। यह सुन कर राजा बोल उठा कि तुम बताओ मनुष्य प्रयत्न करे तो कितने दिनों में पण्डित हो सकता है ? मुझे पाण्डित्य के विना यह राज्यलक्ष्मी अच्छी नही मालूम होती उत्तर में गुणाढ्य ने कहा—व्याकरण का ज्ञान मनुष्य को बारह वर्ष मे होता है परन्तु आपको मैं छः वर्ष में ही सिखा दूंगा। बीच ही में बात काटकर ईर्ष्या से शर्ववर्मा ने कहा सुखी पुरुष इतना श्रम कैसे कर सकता है ? हे राजन् ! मैं आपको छः ही मास में व्याकरण सिखा सकता हूं। यह सुन कर गुणाढ्य क्रोधित हो बोला-जो तुम छः मास में राजा को व्याकरण सिखा दो तो मैं संस्कृत प्राकृत और अपने देश की बोली ये तीनों भाषाये जिन्हे कि मनुष्य बोला करते हैं बोलना छोड़ दूंगा। तब शर्ववर्मा ने कहा जो मैं छः महीने मे इन्हें व्याकरण न पढ़ा दूं तो बारह वर्ष तक तुम्हारी खड़ाऊँ

अपने सिर पर रक्खूं। इस तरह दोनों प्रतिज्ञा करके अपने घर को चले गये। शर्ववर्मा को अपनी प्रतिज्ञा का निर्वाह होना दुस्तर दिखने लगा और पश्चात्ताप-सहित अपना वृत्तांत अपनी स्त्री को कहा। तब वह बोली—हे स्वामिन् ऐसे संकट में सिवाय "स्वामिकुमार" की आराधना के और कोई पार नहीं लगा सकता। स्त्री की बात को ठीक समझ कर शर्ववर्मा प्रभात ही स्वामिकुमार के पास जा, वहां निराहार मौन धारण कर और अपने शरीर को न गिन कर ऐसा तप किया, कि जिससे प्रसन्न हो कर भगवान् स्वामिकुमार ने उनका मनोरथ पूर्ण किया। साक्षात् स्वामिकुमार ने उन्हें दर्शन दिये और उनके मुख मे सरस्वती का प्रवेश हुआ। बाद मे भगवान् स्वामिकुमार छहों मुखों से "सिद्धो वर्णसमाम्नाय:" यह सूत्र बोले। जिसे सुन कर शर्ववर्मा ने चपलता से इसके आगे का सूत्र बोल दिया। तब स्वामिकुमार ने कहा—यदि तुम बीच मे न बोलते तो यह शास्त्र पाणिनीय शास्त्र से भी बढ़ कर होता। अब छोटा होने के कारण इसका "कातन्त्र" नाम होगा और कलापी (मेरे वाहन) के नाम से इसका अपर नाम "कालापक" भी होगा।"

इस कथा मे शर्ववर्मा को स्वामिकुमार कहिये कार्तिकेय नाम के अजैन देव के उपासक ही नही बतलाया गया है बल्कि ग्रन्थ का उद्गम कार्तिकेय ही से हुआ बतलाया गया है। और इसी अभिप्राय को लेकर ग्रन्थके "कालापक" व "कौमार" नामों की सृष्टि हुई बतलाई गई है। इससे यह ग्रन्थ साफ तौर पर एक अजैन की कृति सिद्ध होता है। साथ ही इस ग्रन्थ का प्राचीनत्व भी सिद्ध होता है। क्योंकि कथा में इसे सातवाहन राजा को सिखाने के अर्थ बनाया गया बतलाया गया है।

सातवाहन संभवतः वे ही शालिवाहन राजा हैं जिनका शक संवत् आज १८५७ चल रहा है। इस ग्रन्थ पर कई संस्कृत टीकायें सुनी जाती हैं। श्वेतांबर टीका का उल्लेख 'भास्कर' की पिछली किरण में भी हुआ है। लेख में भी इसे अजैन ग्रन्थ प्रकट किया गया है। इतनी टीकाओं के होते भी इसके कर्ता के विषय में ऐसा विवाद रहना एक आश्चर्य की बात है। अभी तक यह ग्रन्थ 'भावसेन' मुनि-रचित रूपमाला' नाम की टीका-सहित छपा है। और इसीलिये "कातन्त्र-रूपमाला" इस नाम से प्रचार में आ रहा है। इस टीका के देखने से पता लगता है कि भावसेन मुनि दिगंबर धर्म के माननेवाले थे। और उन्होंने अपने नाम के साथ 'त्रैविद्यदेव" और "वादिपर्वतवज्री ये दो विशेषण भी लिखे हैं। ये मुनि अधिक प्राचीन मालूम नहीं होते हैं। क्योंकि इन्होंने रूपमाला टीका की प्रशस्ति में एक श्लोक दिया है वह सोमदेव कृत "नीतिवाक्यामृत" की प्रशस्ति-गत पद्य की नकल है।

तद्यथा—

क्षीणेऽनुग्रहक रिता समजने सौजन्यमात्माधिके,
सम्मानं नुतभावसेनमुनिपे त्रविद्यदेवे मयि।
सिद्धान्तोऽयमथापि यः स्त्रधिषणागर्वोद्धतः केवलम्,
संस्पर्द्धेत तदीयगवकुहरे वज्रायते मद्वचः॥

"रूपमाला प्रशस्ति"

अल्पेऽनुग्रहधीः समे सुजनता मान्ये महानादरः,
सिद्धान्तोऽयमुदात्त-चित्त-चरिते श्रीसोमदेवे मयि।
यः स्पर्धेत तथापि दर्पदृढता प्रौढिप्रगाढ़ाग्रह-
स्तस्याखर्वितगर्वपर्वतपविर्मद्वाक्कृतान्तायते॥

"नीतिवाक्यामृत-प्रशस्ति"

इन समान पद्यों से यह अनुमान किया जा सकता है कि भावसेन सोमदेव के बाद हुए हैं। ऐसा मालूम होता है कि भावसेन ने कातंत्र को एक जैन कृति समझ कर ही उस पर टीका बनाई है। यह बात रूपमाला के निम्न पद्यों से साबित होती है

वर्द्धमानकुमारेणार्हता पूज्येन वज्रिणा।
कौमारे ऋषभेणापि कुमाराणां हितैषिणा॥
मुष्टिव्याकरणं नाम्ना कातन्त्रं वा कुमारकं
कालापकं प्रकाशास्मद्ब्राह्मणाम्नभिधायकं॥
प्रकाशितं स प्रबोधसंपदे श्रेयसो पदं।
समस्तानां प्रकरणं भावसेन इहाभ्यधात्॥

(पृष्ठ ६५)

चतुःषष्टिः कलाः स्त्रीणां तास्चतुःसप्ततिर्नृणाम्।
आपकः प्रापकस्तासां श्रीमानृषभतीर्थकृत्॥
तेन ब्राह्म्यै कुमार्यै च कथितं पाठहेतवे।
कालापकं तत्कौमारं नाम्ना शब्दानुशासनम्॥
यद् वदन्त्यधियः केचित् शिखिनः स्कंदवाहिनः।
पुच्छान्निर्गतसूत्रं स्यात्कालापकमतः परम्॥
तन्न युक्तं यतः केकी वक्ति प्लुतस्वरानुगम्।
त्रिमात्रं च शिखीत्यादिति प्रामाणिकोक्तितः॥
न चात्र मातृकाम्नाये स्वरेषु प्लुतसंग्रहः।
तस्मात् श्रीऋषभादिष्टमित्येव प्रतिपद्यताम्॥

"पृष्ठ ११२"

यहां हम यह भी बतला देते हैं कि कातंत्र रूपमाला की अब तक दो आवृत्तियां निकल चुकी हैं। प्रथम आवृत्ति का

प्रकाशन आज से लगभग चालीस वर्ष पहिले सेठ हीराचन्द जी नेमीचंद जी के द्वारा हुआ है। उसमें ये श्लोक कतई नहीं है। दूसरी आवृत्ति ६ वर्ष पहिले "जैनसाहित्य-प्रसारक-कार्यालय" की तरफ से प्रकाशित हुई है, उसी में ये सब श्लोक हैं। और जहां ये दिये गये हैं वहां कुछ अप्रकरण से मालूम होते हैं। इस प्रकार के श्लोक मंगलाचरण के बाद में या ग्रन्थ के अन्त में दिये जाते तो प्रकरण-संगत लगते। यह भी मालूम होता है कि कातंत्र की उत्पत्ति की ऊपर दी हुई कथा से भी भावसेन अपरिचित नहीं थे, क्योंकि इन श्लोकों में उसी कथा का विरोध किया गया है। और कातंत्र के कौमार और कालापक नामों का अर्थ जैन-मान्यता मे घटाया गया है। इससे यह ध्वनित होता है कि भावसेन के वक्त भी इसके कर्ता के विषय मे मतभेद था। कोई उसे जैन मानते थे और कोई अजैन। भावसेन का इसे जैनग्रन्थ घोषित करना चाहे ठीक ही हो तथापि इसे अन्तिम निर्णय नहीं समझ लेना चाहिये। हमारी समझ से अभी इस दिशा में और भी खोज होने की आवश्यकता है। शर्ववर्मा गृहस्थ विद्वान् थे या साधु? इसका पता लगाना चाहिये। ऐसा नाम भी बहुत कर के गृहस्थावस्था का ही उपयुक्त हो सकता है। मुनि अवस्था का तो कुछ अटपटा सा दीखता है। अगर वे मुनि ही थे तो उनकी गुरु-परम्परा क्या है? उन्होने और भी क्या कोई जैन ग्रन्थ बनाये हैं? जब कि वे इतने प्राचीन हैं तो पिछले शास्त्रकारों ने उनका या उनके कातंत्र का या अन्य ग्रन्थ का

नोट—कातन्त्र के 'अवतरण-विषयक एक लेख भास्कर के १ म भाग की ३ री किरण मे संम्पादकीय स्तंभ में निकल चुका है। ☛ हाँ

कहीं उल्लेख भी किया है या नहीं ? इत्यादि बातों का अन्वेषण होना जरूरी है। आशा है इतिहासज्ञ जैन विद्वान् इस पर प्रकाश डालेंगे।

इसके रचयिता के बारे में इस लेख में कुछ प्रकाश डाला गया है, इसी लिये लेखक के आग्रह से इस किरण में इसे प्रकाशित कर दिया गया है। मेरा अनुरोध है कि लेखक के अन्तिम कथनानुसार इसके रचयिता के बारे मे इतिहास-वेत्ता कुछ विशेष प्रकाश डालेंगे।

इसमे कातंत्र को जैन व्याकरण ही माना है।

के० बी० शास्त्री



२१

भगवान् महावीर तथा अन्यतीर्थंकरों के वंश

आदिपुराण पर्व १६ श्लो. २५६ से २६१ में लिखा है कि— "ऋषभदेव ने हरि, अकंपन, काश्यप और सोमप्रभ इन चारों क्षत्रियों को बुलाकर उन्हें महा-मांडलिक राजा बनाये। हरि का हरिकांत नाम हुआ उससे हरिवंश चला। अकंपनका श्रीधर नाम हुआ उससे नाथवंश चला (१) काश्यप का मघवा नाम हुआ उससे उग्रवंश चला और कुरुदेश का राजा सोमप्रभ अपना कुरुराज नाम पाकर उसने कुरुवंश चलाया।" (मोक्ष शास्त्र के "आर्याम्लेच्छाश्च" सूत्र की श्रुतसागरी वृत्ति में भी इसका अच्छा खुलासा है)

इसी पर्व के श्लो. २६५-२६६ में लिखा है कि— "गौ का अर्थ स्वर्ग है। उत्तम स्वर्ग से आने के कारण श्री ऋषभदेव गौतम कहलाते थे और काश्य कहिये तेज की रक्षा करने से वे काश्यप भी कहलाते थे।"

---

(१) इसी से आदि पुराण पर्व ४३ श्लोक २३३, ३३६ तथा पर्व ४४ श्लोक ४५ में अकम्पन को नाथवंश का अग्रणी लिखा है।

पद्मपुराण पर्व ५ के प्रारम्भमें ही लिखाहै कि "इक्ष्वाकु वंश, सोमवंश, विद्याधर वंश और हरिवंश ये चार वंश प्रसिद्ध हुये। ऋषभदेवका वंश इक्ष्वाकु वंश था। उनके पोते अर्ककीर्ति से सूर्यवंश चला। बाहुबली के पुत्र सोमयश से सोमवंश चला। सूर्यवंश और सोमवंश में अनेक राजा हुये जिनकी नामावली यहां दी है।

इसी के २१ वें पर्व मे हरिवंश की उत्पत्ति शीतलनाथ स्वामी के तीर्थ में राजा सुमुख के जीव द्वारा हुई लिखी है। इसी हरिवंश में मुनि सुव्रतनाथ हुये। और इसी वंश में राजा जनक हुये। (श्लो. ४५) इक्ष्वाकु वंश में दशरथ हुये। (यहां इक्ष्वाकुवंशी ऋषभदेव से लेकर दशरथ तक की राज-परंपरा का कथन किया है।)

हरिवंश पुराण (जिनसेन प्रणीत) सर्ग ६ श्लो. ४३ में लिखा है कि— "ऋषभदेव के कुटुम्बी इक्ष्वाकु वंशी कहलाये। कुरुदेश के शासक कुरुवंशी। जिनकी आज्ञा उग्र थी वे उग्रवंशी, न्याय से प्रजा की रक्षा करने वाले भोजवंशी (२) कहलाये।

---

(२) भोजवंश का उल्लेख तत्वार्थ राजवार्तिक मे 'आर्याम्ले-च्छाश्च' सूत्र की व्याख्या में तथा वरांग- चरित पृष्ठ ११ में भी पाया जाता है। हरिवंश पुराण सर्ग ५५ श्लोक ७२ तथा ८२ में भी राजिमती को भोजसुता लिखा है— इसी से 'चर्चा समाधान' में भी उग्रसेन का दूसरा नाम 'भोज' दिया है। श्वे० नेमिचरित में भी राजिमती को भोज पुत्री बताया है देखो अनेकांत वर्ष १६ किरण ४ पृ. १६२ की टिप्पणी हरिवंश पुराण सर्ग ४० श्लोक २० में भी भोजवंश का उल्लेख है।

इन वंशों के नाम ऋषभदेव ने ही निश्चित किये थे। श्रेयांश-सोमप्रभ राजा कुरुवंशी माने गये।"

इसी के १३ वें सर्ग के श्लो. १५-१६-१६ में लिखा है कि "भरत के पुत्र अर्ककीर्तिने सूर्यवंश की स्थापना की तथा बाहुबली के पुत्र सोमयश ने सोमवंश चलाया। इक्ष्वाकुवंश की शाखा स्वरूप इन सूर्यवंश-सोमवंश में अनेक राजा हुये। उग्र और कुरुवंश में भी अनेक राजा हुये।" इसी पर्व के श्लो. ३३-३४ में लिखा है कि संसार में सबसे प्रथम इक्ष्वाकु वंश उत्पन्न हुआ। फिर सूर्यवंश सोमवंश हुये तथा उसी समय कुरुवंश उग्रवंश आदि वंश भी हुये। शीतलनाथ के तीर्थ में हरिवंश हुआ।" इसी के पर्व ४५ में कुरुवंश की उत्पत्ति सोमप्रभ-श्रेयांश राजा से बताते हुये अनेक राजाओं की नामावली देकर शांतिनाथ कुंथुनाथ-अरनाथ तीर्थंकरों को कुरुवंशियों में लिखा है।

आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण में "धर्मनाथ-कुंथुनाथ का कुरुवंश और काश्यप गोत्र लिखा है। अरनाथ का सोमवंश-काश्यप गोत्र और मुनिसुव्रत-नेमिनाथ का हरिवंश काश्यप गोत्र लिखा है।"

यहां जो अरनाथ का सोमवंश लिखा है सो उसका भाव यह है कि राजा सोमप्रभ (श्रेयांश के भाई) से कुरुवंश की उत्पत्ति हुई। इसलिये यहां कुरुवंश को ही सोमवंश के नाम से लिखा गया है।

वरांग चरित सर्ग २७ श्लो. ८८ में भी मुनिसुव्रत-नेमिनाथ को गौतमगोत्री और शेष तीर्थंकरों को काश्यप गोत्री

लिखा है तथा पं० आशाधरजी ने भी अपने प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रथ के अध्याय ४ के श्लो. ११ में तीर्थंकरों के गोत्रों का कथन वरांगचरितवत् ही किया है तथा विचारसार प्रकरण (श्वेतांबर-ग्रंथ) में भी ऐसा ही कथन है। किंतु गोत्रों का कथन न त्रिलोकप्रज्ञप्ति में है न पद्मपुराण-हरिवंश पुराण में। आ. दामनंदिने पुराणसार संग्रह में महावीर का काश्यपवंश लिखा है किन्तु वंश का अर्थ यहाँ 'गोत्र' लेना चाहिये। तभी संगति होगी।

त्रिलोकप्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा ५५० में लिखा है कि "धर्मनाथ, अरनाथ, कुंथुनाथ ये तीन कुरुवंश में उत्पन्न हुये। महावीरणाह नाथवंश में, पार्श्वनाथ उग्रवंश में, मुनिसुव्रत-नेमिनाथ हरिवंश (यादववंश) में और शेष तीर्थंकर इक्ष्वाकु वंश में उत्पन्न हुये।"

यहां शांतिनाथ को इक्ष्वाकुवंशी लिखा है। जबकि हरिवंशपुराण सर्ग ४५ में कुरुवंशी लिखा है। उत्तरपुराण में शांतिनाथ के पिता को काश्यप गोत्री लिखा पर उनके वंश का नाम नहीं लिखा।

आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण में कुरु, उग्र, नाथ, हरि इन चारवंशों की स्थापना भगवान् ऋषभदेव द्वारा बताई है। जैसा कि ऊपर लिखा गया है। इक्ष्वाकु यह उनका खुद का ही वंश था। इस प्रकार इन पांच वंशों में तीर्थंकर पैदा हुये हैं। त्रिलोक प्रज्ञप्ति में भी ऊपर ये ही ५ वंश बताये हैं। पं० आशाधर ने भी स्वरचित प्रतिष्ठासारोद्धर के अध्याय ४ श्लो० १० तथा अनगार धर्मामृत पृष्ठ ५७० में इन्हीं पांचवंशों का

उल्लेख किया है। (१)

उत्तरपुराण पर्व ७३ श्लो० ६५ में पार्श्वनाथ का उग्रवंश लिखा है और उसी के पर्व ७५ श्लो० ८ में भगवान् महावीर के पिता सिद्धार्थ का वंश नाथवंश लिखा है। स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभू स्तोत्र के श्लोक १३५ में पार्श्वनाथ का कुल उग्र बताया है— "समग्रधीरुग्र कुलांबरांशुमान्" ऋषभ का कुल श्लोक ३ में इक्ष्वाकु और नेमि का वंश श्लोक १२१ में 'हरि' बताया है।

वरांगचरित सर्ग २७ श्लो० ८६ में लिखा है कि— "चार तीर्थंकर कुरुवंशी, दो हरिवंशी एक उग्रवंशी, एक नाथवंशी और शेष १६ इक्ष्वाकुवंशी हुये हैं।" त्रिकोलप्रज्ञप्ति में तीन तीर्थंकरों को कुरुवंशी लिखे हैं। यहां चार लिखे हैं। शायद यहां चौथे शांतिनाथ को कुरुवंशी बताया हो।

धनंजयनाम माना श्लो० ११५ में महावीर का नाथवंश और काश्यप गोत्र लिखा है। इसके अमर-कीर्तिकृत भाष्य में "चत्वारः कुरुवंशजा...." यह उक्तंच पद्य दिया है। इसमें लिखा है कि — "धर्मनाथ आदि ४ तीर्थंकर कुरुवंश में, नेमि मुनि सुव्रत हरिवंश में, महावीर नाथवंश में और शेष १७ तीर्थंकर इक्ष्वाकुवंश में उत्पन्न हुये हैं।" ऊपर पार्श्वनाथ का उग्रवंश लिखा है। यहां उनका इक्ष्वाकुवंश लिखा है।

ऊपर इस लेख में त्रिलोकप्रज्ञप्ति वरांगचरित, धनं-

---

(१) शुभचन्द्र कृत पांडव पुराण सर्ग २ श्लोक १६४ में भी प्रायः यही कथन है।

जयनाम माला, उत्तरपुराण और प्रतिष्ठासारोद्धार के अवतरणों में भगवान् महावीर के वंश का नाम नाथवंश बताया गया है तथा जयधवला टीका प्रथमभाग के पृ० ७८ पर भी "कुंडपुर पुरवरिस्सर सिद्धत्थ नरवत्तियस्सणाह कुले" गाथा में महावीर के पिता राजा सिद्धार्थ की णाह (नाथ) वंशी बताया है।

किंतु अकलंक ने राजवार्तिक में तत्वार्थसूत्र के "उच्चैर्नीचैश्च" सूत्र की व्याख्या में महावीर के कुल का नाम "ज्ञाति" दिया है। यथा—

"लोकपूजितेषु कुलेषु प्रथित माहात्म्येषु इक्ष्वाकु-ग्रकुरु-हरिज्ञाति प्रभृतिषु जन्म यस्योदयाद् भवति तदुच्चगोत्रम-वसेयम्।"

इसमें तीर्थंकरों के इक्ष्वाकु, उग्र, कुरु, हरि और ज्ञाति ऐसे पांचों ही वंशों के नाम लिख दिये हैं।

अशगकवि ने महावीर चरित के सर्ग १७ श्लो० २१ में यो "ज्ञातिवंशममलेन्दु" वाक्य देकर राजा सिद्धार्थ के वंश को "ज्ञाति" नाम से लिखा है तथा इसी सर्ग के श्लो० १२७ में "ज्ञाति कुलामलांबरेन्दु" पाठ में भी महावीर के कुल का उल्लेख 'ज्ञाति' शब्द से किया है।

चारित्र भक्ति पाठ में आये श्रीमज्ज्ञातिकुलेंदुना पद में भी महावीर का कुल 'ज्ञाति' लिखा है। यद्यपि भक्तिपाठों की छपी पुस्तक में ज्ञाति के स्थान में ज्ञात शब्द छपा है, परन्तु इसकी प्रभाचंद्रकृत टीका में ज्ञाति शब्द माना है। इससे मालूम होता है कि उनके सामने ज्ञाति पाठ था। हालांकि उनने यहां

टीका में ज्ञाति और कुल का अर्थ क्रमशः मातृवंश और पितृवंश किया है। ऐसा अर्थ करने से अकलंक के राजवार्तिक से विरोध आता है अतः वह योग्य नहीं है।

बृहज्जैन शब्दार्णव प्रथमभाग पृष्ठ ७ पर राजासिद्धार्थ को हरिवंशी (नाथ वंश की एक शाखा) बताया है किन्तु यह ठीक ज्ञात नहीं होता। हरिवंश और नाथवंश शास्त्रों में बिल्कुल जुदा बताये हैं। कवि वृन्दावन जी कृत-वर्द्धमान जिन पूजा की जयमाला में भी महावीर स्वामी को हरिवंशी बताया है देखो—

"हरिवंश सरोजन को रवि हो।
बलवंत महंत तुम्हीं कवि हो॥"

किन्तु यह भी प्राचीन आधार के अभाव से ठीक प्रतीत नहीं होता। बृहज्जैन शब्दार्णव भाग २ पृ० ६१० में लिखा है कि— "सोमप्रभ ने कुरु या चन्द्रवंश की स्थापना की।" ऐसा लिखना गलत है साम शब्द से भ्रम में पड़ गए हैं सोमप्रभ से तो कुरुवंश चला है और बाहुबलि के पुत्र सोमयश से सोम (चन्द्र) वंश चला है। दोनों सोम भिन्न भिन्न हैं। इसी के आगे फिर लिखा है— 'इक्ष्वाकु वंश को ही सूर्य वंश कहते हैं" यह भी गलत है। क्योंकि ऋषभ का वंश इक्ष्वाकु बताया है और उनके पोते अर्ककीर्ति से सूर्य वंश चला है तथा दूसरे पोते सोमयश से सोमवंश चला है इस तरह सूर्य और चन्द्रवंश इक्ष्वाकु वंश की शाखा हैं। इक्ष्वाकु और सूर्य वंश एक नहीं हैं।

अनेकांत वर्ष ३ किरण ३ में एक विस्तृत लेख में मुनि कवीन्द्र सागरजी बीकानेर ने ज्ञातवंश और जाटवंश को एक माना है और दोनों में काश्यप गोत्र होना बताया है। अनेकांत

वर्ष १६ पृ० १६१ में मुनि नथमलजी ने णय से ज्ञात की बजाय 'नाग' लेकर महावीर को नागवंशी बताया है। 'भगवान् महावीर' पुस्तक के पृ० ३५ पर कामताप्रसादजी ने ज्ञात का समीकरण नाट (नट) जाति से किया है। किसी ने 'ज्ञातृ' का समीकरण 'जथरिया' जाति से किया है। स्वार्थ अर्थ में 'क' प्रत्यय करके 'णय' से नायक जाति भी ली जा सकती है। परन्तु ये सब समुचित मालूम नहीं पड़ते।

धनंजय नाम माला, जयधवला, महापुराण आदि में महावीर को नाथ वंशी ही बताया है, और यह नाथवंश भगवान् ऋषभदेव के वक्त से ही चला आ रहा है, नया नहीं है। यह सब हम पूर्व में बता आये हैं। फिर भी इसके लिये नीचे और कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते हैं

धवला पुस्तक १ पृ. ११२ में कुछ 'उक्तंच' गाथायें देते हुए १२ वंशों के नाम बताये हैं उसमें १२ वां वंश दिया है— "बारसमो णाहवंसो दु"। उक्त धवला पुस्तक १ के पृष्ठ ९९ तथा १०१ में छठे अंग का नाम— "णाहधम्मकहा" (नाथ धर्म कथा) दिया है (जबकि तत्वार्थ सूत्र की सर्वार्थसिद्धि राजवार्तिक आदि टीकाओं में अध्याय १ सूत्र २० में तथा हरिवंश पुराण आदि में छठे अंग का नाम ज्ञातृ धर्म कथांग दिया है) गोम्मटसार जीवकांड गाथा ३५७ में भी णाहधम्म-कहांग (नाथधर्मकथांग) नाम ही दिया है।

तिलोयपण्णत्ती अ. ४ गाथा ६६७ में महावीर के दीक्षावन का नाम णाधवन=नाथवन दिया है। उत्तरपुराण (गुणभद्रकृत) पर्व ७४ श्लोक ३०२ में भी ऐसा ही लिखा है— "नाथखंडवनं

प्राप्य"। असगकृत महावीर चरित्र सर्ग १७ श्लोक ११३ में "भगवान् वनमेत्य नागखंड लिखा है। शायद यहाँ 'नाग' की जगह 'नाथ' हो। दामनंदि ने पुराणसार संग्रह के वर्धमान चरित सर्ग ४ में ज्ञात खंडमवाप सः ॥३६॥ लिखा है जिससे ज्ञात खंड नाम सूचित होता है।

इससे एक बात यह फलित होती है कि महावीर के वंश का नाम और छठे अंग का नाम तथा महावीर के दीक्षावन का नाम सब एक ही है। मूलतः प्राकृत मे णाह, णाध शब्द रहा है जिसका संस्कृत रूप नाथ बना है। किसी ने णाह की वजाय णाय माना है जिससे संस्कृत में ज्ञात और ज्ञातृ रूप बने हैं। किन्तु हैं ये सब एक।

योगियों में नाथ और सिद्ध सम्प्रदाय प्रसिद्ध हैं इनमें पारस नाथी और नेमिनाथी दा शाखायें भी है। हो सकता है नाथ वंश से इनका सबंध रहा हो। 卐

卐 बौद्ध ग्रन्थों में जो सर्वत्र महावीर के लिए सिर्फ एक नाम— 'णिग्गंठ णाथ पुत्र' ही आता है इस में भी स्पष्ट रूप से महावीर को नाथ पुत्र ही बताया है इस से भी महावीर का वंश 'नाथ' ही प्रमाणित होता है।



२२

दिगम्बर परम्परा में श्रावक-धर्म का स्वरूप

जीवों का वह आचरण जिससे जीव सांसारिक दुःखों से छुटकारा पाकर आध्यात्मिक सुख की ओर अग्रसर होते हैं, सम्यक् चारित्र कहलाता है। उसे ही धर्म नाम से भी बोलते हैं। "चारित्तं खलु धम्मो" ऐसा शास्त्र वाक्य है। जो लोग प्रायः घर में रह कर इस चारित्र का आंशिक रूप से पालन करते हैं, वे श्रावक कहलाते हैं, और गृह के साथ-साथ धन-धान्यादि परिग्रहों का त्याग कर जो इस चारित्र का पूर्णतया पालने का उद्यम करते हैं, वे साधु या मुनि कहलाते हैं। इस अपेक्षा से धर्म दो भेदों में बंट जाता है--एक श्रावक धर्म और दूसरा मुनिधर्म।

श्रावक धर्म में अनेक यम-नियम होते हैं। कितने ही श्रावक उच्चकोटि का चारित्र पालते हैं। कितने ही निम्न कोटि का चारित्र पालते हैं। पर उन सब की एक श्रावक संज्ञा ही है। अतः एक श्रावक धर्म के भी अनेक उपभेद हैं। जैसे १० से लेकर ९९ तक की संख्या उत्तरोत्तर अधिकाधिक होती है, तब भी उन सब की गणना दाई की संख्या में ही शुमार की जाती है। जो धर्म के २ भेद किये हैं, उसका मतलब इतना ही समझना चाहिये

कि – अमुक सीमा तक का आचरण श्रावक धर्म कहलाता है और उसके ऊपर का आचरण मुनिधर्म कहलाता है। जैसे विद्यालय में नीची-ऊँची कक्षायें होती हैं जिन्हें क्लासें बोलते हैं, उसी तरह श्रावक धर्म में भी नीची-ऊँची कक्षायें (श्रेणियें) होती हैं। श्रावक धर्म के विविध आचारों को आचार्यों ने ११ श्रेणियों में विभाजित किया है। वे ११ श्रेणियाँ ११ प्रतिमाओं के नाम से बोली जाती हैं। प्रथम प्रतिमा में प्रवेश करने वाले श्रावक के लिये यह आवश्यक होता है कि वह सम्यग्दर्शन का धारी हो। बिना उसके वह श्रावक धर्म की प्रथम कक्षा में भी नहीं बैठ सकता है। यह कोई नियम नहीं है कि—श्रावक धर्म की सब कक्षाओं का अभ्यास किये बाद ही मुनिधर्म में प्रवेश हो सकता हो। यदि संसार-शरीर-भोगों से तीव्र विरक्तता हो जाये तो वह बगैर श्रावक धर्म की पालना किये भी एकदम से मुनि बन सकता है, किंतु मुनिधर्म में प्रवेश करने के लिये भी यह जरूरी होता है कि वह पहिले सम्यक दर्शन को प्राप्त करले।

सच्चे देव-गुरु-शास्त्रों का श्रद्धान करना और जीवादि तत्वों के स्वरूप को समझकर उन पर प्रतीति करना सम्यग्दर्शन कहलाता है। इस सम्यग्दर्शन के बिना श्रावक और मुनि दोनों ही धर्मों में प्रवेश करने का अधिकारी नहीं होता है। इसका कारण यह है कि—किसी मुमुक्षु जीव को जिस उत्तम सुख की अभिलाषा लगी हुई है, उसको प्राप्त करने के साधनों की जानकारी जिन देव-शास्त्र-गुरुओं से उसे मिली है, उनपर उसका अगर पक्का श्रद्धान नहीं होगा तो वह धर्म की साधना में शिथिल रहेगा, क्योंकि धर्म का साधन करने में अनेक कष्टों-परीषहों का सामना करना पड़ता है। उस वक्त यदि कच्ची श्रद्धावाला हो तो साधना के कष्टों से घबड़ा कर भ्रष्ट भी हो

सकता है, उसके दिल में ऐसे विचार पैदा हो सकते हैं कि धर्म-साधन के मधुर फल आगामी भव में मिलें या न मिलें इस दुविधा में वर्तमान में कष्ट मैं क्यों भोगूँ ? इसलिये साधक की देव-गुरु-शास्त्र पर पक्की श्रद्धा होनी चाहिये। तभी वह निःशंक होकर साधना में प्रवृत्त हो सकता है। उसकी ऐसी समझ होनी चाहिये कि—मोक्षमार्ग के प्रणेता जितने अर्हंत देव हुए हैं वे भी किसी दिन मेरी ही तरह से दुखिया संसारी थे। फिर जिन साधनाओं से उन्होंने सर्वोच्च स्थान पाया, उन्हीं साधनाओं को उन्होंने भव्यजीवों को बताया है। साथ ही उसे इतना बोध भी होना चाहिये कि जिस संसार के दुःखों से वह छूटना चाहता है वह संसार क्या है ? और उसमें यह दुःखी क्यों है ? दुःख इसको कौन देता है ? और जिस कारण से वह इस दुःख-मय संसार में पड़ा हुआ है तथा उसका स्वयं का स्वरूप क्या है ? मोक्ष क्या है ? जिसको वह प्राप्त करना चाहता है। मोक्ष प्राप्ति के अव्यर्थ साधन कौन हैं ? इन सबकी जानकारी होने को ही तत्वबोध कहते हैं। संसार, संसार के कारण, मोक्ष और मोक्ष के कारण इन चारों का परिज्ञान होकर उनपर अटल प्रतीति होना इसी का नाम तत्वार्थ श्रद्धान है।

उक्त चार बातें ही सात तत्व हैं, उनसे भिन्न कोई तत्व नहीं है। जीव, अजीव, आश्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ऐसे ७ तत्व माने हैं। जीव-अजीव ये २ तत्व संसार है। आश्रव बंध ये २ तत्व संसार के कारण हैं एवं संवर-निर्जरा ये २ तत्व मोक्ष के कारण हैं, और मोक्ष यह जीव का साध्य तत्व है। इस वास्ते साधक के लिये तत्वार्थ-श्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन भी होना अति आवश्यक है। इस प्रकार के सम्यग्दृष्टि जीव ऐसे विवेकी और पारखी (परीक्षक) हो जाते हैं कि वे तथ्यहीन लौकिक

रूढ़ियों की दल-दल में फंसते नहीं हैं। वे वीतराग देव को छोड़कर अन्य काल्पनिक मिथ्या देवो व रागी-द्वेषी देवों की उपासना नहीं करते, बल्कि भवनत्रिक और स्वर्गवासी देवों का भी उनकी निर्मल दृष्टि में कोई महत्व नहीं रहता है। वे केवल वेशमात्र के पुजारी नहीं होते हैं, उसके साथ समीचीन गुणों को भी देखते है। वे भेदविज्ञान के धारी नाशवान् सांसारिक वैभव को पाकर कभी अभिमान नही करते हैं, क्योंकि वे सम्यग्दृष्टि तो सबसे बड़ा वैभव धर्म को समझते है। जैसा कि समंतभद्राचार्य ने फरमाया है—

श्वापि देवोऽपि देवः श्वा जायते धर्मकिल्विषात्।
कापि नाम भवेदन्या संपद्धर्माच्छरीरिणाम्॥

अर्थ जिस संसार मे धर्म के फल से कुत्ता भी मरकर देव हो जाता है और पाप के फल से देव भी मर कर कुत्ता हो जाता है। उस संसार में जीवों को धर्म के सिवा अन्य क्या सपदा हो सकती है ?

यदि पापनिरोधोऽन्य संपदा किं प्रयोजनम्।
अथ पापाश्रवोऽस्त्यन्य सपदा किं प्रयोजनम्॥

अर्थ - यदि पापाश्रवका निरोध है किन्तु किसी लौकिक संपदा का कोई लाभ नही हो रहा है तो न सही। उस लौकिक सपदा से जीव को प्रयोजन भी क्या है ? पापों का निरोध होना, यह क्या कम सपदा है ? इस आत्मिक संपदा से तो उसे एक दिन मोक्ष की शाश्वती लक्ष्मी मिलेगी। और यदि घोर पाप कर्मों का आश्रव हो रहा है किन्तु साथ ही उससे धनादि लौकिक

संपदा की अत्यन्त प्राप्ति होती जा रही है तो उस धन वृद्धि से भी जीव का क्या प्रयोजन सिद्ध हो सकता है ? एक दिन उस धन को छोड़ कर जीव को पापाश्रव के कारण नरक जाना पड़ेगा और वहाँ उसे दारुण दुःख सहने पड़ेंगे।

प्रतिमा - धारण एक विश्लेषण

१. पहली दार्शनिक प्रतिमा—ऐसा सम्यग्दृष्टि जीवों जब महा पापों का त्याग कर देता है तो उसके श्रावक की पहिली प्रतिमा होती है। पाँच उदुंबर फल और मद्य माँस, मधु, इनका सेवन आठ महापाप कहलाते हैं, इनका वह त्याग कर देता है। इन आठों का त्याग करना श्रावक के ८ मूलगुण कहलाते हैं। बड, पीपल, ऊमर, कठूमर, और पाकर इन पाँचों के फलों को उदुंबर फल कहते हैं। इन फलों में चलते-फिरते बहुत से त्रस जीव होते हैं। इनका सेवन महापाप माना जाता है। अन्य भी मोटे पाप वह छोड़ देता है जैसे पानी को वह वस्त्र से छानकर काम में लेता है क्योंकि जल में अगणित ऐसे सूक्ष्म त्रस जीव होते हैं कि जो हमको आँखों से दिखाई नहीं देते हैं। वह रात्रि भोजन भी नहीं करता है। महापाप रूप सात व्यसनों का वह सेवन नहीं करता है। जुआ, माँस, मदिरा, वेश्या, शिकार, चोरी और परस्त्री ये सात व्यसनों के नाम हैं। सम्यग्दृष्टि पुरुष भगवान जिनेन्द्रदेव का अनन्य भक्त होता है। इसलिये उसके इस प्रतिमा में नित्य जिनदर्शन करने का नियम होता है।

यह प्रश्न उठ सकता है कि इस प्रथम प्रतिमा में वह मद्यमाँसादि महापापों का त्याग कर देता है तो क्या वह

सम्यग्दृष्टि इससे पूर्व मद्यमांसादि का सेवन करता था ? सम्यक्त्वी होकर भी मद्यमांसादि का सेवन करे यह कैसे हो सकता है ?

उत्तर में कहा जा सकता है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के साथ ही प्रशम, संवेग, अनुकंपा और आस्तिक्य ये चार गुण पैदा हो जाया करते हैं। इसलिये सम्यग्दृष्टि का ऐसा भद्र स्वभाव हो जाता है कि जिससे उसकी उन महापापों के सेवन में स्वभावतः ही प्रवृत्ति नहीं होती। पर उनका वह जब तक संकल्प पूर्वक त्याग नहीं करता है तब तक उसके प्रथम प्रतिमा नहीं कही जा सकती है। व्रत नाम तो तभी पाता है जब संकल्प से किसी का त्याग करे। जैसे मृग - कपोतादि अपने स्वभाव से ही मांस नहीं खाते हैं। पर मांस का उन्होंने संकल्प पूर्वक त्याग नहीं किया है। इसलिये उनका मांस - त्याग व्रत नहीं माना जा सकता है। उसी तरह सम्यग्दृष्टि के सम्बन्ध में समझ लेना चाहिये। और चूंकि श्रावक की प्रथम प्रतिमा ५ वें गुण स्थान में मानी जाती है। क्योंकि इसमें यत्किंचित् श्रावक के व्रत शुद्ध हो जाते हैं। इस प्रतिमा के पूर्व सम्यग्दृष्टि के चौथा गुणस्थान रहता है जिसका नाम अविरत सम्यक्त्व है। उसमें सम्यक्त्व तो होता है पर विरति किसी प्रकार की नहीं होती क्योंकि वहाँ अप्रत्या - ख्यानावरणी कषाय का उदय रहता है। इस कषाय के उदय में जीवों के किंचित् भी त्याग नहीं होता है। चतुर्थ गुणस्थान का स्वरूप गोम्मटसार में इस प्रकार बतलाया है—

णो इन्दियेसु विरदो, णो जीवे थावरे तसे वापि।
जो सद्दहदि जिणुत्त, सम्माइट्ठी अविरदो सो ॥२९॥

—जीवकांड

अर्थात जो इन्द्रियों के विषयों से तथा त्रस स्थावर जीवों की हिंसा से विरत नहीं है किन्तु जिनेन्द्र द्वारा कथित प्रवचन का श्रद्धान करता है। वह अविरत सम्यग्दृष्टि चौथे गुणस्थान का धारी माना जाता है।

अगर हम चौथे गुणस्थान में भी कुछ त्याग मान लेते हैं तो और फिर चौथे और पांचवें गुणस्थान में कोई अन्तर नहीं रहता है। इसलिये फलितार्थ यही निकलता है कि अविरत सम्यग्दृष्टि के यद्यपि प्रतिज्ञा रूप कोई त्याग नहीं होता तथापि वह मांसभक्षण आदि जैसे महापापों में प्रवृत्ति नहीं करता। सम्यक्त्व के प्रभाव से ऐसी ही उसकी प्रकृति हो जाती है।

२. दूसरी व्रत प्रतिमा—जब प्रथम प्रतिमा वाला (श्रावक) ५ अणुव्रत, ३ गुणव्रत और ४ शिक्षा व्रत इन १२ व्रतों का माया—मिथ्यात्व निदान रूप तीन शल्य रहित होकर पालन करने लगता है तो उसके श्रावक की दूसरी प्रतिमा होती है। ये १२ व्रत श्रावक के उत्तर गुण कहे जाते हैं। इन १२ में ३ गुणव्रतों और ४ शिक्षाव्रतों की सप्तशील संज्ञा है। ये सप्तशील बाड़ी की भाँति व्रतरूप खेती की रक्षा करते हैं। इस प्रतिमा का धारी ५ अणुव्रतों को तो निरति चार पालता है, परन्तु शेष ७ शील व्रतों में उसके अतिचार लग जाते हैं।

(क) पांच अणुव्रत

स्थूलहिंसा, स्थूल झूठ, स्थूल चोरी, स्थूल कुशील और स्थूल परिग्रह इन पांचों पापों के त्याग करने को पाँच अणुव्रत कहते हैं। वे निम्न हैं—

१. अहिंसाणुव्रत

कषाय भाव पूर्वक मन-वचन-काय और कृत-कारित अनुमोदना से त्रस जीवों को मारना स्थूल हिंसा कहलाती है। उसके त्याग करने वाले के प्रथम अहिंसाणुव्रत होता है। इस प्रतिमा का धारी यद्यपि स्थावर जीवों की हिंसा का त्यागी नहीं होता है तथापि स्थावर हिंसा से उसका दिल कांपने लगता है जिससे वह व्यर्थ स्थावर हिंसा भी नहीं करता है।

छेदन, बंधन, पीड़न, अतिभारारोपण और भोजनपान निरोध ये ५ अहिंसाणुव्रत के अतिचार होते हैं। जो इस प्रकार हैं —

(१) दुर्भावना से प्राणियों के शरीर के अवयवों को छेदन करना छेदन अतिचार कहलाता है। आभूषण पहनाने के अभिप्राय से बच्चा-बच्ची के कान-नाक का छेदन करना अतिचार नहीं है।

(२) रस्सी, सांकल आदि से किसी प्राणी को दुःख देने की भावना से बांधना बंधन अतिचार है। किसी पागल आदि को बांधना अतिचार नहीं है, क्योंकि उसमें बांधने वाले की दुर्भावना नहीं है। पालतू पशुओं को ढीला बांधना चाहिये जिससे उनको कष्ट न हो। बांधने का ढंग ऐसा हो कि आग लगने आदि विपद् काल में वे स्वयं छूट कर अपनी रक्षा कर सकें।

(३) दुर्भावना से बेंत, चाबुक आदि से किसी प्राणी को चोट पहुँचाना पीड़ा नामक अतिचार होता है। शिक्षा देने के लिये अगर मास्टर उद्दंड विद्यार्थी को चपेट आदि से हलकी ताड़ना देता है तो वह अतिचार नहीं है।

(४) जानवरों आदि पर उनकी सामर्थ्य के अतिरिक्त बोझा लादना अतिभारारोपण अतिचार है।

(५) अपने आश्रित प्राणियों को यथा समय आहार पानी न देना भोजनपान निरोध नाम अतिचार है।

२. सत्याणुव्रत

जो जानबूझकर स्थूल झूठ को न तो आप बोलता है और न दूसरों से बुलवाता है तथा न केवल असत्य ही किन्तु सत्य भी ऐसा नहीं बोलता जिससे सुनने वालों को पीड़ा पहुँचती हो वह सत्याणुव्रती कहलाता है। यह अणुव्रत का दूसरा भेद है। यहाँ स्थूल झूठ का अर्थ है वह मोटी झूठ जो राजदण्ड के योग्य हो तथा लौकिक दृष्टि में निंद्य हो, जिसमें विश्वास दिला कर धोखा दिया जाता हो।

परिवाद, रहोभ्याख्यान, पैशून्य, कूटलेखकरण, और न्यासा पहारिता ये पाँच सत्याणुव्रत के अतिचार (दोष) हैं। जो इस प्रकार हैं—

(१) निंदा करना, गाली निकालना परिवाद नामक अतिचार है।

(२) किसी की गुप्त बात को प्रकाशित करना, यह रहोभ्याख्यान अतिचार है। इससे जिसकी गुप्त बात प्रगट होती है, उसे दुःख होता है।

(३) चुगली खाना यह पैशून्य अतिचार है।

(४) कपट से ऐसी तहरीर लिखना जिसका अर्थ सत्य-असत्य दोनों निकल सकता हो, जैसा कि युधिष्ठिर ने

"अश्वत्थामा हतो नरो वा कुंजरो वा" बोल कर चालाकी की थी, इसे कूटलेखकरण अतिचार कहते हैं।

(५) बेईमानी से किसी की धरोहर का आंशिक हरण करके भी अपनी बेईमानी का पता न पड़ने दें, ऐसी वाग्जाल को न्यासा पहारिता अतिचार कहते हैं।

३. अचौर्याणुव्रतः

बिना दिये पर द्रव्य को चाहे वह कहीं रक्खा हो, गढ़ा हो, या गिर गया हो या भूला हुआ हो उसे लोभवश स्वयं न लेना और न दूसरों को देना यह तीसरा अचौर्याणुव्रत कहलाता है। बाप दादों के मर जाने आदि पर जिस कौटुंबिक संपत्ति पर अपना वाजिब हक पहुँचता हो उसे बिना दिये-लेने में इस अणुव्रती को चोरी का पाप नहीं लगता।

चौर प्रयोग, चौरार्थादान, विलोप, सदृशसम्मिश्र और हीनाधिक विनिमान ये ५ अचौर्याणुव्रत के अतिचार होते हैं जो इस प्रकार हैं—

(१) घड़ाई-सिलाई, व्यापारादि का पेशा करने वाले सुनार, दरजी, व्यापारी (क्रय-विक्रय करने वाले) आदि लोग किस तरकीब से आंखों में धूल झोंककर जनता को ठगते हैं। सुनार सोना चुराता है, दरजी कपड़ा चुराता है और व्यापारी असली घी में डालडा या जीरे आदि में विजातीय द्रव्य मिला देते हैं। यहां तक कि साफ नकली वस्तुओं को भी असली बताकर उन्हें असली के भावों में बेच देते हैं। उनके इन हथकण्डों का पता तक वे नहीं लगने देते हैं। अचौर्याणुव्रत का

धारी खुद तो ऐसा काम नहीं करता है किन्तु ऐसी वंचकता की विद्या अगर वह अपने भाई-बेटे-मित्रों को बताता है तो उसके चौरप्रयोग नामक अतिचार लगता है।

(२) जान बूझकर चोरी का माल लेना चौरार्थादान अतिचार कहलाता है।

(३) सरकारी टेक्स की चोरी करना, टेक्स जितना जुड़े उससे थोड़ा देना या देना ही नहीं अथवा राज्य विप्लव के समय सरकारी नियन्त्रण से निकलकर मनमानी तौर पर पराये धन को हड़पने का प्रयत्न करना विलोप नामक अतिचार है।

(४) अनुचित लाभ उठाने के लिये बहुमूल्य की वस्तुओं में उसी रंग रूप वाली अल्पमूल्य की वस्तुयें मिला कर उन्हें बहुमूल्य में बेचना या उनका वजन बढ़ाने को उनमें अन्य वस्तु का मिश्रण कर देना, जैसे दूध में पानी, अनाज में ककरी मिला देना आदि। इसे सदृशसम्मिश्र अतिचार कहते हैं।

(५) न्यूनाधिक नाप, बाट तराजू आदि से लेन-देन कर उनसे अनुचित लाभ उठाना यह हीनाधिक विनिमान अतिचार है।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत

जो पाप के भय से (न कि राजादि के भय से) न तो पर स्त्रियों को आप सेवन करता है और न दूसरों को सेवन कराता है। किन्तु अपनी विवाहिता स्त्री में सन्तोष रखता है उसके ब्रह्मचर्याणुव्रत होता है।

अन्य विवाहकरण, अनंगक्रीड़ा, विटत्व, विपुलतृष्णा,

और इत्वरिकागमन ये ५ ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार है जो इस प्रकार हैं—

(१) अपने कुटुम्ब से भिन्न गैरों का विवाह करना अन्य विवाहकरण अतिचार होता है।

(२) काम-सेवन के अंगों को छोड़ अन्य अंगों में या अन्य अंगों से काम-क्रीड़ा करना, जैसे हस्त-गुदा मैथुनादि, वह अनंग क्रीड़ा अतिचार है।

(३) काय की अश्लील चेष्टा व भंड वचन बोलना विटत्व नाम अतिचार है।

(४) कामवासना की तीव्रता होना विपुलतृष्णा अतिचार है। गर्भवती, रजःस्वला, प्रसूतियुक्त रोगिणी, बालिका, वृद्धा, ऐसी अपनी स्त्री हो उसका भी सेवन इस अतिचार में शामिल है।

(५) व्यभिचारिणी स्त्री से लेन-देन, हंसी विनोद करना, उसके यहां आवागमन रखना इत्वरिकागमन अतिचार है। उसका सेवन करना तो अनाचार है।

५. परिग्रह—परिमाण व्रत

धन-धान्यादि १० प्रकार के परिग्रहों का परिमाण करके उससे अधिक में वांछा नहीं रखना, इसे परिग्रह परिमाण व्रत कहते हैं।

अतिवाहन, अतिसंग्रह, अतिविस्मय, अतिलोभ और अतिभारवहन ये परिग्रह-परिमाण व्रत के ५ अतिचार हैं जो इस प्रकार हैं —

(१) अधिक लाभ उठाने की दृष्टि से बैलादिकों को बहुत लंबे समय तक चलाना, दौड़ाना, जोतना अतिवाहन अतिचार है।

(२) विशेष लाभ की आशा से अधिक काल तक धान्यादि का अधिक संग्रह रखना अतिसंग्रह अतिचार है।

(३) दूसरों के अधिक नफा देखकर, चकित होकर पछताना कि हाय यह व्यवसाय हम भी करते तो आज हम भी मालामाल हो जाते। यह अतिविस्मय अतिचार है।

(४) अच्छा लाभ मिलने पर भी और अधिक लाभ की लालसा रखना अतिलोभ अतिचार है।

(५) लोभवश किसी पर उसकी शक्ति से अधिक बोझा लादना अतिभारवहन अतिचार है।

अणुव्रतों के पालने का फल

पंचाणुव्रतनिधयो. निरतिक्रमणः फलति सुरलोकम्।
यत्रावधिरष्टगुण. दिव्य शरीरं च लभ्यते॥

अर्थात निरतिचार रूप से पालन किये गये पांच अणुव्रत निधि स्वरूप हैं। और वे उस सुर-लोक को फलते हैं जहां पर अवधि ज्ञान, अणिमादि ८ ऋद्धियें और दिव्य शरीर प्राप्त होते हैं।

(ख) तीन गुण व्रत

दिग्व्रत, अनर्थदण्डव्रत, और भोगोपभोग परिमाणव्रत ये तीन गुण व्रतों के नाम हैं। इनके धारण करने से अणुव्रत कई गुणे बढ़ जाते हैं। इसलिये इनका नाम गुणव्रत है।

१. दिग्व्रतः

दिशाओं को मर्यादित करके जो पापों की निवृत्ति के अर्थ मरणपर्यंत के लिए यह संकल्प करना कि- मैं दशों दिशाओं में अमुक-अमुक दिशा में इतने-इतने क्षेत्र से बाहर नहीं जाऊँगा। इसे दिग्व्रत कहते हैं। यह मर्यादा प्रसिद्ध नदी, पर्वत, वन, देश, नगर और समुद्र को लक्ष्य करके की जाती है, तथा योजनों की गिनती से भी की जाती है। इस दिग्व्रत से मर्यादा के बाहर स्थूल-सूक्ष्म सभी तरह के पापों की निवृत्ति हो जाने के कारण अणुव्रत हैं वे पंच महाव्रतों की परिणति को प्राप्त हो जाते है

२. अनर्थ दण्ड व्रतः

मर्यादा के भीतर भी निरर्थक और अति अनर्थ कारक पाप योगों से बचते रहना अनर्थ दण्ड व्रत कहलाता है। उसके पांच भेद निम्न प्रकार हैं—

(१) ऐसी बातें सुनाना जिससे सुनने वालों की प्रवृत्ति हिंसामय व्यापारों, आरंभों और ठगाई करने आदि में हो जाये, उसे पापोपदेश नामक प्रथम अनर्थ दण्ड कहते हैं।

(२) बिना प्रयोजन फरसा, तलवार, गैंती, फावड़ा, अग्नि, अन्य आयुध, विष, सांकल आदि हिंसाकारक पदार्थों का किसी को मांगे देना या दान करना हिंसा दान नामक दूसरा अनर्थदण्ड है।

(३) द्वेषभाव से किसी के वध, बन्धन, छेद-क्लेशादिका चिंतन करना और रागभाव से पर स्त्री आदि के रूप शृंगारादिका चिंतवन करना अपध्यान नामक तीसरा अनर्थ दण्ड है।

(४) जिन पुस्तकों के पढ़ने सुनने से आरम्भ-परिग्रह में लालसा, दुःसाहस मिथ्यात्व, रागद्वेष, मान, कामवासना आदि दुर्भाव पैदा होते हैं, उनका पढ़ना-सुनना चौथा दुश्रुति नाम अनर्थदण्ड है।

(५) व्यर्थ ही जमीन खुरचना, जल को उछालना-छिड़कना, आग सुलगाना, पखा करना, वनस्पति को वृक्ष से तोड़ना-छेदन-भेदन करना, तैर-सपाटा करना, हाथ-पैर हिलाना और कुत्ता-बिल्ली आदि हिंसक जीवों को पालना, यह सब प्रमादचर्या अनर्थदण्ड है।

३ भोगोपभोग परिमाण व्रतः

जो एक बार भोगने में आये जैसे अशन, पान, विलेपनादि वे भोग पदार्थ कहलाते हैं, और जो बार-बार भोगने में आये जैसे, वस्त्र, आभूषणादि वे उपभोग पदार्थ कहलाते हैं। इस प्रकार भोग और उपभोग दोनों ही प्रकार के पदार्थों में इन्द्रियों की विषयासक्ति को घटाने के लिये चाहे वे प्रयोजनीय ही क्यों न हों तथापि उनकी संख्या का किसी नियत काल तक निर्धारित कर लेना कि इतने पदार्थ इतने समय तक नहीं सेवन करूंगा या अमुक-अमुक पदार्थों का शीत ऋतु में ही अथवा ग्रीष्मऋतु आदि में ही सेवन करूंगा, इस प्रकार निषेधमुख या विधिमुख दोनों ही तरह से नियम करना भोगोपभोग परिमाण व्रत नामक तीसरा गुण व्रत है। पहिले परिग्रह परिमाण व्रत में जितनी वस्तुओं का परिमाण किया था, वह परिमाण इस व्रत मे कुछ काल के लिये और भी कम हो जाता है जिससे उसके अणुव्रत वृद्धिगत हो जाते हैं।

अलावा इसके इस व्रत के धारी को उन भोगोपभोगों का भी त्याग करना होता है जिनमें त्रसजीवों का घात होता हो, अनन्त स्थावर जीवों का घात होता हो, जो मादक (नशाकारक) हो, अनिष्ट हो और अनुपसेव्य हो।

बीधा अन्न, बेर, (बदरी फल) सड़ेफल, बासी भोजन, नीमकेतकी के फूल, मर्यादा बाहर का आटा (आटे की मर्यादा शीतऋतु में ७ दिन, ग्रीष्म में ५ दिन, वर्षाऋतु में ३ दिन की है। तदुपरांत उसमें त्रस जीवों की उत्पत्ति शुरू हो जाती है) रात में बनाया भोजन, चर्मपात्र में रक्खा घृत-तेल-जलादि द्रव द्रव्य, डंकलगे सिंघाड़े-पिस्ता-चिरोंजी-छुवारा-जायफल-सूंठ-इलायची आदि, द्विदलान्न या द्विदलान्न की बनी वस्तुओं को गोरस (दही, दूध, छाछ) के साथ खाना, बहुत दिनों का अचार, प्रसिद्ध २२ अभक्ष्य, जलेबी, फाल्गुण बाद के तिल इत्यादि वस्तुओं में त्रसजीव पैदा हो जाते हैं। अतः उनके भक्षण का तो यावज्जीवन त्याग करना होता है।

तथा कन्दमूल, आदो, आलू, गाजर, मूली, सकरकद, सूरण, गोली हलदी, प्याज, गिलोय, मूंग-चणा आदि जिनमें अंकुर फूट निकले हों, इत्यादि हरी वनस्पतियों को आगम मे अनन्तकाय माना है। प्रायः प्रत्येक जीव का अपना २ अलग २ शरीर होता है। परन्तु उक्त वनस्पतियों में अनन्त जीवों का एक ही शरीर होता है, जिससे ये अनन्तकाय कहलाती हैं। इनका भक्षण करने से अनंतानंत एकेन्द्रिय जीवों का घात होता है। अतः इनका भी आजीवन त्याग कर देना आवश्यक है। आगम में मद्य-मांस की तरह मक्खन को भी महाविकृति कारक माना है, अतः यह भी अभक्ष्य है, तथा मादक वस्तुयें-भांग,

धतूरा, अफीम, गांजा आदि को भी त्याग देना चाहिये। जो हिंसाजनक भी न हों और मादक भी न हों किंतु अपनी प्रकृति के अनुकूल न हों अर्थात जिनके खाने से अपने बीमारी पैदा होती हो वे अनिष्ट वस्तुयें कहलाती है उनका भी त्याग होना चाहिये। क्योंकि बिना प्रतिज्ञा किये योंही किन्हीं वस्तुओं को सेवन नहीं करने से व्रत नहीं होता है और उसका फल भी नहीं मिलता है। अयोग्य विषयों का तो त्याग करना लाजिमी है ही किन्तु योग्य विषयों का भी प्रतिज्ञापूर्वक त्याग करना चाहिये इसी को व्रत कहते हैं। स्वामी समन्तभद्र ने रत्नकरण्ड में कहा है—"अभिसंधिकृत्ता, विरतिर्विषयाद्योग्याद् व्रतं भवति" ॥

कुछ चीजे ऐसी भी होती हैं जो निर्दोष होने के साथ २ अपने लिये अनिष्ट भी नहीं हैं किन्तु उत्तम पुरुषों के सेवन योग्य नहीं होती हैं, उन्हें अनुपसेव्य कहते हैं। धूम्रपान, गौमूत्र, ऊटनी का दूध, शंखचूर्ण, लहसन, जरदा, उच्छिष्ट आहार, रज.स्वला आदि स्पर्शित भोजन-पान, सूवासूतक युक्त गृह का आहार, अनार्यों की वेषभूषा. अश्लील भंड वचन बोलना या वैसे गीत गाना, अशुद्धचर्या-गंदा रहना इत्यादि अनुपसेव्यों का भी त्याग कर देना चाहिये।

जीभ के थोड़े से स्वाद के लिये त्रसजीवों और अनन्त स्थावर जीवों की हिंसा करके घोर पाप कर्मों का बन्ध करना श्रावक के लिये किसी भी तरह से उचित नहीं है।

(ग) चार शिक्षा व्रत :

देशावकाशिक, सामायिक, प्रोषधोपवास, और वैयावृत्य ये ४ शिक्षाव्रत हैं। इनसे महाव्रतों की ओर बढ़ने की शिक्षा

मिलती है, जिससे इनका नाम शिक्षाव्रत है।

(१) **देशावकाशिक व्रत** –दिग्व्रत में यावज्जीवन के लिये जितने क्षेत्र का परिमाण रक्खा था उसे गाँव, नदी, आदि को लक्ष्य करके काल की मर्यादा से घटाते रहना, जैसे आज या इतने दिन-मास तक मैं अमुक नदी, खेत गाँव, घर आदि से आगे नहीं जाऊंगा इसे देशावकाशिक व्रत कहते हैं। यह व्रत नित्य रहता है यानी इस व्रत के धारी को एक दफे क्षेत्र की मर्यादा जितने समय तक के लिये की है उस समय के समाप्त होने पर फिर काल परिमाण से नई मर्यादा करते रहना आवश्यक है। इस व्रत में उतने काल तक के लिये मर्यादा के बाहर के क्षेत्र में व्रती के सभी प्रकार के पाप छूट जाते हैं। वह वहां की अपेक्षा महाव्रतों का साधक बन जाता है।

(२) **सामायिक व्रत** –किसी विवक्षित समय तक पाँचों पापों का सर्वथा त्याग कर कायवचन की प्रवृत्ति और मन की व्यग्रता को रोककर वन, मकान, या चैत्यालय में जहाँ भी एकाँत–निरूपद्रव स्थान हो वहाँ प्रसन्नचित्त होकर सब तरह के दुर्ध्यानों को छोड़ता हुआ एकाग्र मन से बैठकर या खड़े होकर परमात्मा की स्तुति, वंदना करना, उनके गुणों का स्मरण व बारह भावना का चिंतन आदि शुभ ध्यान में लगे रहना सामायिक नाम शिक्षाव्रत कहलाता है। यह सामायिक प्रोषध के दिन करे या नित्य भी कर सकता है। सामायिक में शीतोष्ण को, दंशमशक आदि परीषहों को और अन्य कोई उपसर्ग आवे तो उसको भी निश्चल होकर शांत भाव से सहना चाहिये। इसका अभ्यास महाव्रती बनने में सहायक होता है। इसमें वस्त्र के सिवा कोई परिग्रह नहीं रहता है और आरंभ भी सब छूट

जाते हैं। अतः सामायिक धारी श्रावक को उतने काल के लिये एक ऐसे मुनि की तरह समझना चाहिये जैसे किसी ने वस्त्र डालकर मुनि पर उ सर्ग किया हो।

(३) **प्रोषधोपवास व्रतः** – एक मासमें दो अष्टमी और दो चतुर्दशी ऐसे चार पर्व-दिन माने जाते हैं। पर्व दिन से पूर्वोत्तर दिन में मध्यान्ह में एक बार भोजन करके धारणा, पारणा करना और पर्व के दिन में सब प्रकार का भोजनपान, छोड़कर समय को निरालसी होकर ध्यान, स्वाध्याय या उपदेश में बिताना यह प्रोषधोपवास शिक्षाव्रत कहलाता है, यह उपवास धर्मकामना से (संवर निर्जरा के ध्येय से) किया जाना चाहिये न कि मंत्रसिद्ध, लंघन आदि के उद्‌देश्य से। प्रोषधोपवास के काल में पंचपापों का त्याग करने के साथ ही साथ श्रृंगार-करना, सुगन्ध लगाना, पुष्पमाला पहिनना, स्नान करना, अजन लगाना, तमाखू सूंघना आदि नस्य, दांतों का मंजन, उद्योग, धंधा, नृत्य गीत आदि को त्याग देना चाहिये और पूर्ण ब्रह्मचर्य से रहना चाहिये।

(४) **वैयावृत्य व्रतः**—सम्यग्दर्शनादि गुणों के धारी, गृहत्यागी, निष्परिग्रही, निरारंभी साधु को केवल धर्मभावना से भक्ति पूर्वक यथाशक्ति आहार, औषध, उपकरण और वसतिका प्रदान करके तथा गुणानुराग से उन संयमियों की पग चंपी आदि रूपसे जितनी भी सेवा अपने से बन सके करके उनका कष्ट निवारण करना वैय्यावृत्य नामक चौथा शिक्षा-व्रत है। इस वैय्यावृत्य से गृहस्थ के कामधधों से संचित हुए पाप धुल जाते हैं साधुओं को दिया हुआ थोड़ा भी दान बहुत फलका कारण होता है। जैसे बड़ के छोटे से बीज को बोने से बहुत छाया व बहुत फलवाला वट वृक्ष पैदा होता है। ग्रंथातरों में

आहार, औषध, शास्त्र और अभय ऐसे ४ दान लिखे हैं। स्वामी समंतभद्राचार्य ने शास्त्रदान-अभयदान के स्थान में उपकरणदान-वसतिका दान लिखा है। शास्त्र ज्ञानोपकरण हैं अतः उपकरण दान में शास्त्रदान आ जाता है। पीछी संयमोपकरण है उसका अतर्भाव अभयदान में हो सकता है। वसति का दान भी अभय-दान ही है। उसके अंतर्गत जिनालय, धर्मशाला आदि भी आ सकते हैं। ज्ञानदान की अपेक्षा उपकरण दान का कुछ अधिक व्यापक क्षेत्र है। कमडलु (जलपात्र) पूजा के उपकरण, जाप करने की माला, प्रातिहार्य्य, मंगलद्रव्य, पाटा, चौकी, मेज, चंदोवा, बिछायत आदि पदार्थो के दान का अंतर्भाव उपकरण दान मे ही हो सकता है। जघन्य-मध्यम पात्रों को वस्त्रादि देना भी उपकरण दान में ही शुमार किया जा सकता है, क्योंकि-दानादि से वैयावृत्य केवल उत्तम पात्रमुनियों की ही नहीं की जाती है किन्तु अवरित सम्यग्दृष्टि और देशव्रती श्रावकों की भी की जाती है जोकि जघन्य और मध्यम पात्र माने जाते हैं। साधारणजनों और दीनजनों के लिए उपकार व करुणा बुद्धि से प्याऊ, औषधालय, अनाथालय, सदाव्रत आदि भी दान के क्षेत्र है।

३. तीसरी सामायिक प्रतिमा :

सामायिक में सामायिक दंडक व चतुर्विशतिस्तव के पाठ बोलने के साथ-साथ तीन-तीन आवर्तो का चार बार करना, चार प्रणाम करना, ऊर्ध्व कायोत्सर्ग और २ उपवेशन इत्यादि अनुष्ठान किया जाता है जिसकी विशेष विधि शास्त्रों से समझनी चाहिये। वह सामायिक पहले शिक्षाव्रतों में दूसरी प्रतिमा के स्वरूप बर्णन में कह आये हैं वही यहां तीसरी प्रतिमा

में विशेष रूप से की जाती है। वहां उसे पर्व के दिनों में करना या नित्य करना यह व्रती की इच्छा पर छोड़ दिया था और वहाँ तीनों संध्याओं में करने का भी कोई खास नियम न था। दिन में एक बार भी कर सकता था, और उसके अनुष्ठान में कभी अतिचार भी लग जाता था। अब इस प्रतिमा में नित्य, त्रिकाल निरतिचार रूप से सामायिक करना आवश्यक होता है।

४. चौथी प्रोषध प्रतिमा :

प्रोषध का स्वरूप ऊपर शिक्षाव्रतों में बता आये हैं। वहाँ इस व्रत में कभी कुछ त्रुटियाँ भी हो जाया करती थीं। और वहाँ ऐसा पक्का नियम भी न था कि-हर पर्व में १६ पहर ही अनशन में बिताया जावे। कभी-कभी धारणे-पारणे के दिन एकाशन न करके केवल पर्व के खास दिनों में ही उपवास कर लिया जाता था। किन्तु इस चौथी प्रतिमा में प्रोषधव्रत पूरी शक्ति के साथ पूर्णरूप से पूरे काल तक निरतिचार पाला जाता है।

५. पांचवीं सचित्तत्याग प्रतिमा :

वनस्पति के अधिकतया ८ अंग होते हैं—मूल, फल, शाक, शाखा, कूंपल, कंद, पुष्प और बीज। जो दयालु श्रावक वनस्पति के इन ८ अवयवों को सचित्त (हरी) अवस्था में नहीं खाता है और यथाशक्य स्थावर काय की भी विराधना नहीं करता है, वह सचित्त विरत पद का धारक होता है।

६. छठी रात्रिभक्तविरत प्रतिमा :

अन्न, पान, खाद्य, लेह्य ऐसे ४ आहार के भेद हैं। धान्य

से बना भोजन रोटी-पुड़ी आदि अन्न कहलाता है। लड्डू, पेड़ा, बर्फी, पाक, मेवा, फलादि खाद्य कहलाता है। जल, दुग्ध, शर्बत, आम्ररस, इक्षु रस आदि पान कहलाता है। चटनी, रबड़ी, आदि लेह्य कहलाता है। इन चार प्रकार के भोज्य पदार्थों को जीवों पर अनुकंपा करने वाला जो श्रावक रात्रि में नहीं खाता है वह रात्रिभक्त विरत पद का धारक होता है।

यद्यपि रात्रिभोजन जैसे महापाप का त्याग तो प्रथम प्रतिमा में ही हो जाता है किन्तु वहाँ कभी-कभी रात्रि में जल, औषधादिक ले लेता था और दूसरों को रात्रि में भोजन जिमा भी देता था। वे सब त्रुटियां इस प्रतिमा मे नहीं रहती हैं अथवा ग्रंथांतरों में रात्रिभक्त व्रत का दूसरा अर्थ यह किया है कि-जिसके रात्रि में ही स्त्री सेवन करने का नियम हो, दिन में उसका त्याग हो वह रात्रिभक्तव्रत का धारी कहालता है। भक्त शब्द के भोजन और सेवन इन दो अर्थों को लेकर इस प्रतिमा का स्वरूप दो तरह से बताया गया है।

७. सातवीं ब्रह्मचर्य प्रतिमा :

जिस स्त्री के शरीर में कामीजन रति करते हैं, वह शरीर मल से उत्पन्न हुआ है, मल को पैदा करने वाला है, दुर्गंधित और मलों से भरा हुआ होने से घिनावना है। इस प्रकार के शरीर को देखकर जो श्रावक मैथुन कर्म से विरक्त हुआ स्त्रीमात्र का त्याग कर देना है, वह ब्रह्मचारी सातवीं प्रतिमा का धारी होता है इस प्रतिमाधारी के परस्त्री सेवन का तो पहिले ही त्याग था। अब वह इस प्रतिमा में स्वस्त्री सेवन का भी त्याग कर देता है।

८वीं आरम्भ त्याग प्रतिमा :

जो श्रावक नौकरी, खेती, व्यापारादि ऐसे आजीविकाओं को त्याग देता है जिनसे जीव हिंसा होती हो, वह आरम्भ त्याग नाम ८वीं प्रतिमा का धारी माना जाता है।

६वीं परिग्रह त्याग प्रतिमा :

जिसके १० प्रकार के बाह्य परिग्रहों में ममत्व छूट जाने से जो संतोषपरायण बन गया है ऐसा श्रावक परिग्रह परिमाण व्रत में जितने परिग्रह का परिमाण कर रक्खा था उससे भी जिसके विरक्त भाव पैदा हो गये हैं। इसलिये उनमें से जो अल्प मूल्य के थोड़े वस्त्र-पात्रादि रखकर शेष का त्याग कर देता है, वह परिग्रह त्याग प्रतिमा धारी श्रावक माना जाता है।

१०वीं अनुमति त्याग प्रतिमा :

इस पद का धारी श्रावक आरंभ, परिग्रह-ग्रहण, और विवाहादि लौकिक कार्यों को करना तो दूर रहा उनमें अपनी अनुमति भी नहीं देता है। वह ऐसा उदासीन रहता है कि— परिवार के लोग इन कार्यों को करो या न करो उन पर उसका कोई लक्ष्य ही नहीं जाता है। इस प्रतिमा का धारी चैत्यालय में स्वाध्याय करता हुआ जब मध्याह्न वंदना से निपट जाता है उस वक्त बुलाया हुआ जाकर या तो अपने घर में भोजन करता है या अन्य साधर्मी के घर मे भोजन करता है। इस उद्दिष्ट भोजन को भी जल्दी से जल्दी छोड़ देने की भावना करता रहता है।

११वीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा :

इस पद को धारण करने के लिये घर छोड़ना पड़ता है और गुरु के पास जाकर ही यह पद ग्रहण करना पड़ता है। इस प्रतिमा का धारी अनुद्दिष्ट भिक्षा भोजन करता है, तपस्या करता है, गुरु के संघ में रहता है और खंड वस्त्र रखता है। खंडवस्त्र का अर्थ है या तो लंगोट मात्र रखता है या ऐसी एक छोटी चादर रखता है जिसे पैर पसार कर ओढी जाये तो पूरा शरीर ढका नहीं जा सके। इस प्रतिमा के धारी को उत्कृष्ट श्रावक कहते हैं। क्षुल्लक भी इसी का नाम है।

यहाँ तक श्रावक धर्म की सीमा है। इससे आगे निर्वस्त्र रूप में मुनि का धर्म शुरू होता है। इन प्रतिमाओं के विषय में विशेष यह समझना चाहिये कि-जो जिस प्रतिमा का धारी होता है उसे उससे नीचे की सब प्रतिमाओं का आचार पालना जरूरी होता है।

आयु के अन्त में सभी तरह के श्रावकों को सल्लेखना से मरण करना आवश्यक होता है। इस प्रकार यहाँ दिगम्बर जैन शास्त्रों के अनुसार संक्षेप में श्रावक धर्म का स्वरूप निरूपित किया गया है।



२३

पं० टोडरमलजी का जन्मकाल तथा उनकी एक और साहित्यिक रचना

प्राचीन हिन्दी गद्य के साहित्यकारों में पंडित प्रवर टोडरमलजी साहब का नाम सर्वोपरि है। यदि वे गोम्मटसारादि सिद्धांत ग्रन्थों की वचनिका नहीं बनाते तो आज के जिज्ञासुओं को इतनी विशदता से सैद्धांतिक ज्ञान का लाभ नहीं होता। टीका ग्रन्थों के अतिरिक्त "मोक्षमार्ग प्रकाशक" जैसा हिन्दी में अपूर्व स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखकर तो आप अपना नाम ही अमर कर गये हैं।

आपके देहान्त की दुःखद घटना वि.सं. १८२४ के लगभग घटी है। इस घटना का वर्णन कवि बखतरामजी साह कृत "बुद्धि विलास" नाम ग्रन्थ में मिलता है। बखतरामजी मूलतः चाटसू के निवासी थे। तदुपरांत वे सवाई जयपुर में रहने लगे थे—

आदि चाटसू नगर के बासी तिनिकों जान।
हाल सवाई जयनगर मांहि बसे हैं आन ॥

उन्होंने बुद्धि विलास को वि० सं० १८२७ में पूर्ण किया

था।● अतः वे भी पं. टोडरमलजी के वक्त में ही हुये थे इसीसे उनकी मृत्यु घटना की उनको पूरी जानकारी थी। बुद्धि विलास में उन्होंने इस घटना का वर्णन "अथ कलिकाल दोषकरि उपद्रव वर्णन" ऐसा शीर्षक देकर हिन्दी छन्दों में किया है। (पृष्ठ १५१) उनके कथनानुसार माधव सिंह जी के वक्त में जयपुर और उसके आस-पास वि० सं० १८१८ से लेकर १८२६ तक के समय में दि० जैनों पर तीन बार घोर उपद्रव हुये हैं। वि० सं० १८१८ में राजा माधवसिंहजी ने एक श्याम नाम के तिवाड़ी ब्राह्मण का राजगुरु के पद पर स्थापन किया था। अतः उसीने जैनों पर उपद्रव किया, जिसमें अनेक जैन मन्दिरों का विध्वंस किया गया। यह जैनों पर प्रथम उपद्रव था। उसका वृत्तांत इस प्रकार दिया है—

अमलराज को जैनी जहाँ, नाम न ले जिनमत को तहाँ ॥
अबावति (आमेर) में एक श्याम प्रभु के देहुरै।
रही धर्म की टेक बच्यो सु जान्यो चमत्कृत ॥१२६४॥
कोऊ आधो कोऊ सारो, बच्यो जहाँ छत्री रखवारो।
काहू में शिवमूरति धर दी, ऐसी मची श्याम की गरदी ॥१२६५॥

यह विध्वंस लीला अधिक समय तक नहीं चल सकी। अकस्मात् उस राजगुरु श्याम तिवाड़ी पर राजा ने कुपित होकर उसे देश से निकाल दिया। और राजाज्ञा से जैनायतनों की क्षति पूर्ति होकर पूर्ववत् पुनः जैनी लोग अधिकाधिक धर्मोत्सव करने लग गये। उसीके परिणाम स्वरूप वि० सं० १८२१ में जयपुर में

● यह ग्रन्थ "राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर" मे प्रकाशित हुआ है। मूल्य ३) रु० ७५ नये पैसों में वहीं से मिलता है।

इन्द्रध्वज पूजा का ऐसा महान् उत्सव किया गया कि जिसमें ६४ गज का लम्बा चौड़ा तो केवल एक चबूतरा ही मंडल रचना के अर्थ बनाया गया था। राज्य का भी तब उस काम में पूरा सहयोग था। ऐसा ब्र० रायमल्लजी की लिखी उस उत्सव की पत्रिका से जाना जाता है। जैनियों के ये समारोह तत्कालीन ब्राह्मण समाज को सहन नहीं हो रहे थे। इसलिये उनकी तरफ से जैनियों के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा गया, जिसमें ब्राह्मणों ने अपनी शिवमूर्ति उठाने का इल्जाम जैनों पर लगाकर राजा को जैनों से विमुख कर दिया और राजा ने सख्त नाराज होकर जैनों की पकड़ाधकड़ी की। तथा उनके प्रसिद्ध पं० टोडरमलजी को इस काम में अगुआ समझ कर उनकी हत्या करवा दी। यह जैनियों पर रोमांचकारी दूसरा उपद्रव था। तदनन्तर फिर जैसे तैसे जैनी लोग रथयात्रा के जलूस निकाल निकालकर नाचने कूदने लग गये तो उससे चिढ़कर अब के हजारों ब्राह्मणों ने मिलकर झूठमूठ ही शिवमूर्ति उठाने का दोष जैनों पर मढ़ कर बिना राजा को सूचित किये स्वयं ही जैन मन्दिरों को लूटा और वहाँ की मूर्तियों का विध्वंस किया। जयपुर में जैनों पर यह तीसरा उपद्रव वि० स० १८२६ में हुआ था। इस उपद्रव का हाल "बुद्धि विलास" में निम्न प्रकार लिखा है—

फुनि भई छब्बीसा के साल,
मिले सकलद्विज लघु रु विशाल।
सबनि मतो यह पक्को कियो,
शिव उठान फुनि दूषन दियो ॥१३०७॥

द्विजन आदि बहु मिले हजार,
बिना हुकम पाये दरबार।

था।● अतः वे भी पं. टोडरमलजी के वक्त में ही हुये थे इसीसे उनकी मृत्यु घटना की उनको पूरी जानकारी थी। बुद्धि विलास में उन्होंने इस घटना का वर्णन "अथ कलिकाल दोषकरि उपद्रव वर्णन" ऐसा शीर्षक देकर हिन्दी छन्दों में किया है। (पृष्ठ १५१) उनके कथनानुसार माधव सिंह जी के वक्त में जयपुर और उसके आस-पास वि० सं० १८१८ से लेकर १८२६ तक के समय में दि० जैनों पर तीन बार घोर उपद्रव हुये हैं। वि० सं० १८१८ में राजा माधवसिंहजी ने एक श्याम नाम के तिवाड़ी ब्राह्मण का राजगुरु के पद पर स्थापन किया था। अतः उसीने जैनों पर उपद्रव किया, जिसमें अनेक जैन मन्दिरों का विध्वंस किया गया। यह जैनों पर प्रथम उपद्रव था। उसका वृत्तांत इस प्रकार दिया है—

अमलराज को जैनी जहाँ, नाम न ले जिनमत को तहाँ ॥
अबावति (आमेर) में एक श्याम प्रभु के देहुरै।
रहो धर्म की टेक बच्यो सु जान्यो चमत्कृत ॥१२६४॥
कोऊ आधो कोऊ सारो, बच्यो जहाँ छत्री रखवारो।
काहू में शिवमूरति धर दी, ऐसी मची श्याम की गरदी ॥१२६५॥

यह विध्वंस लीला अधिक समय तक नहीं चल सकी। अकस्मात् उस राजगुरु श्याम तिवाड़ी पर राजा ने कुपित होकर उसे देश से निकाल दिया। और राजाज्ञा से जैनायतनों की क्षति पूर्ति होकर पूर्ववत् पुनः जैनी लोग अधिकाधिक धर्मोत्सव करने लग गये। उसीके परिणाम स्वरूप वि० सं० १८२१ में जयपुर में

● यह ग्रन्थ "राजस्थान प्राच्यविद्या प्रतिष्ठान जोधपुर" से प्रकाशित हुआ है। मूल्य ३) रु० ७५ नये पैसों में वहीं से मिलता है।

इन्द्रध्वज पूजा का ऐसा महान् उत्सव किया गया कि जिसमें ६४ गज का लम्बा चौड़ा तो केवल एक चबूतरा ही मंडल रचना के अर्थ बनाया गया था। राज्य का भी तब उस काम में पूरा सहयोग था। ऐसा ब्र० रायमल्लजी की लिखी उस उत्सव की पत्रिका से जाना जाता है। जैनियों के ये समारोह तत्कालीन ब्राह्मण समाज को सहन नहीं हो रहे थे। इसलिये उनकी तरफ से जैनियों के विरुद्ध एक षड्यन्त्र रचा गया, जिसमें ब्राह्मणों ने अपनी शिवमूर्ति उठाने का इल्जाम जैनों पर लगाकर राजा को जैनों से विमुख कर दिया और राजा ने सख्त नाराज होकर जैनों की पकड़ाधकड़ी की। तथा उनके प्रसिद्ध पं० टोडरमलजी को इस काम में अगुआ समझ कर उनकी हत्या करवा दी। यह जैनियों पर रोमांचकारी दूसरा उपद्रव था। तदनन्तर फिर जैसे तैसे जैनी लोग रथयात्रा के जलूस निकाल निकालकर नाचने कूदने लग गये तो उससे चिढ़कर अब के हजारों ब्राह्मणों ने मिलकर झूठमूठ ही शिवमूर्ति उठाने का दोष जैनों पर मढ़ कर बिना राजा को सूचित किये स्वय ही जैन मन्दिरों को लूटा और वहाँ की मूर्तियों का विध्वंस किया। जयपुर में जैनों पर यह तीसरा उपद्रव वि० सं० १८२६ में हुआ था। इस उपद्रव का हाल "बुद्धि विलास" में निम्न प्रकार लिखा है—

फुनि भई छब्बीसा के साल,
मिले सकलद्विज लघु रु विशाल।
सबनि मतो यह पक्को कियो,
शिव उठान फुनि दूषन दियो ॥१३०७॥

द्विजन आदि बहु मिले हजार,
बिना हुकम पाये दरबार।

दोरि देहुरा जिन लिय कूटि,
प्रतिमा सब डारी तिन फूटि ॥१३०८॥

काहू की मानी नहिं कानि,
कही हुकम हमको है जानि।
ऐसी म्लेच्छनहु नहिं करी,
बहुरि दुहाई नृप की फिरी ॥१३०९॥

इस प्रकार पं० टोडरमलजी साहब का निधन समय तो एक तरह से निश्चित ही है। परन्तु उनका जन्म समय निश्चित नहीं है। जिससे हम यह नहीं कह सकते हैं कि मृत्यु के वक्त उनकी कितनी उम्र थी? पं० देवीदासजी गोधा ने अपने चर्चा ग्रंथ में उनका जन्म संवत् १७९७ दिया है। उसमें भूल मालूम पड़ती है। क्योंकि टोडरमलजी ने लब्धिसार की टीका वि० सं० १८१८ में पूर्ण की है। ऐसा उसकी प्रशस्ति में लिखा है। और ब्र० रायमल जी की चिट्ठी से यह जाना जाता है कि—टोडरमलजी ने गोम्मटसार लब्धिसार, क्षपणासार और त्रिलोकसार इन चार ग्रन्थों की टीका तीन वर्ष में बनाई है। त्रिलोकसार को छोड़ शेष ३ ग्रन्थों के संशोधन, प्रतिलिपि उतरवाने आदि कार्यों में अगर हम २ वर्ष का काल और मान लें तो इसका अर्थ होता है उन्होंने वि० सं० १८१३ में टीकाओं का रचना शुरू किया था। टीकाओं के रचने के पूर्व उन्होंने इन ग्रन्थों का एक दो वर्ष तक मनन चिन्तन भी किया ही होगा। ऐसी हालत में गोम्मट-सारादि ग्रन्थों के पठन का समय उनका वि० सं० १८११ तक पहुँच जाता है। अगर हम उनका जन्म समय वि० सं० १७९७ को ही सही मान लेते हैं तो इसका मतलब यह होता है कि वे १४ वर्ष की उम्र में ही सिद्धांत शास्त्रों का मनन करने जैसे हो

गये थे इतनी छोटी उम्र में ही बुद्धि का इतना विकास नहीं हो सकता है कि जो वे सिद्धांत के रहस्यों का उद्घाटन कर सकें। अगर ऐसी बात होती तो ब्र० रायमलजी अपनी चिट्ठी में जहाँ टोडरमलजी की अन्य-अन्य प्रशंसा लिखी है वहाँ वे यह भी जरूर लिखते कि उन्होंने इतना विशाल ज्ञान छोटी उम्र में ही पा लिया था सो तो रायमल्लजी ने कहीं ऐसा लिखा नहीं है। उल्टे उन्होंने तो 'इन्द्रध्वजोत्सव की पत्रिका में यह लिखा है कि "टोडरमलजी की इच्छा और पांच सात शास्त्रों की टीका करने की है सो ऐसा तो आयु की अधिकता होने पर बन सकेगा★ इससे यही फलितार्थ निकलता है कि यदि गोम्मटसारादि की टीका रचनेके वक्त उनकी उम्र१८वर्ष करीबकी होती तो रायमल जी ऐसा नहीं लिखते। अतः उनका जन्मकाल जो ऊपर वि० सं० १७६७ दिया है वह ठीक नहीं है। आभास कुछ ऐसा होता है कि १७६७ की जगह १७७६ हो सकने की संभावना की जा सकती है। किसी प्रतिलिपिकार के द्वारा प्रमाद से ७६ की संख्या ६७ लिख दी गई। इसको गलत मानने में एक हेतु यह भी है कि पं० टोडरमलजी कृत गोम्मटसार पूजा का निर्माण महाराजा जयसिंह के राज्यकालमें होना लिखा है। बुद्धिविलास में जयपुर राजवंश के राजाओं की क्रमवार नामावली दी है उसमें लिखा है कि– राजा जयसिंह के ईश्वरसिंह और माधवसिंह ये दो पुत्र थे (पृष्ठ २६) छोटे पुत्र माधवसिंह को

★ भाई रायमल्लजी ने एक जगह अपने परिचय में पं० टोडरमलजी को गोम्मटसारादि की टीका बनाने की प्रेरणा देते हुए लिखा है, "तुम या ग्रन्थ की टीका करने का उपाय शीघ्र करो आयु का भरोसा है नहीं"।

रामपुरे का राज्य दिया गया और जयसिंह के बहुत वर्ष राज्य किये बाद ईश्वरसिंह को राजगद्दी मिली। ईश्वरसिंह के बाद माधवसिंह रामपुरे से आकर जयपुर के राजा बने। यह वर्णन बुद्धिविलास में निम्न प्रकार किया है—

भये भूप जयसाहि के पुत्र दोय अभिराम।
ईश्वरसिंह भये प्रथम लघु माधवसिंह नाम ॥१६८॥
रामपुरी दुर्ग भान को ताको लेके राज।
दीनो माधवसिंह को संगि दिये दल साज ॥१६९॥
बहुत वर्ष लों राज किय श्री जयसिंह अवनीप।
जिनिके पटि बैठे सुदिनि ईश्वरसिंह महीप ॥१७०॥
बहुरि पाट बैठे नृपति रामपुरे तें आय।
भाई माधवसिंह जू दुर्जन कों दुखदाय ॥१७३॥

इस विवरण से जाना जाता है कि जयसिंह के बाद जयपुर में ईश्वरसिंह ने राज्य किया और उनके बाद माधवसिंह ने राज्य किया। माधवसिंह का राज्यकाल वि० स० १८११ से १८२४ तक का माना जाता है। माधवसिंह के राज्यकाल में ही टोडरमल्ल जी ने गोम्मटसारादि ग्रन्थों की टीकायें रची हैं। जयसिंह का राज्यकाल वि० सं० १७५६ से १८०१ तक का माना जाता है। जबकि गोम्मटसार की पूजा को पंडित जी ने जयसिंह के राज्यकाल मे लिखा है तो उनका जन्म स. १७९७ में होना कैसे बन सकता है? जयसिंह के आखिरी राज्यकाल तक ही जब उनकी उम्र ४ वर्ष की थी तो इस उम्र में साहित्यिक रचना कैसे हो सकती है? अत: सं० १७९७ में उनका जन्म मानना सरासर असंगत है। गोम्मटसार की टीका लिखने से

पूर्व ही उसकी पूजा बनाना तो असंगत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि ऐसा तो उनकी गोम्मटसार के प्रति विशेष भक्ति होने से भी हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि महावीर जी अतिशयक्षेत्र से प्रकाशित "राजस्थान के जैन शास्त्रभंडारों की ग्रन्थसूची" के ३रे भाग के पृष्ठ १६१ पर पं० टोडरमलजी कृत आत्मानुशासन की टीका का रचनाकाल वि० सं० १७६६ भादवासुदी २ लिखा है। इससे भी उनका जन्मकाल सं० १७६७ मानना गलत सिद्ध होता है। इस वक्त तक यदि हम पंडित जी की उम्र १७-१८ वर्ष की भी मान लें तो हमने जो ऊपर उनका जन्म सं० १७७६ की कल्पना की है वह ठीक मालूम देता है। इस ऊहापोह से यह सिद्ध होता है कि जब दुर्घटना से उनकी मृत्यु हुई तब उनकी उम्र ४५ वर्ष के करीब थी। 卐□

卐 १७९७ की जगह १७६७ भी संभव है। ६ को गलती से ९ पढा गया है पं० देवीदास जी गोधा ने सिद्धांतसार संग्रह की अपनी भाषाटीका के अन्त में लिखा है कि " पं० टोडरमलजी महा बुद्धिमान के पास शास्त्र-श्रवण का अवसर मिला। प० टोडरमलजी के बड़े पुत्र हरिश्चन्दजी और छोटे पुत्र गुमानीरामजी भी उस वक्त थे दोनों महा बुद्धिमान कुशल वक्ता थे जिनके पास भी शास्त्रों के अनेक रहस्य ज्ञातकर ज्ञान प्राप्त किया" (देखो वीरवाणी वर्ष २३अंक ५) इस वक्त को अगर हम श्री प० टोडरमलजी की मृत्यु से कम से कम दो वर्ष पूर्व भी अर्थात् १८२२ भी मान लें तो उस वक्त उनके दो बड़े-बड़े विद्वान पुत्र थे जिनकी आयु ३०-३५ वर्ष भी मान लें तो उस वक्त पं० टोडरमलजी की आयु ५५ वर्ष के करीब अवश्य होनी चाहिये अतः कम से कम १७६७ में उनका जन्म संवत् मानना ठीक होगा।

अब तक उनकी ११ रचनाओं का पता लगा है। उनके नाम कालक्रम से इस प्रकार हैं—

आत्मानुशासन टीका, गोम्मटसार पूजा, रहस्यपूर्ण चिट्ठी, गोम्मटसार जीवकांड-कर्मकांड टीका, लब्धिसार-क्षपणासार टीका, अर्थसंदृष्टि, त्रिलोकसार टीका, मोक्षमार्ग प्रकाशक और पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय टीका। इनमें से पिछली दो रचनायें अपूर्ण हैं। वि० सं० १८२१ में लिखी इन्द्रध्वजमहोत्सव की पत्रिका में ब्र० रायमल्लजी ने मोक्षमार्ग प्रकाशक का उल्लेख किया है अतः यह ग्रन्थ उस वक्त बन रहा था। इसी बीच पंडित जी पुरुषार्थ-सिद्ध्युपाय की टीका भी बनाने लग गये थे और अकस्मात् ही वि० सं० १८२४ के करीब वे मार दिये गये। फलतः उनकी दोनों ही रचनायें अधूरी रह गईं। उनमें से पुरुषार्थसिद्ध्युपाय की उनकी अधूरी टीका को तो पं० दौलत राम जी ने वि० सं० १८२७ में जयपुर में पूर्ण कर दी। उस वक्त वहाँ पृथ्वीसिंह का राज्य था परन्तु मोक्षमार्ग प्रकाशक उनका स्वतंत्र ग्रन्थ होने के कारण पूरा नहीं किया जा सकता है।

इन ११ रचनाओं के अलावा एक १२वीं रचना उनकी और मिली है वह है हिन्दी गद्य में समवशरण का वर्णन। यह रचना उन्होंने त्रिलोकसार की टीका पूर्ण किये बाद की है और हस्त-

---

☐ अजमेर के शास्त्रभंडार में "सामुद्रिक पुरुष लक्षण" ग्रंथ की १ हस्तलिखित प्रति है उसके अन्त में लिखा हुआ है "सं० १७६३ भादवासुदी १४ के दिन जोबनेर में पं० टोडरमलजी के पठनार्थ प्रतिलिपि की गई"। इन सब प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध है कि उनका जन्म १७६७ में मानना और उनकी मृत्यु अल्पायु में मानना नितांत गलत है।

लिखित त्रिलोकसार की प्रतियों में उनके साथ लगी हुई उपलब्ध होती है। न मालूम मुद्रित त्रिलोकसार में वह कैसे छूट गई है?

समवशरण का यह वर्णन हस्तलिखित ६ पत्रों अर्थात १८ पृष्ठों में किया गया है। उसका आदि भाग ऐसा है -

'बहुरि अठ आगे धर्मसंग्रह श्रावकाचार वा आदि पुराण वा हरिवंश पुराण वा त्रिलोकप्रज्ञप्ति, यां के अनुसार समोशरण का वर्णन करिये हैं सो हे भव्य तू जाणि।

दोहा—

अशरण शरण जिनेश को समवशरण शुभ थान।
ताको वर्णन जानि तुम पावहु चैन सुजान ।।

बीच का कुछ अंश —

बहुरि जिस प्रकार यहु अवसर्पिणीकाल विषै तीर्थं करनि के घटता क्रम लिये वर्णन किया तैसे उत्सर्पिणीकाल विषै बधता क्रम जानना। बहुरि विदेह क्षेत्र विषे प्रथम तीर्थंकरवत् जानना। ऐसे समवशरण विषै रचना वा प्रमाण वर्णन त्रिलोक प्रज्ञप्ति, धर्मसंग्रह, समवशरण स्तोत्रादिक की अपेक्षा लिखा है। बहुरि कोई रचना वा प्रमाण का वर्णन केई आचार्य अन्य प्रकार कहे हैं। जैसे कोई सर्व तीर्थंकरनि के समवशरण भूमि का प्रमाण बारह योजन ही कहे हैं। अर केई प्रसाद भूमि की रचना न कहे है। इत्यादि रचना प्रमाण विषें विशेष है सो हमारी बुद्धि सत्य असत्य निर्धार करने की नाहीं तातें केवली देख्या है तैसे प्रमाण है।'

'कोई ऐसा जानेगा कि भगवान् के तो इच्छा नाहीं।

इच्छा बिना कैसे डग भरे अर कैसे ऊठे बैठे ? ताका उत्तर– भगवान् के इच्छा ना ही यह तो सत्य है परन्तु भगवान् के शरीरादि वा चार अघातिया कर्म बैठा है ताका निमित्त करि मन वचन काय योग पाइये हैं। तासों ही भगवान् के मनका प्रदेशां का चंचलपना वा वाणी का खिरना, वा शरीर का उठना बैठना वा डग भरना संभवै है, यामें दोष नाहीं। जायगां-जायगां ग्रन्थ विषै कहा है।' अन्तिम अंश—

'ऐसे बिहारकर सहित समवशरण का वर्णन सम्पूर्ण।

इति श्री त्रिलोकसार जी श्री नेमीचन्द्र आचार्य कृत मूल गाथा ताकी टीका संस्कृत का कर्त्ता आचार्य ताकी भाषा टीका टोडरमलजी कृत सम्पूर्णम्।'

इस प्रकार पं० टोडरमल्लजीसाब की यह भी एक स्वतंत्र कृति मालूम पड़ती है। मुद्रित त्रिलोकसार के साथ इसके प्रकाशित न होने से लोग उनकी इस कृति को भूल बैठे हैं।



२४

क्या 'पउमचरिय' दिगम्बर ग्रंथ है ?

विमलसूरिकृत प्राकृत पद्योंमें एक 'पउमचरिय' नामका ग्रंथ है। जिसे १८ वर्ष पहिले 'जैनधर्म प्रसारक सभा भावनगर' ने छपाया था और जिसका संशोधन प्रोफेसर हर्मनजेकोबी जर्मन ने किया था। यह ग्रन्थ ११८ पर्वों में विभक्त है जिसमें मुख्यतया रामरावण की कथा है एक तरहसे इसे प्राकृत जैन रामायण कहना चाहिये। ग्रन्थ के अंतमें उसका निर्माण समय इस प्रकार लिखा है—

> पंचेव य वाससया दुसमाए तीसवरिससंजुत्ता।
> वीरे सिद्धिमुवगए तओ निबद्धं इमं चरियं ॥१०३॥

इस गाथापरसे ऐतिहासिक विद्वान इसे वीर निर्वाण संवत ५३० (विक्रम संवत ६०) में बना बताते हैं। इससे यह ग्रंथ बहुत ही प्राचीन मालूम होता है। समग्र जैन संप्रदाय में इतना प्राचीन कथा ग्रंथ अभी कोई उपलब्ध न हुआ होगा। इस ग्रंथ के कर्त्ता अपना परिचय ग्रंथांत में इस प्रकार देते है—

> राहू नामायरियो ससमयपरसमयगहियसब्भावो
> विजओ य तस्स सीसो नाइलकुलवंसनंदियरो ॥११७॥

सीसेण तस्स रइयं राहवचरियं तु सूरिविमलेणं।
सोऊणं पुव्वगए नारायणसीरिचरियाइ ॥११८॥

इन पद्योंमें यह सूचित किया है कि स्व समय पर समयमें सद्भाव रखनेवाले 'राहू' नामक आचार्य के एक नागिलवंशज 'विजय' नामके शिष्य थे। उनके शिष्य 'विमलसूरि' ने यह रामचरित्र रचा है।

ग्रन्थकी अंतिम संधिसे यह भी प्रगट होता है कि इस ग्रन्थके कर्त्ता पूर्व धारी थे। वह सन्धि इस प्रकार है—

"इइ नाइलवंसदिणयर राहुसूरियसीसेण पुव्वहरेण विमलायरियेण विरइय सम्मत्तं पउमचरियं।"

नागिलवंशके सूर्य जो राहुसूरि उनके प्रशिष्य पूर्वधारी विमलाचार्य रचित पउमचरिय समाप्त हुआ।

अपने दिगंबर संप्रदायमें रविषेणाचार्यकृत पद्मचरितकी भाषा बचनिकाका, जो पद्मपुराणके नाम से मशहूर है काफी प्रचार है। उसके बाबत मैं बहुत दिन पहिलेसे सुन रहा था कि यह प्राकृत पउमचरियसे मिलता हुआ है। अब जब कि वह पद्मचरित्त माणिकचन्द्र ग्रन्थ माला द्वारा मूल संस्कृतमें छपा तो उसे पउमचरिय से मिलाने का मुझे अवसर मिला। इसीके साथ मैंने हेमचन्द्राचार्यकृत श्वेतांबर जैन रामायणका हिन्दी अनुवाद तथा स्व० पं० दौलतरामजीकृत पद्मपुराण बचनिका को भी साथ २ मिलान किया है।

इस प्रकार चार ग्रन्थोंको परस्पर निरीक्षण करने से मुझे कितनी ही नई बातें जानने में आई हैं। और वह भेद भी कितने

ही अंशों में खुल गया है जो अबतक चला आ रहा था कि 'यह पउमचरिय दिगम्बर ग्रन्थ है या श्वेताम्बर'।

जैन हितैषी भाग ११ में जैन समाजके ऐतिहासज्ञ विद्वान पं० नाथूरामजी प्रेमीका इस सम्बन्धमें एक लेख प्रकाशित हुआ था जिसमें इस ग्रन्थको उस समयका अनुमान किया है जिस समय जैनधर्ममें श्वेतांबर दिगंबर भेद ही न हुए थे। साथ ही उन्होंने लिखा था कि "मैं इसे रविषेणके पद्मचरितसे मिला रहा हूं। दोनों संप्रदाय सम्बन्धी कोई खास बात इसमें निकलेगी तो वह आगे प्रकट कर दी जायेगी"। इसके बाद फिर कभी इस सम्बन्ध में उन्होंने लिखा या नहीं यह मेरे देखनेमें नहीं आया। संस्कृत पद्मचरितकी भूमिका भी उन्होने लिखी पर वहां भी प्रेमीजीने एतद्विषयक कोई प्रकाश नही डाला। इसके अलावा 'खंडेलवाल जैन हितेच्छुमें भी किसी विद्वानने इस सम्बन्धमें लेख छपाया था। जिसमें पउमचरियको दिगम्बर ग्रन्थ सिद्ध करने की चेष्टा की थी। यह बात उन दिनोंकी है जब 'हितेच्छु' के सम्पादक पं० पन्नालालजी सोनी थे।

मैंने जो इसका यत्किंचित् तुलनात्मक ढंगसे निरीक्षण किया है उससे मैं इस नतीजेपर पहुँचा हूं कि 'यह ग्रंथ न तो उस वक्तका कहा जा सकता है जिस वक्त कि जैनधर्ममें दिगम्बर श्वेतांबर भेद ही न हुए थे, और न यह दिगम्बर ग्रन्थ ही है। यही सब खोज आज मैं पाठकोंके सामने रखता हूं।

यों तो पद्मचरितमें जो कुछ है वह सब पउमचरिय के अनुसार ही है। दोनों ग्रन्थोंका रचनाक्रम शब्द और भाव विन्यास अधिकांशमें समानरूपसे पाया जाता है। ऐसा मालूम

होता है कि पउमचरियको सामने रखकर ही उसकी छाया के आधारपर कुछ अधिक विस्तार से पद्मचरित रचा गया है। यहाँतक कि दोनों का नाम भी एक ही है 卐 प्रकृत में जिसे पउमचरिय कहते हैं उसका ही संस्कृतनाम पद्मचरित है। नमूने के तौर पर दोनों के कुछ अंश यहाँ लिख देना ठीक होगा—

देहं रोगाइण्णं जीयं तडिविलसियं पिव अणिच्चं ।
नवरं कव्वगुणरसो जाव य ससिसूरगहचक्कं ॥१७॥
अल्पकालमिदं जंतोः शरीरं रोगनिर्भरम् ।
यशस्तु सत्कथाजन्म यावच्चंद्रार्कतारकम् ॥२५॥
ते नाम होंति कण्णा जे जिणवरसासणम्मि सुइपुण्णा ।
अन्ने विदूसगस्स व वाउमया चेव निम्मविया ॥१९॥
सत्कथाश्रवणौ यौ च श्रवणौ तौ मतो मम ।
अन्यौ विदूषकस्यैव श्रवणाकारधारिणौ ॥२८॥
तं चेव उत्तमंगं जं घुम्मइ वण्णणाइ सामन्ने ।
अन्नं पुण गुणरहियं नालियरकरंकयं चेव ॥२०॥
सच्चेष्टावर्णनावर्णा घूर्णते यत्र मूर्द्धनि ।
अयं मूर्द्धान्यमूर्द्धा तु नालिकेरकरंकवत् ॥२९॥
जे वि य समसुल्लावं भणंति ते उत्तमा इहं ओट्ठा ।
अन्ने सुत्तजलूगा पट्ठोसंबुक्कसमसरिसा ॥२४॥

卐 रविषेण ने विमलसूरि की शैली को यहाँ तक अपनाया है कि—पउमचरिय, में जहाँ पर्वान्त मे विमल, शब्द दिया गया है वहाँ पद्मचरित में रविषेण ने रवि, शब्द का प्रयोग किया है। दोनो के उद्देश्यों के नाम तक एक हैं।

श्रेष्ठावोष्ठौ च तावेव यौ सुकीर्तनवर्तिनौ ।
न शम्बूकास्यसंमुक्तजलौकापृष्ठसन्निभौ ॥३१॥
तं पिच्छ इवइ पहाणं मुहकमलं जं गुणेसु तत्तिल्लं ।
अन्नं बिलं व भण्णइ भरियं चिय दन्तकीडाणं ॥२६॥
मुखं श्रेयः परिप्राप्तेर्मुख मुख्यकथारतं ।
अन्यत्तु मलसंपूर्णं दंतकीटाकुलं बिलम् ॥३३॥
जो पढइ सुणइ पुरिसो सामण्णे उज्झमेइ सत्तीए ।
सो उत्तमो हु लोए अन्नो पुण सिप्पियकओ व ॥२७॥
वदिता योऽथवा श्रोता श्रेयसां वचसां नरः ।
पुमान् स एव शेषस्तु शिल्पिकल्पितकायवत् ॥३४॥

ये सब पद्य दोनों ही ग्रंथके प्रथम पर्वके हैं। इनमें जो संस्कृतके हैं वे पद्मचरितके हैं और प्राकृतके हैं वे पउमचरियके। आगेके पर्वोंका भी प्रायः यही हाल है। इतना सादृश्य होते भी कहीं २ कुछ कथनभेद भी दोनोंमें पाया जाता है। जिसकी तालिका बतौर नमूनेके नीचे दी जाती है—

"पउमचरियमें"

१—'विद्युद्दंष्ट्र मोक्षगया' 'पर्व ५'

२—अजितनाथको दीक्षा लिये बाद १२ वर्षमें केवलज्ञान हुआ। 'पर्व ५'

३—केकईके भरत, शत्रुघ्न दो पुत्र हुये, दशरथके तीन ही राणियें लिखी हैं-सुप्रभा नामकी चौथी राणीका उल्लेख नहीं है। 'पर्व २५'

४—अतिवीर्यको पकड़ने के लिये रामलक्ष्मणके नृत्यकारिणीका स्वांग भवनवासिनी देवीने बनाया। 'पर्व ३७'

५ – बाहुबलीकी राजधानी 'तक्षशिला' है। 'पर्व ४'
६—संस्थानका जिकर ही नहीं।
७—रावणकी मृत्यु ज्येष्ठकृष्णा ११ को हुई। 'पर्व ७३ के अंतमे'
८—रावण लक्ष्मण चौथे नरक गये 'पर्व ११८'

"पद्मचरितमें"

१—विद्युद्दंष्ट्र स्वर्ग गया।
२—चौदह वर्ष बाद केवलज्ञान हुआ।
३ - सुप्रभाराणीके शत्रुघ्न और केकईके भरतका जन्म हुआ। दशरथके चार राणियें थीं जिनके चारों पुत्र हुये।
४—नृत्यकारिणीका रूप स्वयंने बनाया। भवनवासिनीका उल्लेख ही नहीं है।
५—बाहुबलीकी राजधानी 'पौतनापुर' है।
६—रामचन्द्रजीके न्यग्रोधपरिमंडल संस्थान लिखा है।
'पर्व ४६'
७—मितीका कोई उल्लेख नहीं है।
८—तीसरे नरक गये 'पर्व १२३'

इन्हें आदि लेकर कुछ और भी जहां-तहां सूक्ष्म फर्क है जो विस्तारभयसे छोड़े जाते हैं। दोनोंकी पर्वसंख्या भी समान नहीं है। पउमचरियमें ११८ और पद्मचरितमें १२३ पर्व हैं। किन्तु इसके कारण कथनमें रंचमात्र भी भेद नहीं पड़ा है। सिर्फ कथनके विभाग करनेमें फर्क है। उसमें भी ५५ पर्वतक तो दोनों एक हैं। आगे ५६, ६७, ६८, और १०७, ११२वां ये ५ पर्व पद्मचरितमें बढ़ाये गये हैं।

ये तो हुई अन्य २ बातें। अब मैं पाठकोंको पउमचरियमें

से वे बातें बतलाता हूं जो इसे श्वेतांबर ग्रन्थ होना सिद्ध करती हैं।

पुराने विद्वानोंने जो दिगम्बर श्वेताम्बरके ८४ अन्तर छांटे हैं उनमेंसे कितने ही अन्तर इस पउमचरियमें पाये जाते हैं। जैसे-भगवान्‌की माताको चौदह स्वप्न दीखना, हरिवंशकी उत्पत्ति भोगभूमिज युगलसे होना, स्वर्गोंकी संख्या १२ मानना और चक्रवर्तीके ६६ हजारसे कम राणियें बताना। ये सब बातें पउमचरियके निम्न पद्योंमें देखिये—

१— अह ता सुहं पसुत्ता रयणीए पच्छिमम्मि जामम्मि।
पेच्छइ चउदस सुमिणे पसत्थजोगेण कल्लाणी ॥१२॥
'पर्व २१'

अर्थ-मुनिसुव्रतकी माताने रात्रिके पिछले प्रहरमें १४ स्वप्न देखे।

२—सीयल जिणस्स तित्थे सुमुहो नामेण आसि महिपालो।
कोसंबीनयरीए तत्थेव य वीरयकुविंदो ॥ २ ॥
हरिऊण तस्स महिलं वणमालं नाम नरवई तत्थ।
भुञ्जइ भोगसमिद्धं रईए समयं अणंगो व्व ॥ ३ ॥
अह अन्नया नरिंदो फासुयदाणं मुणिस्स दाउण।
असणिहओ उववन्नो महिलासहिओ य हरिवासे ॥४॥
कंताविओयदुहिओ पोट्ठिलयमुणिस्स पायमूलम्मि।
घेत्तूणय पव्वज्जं कालगओ सुरवरो जाओ ॥ ५ ॥
अवहिविसएण नाओ देवो हरिवंस×संभवं विहुणं।
अवहरिऊणय तुरियं चपानयरम्मि आणेइ ॥ ६ ॥

× 'हरिवंस' पाठ अशुद्ध है गल्तीसे छप गया मालूम होता है। 'हरिवास' पाठ चाहिये, हरिवंश तो अभी पैदा ही नहीं हुआ तब उसमें

हरिवाससमुप्पन्नो जेणं हरिऊण आणिओ इहई।
तेणं चिय हरिराया विक्खाओ तिहुयणे जाओ ॥ ७ ॥
पर्व २१ वां

अर्थ–शीतलनाथके तीर्थमें कोसांबी नगरीमें एक सुमुख नामका राजा हुआ। वहीं 'वीरक' कुविद★ (जुलाहा) रहता था। उसकी वनमाला स्त्रीको राजाने हरकर उसके साथ कामदेवके समान भोग भोगने लगा। एकदिन राजाने मुनिको प्रासुक दान दिया और वह वज्रपातसे मरकर स्त्री सहित हरिवर्ष (भोगभूमिक्षेत्र) में पैदा हुआ। वह वीरक भी स्त्री वियोगसे दुखी हो पोट्टिल (प्रोष्टिल) मुनिसे दीक्षा ले मरा और देव हुआ। अवधिज्ञानसे जानकर वह देव हरिवर्षमें उत्पन्न उक्त जोड़ेको हरकर चंपानगरीमे लाया। हरिवर्षमे पैदा होने और वहांसे हरकर लानेके कारण वह हरि राजाके नामसे विख्यात हुआ (आगे उसीसे हरिवंश चला)।

३— **सो हम्मीसाण सणंकुमार माहिंदबम्हलोगो य।**
लंतयकप्पो य तहा छठ्ठो वि य होइ नायव्वो ॥३५॥
एत्तो य महासुक्को सहसारो आणवो तह य चेव।
तह पाणओ य आरण अच्चुयकप्पो य बारसमो ॥३६॥
पर्व ७५

जन्म कैसे बताया जासकता है? गाथा ४ व ७ में 'हरिवास' पाठ है अतः यहां भी वही होना ठीक है।

★ इसने मुनि दीक्षा ली है, जुलाहा आम तौर पर नीच जाति होता है इसीलिये पद्मचरितमें वीरकको वणिज लिखा जान पड़ता है। शूद्र दीक्षाका यह भी दोनों ग्रन्थोंमें सांप्रदायिक खास भेद हो सकता है।

अर्थ—सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, महेंद्र, ब्रह्मलोक, छठवां लांतव कल्प, आगे महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण और बारहवां अच्युत, इस प्रकार १२ कल्प है ।

४— "सगरोवि चक्कवट्टी चउसट्ठिसहस्सजुवइकयविहवो"
॥ १६८ ॥ पर्व ५

सगर चक्रीके चौसठहजार स्त्रियोंका विभव था (पत्र ७ में भी इतनी ही राणियें लिखी हैं)

इस प्रकारका कथन श्वेतांबर सम्मत हैं। इसीलिये रविषेणके पद्मचरितमें उन्हीं पर्वों और उन्हीं प्रकरणोंमे बदलकर लिखा गया है। जैसे चौदहके स्थानमें १६ स्वप्ने, १२ के स्थानमें १६ स्वर्ग, और चौसठ हजारकी जगह चक्रीके ६६ हजार राणियें। हरिवंशकी उत्पत्तिके सम्बन्धमें भी बदलनेकी चेष्टा की गई पर वह पूरी तौरसे बदला न जासका। जैसा कि पद्मचरितके निम्न श्लोकोंसे प्रकट है—

जिनेन्द्रे दशमे नीते राजासीत्सुमुखश्रुतिः ।
कौशांब्यामपरोऽत्रैव वणिजो वीरकश्रुतिः ॥२॥
हृत्वा तद्दयितां राजा भित्वा कामं यथेप्सितं ।
दत्वा दानं विरागाणां पुरे हरिपुरसंज्ञके ॥३॥
उत्पन्नौ दंपती क्रीडां कृत्वा रुक्मगिरि ययौ ।
तत्रापि दक्षिणश्रेण्यां भोगभूमिर्माशश्रियत् ॥४॥
दयिताविरहांगारदग्धदेहस्तु वीरकः ।
तपसा देवतां प्राप देवीनिवहसंकुलम् ॥५॥
विदित्वावधिना देवो वैरिणं हरिसंभवं ।
भरतेऽतिष्ठपद्यातं दुर्गति पापधीरिति ॥६॥

यतोऽसौ हरितः क्षेत्रादानीतो भार्यया समं।
ततो हरिरिति ख्याति गतः सर्वत्र विष्टपे ॥७॥
'पर्व २१वां'

इनमें लिखा है कि—दशवें तीर्थंकरके तीर्थमें कौशांबीके राजा सुमुखने वीरक सेठकी स्त्रीको हरकर उसके साथ भोग भोगा। फिर मुनिदान दे मरकर हरिपुरमें दंपति हुये, जो विजयार्द्ध की दक्षिणश्रेणीमें क्रीड़ाकर भोगभूमिमें पहुँचे। इधर वीरक स्त्रीवियोगसे दग्ध हो तप कर देव हुआ। अवधिज्ञानसे हरि (?) में पैदा हुआ। वैरीको जानकर उसे भरत क्षेत्रमें ले आया। इस प्रकार वह पापबुद्धि दुर्गतिको गया। क्योंकि वह हरिक्षेत्रसे भार्या सहित लाया गया जिससे लोकमें 'हरि' इस नामसे विख्यात हुआ।

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि पद्मचरितका यह कथन कितना अस्पष्ट और संदिग्ध है। श्लोकोंकी रचना भी विलक्षण हो गईहै। चौथे श्लोकपदोंका एक दूसरेसे सम्बन्ध ही नहीं मिलता। छठवें श्लोकमें हरिके साथ पुर शब्द भी उड़ गया है। और भी विचारिये-"राजा सुमुख और उसकी रखेल स्त्रीका हरिपुरमें दंपति उत्पन्न होना" यह कथन कितना भ्रमपूर्ण है। मरकर दंपति होना तो भोगभूमिमे ही संभवहो सकता है। कर्मभूमिमें तो दोनों ही अलग २ मातापिताओंके यहां जन्म लेकर फिर विवाह होनेपर दंपति बनते हैं। यहां दोनोंके कौन मातापिता थे ऐसा कुछ भी उल्लेख नहीं है। यह सब गड़बड़ पउमचरियके अनुकरणके कारण हुई मालूम होती है।

यहां मैं इतना और बतला देना चाहता हूं कि दिगम्बर श्वेतांबरमें ८४ बातोंके अतिरिक्त भी अन्य कितना ही अन्तर है

जो मुझे इसकी छानबीनमें ज्ञात हुये हैं उनमेंसे भी एक दो यहां लिख देता हूं—

दिगम्बर संप्रदायके मामूली शास्त्रज्ञ भी यह जानतेहैं कि तीर्थंकर प्रकृतिकी कारणभूत भावना १६ होती हैं जिसे षोड़श-कारण भावनाके नामसे बोलते हैं और यही पद्मचरितमें लिखा है किन्तु पउमचरिय उसकी २० भावना × लिखी है। यथा— 'वीसं जिणकारणाइ भाविओ' पर्व २ गाथा ८२।

इसी तरह जहां पद्मचरितमें सुमेरु और सौधर्मके बीच बालाग्र मात्र अंतर बतलाया है वहां पउमचरियमें सौधर्मको मेरुकी चूलिकासे स्पर्शित बताया गया है। यथा—

' बालाग्रमात्रविवरास्पृष्टसौधर्मभूमिकः । '
पद्मचरित पर्व ३ श्लोक ॥३४॥
' उवरि च चूलियाए सोहम्मं चेव फुसमाणो । '
पउमचरिय पर्व ३ गाथा २४

यहांतक तो दिगम्बर मान्यता के प्रतिकूल जो भी कथन ऊपर पउमचरियमेंसे निकालकर बताया गया है उसे एक तरह से मामूली कहना चाहिये। दिगम्बर श्वेताम्बरमें जो केवलीमुक्ति स्त्रीमुक्ति और साधुको वस्त्रपात्रादि रखनेका खास भेद है वह पउमचरियमें मिलना चाहिये। इसके लिये मैंने खूब ढूंढ खोज की, आखिर मुझे ऐसा कथन भी मिलगया। केवलीमुक्ति और स्त्रीमुक्तिका कथन तो कहीं न मिला किन्तु मुनिके वस्त्रपात्रादि

× श्वेतांबरोंके आवश्यक सूत्रादि ग्रन्थोंमें भी २० भावना लिखी हैं।

रखनेका आभास पउमचरियमें अवश्य पाया जाता है जो इस प्रकार है—

पउमचरिय पर्व २२ में लिखा है कि–'मांस भक्षी राजा सोदासको राज्यच्युत कर निकाल दिया तो वह घूमता हुआ दक्षिण देशमें श्वेत वस्त्रधारी मुनिको पाकर उनसे श्रावक दीक्षा ली। ग्रन्थके पद्य इस प्रकार हैं—

पेच्छइ परिब्भमंतो दाहिणदेसे सियंबरं पणओ।
तस्स समासे धम्मं सुणिऊण तओ समाढत्तो ॥७८॥
सुणिऊण वयणमे यं मुणिवरविहियं भएण दुःखाणं।
होउं पसन्नहियओ सोदासो सावओ जाओ ॥८०॥

इसमें साफ तौरपर मुनिके लिये सियंबर शब्द है जो सितांबर यानी सफेद कपड़ेका वाचक है। पद्मचरितमें इस जगह वस्त्राश्रय रहित मुनि लिखा है। जैसे—

दक्षिणापथमासाद्य प्राप्यानंबरसंश्रयं।
श्रुत्वा धर्मं बभूवासावणुव्रतधरो महान् ॥१४८॥

यह तो हुआ मुनिके वस्त्रविधान, अब पात्र रखनेका विधान सुनिये–पर्व ८६

अह अन्नया कयाई साहू मज्झण्हवेसयालम्मि।
उप्पइय नहयलेणं साएयपुरिं गया सव्वे ॥११॥

पर्व २२ गाथा १ "अह तत्तो किनधरो मुणिवसभो मलविलित्त सव्वंगो" रेखांकित से दि०त्व सिद्धि होती है।

भिक्खट्ठे विहरन्ता घरपरिवाडीए साहवो धीरा ।
ते सावयस्स भवणं संपत्ता अरहदत्तस्स ॥१२॥
चिंतेइ अरहदत्तो वरिसाकाले कहिं इमे समणा ।
हिण्डन्ति अणायारी निययं ठाणं पमोत्तूणं ॥१३॥
ते सावएण साहू न वंदिया गारवस्स दोसेणं ।
सुण्हाए तस्स भत्तं तत्तो पडिलाभिया सव्वे ॥१७॥
दाऊण धम्मलाभं ते जिणभवणं कमेण संपत्ता ।
अभिवंदिया जुईणं ठाणनिवासीण समणेणं ॥१८॥
ते तत्थ जिणायाणे मुणिसुव्वयसामियस्स वरपडिमं ।
अभिवंदियो निविठ्ठा जुइणसमयं कया हारा ॥२०॥

अर्थ–एक दिन वे सप्तर्षि चारण मुनि मध्याह्न कालमें आकाशमार्गसे चलते हुये 'साकेत' पुरीमें आये वहाँ भिक्षार्थ घूमते हुये अर्हद्दत्त श्रावकके घर गये। उन्हें देखकर अर्हद्दत्त विचारता है कि–ये अनाचारी साधु नियतस्थानको छोड़कर वर्षाकालमें कैसे विहार करते हैं। आखिर 'अर्हद्दत्त'ने उनकी वंदना तक न की। तब केवल उसकी स्नुषा कहिये पुत्रवधूने उन मुनियोंको पड़गाहा। वे मुनि धर्मलाभ देकर पैदल जिनभवनको गये। तत्स्थाननिवासी द्युति नामके श्रमणने उनकी वंदना की। वे मुनि वहां जिनालयमें मुनिसुव्रतस्वामीकी प्रतिमाको नमस्कार कर बैठ गये और वहीं 'द्युति' श्रमणके समीप उन्होंने आहार किया।

इस कथनसे यह साफ सिद्ध है कि अर्हद्दत्तके घर मुनियों ने भोजन उदरस्थ किया नहीं। सिर्फ वहांसे तो वे भोज्य सामग्री को अपने साथ ले आये थे। जिसे उन्होंने 'द्युति' श्रमणके उपाश्रयमें आके जीमा। दाताके घरसे भिक्षा प्राप्त कर उसे

उपाश्रयमें लेजाकर जीमना हो उनके पात्र रखनेका निश्चित सुबूत है।

यही कथा श्वेतांबर जैन रामायण× में भी इसी तरह पाई जाती है। उसके अनुवादको यहां में ज्योंका त्यों दे देता हूं—

"एकबार वे मुनि पारणा करनेके लिये अयोध्यामें गये। वहां अर्हद्दत्त सेठके घर भिक्षाके लिये गये। सेठने अवज्ञाके साथ उनकी वंदना की और मनमें सोचा कि ये कैसे साधु हैं जो वर्षा-ऋतुमें भी विहार करते हैं मैं इनसे कारण पूंछू ? नहीं। ऐसे पाखंडियोंसे बात करना वृथा है सेठकी स्त्रीने उनको आहार-पानी दिया। वे आहारपानी लेकर द्युति नामा आचार्यके उपाश्रयमें गये। द्युति आचार्यने उनको आसान दिया उसी पर बैठकर उन्होंने पारणा किया।" पृष्ठ ३८७

पाठक सोचते होंगे कि इस जगह पद्मचरितमें कैसा कथन है ? पद्मचरितमे और तो सब ऐसा ही कथन है किन्तु उसमें चारण मुनियोंका द्युति भट्टारकके यहां आकर भोजन जीमनेका कथन नहीं है।

इसके अलावा एक बात और भी विचारणीय है और वह

× हेमचन्द्राचार्यकृत 'त्रिषष्ठिशलाका पुरुष चरित्र' के सप्तम पर्वमें जो राम रावणकी कथा है उसीका हिन्दी अनुवाद ग्रन्थ भण्डार, माटुंगा, बंबई ने जैन रामायणके नामसे छपाया है। अनुवादक हैं कृष्ण-लालजी वर्मा 'प्रेम'। ग्रंथ बड़ासा है जिसमें १० सर्ग हैं। कथा पउम-चरिय और पद्मचरितसे अधिकांशमे मिलती हुई हैं, कहीं २ थोड़ा बहुत फर्क भी है।

यह है कि-दोनों ही ग्रंथोंमें सैकड़ों जगह मुनिवाचक शब्द आये हैं। किन्तु पद्मचरितमें जहां जातरूप, नग्न, अचेल, पाणिपात्र, गगनांबर, दिग्वास आदि या इन्हीं अर्थवाले अन्य नाम आते हैं वहां पउमचरियमें मुनिके पर्यायवाची ऐसे नाम भूलकर भी न मिलेंगे (उपर्युक्त 'सियंबर' शब्दको छोड़कर) किन्तु वहां मिलेंगे निर्ग्रन्थ, मुनि, साधु, श्रमण, यति आदि सामान्य शब्द। श्वेतांबराम्नायमें जिनकल्पी साधुका स्वरूप नग्न होते भी इतने बड़े भारी पुराणमें जिसमें चतुर्थकालकी आदिसे लेकर अन्त तक होने वाली कितनी ही कथाओंका समावेश है एक भी साधुको नग्न नहीं लिखना ग्रन्थकर्त्ताका नग्नत्वके प्रति अवश्य उपेक्षाभाव जाहिर होता है।

इसप्रकार जिस पउमचरियमें इतनी बाते दिगंबर संप्रदायके विरुद्ध पायी जाती हैं यहांतक कि मुनिके वस्त्र और पात्र तक रखना जिसमें प्रमाणित होता है और जिसका कर्त्ता मुनिके लिये दिगंबर शब्द तकका प्रयोग करना नहीं चाहता उसे दिगंबर ग्रंथ बतलाना भारी भूलहै। और यह भी नहीं कह सकते कि 'यह ग्रन्थ उस समय बना है जब जैनधर्ममें दिगंबर श्वेतांबर भेद नहीं हुआ था।' फिर भी इतना तो कहा जा सकता है कि- शायद यह ग्रंथ उस वक्त का हो जब जैनधर्ममें दिगंबर श्वेतांबर भेद स्पष्ट तौरपर न होकर उसकी परिस्थिति तैयार होरही हो कोई एक दल नय मार्ग निकालनेकी फिराकमे हो जिसके लिये धार्मिक ग्रथोंमें छिपे तौरपर मिलावट भी की

इससे यह ज्ञात होता है कि पउमचरिय में कीर्तिधरके ग्रन्थ का अनुसरण करते हुए भी ग्रथ को किसी श्वेतांबर ने बदला है अथवा कीर्तिधर के ग्रथ को बदलकर श्वेतांबर बनाने का प्रयत्न किया है।

जारही हो। यह अनुमान इसलिये भी ठीक होसकता है कि पउमचरिय जैसे एक बड़े ग्रन्थमें मुनिके वस्त्र पात्रका उल्लेख सिर्फ एक-एक ही मिला है। और वह भी अति संक्षेपसे।

यहांपर 'खंडेलवाल जैन हितेच्छु' के उस लेखपर विचार करना भी आवश्यक प्रतीत होता है, जिसमें पउमचरियको दिगंबर ग्रन्थ सिद्ध करनेका उद्योग किया गया था। जिसका कि जिकर ऊपर किया गया है। वह लेख जिस अंकमें मैंने पढ़ा था उसमें अपूर्ण था, आगेके अंकोंमें पूरा निकला होगा किन्तु वे मेरे देखने में नहीं आये। अतः उक्त लेखांशमें जो लिखा था उसीपर मैं यहाँ विचार करताहूं।

उस लेखमें लिखा था कि–"पउमचरियमें महावीर जिनका गर्भापहरण व उनका विवाह नहीं पाया जाता और केवलीके उपसर्गका अभाव भी उसमें निरूपण किया है इससे वह दिगम्बर ग्रन्थ है।"

बेशक मैं यह मानता हूँ कि पउमचरियके दूसरे पर्वमें जो महावीरस्वामीका चरित्र लिखा है, उसमें महावीरका माता त्रिशलाके गर्भमें आना बताया गया है व विवाहका कथन भी नहीं है। जिसका उत्तर यह भी होसकता है कि कथन संक्षेप होनेके कारण वैसा न लिखा गया हो। क्योंकि यहां खासतौरसे महावीरका चरित्र तो कहना ही न था जो सिलसिलेवार पूरा वर्णन करे। यहां तो कथाकी उत्थानिकाके तौरपर मामूली कथन करना था। अथवा संभव है कि गर्भापहरणकी कल्पना श्वेतांबर ग्रन्थकारोंकी पीछेकी हो। केवलीके उपसर्गका अभाव इसीमें क्या अन्य श्वेताम्बर ग्रन्थोंमें भी पाया जाता है। वीर जिनके केवली अवस्थामें उपसर्गका होना जो श्वेताम्बर आगममें पाया

जाता है वह एक विशेष बात है जिसे उन्होंने भी आश्चर्य नामसे लिखा है। और वह पउमचरियमें संक्षेपताके कारण नहीं लिखा गया है ऐसा जान पड़ता है। लेखकने एकबात अपनी जाणमें बड़े मार्केकी लिखी है। वह पउमचरियके निम्न पद्यको जिसमें पांच तीर्थंकरोंको कुमारावस्थामें दीक्षा लेनेका कथन है महावीर की अविवाह सिद्धिमे पेश किया है–

........मल्लो अरिट्ठनेमी पासो वीरो य वासुपुज्जो ।।५७।।
एए कुमारसीहा गेहाओ णिग्गया जिणवरिंदा ।
सेसा वि हु रायाणो पुहई भोत्तण णिक्खंता ।।५८।।
पर्व २०

अर्थ–मल्लि, अरिष्टनेमि, पार्श्व, वीर और वासुपूज्य ये पांच तीर्थंकर कुमारपणेमें घरसे निकले–यानी दीक्षा ली, और शेष तीर्थंकर राजा हो पृथ्वीको भोग दीक्षा ली।

यहां भी लेखकने कुमार शब्दमें गलती खाई है। यहां कुमारसे मतलब है राज्याभिषेकके पूर्वकी अवस्था, न कि बाल-ब्रह्मचारित्व। नहीं तो ग्रन्थकर्त्ता यों नहीं लिखते कि–'शेष तीर्थंकर राज भोगकर दीक्षा ली'। इसी तरहका वर्णन श्वेताम्बरोंके 'आवश्यक सूत्र' में भी पाया जाता है। यथा–

वीरं अरिट्ठनेमिं पासं मल्लिं च वासुपुज्जं च ।
एए मोत्तूण जिणे अवसेसा आसि रायाणो ।।२४३।।
★मय इच्छियाभिसेया कुमारवासंमि पव्वइया ।
'आवश्यक सूत्र'

★ रायकुलेसु विजाया विसुद्धवंसेसु खत्तिअकुलेसु ।
ण य इत्थि आभिसेआ कुमार वासमि पव्वइय ।।
आवश्यक निर्युक्ति

अर्थ-वीर, अरिष्टनेमि, पार्श्व, मल्लि और वासुपूज्य इन पंच तीर्थकरोंको छोड़कर बाकी तीर्थंकर राजा हो दीक्षा ली। और उक्त पांचों ने राज्याभिषेकको नहीं चाहते हुए कुमारावस्था मे ही दीक्षा ली।

पाठकोंको यह स्मरण रहे कि इसी आवश्यक सूत्रमें महावीर जिनका विवाहही नहीं उनके संतान तकका उल्लेख है।

इसप्रकार लेखकने पउमचरियको दिगम्बर ग्रन्थ साबित करनेके लिये जो-जो दलीलें दीं वे सब निःसार और अकिंचित्कर हैं।

पद्मपुराणकी प्रामाणिकता में संदेह—

रविषेणके पद्मचरितमें कितना ही कथन ऐसा भी है जो दिगम्बर मान्यताके विरुद्ध पड़ता है। और वह पउमचरिय का अनुसरण करते हुये किसी तरह उसमें प्रविष्ट होगया जान पड़ता है। जैसे–

मेरुको कंपित करनेसे महावीर नाम होना × (खण्ड १ पृष्ठ १५) विद्याधर वंशकी उत्पत्ति नमिविनमिसे बताना + (खं० १ पृ० ६८) जंबूद्वीपके अधिपति यक्षकी देवियोंका, रावणपर मोहित हो उससे संभोगकी इच्छा करना। (खंड १ पृष्ठ १६४) जिन प्रतिमाके मुकुट धारण, (खंड २ पृष्ठ ३०) दो केवलीका

× असग कविकृत महावीर चरित और श्री धर्मचन्द्रकृत गौतमचरितमें भी ऐसा उल्लेख है वह पद्मचरित परसे लिया गया ज्ञात होता है। तथा इसकी भी गणना दिगम्बर श्वेतांबरके ८४ अन्तरोंमें है।

+ क्या पहिले विद्याधर नही थे।

साथ २ रहना और दोनोंकी एक ही गंधकुटी बनना, (खं० २ पृ० १६२) लक्ष्मणका खरदूषणकी स्त्रीपर आसक्त होना,★ (खं० २ पृ० २४३) देवोंका परस्परयुद्ध, (खं० ३ पृ० २१) उत्कृष्ट अणुव्रती क्षुल्लकका शस्त्रविद्या सिखाना, (खं० ३ पृ० २४७) मुनिका रात्रिमें मामूली बात के लिये बोलना, (खं० ३ पृ० ३१८)।

इन सबका विशेष कथन लेख बढ़ जानेके भयसे छोड़ा जाता है।

यहां मैं इतना स्पष्ट और कर देता हूं कि पद्मचरितकी उक्त बातें जिन्हें देखना हो उन्हें माणिकचन्द्र ग्रन्थमालासे प्रकाशित संस्कृत मूल पद्मचरित++देखना चाहिये उसीके ऊपर खंड, पृष्ठ लिखे गये हैं। स्वर्गीय पं० दौलतरामजी कृत वचनिकामें प्रायः ये बातें न मिलेंगी।

वचनिकार तो येही क्या और भी कितनी ही सैकड़ों बातें उड़ा गये हैं और इस तरह ग्रन्थकर्ताके कितने ही अभिप्रायोंसे पाठकोंको वंचित रक्खा है। किसी अनुवादककी ऐसी कृति प्रशंसनीय नहीं कही जासकती। सच तो यह है कि वचनि-

---

★ यह सिद्धांत विरुद्ध तो नहीं है किन्तु बात नई सी है।

++यह ग्रंथ बहुत ही अशुद्ध छपा है। पं० वीरेन्द्रकुमारजी शास्त्री केकड़ीने एक हस्तलिखित प्रतिसे छपी प्रतिको मिलाकर उसकी ढेर अशुद्धियें छांटकर अलग संग्रह किया है। संस्कृत ग्रन्थका इस तरह बेपर्वाह और अंधाधुंधी से छपना अफसोसकी बात है। उन अशुद्धियोंको शुद्ध कर लेनेपर भी प्राकृत लेखमें उठाये गये आक्षेपोंमें कोई फेरफार नहीं होता।

काकारकी इस कृपासे ही यह ग्रन्थ अबतक थोड़ा बहुत प्रमाण माना जारहा है। अन्यथा ऐसी बातोंका दिगंबर संप्रदायमें क्या काम ? मुझे आश्चर्य और साथही खेद भी है कि दिगंबर मतका कहा जानेवाला एक प्राचीन पौराणिक ग्रन्थका यह हाल है। यह सब एक विभिन्न आम्नायके ग्रन्थकी नकल करनेका परिणाम है। नकलका रंग तो यहांतक चढ़ा है कि आप सारे पद्मचरितको देख जाइये संकड़ों जगह मुनि धर्मके कथनका प्रसंग होते भी उसमें २८ मूल गुणोंके नाम न मिलेंगे क्योंकि जब पउमचरियमें नहीं तो पद्मचरितमें कहाँसे मिल सकते है। और इसीलिये हरिवंशकी उत्पत्तिमें भी गड़बड़ी हुई है जैसा कि ऊपर कहा गया है। पद्मचरित पर्व ३२ के अन्तमें जो जिनप्रतिमाके पंचामृताभिषेकका विवेचन है वहभी हूबहू पउमचरिय की नकल है। आश्चर्य नहीं जो अन्य दि॰ग्रन्थोंमे पंचामृताभिषेक का पाया जाना इसीका प्रताप हो उत्तरोत्तर ग्रन्थकर्ता देखादेखी ऐसा ही कथन करते चले गये हों और इस तरह पर एक भिन्न संप्रदायकी थोथी क्रियाकांडकी परम्परा चल पड़ी हो। तेरहपंथ का उसे न मानना भी इस अनुमानको दृढ़ करता है कुछ भी हो ये बातें हमको सावधान करनेके लिये पर्याप्त हैं कि किसी संस्कृत प्राकृत ग्रन्थको महज एक प्राचीन होनेकी वजहसे ही मान्य नहीं कर लेना चाहिये। किन्तु ऐसे मामलेमें सदसद्विवेक बुद्धिसे पूरा काम लेना चाहिये।

दोनों ग्रन्थोंमें एक अत्यंत चिंतनीय स्थल—

चउसट्ठि सहस्साइं वरिसाणं अंतरं समक्खायं।
तित्थयरेहि महायस भारहरामायणाणं तु ॥१६॥
पर्व १०५ 'पउमचरिय'।

षष्टिवर्षसहस्राणि चत्वारि च ततः परं।
रामायणस्य विज्ञेयमंतरं भारतस्य च ॥ २८ ॥
'पद्मचरित' पर्व १०६

इनमें लिखा है कि महाभारत और रामायणमें यानी श्रीकृष्ण पांडवादि और रामरावणादिक समयका अंतर ६४ हजार वर्षका है। " यह अन्तर बहुत ही विचारणीय है मुनिमुव्रतके तीर्थमें श्रीरामचन्द्र हुए और नेमिनाथके वक्त श्रीकृष्ण। तथा दोनों ही ग्रन्थोंके पर्व २० में जो तीर्थंकरोंका अन्तराल कथन है यहां लिखा है कि मुनिसुव्रतके छह लाख वर्षबाद तो हुए नमिनाथ और नमिनाथके ५ लाख वर्षबाद हुए नेमिनाथ। अर्थात् मुनिसुव्रत और नेमिनाथका अन्तराल समय ११ लाख वर्षका होता है। तब यहां भारत और रामायणका अन्तर ६४ हजार वर्ष ही कैसे लिखा है। हमने खूब ही विचार किया पर किसी तरह इस कथनकी संगति नहीं बैठती। अन्य विद्वानोंको भी सोचना चाहिये। इति। ★

★ पद्मचरित की प्रशस्ति में रविषेण ने जिनको गुरु रूप में नमस्कारादि किया है वे जैनाभास प्रतीत होते हैं– यापनीय संघादि या चैत्यवासी हों। 'पउमचरिय' की हस्तलिखित प्रतियां भी मात्र श्वे० ग्रंथ भण्डारों में ही पाई जाती है दि० ग्रंथ भण्डारों में कतई नहीं इससे भी पउमचरिय श्वे० कृति सिद्ध होती है।



२५

प्रतिष्ठाचार्यों के लिये एक विचारणीय विषय मोक्षकल्याणक

आजकल प्रतिष्ठाचार्य भगवान् अर्हंत देव की प्रतिष्ठा में मोक्षकल्याण के विधान में अग्निकुमार देव के मुकुट से उत्पन्न अग्नि में भगवान् के दाह संस्कार का दृश्य दिखाते हैं। ऐसा करना उनका शास्त्र सम्मत प्रतीत नही होता है। क्योंकि दाह संस्कार के समय में जब भगवान् अरिहन्त ही न रहेंगे तो उनकी प्रतिमा भी अर्हंत प्रतिमा कैसे मानी जायेगी ? दाह संस्कार भगवान् के निर्वाण होने बाद किया जाता है। उस वक्त अरिहन्त अवस्था का लेश भी नहीं रहता है। अरिहन्तदेव के अघातिया कर्मों का नाश होता नहीं और दाह संस्कार उनका अघातिया कर्मों के नाश होने के बाद ही किया जाता है। वर्तमान में प्रचलित किसी भी प्रतिष्ठाशास्त्र में दाह-संस्कार का दृश्य दिखाने का उल्लेख नहीं है। फिर न जाने ये प्रतिष्ठाचार्य मनमानी कैसे कर रहे हैं ? चूंकि भविष्य में प्रतिमा अरिहन्तदेव की मानी जायेगी, अतः उनका मोक्ष गमन दृश्यरूप में बताना किसी तरह उचित नहीं है। अर्थात् केवल ज्ञानी भगवान् का धर्मोपदेश-विहार आदि बताये बाद उनका दृश्यरूप में मोक्ष गमन न बताकर उनके मोक्ष गमन का मात्र स्मरण कर लेना

चाहिये कि इसके बाद भगवान् मोक्ष पधार गये।

इसी आशय को लेकर जयसेन ने स्वरचित प्रतिष्ठा शास्त्र के पद्य नं० ६११ के आगे गद्य में ऐसा लिखा है :—

'निर्वाण भक्तिरेव निर्वाण कल्याणारोपणं,
साक्षात् न विधेयं स्मरणीयमेवेति।

इसकी वचनिका—

'अर पंचकल्याणनि में च्यारिकल्याण तो विधान संयुक्त किया। अर पंचम कल्याण मोक्षकल्याण है सो निर्वाणभक्ति पाठमात्र ही आरोपण करना। साक्षात् विधान नही करना। स्मरणमात्र ही है। ऐसा अनिर्वाच्य समझि लेना।'

यहाँ मोक्ष कल्याण का विधान निर्वाणभक्ति का पढलेना मात्र बताया है और साक्षात् विधान करने का निषेध किया है। ऐसी सूरत में प्रभु के दाह-सस्कार को दृश्यरूप में बताना साक्षात् विधान करना होगा और स्पष्ट ही शास्त्राज्ञा का उल्लंघन करना कहलावेगा। जयसेन ने मोक्षगमन का साक्षात् विधान नहीं लिखने के साथ ही साथ उन्होने मोक्षकल्याण के अर्थ इन्द्रादि देवों का आगमन भी नहीं लिखा है और न चौबीस तीर्थंकरों की मोक्षतिथियों की पूजा ही लिखी है। जब कि वे अन्य कल्याणकों में उन कल्याणकों की तिथियों की पूजा लिखते रहे हैं इससे यही फलितार्थ निकलता है कि जयसेन की दृष्टि में अर्हंतप्रतिमा में मोक्षकल्याण की प्रधानता नही है। और जबकि मोक्षकल्याण में देवों के आगमन का ही उल्लेख नही है तो अग्निकुमारदेव के मुकुट से अग्नि उत्पन्न करना आदि दृश्य दिखाना स्पष्ट ही शास्त्र विरुद्ध है। इसके अतिरिक्त अरिहन्त-

मूर्ति के पादपीठ पर जो प्रतिष्ठा की तिथि अंकित की जाती है वह भी ज्ञानकल्याणक के दिन की ही अंकित की जाती है। इससे भी यही सिद्ध होता है कि अर्हत्प्रतिमा में मोक्षकल्याण का साक्षात् विधान नहीं है, स्मरणमात्र है, साक्षात् विधान असंगत है (सिद्ध प्रतिमा में पंचम कल्याण प्रदर्शन फिर भी संगत हो सकता है, अर्हत्प्रतिमा में नहीं)।

आशा है वर्तमान के प्रतिष्ठाचार्य इस पर गम्भीरता से विचार करेंगे। उनके विचारार्थ ही हमने यह लेख प्रस्तुत किया है। अगर अर्हत्प्रतिमा में दाह-संस्कार का विधान करना उन्हें भी अयुक्त नजर आये तो उनका कर्तव्य है कि आगे के लिए उन्हें ऐसा करना बन्द करना चाहिये ताकि गलत परम्परा यहीं समाप्त हो जाये। प्रतिष्ठा सम्बन्धी और भी भूलें हमने पहिले दिखाई थी जिनकी चर्चा 'जैन निबन्ध रत्नावली' पुस्तक में की गई है उन पर भी ध्यान दिया जाये ऐसी प्रार्थना है।



२६

नवकोटि विशुद्धि

जिन आहारादि के उत्पादन में मुनि का मन, वचन, काय के द्वारा कृत कारित अनुमोदितरूप कुछ भी योगदान न हो ऐसा आहारादि का लेना मुनि के लिऐ नवकोटि विशुद्धिदान कहलाता है। अर्थात जो आहारादि मुनि के मन के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदित न हो। न उनके वचन के द्वारा कृत-कारित अनुमोदित हो और न उनके काय के द्वारा कृत-कारित-अनुमोदित हो ऐसे आहारादि का दान नवकोटि विशुद्ध दान कहलाता है। मतलब कि देयवस्तु के सम्पादन में मुनि का कुछ भी संपर्क नहीं होना चाहिये। इससे आहारादि के निमित्त हुआ आरम्भदोष मुनि को नहीं लगता है। वरना वह मुनि अधः कर्म जैसे महादोष का भागी होता है। अनेक ग्रन्थों में नवकोटि विशुद्धि का यही स्वरूप लिखा मिलता है। किन्तु आचार्य जिनसेन ने आदि पुराण पर्व २० में नवकोटि विशुद्धि का एक अन्य स्वरूप भी लिखा है। यथा—

दातु विशुद्धता देयं पात्रं च प्रपुनातिसा।
शुद्धि र्देयस्य दातारं पुनीते पात्रमप्यद: ॥१३६॥
पात्रस्य शुद्धि र्दातारं देयं चैद पुनात्यत:।
नवकोटि विशुद्धं तद्दानं भूरिफलोदयम् ॥१३७॥

अर्थ—दाता की शुद्धि देय और पात्र को पवित्र बनाती

है देय की शुद्धि दाता और पात्र को शुद्ध करती है। एवं पात्र की शुद्धि दाता देय को पवित्र करती है। इस प्रकार का नव-कोटि शुद्ध दान प्रचुर फल का देने वाला होता है।

इसमें जो लिखा है उसका अभिप्राय ऐसा है कि दाता, देय (दान का द्रव) और पात्र (दान लेने वाला) इन तीनों में यदि तीनों हो अशुद्ध हों तब तो वह दान विधि दोषास्पद है ही। किन्तु इन तीनों में से कोई भी दो अशुद्ध हों और एक शुद्ध हो तो उस हालत में भी वह दान विधि दोषास्पद ही है। यही नहीं तीनों में से यदि दो शुद्ध हों और सिर्फ एक ही कोई सा अशुद्ध हो तब भी वह दान विधि दोषास्पद ही समझनी चाहिए। मतलब कि दान विधि में दाता देय और पात्र ये तीनों ही निर्दोष होने चाहिये तब ही वह बहुत फल को दे सकती है। तीनों में कोईसा एक भी यदि सदोष होगा तो वह दान विधि प्रशस्त नहीं मानी जा सकती है।

उक्त श्लोक द्वय में लिखा है कि दाता की शुद्धि देय और पात्र को पवित्र बनाती है। इस लिखने का भाव यह है कि यद्यपि देय और पात्र शुद्ध है मगर दाता अशुद्ध है तो इस एक की अशुद्धि ही सब दान विधि को सदोष बना देगी और दाता व पात्र शुद्ध हैं मगर देय कहिये दान का द्रव अशुद्ध है तो यहाँ भी इस एक की अशुद्धि ही समस्त दान विधि को सदोष बना डालेगी। इसी तरह दाता और देय शुद्ध है मगर पात्र अशुद्ध है तो वह दान विधि भी सारी की सारी सदोष ही समझी जाएगी।

जिन सेना चार्य का यह कथन आशाधर ने सागर धर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ४७ की टीका में तथा अनगारधर्मामृत के

५ वें अध्याय के अन्त में और शुभचन्द्र ने कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ३६० की टीका में उद्धृत किया है।

किन्तु सोमदेव ने यशस्तिलक के निम्न श्लोक में जिनसेन के उक्त कथन के विरुद्ध लिखा है।

भुक्तिमात्रप्रदाने हि का परीक्षा तपस्विनाम् ।
ते संतः संत्वसंतो वा गृही दानेन शुद्ध्यति ।।८१८।।

अर्थ –भोजनमात्र के देने में साधुओं की क्या परीक्षा करनी ? वे चाहे श्रेष्ठ हों या हीन हों। गृहस्थ तो उन्हें दान देने से शुद्ध हो ही जाता है।

सोमदेव ने इस श्लोक में यह शिक्षा दी है कि मुनि को आहार दान देते वक्त गृहस्थ को यह नहीं देखना चाहिए कि यह मुनि आचारवान् है या आचार भ्रष्ट है उसकी जाँच पड़ताल करने की जरूरत नहीं है। मुनि चाहे कैसा ही अच्छा बुरा क्यों न हो गृहस्थ को तो आहारदान देने का अच्छा ही फल मिलेगा।

सोमदेव का ऐसा लिखना जिनसेनाचार्य की आम्नाय के विरुद्ध है क्योंकि जिनसेन ने ऊपर यह प्रतिपादन किया है कि–पात्रकी शुद्धि दाता और देय दोनोंको पवित्र बनातीहै। प्रकारांतर से इसी को यों कहना चाहिए कि–पात्र की (दान लेने वाले साधुकी अशुद्धि दाता और देयको भी अशुद्ध बनादेती है। भावार्थ उत्तमदाता और उत्तम देय के साथ-साथ दान लेने वाला भी सुपात्र होना चाहिए तबही दानीको दानका यथेष्टफल मिलताहै।

महर्षि जिनसेन और सोमदेव के इन परस्पर विरुद्ध वचनों में किनका वचन प्रमाण माना जाए यह निर्णय हम विचारशील पाठकों पर ही छोड़ते हैं।



२७

अढाई द्वीप के नक्शे में सुधार की आवश्यकता

यह नक्शा हाल ही में श्रीयुत पन्नालाल जी जैन दिल्ली की ओर से प्रकाशित हुआ है। जैन भूगोल के ज्ञान की जैन समाज में बड़ी कमी है। और तो क्या जैन विद्वान तक भी इस दिशा में पूरी जानकारी नहीं रखते हैं। ऐसी अवस्था में आपका यह प्रयास समयोपयोगी और स्तुत्य है। आपने परिश्रम के साथ यह नक्शा तैयार किया है तदर्थ आप धन्यवाद के पात्र हैं। इसके पहिले आपने चौबीस तीर्थंकरों के ज्ञातव्य विषयों का नक्शा भी प्रकाशित करके वितरण किया है। ऐसे कामों में आपकी अभिरुचि होना यह एक सराहनीय बात है।

उक्त अढ़ाई द्वीप का नक्शा मेरे सामने है। देखने पर उसमें मुझे भूलें नजर आई हैं, जिनका मैं यहाँ उल्लेख कर देना उचित समझता हूँ।

(१) विदेह क्षेत्र में सीता के उत्तर तट और सीतोदा के दक्षिण तट के देशों को नक्शे में उल्टेक्रम से लिखे हैं। यानी वे लवणसमुद्र से भद्रशालवन की तरफ लिखे गये हैं। ऐसा लिखना गलत है। उन्हें क्रम से भद्रशाल से लवण समुद्र की तरफ लिखने

चाहिये। प्रमाण के लिये देखो त्रिलोकसार की ६८७ आदि गाथायें।

(२) नक्शे में युग्मंधर का स्थान सीताके दक्षिण तटपर, बाहुका सीतोद.के दक्षिण तटपर और सुबाहुका सीतोदाके उत्तर तटपर बताया है वह भी गलत है। क्योंकि ग्रन्थों में युग्मंधर की नगरी का नाम विजया लिखा है। यह नाम शास्त्रों में सीता के दक्षिण तट की नगरियों में कहीं नहीं है। और बाहु की नगरी का नाम सुसीमा लिखा है यह नाम भी सीतोदा के दक्षिण तट की नगरियों में नहीं है।

तथा सुबाहु की नगरी का नाम वीतशोका लिखा है यह नाम भी सीतोदा के उत्तर तट की नगरियों में नहीं है। इससे मालूम होताहै कि-इन तीनों तीर्थंकरोंके जो स्थान नक्शेमें बताये गये हैं वे गलत हैं। और इसी माफक नक्शे में अन्य चार मेरु सम्बन्धी विदेहों में शेष १६ विद्यमान तीर्थंकरों के स्थान बताये हैं वे गलत हैं। सही स्थान युग्मंधर, बाहु, सुबाहु का क्रमशः सीतोदा का उत्तर तट, सीता का दक्षिण तट और सीतोदा का दक्षिण तट है। इसी माफक धातकी द्वीपादि के विदेहों में समझना चाहिये। प्रमाण के लिये देखो कवि द्यानतराय जी कृत धर्म विलास में 'वर्तमानबीसी दशक' नामक पाठ। इस विषय में हमारा एक लेख गत कार्तिक कृष्णा ५ के जैनमित्र के अंक में छपा है उसे देखना चाहिये।

(३) नक्शे में हैमवत, हरि, रम्यक और हैरण्यवत इन क्षेत्रों के मध्य में वैताढ्य पर्वत बताया है। वह गलत है, उसकी जगह नाभिगिरि लिखना चाहिये।

(४) नक्शे में गंगा सिन्धु को दक्षिण की तरफ के लवण समुद्र में गिरना चित्रित किया है। यह गलत है, दोनों नदियें दक्षिण भरत के अर्द्ध भाग तक ही दक्षिण की ओर बह कर फिर पूर्व-पश्चिम की ओर मुड़कर सीधी पूर्व-पश्चिम की तरफ के लवण समुद्र में गिरी है। इसी तरह की गलती रक्ता रक्तोदा के सम्बन्ध में की गई है। प्रमाण के लिये देखो त्रिलोकसार की गाथा ५९६ वीं।

(५) नक्शे में धातकी और पुष्करार्द्ध द्वीप की रचना अंकित की है परन्तु दोनों द्वीपों के नाम कहीं नहीं लिखे है।

(६) नक्शे में धातकी और पुष्करार्द्ध के पूर्वापर भागों को विभाजित करने वाले चार पर्वतों के नाम वक्षारगिरि लिखे है। यह गलत है, उनकी जगह इक्ष्वाकार गिरि नाम लिखने चाहिये।

(७) धातकी और पुष्करार्द्ध में गंगाको आधे भरत क्षेत्रमें लिखकर उसीको आधे भरतमें सिंधु नामसे लिखाहै। और सिंधु को भी आधे भरतमें गंगा के नामसे लिखा है। यही भूल उक्त दोनो द्वीपों के ऐरावत क्षेत्र में की है।

(८) नंदीश्वर द्वीप में ५२ जिनालयों की रचना में दधिमुख और रतिकर पर्वतों के नाम लिखकर यह सूचित किया है कि-उनपर जिनालय हैं। किन्तु उनकी तो संख्या ४८ ही होतीहै। शेष ४ जिनालय कहां किस पर्वत पर हैं यह नक्शेमें कहीं नहीं लिखा गया है। ४ जिनालय 'अंजनगिरि' पर है। ४ दधिमुख भी नही लिखे हैं वे भी लिखने चाहिए।

(९) २५ से ३२ तक के क्षेत्रों पर 'भूतारण्य' तथा १७ से

२४ पर "देवारण्य" दिया है उनकी जगह क्रमशः "देवारण्य" "भूतारण्य" परिवर्तित करना चाहिए। देखो त्रिलोकसार गाथा ६६० की वचनिका।

(१०) नक्शे में हृद् जगह-जगह लिखा है सर्वत्र ह्रद चाहिए अथवा द्रह कर देना चाहिए।

(११) कालोदधि समुद्र लिखा है यह गलत है क्योंकि उदधि, समुद्र दोनों एकार्थक हैं अतः 'कालोदक समुद्र' नाम देना चाहिए अथवा सिर्फ "कालोदधि"।

(१२) हैरण्यवन क्षेत्र हैमवन क्षेत्र लिखा है चाहिए हैरण्यवत्त क्षेत्र हैमवत क्षेत्र।

(१३) नदी नामों मे हरि नदी लिखा है चाहिए हरित् नदी। इसीतरह कहीं-कहीं 'नरकांता' नदी का नाम भी गलत लिखा है।

इस प्रकार ये भूलें नक्शे में हमारी दृष्टि में आई है। यदि इस विषय के किसी अच्छे जानकार विद्वान् से परामर्श करके नक्शा तैयार किया जाता तो ये भूले उसमें नही रहतीं। नक्शे का आकार भी बेडौल है। अगर कुछ महीन अक्षरो मे छापा जाता तो नक्शा कुछ छोटा बनकर कांच में जड़ने योग्य बन जाता व उसमें और भी आवश्यक जानकारी दी जा सकती थी। जैसे विदेह क्षेत्र सम्बन्धी मुख्य नगरियों के नाम, विभंगा नदियें, वक्षारगिरि, जम्बूशाल्मली वृक्ष, भद्रशाल आदि वन वगैरह। नक्शे में संकेतसूचिका, सबोधन आदि देकर व्यर्थ ही नक्शे का कलेवर भरा गया है। इनकी जगह अढाई द्वीप में कहां-कहां अकृत्रिम चैत्यालय हैं उनकी कुल कितनी संख्या है, मेरु की

ऊंचाई, चौड़ाई कितनी है। विदेह के प्रत्येक देश में चक्रवर्ती छहखंडों का विजय करता है वे छह खण्ड वहां कैसे बनते हैं, इत्यादि विवरण लिखा जाना चाहिये था।

जो भूलें हमने यहां बताई हैं उनका संशोधन नक्शे में जरूर सूचित किया जाना चाहिये। वर्ना गलत प्रचार होगा जो अच्छा नहीं है। हमारी राय में नक्शे में जहां संकेतसूचिका और संबोधन शीर्षक के नीचे जो कुछ छपा है वे खास आवश्यक नहीं हैं उसके ऊपर ही संशोधनपत्र चिपका देने चाहिये।

आशा है भाई पन्नालाल जी साहब इस पर ध्यान देने की कृपा करेंगे।

नोट :—वर्धमान प्रेस इलाहाबाद से प्रकाशित जम्बूद्वीप का नक्शा (मोटा ग्लेज कागज) काफी शुद्ध है त्रिलोकसारानुसार बिल्कुल सही है।



२८

कतिपय ग्रंथकारों का समय निर्णय

शुभचन्द्राचार्य

यहां हम उन शुभचन्द्राचार्य के समय की चर्चा कर रहे हैं जिन्होंने ज्ञानार्णव नामक उत्तम शास्त्र बनाया है। उसमें संस्कृत के कोई ४३ पद्य अन्य ग्रंथों के 'उक्तंच' रूपसे पाये जाते हैं। ये सब पद्य स्वयं ग्रन्थकार ने ही उद्धृत किये हैं, टीकाकार ने नहीं। हमारे समक्ष ज्ञानार्णव की एक ऐसी हस्तलिखित मूल प्रति है जिसको सकलकीर्ति की शिष्यपरम्परा में होने वाले शुभचन्द्र के शिष्य विशालकीर्ति मुनि ने वि० सं० १६११ में लिखाई थी। उसमें भी ये पद्य इसी तरह से "उक्तं च" लिखे हैं। उन पद्यों में पुरुषार्थसिद्ध्युपाय और यशस्तिलक के भी पद्य हैं। यशस्तिलक के पद्य ज्ञानार्णव के पृ० ७० और ८७ पर तथा पुरुषार्थसिद्ध्युपाय का "मिथ्यात्ववेदरागा" पद्य पृष्ठ १६५ पर उद्धृत है। यह पृष्ठसंख्या ज्ञानार्णव के तीसरे संस्करण की समझनी चाहिये। इनमें से यशस्तिलक का रचनाकाल पूर्णतया निश्चित है। यशस्तिलक की प्रशस्ति में उसके कर्त्ता सोमदेव ने उसको वि० सं० १०१६ में बनाकर समाप्त किया लिखा है। इससे प्रगट होता है कि ज्ञानार्णव के रचनाकाल की पूर्वावधि वि० सं० १०१६ की है। यानी वह वि० सं०१०१६ से पहिले का बना हुआ नहीं है। बाद में बना है। कितने बाद में बना है? इसके लिये रत्नकरंडश्रावकाचार की प्रभाचन्द्र कृत संस्कृत

टीका दृष्टव्य है। उसके ५ वें परिच्छेद के श्लोक २४ की टीका में प्रभाचन्द्र ने ज्ञानार्णव का निम्न पद्य उद्धृत किया है—

> क्षेत्रं वास्तु धनं धान्यं द्विपदं च चतुष्पदम् ।
> शयनासनं च यानं कुप्यं भांडममी दश ।।४।।
> सर्ग १६

प्रभाचन्द्र ने कुछ साहित्य राजा भोज के राज्य में और कुछ साहित्य भोज के उत्तराधिकारी राजा जयसिंह के राज्य में निर्माण किया है। इतिहास में राजा भोज का राज्य-काल वि. सं. १०७० से ११११० तक का और उसके बाद जयसिंह का राज्यकाल वि. सं ११११६ तक का माना है। यही और इससे कुछ आगे तक का समय प्रभाचन्द्र का है। शुभचन्द्र के समय की उत्तरावधि भी यही समझनी चाहिये यानी इस समय से पहिले पहिले ज्ञानार्णव का निर्माण हुआ है। अर्थात् ज्ञानार्णवकी रचना विक्रम की ११ वीं शती का दूसरा तीसरा चरण हो सकता है। श्री विश्वभूषण ने इन शुभचन्द्र को राजा मुंज और भोजदेव के समकालीन लिखा है। इस कथन की संगति भी उक्त समय से मिल जाती है। विश्वभूषण ने भर्तृहरि को भी इन्हीं शुभचन्द्र के समसामयिक लिखा है सो ये भर्तृहरि शतकत्रय के कर्त्ता भर्तृ-हरि से भिन्न कोई अन्य ही भर्तृहरि हो सकते हैं। क्योंकि भर्तृहरि के नीतिशतक का "नेता यस्य बृहस्पति" और वैराग्य-शतक का "यदेतत्स्वच्छंदं" ये दोनो पद्य गुणभद्रकृत आत्मा-नुशासन में क्रमशः ३२ और ६७ नम्बर पर पाये जाते हैं। अतः शतकत्रय की रचना गुणभद्र से भी पहिले हुई है। गुणभद्र का अस्तित्व वि. सं. ९१० के लगभग तक का माना जाता है। इस-लिये ज्ञानार्णव के रचयिता शुभचन्द्र जिनका कि समय ऊपर

हम विक्रम की ११ वीं शती बता आये हैं, के काल में शतकत्रय के कर्त्ता भर्तृहरि के होने की संभावना नहीं है।

हेमचन्द्र ने योगशास्त्र (श्वेतांबर) लिखा है ज्ञानार्णव और योगशास्त्र के बहुत से स्थल एक समान मिलते हैं। दोनों में पहिले कौन हुआ ? यह प्रश्न बराबर चला आरहा था। हेमचन्द्र का समय निश्चित है कि वे वि. सं. १२२६ तक जीवित थे। इसलिये अब यह सिद्ध हुआ कि ज्ञानार्णव से करीब डेढ सौ वर्ष बाद योगशास्त्र बना है।

आचार्य अमृतचन्द्र

अमृतचन्द्रकृत पुरुषार्थसिद्ध्युपायके कितनेही पद्यजयसेनके धर्मरत्नाकरमें पाये जाते हैं। धर्मरत्नाकर का रचनाकाल वि.सं. १०५५ है। अतः पुरुषार्थसिद्ध्युपाय के रचनासमय की इसे उत्तरावधि समझनी चाहिये। अर्थात् पुरुषार्थसिद्ध्युपाय ग्रन्थ वि सं. १०५५ से पहिले बना है, बाद में नहीं। कितने पहले बना है ? इस पर जब विचार किया जाता है तो पट्टावली में अमृतचन्द्र के पट्टारोहण का समय वि सं. ६६२ दिया है वह ठीक जान पड़ता है इससे उनका अस्तित्व अधिकतया विक्रम की ११ वीं शती के एक दो दशक तक कहा जा सकता है। यही समय यशस्तिलक के कर्त्ता सोमदेव का है। दोनों समकालीन हैं।

पद्मनंदी

हम जिन पद्मनंदी के समय पर विचार कर रहे हैं वे हैं "पद्मनंदिपंचविंशतिका" ग्रन्थके कर्त्ता पद्मनंदी। इस ग्रन्थके "अध्रुवाशरणे" आदि २ पद्य जिनमें १२ अनुप्रेक्षाओं के नाम

लिखे हैं रत्नकरंडश्रावकाचार के परिच्छेद ४ श्लो १८ की प्रभाचन्द्रकृत टीका में पाये जाते है। इससे ज्ञात होता है कि यह पंचविंशतिका ग्रन्थ प्रभाचन्द्र से पहिले का बना हुआ है। रत्नकरंड की टीका के कर्त्ता प्रभाचन्द्र का काल विक्रम की ११ वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १२ वीं के प्रथम चरण तक का है जैसा कि हम ऊपर बता आये है। इस समय को 'पंचविंशतिका' की उत्तरावधिका समझना चाहिये। अर्थात् यह ग्रन्थ इस समय से बाद का बना हुआ नही है, पहिले का बना हुआ है। कितना पहिले का बना है ? इस सम्बन्ध मे फिलहाल हम इतना ही कह सकते हैं कि इस ग्रन्थ के प्रथम प्रकरण के श्लो. १६७ मे, द्वितीय प्रकरण के श्लो ५४ में और ६ वे प्रकरण के श्लो. ३२में पद्मनंदी ने वीरनंदि को अपना गुरु लिखा है। बोधपाहुड गाथा १० की टीका में श्रुतसागर ने भी वीरनंदि को इन पद्मनंदी का गुरु लिखा है। एक वीरनदि वे हुये हैं जिन्होंने चन्द्रप्रभ काव्य बनाया था। उनके गुरु अभयनदी थे। इन वीरनंदि का समय विक्रम की ११ वी शती का पूर्व भाग माना जाता है। यदि यही समय पद्मनंदी का भी माना जाये तो दोनों का समकाल होने से हमारा मन कहता है कि कहीं ये ही वीरनंदि तो इन पद्मनंदी के गुरु नही हैं ?

पद्मनंदिपंचविंशतिका के चतुर्थप्रकरण-एकत्वसप्तति की कन्नड़भाषा में एक टीका भी उपलब्ध है। उस टीका के रचयिता भी पद्मनंदी ही हैं। पर ये टीकाकार पद्मनंदी और मूलग्रन्थकार पद्मनंदी दोनों एक नहीं, भिन्न २ हैं। क्योंकि टीकावाले पद्मनंदी के गुरु का नाम शुभचन्द्रराद्धांतदेव लिखा है। जबकि मूल ग्रन्थकार पद्मनंदी स्वयं अपने गुरु का नाम

वीरनंदि लिखते हैं। वे सारे ग्रन्थभर में शुभचन्द्र का कहीं कोई उल्लेख नहीं करते हैं तथा कनडी टीका वि सं. ११६३ के आस-पास रची गई है। अगर यही समय मूलग्रन्थकार पद्मनंदी का मान लिया जाये तो विक्रम सं. ११०० के लगभग होने वाले प्रभाचन्द्र के द्वारा पंचविंशतिका का पद्य उद्धृत कैसे किया जाता? जैसाकि हम ऊपर लिख आये हैं।

कनडीटीकाकार और मूलग्रंथकार पद्मनंदी को अभिन्न समझने की भ्रांति ने इतिहास में बहुत गड़बड़ी पैदा की है। इस भ्रांति में पड़ कर ही आत्मानुशासन (जीवराज ग्रन्थमाला से प्रकाशित) की प्रस्तावना में आत्मानुशासन, समाधिशतक और रत्नकरंड इन तीनों ही ग्रन्थों के टीकाकार प्रभाचन्द्र को पं. आशाधरजी के वक्त का बता दिया गया है (पृ. २०) जो बिल्कुल तथ्यहीन है।

वसुनंदी

यहां हम उन वसुनंदी के समय की चर्चा कर रहे हैं जिन्होंने प्राकृतभाषा में एक श्रावकाचारग्रंथ लिखा है, जिसका प्रचलित नाम वसुनंदिश्रावकाचार है। इन्होंने ग्रन्थ के अंत में अपनी प्रशस्ति लिखी जरूर है पर उस में आपने ग्रंथ का रचनाकाल लिखने की कृपा नहीं की है। प्रशस्ति में आपने जो अपनी गुरुपरंपरा दी है उसमें तीन नाम लिखे हैं। प्रथम ही श्रीनंदी हुये, उनके शिष्य नयनंदी हुये, नयनंदी के शिष्य नेमिचन्द्र हुये। उन नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनंदी ने यह उपासकाध्ययन (वसुनंदिश्रावकाचार) ग्रन्थ बनाया। इन वसुनंदि के प्रगुरु वे नयनंदी तो हो नहीं सकते जिन्होंने वि. सं. ११०० में सुदर्शन-

चरित (अपभ्रंश) की रचना की है क्योंकि वे अपने गुरु का नाम माणिक्यनंदि (परीक्षामुख के कर्त्ता) लिखते हैं, जबकि वसुनंदि ने नयनंदि के गुरु का नाम श्रीनंदि लिखा है।

एक श्रीनंदि वे हुए हैं जिनके शिष्य श्रीचन्द्र ने पुराणसार बनाया है तथा पुष्पदंत के अपभ्रंश महापुराण और रविषेण के पद्मचरित पर टिप्पण लिखे हैं। इन तीनों की रचना श्रीचन्द्र ने धारा नगरी में राजा भोज के समय क्रमशः १०७०, १०८० और १०८७ में की थी।

पद्मचरित के टिप्पण की प्रशस्ति में श्रीचन्द्र ने अपने गुरु श्रीनंदि को बलात्कारगण का आचार्य लिखा है (देखो "भट्टारकसंप्रदाय" पृ० ३६)। बलात्कारगण के साथ कुन्दकुन्दान्वय और सरस्वती गच्छ ये दो विशेषण भी लगे रहते हैं। सरस्वती गच्छ विशेषण विक्रम की १४ वीं सदी से लगने लगा है। इस गण के साधु ११ वीं १२ वीं सदी में ही भूमि-दान लेने लग गये थे। वसुनंदि ने जो अपनी गुरु परम्परा लिखी है उसमें उन्होने श्रीनंदि को कुन्दकुन्दान्वयी लिखकर उनका बलात्कारगण इंगित किया है। अतः वसुनंदि की गुरुपरम्परा के श्रीनंदि और उक्त श्रीचन्द्र के गुरु श्रीनंदि दोनों एक ही मालूम पड़ते हैं। इन्हीं श्रीनंदि के शिष्य नयनंदि हुये हों और नयनंदि के शिष्य नेमिचन्द्र तथा नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनंदि को मान लिया जावे और जो समय श्रीचन्द्र का सं० १०८७ आदि उपर लिख आये हैं वही समय वसुनंदि के दादा गुरु नयनंदि का भी मान लिया जावे तो इस हिसाब से वसुनंदि का अस्तित्व विक्रम की १२ वीं शती के दूसरे चरण में माना जा सकता है।

एक और श्रीनंदि का उल्लेख स्व० पंडित जुगलकिशोर जी मुख्तार ने वसुनंदि के समय का निर्णय करते हुए रत्नकरण्ड श्रावकाचार की प्रस्तावना पृ० ७४ में किया है वहां लिखा है :—

"श्रीनंदि को दिये हुए कुछ दानों का उल्लेख गुडिगेरि के टूटे हुए एक कनड़ी शिलालेख में पाया जाता है जो वि० सं० ११३३ का लिखा हुआ है। इससे मालूम होता है कि श्रीनंदि वि० सं० ११३३ में भी मौजूद थे। ऐसी हालत में आपके प्रशिष्य नेमिचन्द्र के शिष्य वसुनंदि का समय विक्रम की १२ वीं शताब्दी का प्रायः अन्तिम भाग और संभवत, १३ वी शताब्दी का प्रारम्भिक भाग भी अनुमान किया जा सकता है।"

इस तरह अब तक के अन्वेषण के अनुसार १२ वीं शताब्दी का दूसरा चरण और १३ वीं का प्रथम चरण दोनों ही समय वसुनंदि के हो सकते हैं।

प्रभाचन्द्र ने रत्नकरंड टीका पृ० ८० में "पडिगहमुच्चट्ठाणं" गाथा दी है। यह गाथा वसुनंदि श्रावकाचार में २२५वें नम्बर पर है परन्तु दोनों गाथाओं का चौथा चरण भिन्न है इससे ऐसा आभास होता है कि इस प्राचीन गाथा का चौथा चरण बदल कर वसुनंदि ने इसे अपनी बना ली है। प्रभाचन्द्र ने इसे अन्यत्र से ली है।

वसुनंदि के नाम से श्रावकाचार के अतिरिक्त मूलाचार पर आचारवृत्ति भी पाई जाती है। कुछ विद्वान दोनों रचनाओं को एक ही वसुनंदि की कृति मानते हैं पर मैं इससे सहमत नहीं हूं मैं उक्त दोनों रचनाओं को वसुनंदि नाम के दो भिन्न-भिन्न

ग्रंथकारों की कृति समझता हूं।

आचारवृत्ति में एक स्थान पर अमितगतिश्रावकाचार के कुछ पद्य उद्धृत हैं इससे यह कहना कि आचारवृत्ति के कर्त्ता वसुनंदि अमित-गति के बाद हुये हैं ठीक नहीं अमितगति ने भी तो संस्कृत भगवती आराधना के अंत में वसुनंदि का उल्लेख किया है इससे अमितगति और वसुनंदि दोनों समकाल में हुए सिद्ध होते हैं और संभवतः ये ही वसुनंदि आचारवृत्ति के कर्त्ता है।

अमितगति ने वि० सं० १०५० में राजा मुंज के समय में "सुभाषित रत्नसंदोह" बनाया है। उस वक्त यदि अमितगतिकी आयु २५ वर्ष के लगभग को मान लें और पूरी आयु उनकी ७५ वर्ष करीब की भी मान लें तो अमितगति का अस्तित्व वि० सं० ११०० के आसपास तक ही रहता है और इनके समकालीन होने के कारण इन वसुनंदि का अस्तित्व भी ११०० के आसपास ही मानना होगा जबकि श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनंदि का कम से कम निकट का समय ऊपर १२वी शताब्दी का दूसरा चरण सिद्ध किया है। ऐसी हालत में दोनों वसुनंदि अपने आप ही भिन्न-भिन्न सिद्ध हो जाते हैं।

इसके अलावा मूलाचार समयसाराधिकार के प्रारम्भ में टीकाकार वसुनंदि ने नरेन्द्रकीर्ति का उल्लेख किया है। जबकि श्रावकाचार के कर्त्ता वसुनंदि ने नरेन्द्रकीर्ति का प्रशस्ति आदि में कहीं कोई नाम नहीं दिया है इससे भी दोनों वसुनंदि जुदे-जुदे ही सिद्ध होते है।

प्रभाचन्द्र

जो प्रभाचन्द्र प्रमेयकमलमार्त्तण्ड व न्यायकुमुदचन्द्रोदय

ग्रन्थों के कर्त्ता हैं तथा जिन्होंने अनेक ग्रन्थों पर टीका टिप्पण लिखे हैं उनका समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से लेकर १२वीं के प्रथम चरण तक का है। यह समय अब अनेक प्रमाणों और उल्लेखों से अच्छी तरह स्पष्ट हो गया है अतः यहाँ उसके दोहराने की जरूरत नही है। यहाँ हम विद्वानों का ध्यान इस बात पर आकृष्ट करना चाहते है कि प्रभाचन्द्र ने प्रमेय-कमलमार्त्तण्ड और न्यायकुमुदचन्द्र आदि की समाप्ति पर जो पुष्पिका वाक्य लिखे हैं उनमें वे अपने को धारा-निवासी पंडित प्रभाचन्द्र लिखते है इसका क्या मतलब है ? इन वाक्यों से साफ तौर पर यह प्रतिभासित होता है कि-उस वक्त तक प्रभाचन्द्र ने गृहत्याग नहीं किया था। प्रमेयकमलमार्तण्ड को उन्होंने धारा में राजा भोज के समय में बनाया और न्यायकुमुद को भोज के उत्तराधिकारी राजा जयसिंह के समय मे बनाया। अगर वे महाव्रती हो गये होते तो भोज से लेकर जयसिंह तक के लम्बे समय तक एक ही धारा नगरी में कसे रह सकते थे ? और मुनि हुये बाद स्वयं ही अपने को किसी एक खास नगर का निवासी भी कैसे लिख सकते थे ? और देखिये इन्हीं प्रभाचन्द्र ने आराधना गद्य कथाकोश लिखा है जिसमें ८९वीं कथा के आगे पुष्पिका वाक्य लिखे हैं और ग्रन्थ-समाप्ति पर भी लिखे हैं इस प्रकार एक ही ग्रन्थ मे दो जगह प्रशस्ति लिखी है इसका कारण यही मालूम होता है कि—८९ कथा तक की रचना उन्होने गृहस्थावस्था में की है और उनसे बाद की कथाये भट्टारक होकर की हैं इसीसे वे प्रथम प्रशस्ति में अपने को पंडित प्रभाचन्द्र लिखते हैं और दूसरी प्रशस्ति में अपने को भट्टारक प्रभाचन्द्र लिखते हैं।

और जो इन्होंने न्यायकुमुद आदि की प्रशस्तियों मे अपने

को पद्मनंदि का शिष्य लिखा है उसका तात्पर्य इतनाही समझना चाहिये कि पद्मनंदि के पास से उन्होने जैन शास्त्रों का अध्ययन किया था जिससे वे उनके विद्यागुरु लगते थे अतः प्रभाचन्द्र ने विद्यागुरु के नाते पद्मनन्दि का उल्लेख किया है। इसके सिवा ग्रन्थ की प्रामाणिकता को जाहिर करने की दृष्टि से भी निर्ग्रन्थ गुरु का उल्लेख करना उन्होने आवश्यक समझा है। (जिस तरह गृहस्थ मेधावी ने अपने श्रावकाचार में जिनचन्द्र मुनि का उल्लेख किया है)

भास्कर नंदि

जिन्होंने तत्वार्थसूत्र पर सुखबोधा नाम की सस्कृत में टीका लिखी उन भास्करनन्दि के समय का निर्णय भी अभी तक नहीं हो पाया है। इन्होंने इस टीका के अंत में प्रशस्ति लिखी है जिसमें केवल अपने गुरु और प्रगुरु का नाम मात्र लिखा है पर टीका का कोई समय नहीं दिया है।

प्रशस्ति के जिन श्लोकों में भास्करनन्दि ने अपने प्रगुरु का नाम दिया है वह नाम अशुद्ध प्रतीत होता है जिससे भास्करनन्दि का समय गड़बड़ होरहा है, देखिये—

नोनिष्ठीवेन्न शेते वदति च न परं ह्येहि याहीति जातु।
नोकंडूयेत्गात्रं व्रजति न निशिनोद्घाटयेत् द्वारं दत्ते ॥
नावष्टभ्नाति किंचिद् गुणनिधिरितियो बद्धपर्यं कयोगः
कृत्वासन्यासमंतेशुभगतिरभवत्सर्वसाधुः स पूज्यः ॥३॥
तस्यासीत्सुविशुद्धदृष्टि विभवः सिद्धांत पारं गतः,
शिष्यःश्रीजिनचंद्रनामकलितश्चारित्रभूषान्वितः ।
शिष्यो भास्करनंदिनामविबुधस्तस्याभवत्तत्ववित् ।
तेनाकारि सुखादिबोधविषया तत्वार्थवृत्तिःस्फुटं ॥४॥

इनमें तीसरे श्लोक के चौथे चरण में जो "शुभ मति" शब्द है वह अशुद्ध है, उससे अर्थ की संगति ठीक नहीं बैठती। इस श्लोक में भास्करनन्दि ने अपने जिनचन्द्रगुरु के गुरु का नाम लिखा है पर श्लोक में सर्वसाधु के सिवा अन्य किसी नाम की उपलब्धि नहीं होती किन्तु "सर्वसाधु" कोई नाम नहीं होता।

अगर 'शुभगति' के स्थान पर 'शुभयति' पाठ मान लिया जाये तो मामला सब साफ हो सकता है। शुभयति का अर्थ होगा शुभचन्द्र भट्टारक। प्रशस्ति के उक्त श्लोकों का तब इस प्रकार अर्थ होगा :—

जो न तो थूंकते हैं, न सोते हैं, न दूसरों को आने जाने को कहते हैं, न शरीर को खुजाते हैं, न रात्रि में गमन करते हैं, न द्वार को खोलते हैं, न द्वार को बंद करते हैं, न पीठ लगाकर दीवार के सहारे बैठते हैं। ऐसे शुभचन्द्र मुनि (सवस्त्र भट्टारक) बद्धपर्यंक होकर आयु के अन्त में सन्यास धारण कर सर्वसाधु (नग्न दिगम्बर) हो गए थे वे पूज्य हैं। उनके शुद्धदृष्टि, सिद्धांत-पारगामी, चारित्र भूषण जिनचन्द्र नाम के शिष्य थे। उन जिनचन्द्र के तत्वज्ञानी भास्करनन्दि नाम के विद्वान् शिष्य हुए जिन्होंने तत्वार्थसूत्र पर यह सुखबोधिनी टीका बनाई"।

पद्मनन्दि के शिष्य ये वे शुभचन्द्र हैं जिन्होंने दिल्ली जयपुर की भट्टारकीय गद्दी चलाई। इनका समय वि. सं. १४५० से १५०७ तक माना है। फिर इनके पट्ट पर जिनचन्द्र बैठे थे। जिनचन्द्र का समय वि. सं. १५०७ से १५७१ तक का माना जाता है इन जिनचन्द्र ने प्राकृत में सिद्धांतसार ग्रन्थ लिखा था जो माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला द्वारा "सिद्धांतसारादि संग्रह" में

छपा है। वि. सं. १५४८ में सेठ जीवराजजी पापडीवाल ने शहर मुड़ासा में इन्हीं जिनचन्द्र भट्टारक से हजारों मूर्तियों की प्रतिष्ठा कराई थी। श्रावकाचार के कर्त्ता पं० मेधावी इन्हीं जिनचन्द्र के शिष्य थे। उक्त भास्करनन्दि को भी संभवतः इन्हीं का शिष्य समझना चाहिये। इस हिसाब से इन भास्करनन्दि का समय विक्रम की १६ वीं शताब्दी माना जा सकता है।

एक "ध्यानस्तव" नाम का संस्कृत ग्रन्थ जिसमें अधिकतया रामसेन कृत तत्वानुशासन का अनुसरण किया गया है और जो जैन-सिद्धांतभास्कर भाग १२ किरण २ में छपा है वह भी इन्हीं भास्करनन्दि का बनाया हुआ है। उसकी प्रशस्ति में भी वे ही पद्य हैं जो तत्वार्थ टीका में लिखे हैं अतः दोनों के कर्त्ता एक ही हैं।

श्री कुमार कवि

इनका बनाया हुआ १४६ संस्कृत पद्यों का एक "आत्म-प्रबोध" नामक ग्रन्थ है, जो भारतीय जैन सिद्धांत प्रकाशिनी सँस्था कलकत्ता से हिन्दी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ था। अनुवादक पं० गजाधरलालजी न्यायतीर्थ थे। यह अध्यात्म विषय का बड़ा ही सरस सुन्दर ग्रन्थ है। कवि ने ग्रन्थ के अन्त में अपना नाम देने के सिवा और कुछ भी परिचय नहीं दिया है, रचनाकाल भी नहीं लिखा है, इस ग्रन्थ का निम्नांकित पद्य पं. आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अ० ६ श्लो० ४३ की टीका में उद्धृत किया है :—

मनोबोधाधीनं विनयविनियुक्तं निजवपु—
र्वचः पाठायत्तं करणगणमाधाय नियतम्।

वधानः स्वाध्यायं कृतपरिणतिर्जैनवचने;
करोत्यात्मा कर्म क्षयमिति समाध्यन्तरमिदं ॥५१॥
—आत्मप्रबोध

अर्थ :—जिस स्वाध्याय में मन ज्ञान के ग्रहण धारण में लीन रहता है, शरीर विनय संयुक्त रहता है, वचन पाठ के उच्चारण में लगा रहता है और इन्द्रिय-समूह नियंत्रित रहता है इस प्रकार सारी परिणति जिसमें जिनवाणी की ओर रहती है ऐसे स्वाध्याय को धारण करने वाला निश्चय ही कर्मों का क्षय करता है, अतः स्वाध्याय भी एक तरह से समाधि का रूपान्तर ही है।

इससे सिद्ध होता है कि यह आत्म-प्रबोध ग्रंथ पं आशाधरजी से पहिले का बना हुआ है।

हस्तिमल्लके'विक्रांत कौरव'नाटकसे पता पड़ताहै कि एक श्रीकुमार कवि उनके ४ बड़े भाइयों में सब से बड़े भाई थे। अगर उनके समय का आशाधर की प्रौढावस्था के समय से मेल बैठता हो तो वे ही श्रीकुमार कवि इस आत्मा-प्रबोध के कर्त्ता माने जा सकते हैं और तब यों कहना चाहिये कि आशाधर की पिछली उम्र में वे मौजूद थे। अनगारधर्मामृत की टीका वि. सं. १३०० में पूर्ण हुई अतः उससे पांच सात वर्ष पहिले श्रीकुमार कवि ने आत्म-प्रबोध बनाया होगा। ऐसी हालत में हस्तिमल्ल के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भिक समय विक्रम की १४ वीं शती का प्रथम चरण समझना चाहिये।

इस तरह ७ ग्रन्थकारों के समयादि पर यहाँ कुछ नया प्रकाश डाला गया है।

स्व० पं० मिलापचन्दजी कटारिया ने अपने अध्ययन के बल पर जैन समाज के मूर्धन्य विद्वानों में स्थान प्राप्त किया था। अध्ययन की उनकी यह दृष्टि बड़ी पैनी थी। स्मारिका को अपने जीवन के प्रारंभ काल से ही उनका सहयोग मिला था। खेद है वे अब हमारे बीच नहीं रहे। जैन शास्त्रों का तलस्पर्शी अध्ययन रखने वाले विद्वानों की माला का एक मणिया टूट गया। पुरानी पीढ़ी के विद्वान् एक-एक कर काल कवलित हो रहे हैं और नए उनका स्थान ग्रहण करने को आ नहीं रहे हैं। निश्चय ही जैन समाज के लिये यह स्थिति शोचनीय और विचारणीय है।

सम्बन्धित आचार्यों के काल निर्णय सम्बन्धी विवाद को हल करने में प्रस्तुत रचना पर्याप्त अंशों में सहायक सिद्ध होगी।



२६

अजैन साहित्य में जैन उल्लेख और सांप्रदायिक संकीर्णता से उनका लोप

अमर कोष

अमरकोष संस्कृत का एक जगद्विख्यात प्राचीन कोश ग्रंथ है। इसके कर्ता अमरसिंह हैं जैसाकि तीनों कांडों के अन्त में दिये "इत्यमरसिंह कृतौ नामलिंगानुशासने" श्लोक द्वारा प्रकट है। ग्रन्थकार ने ग्रन्थ के आरम्भ में देवनामों में प्रथम अपना नाम 'अमर' दिया है। इसी तरह ग्रन्थ के आदि मंगल-श्लोक में भी "अमृताय च" के रूप में 'अमर' नाम द्योतित किया है।

ग्रन्थ का नाम पूर्वोक्त श्लोकानुसार "नामलिंगानुशासन" है (जिसमें नाम और लिंग दोनों एक साथ बताये गये हैं जो इसकी अन्य कोशोंसे खास विशेषता है, किन्तु ग्रंथकारके नाम पर इसका नाम अमरकोष प्रसिद्ध हो गया है और आज यह कोष संस्कृत जगत् में वास्तव में ही अमर हो गया है। इसमें ३ कांड होने से 'त्रिकांड कोश' और देवभाषा-संस्कृत में होने से देव कोश भी इसके नाम हैं। इस पर संस्कृत की निम्नांकित टीकायें हैं :— १. व्याख्या प्रदीप २. काशिका ३. अमरकोषोद्घाटन

४. कौमुदी ५. पदार्थ कौमुदी ६. शब्दार्थ संदीपिका ७ अमर पंजिका ८. अमर दीपिका ९. सुबोधिनी १०. व्याख्या सुधा ११. शारदा सुन्दरी १२. विद्वन्मनोहरा १३. अमर विवेक १४. मधु माधवी १५. पद चन्द्रिका १६. त्रिकांड चिन्तामणि १७. त्रिकांड विवेक १८. प्रदीप मंजरी १९ पीयूष २०. वैषम्य कौमुदी २१. पद विवृति २२. पदमंजरी २३. व्याख्यामृत २४. सन्देह भंजिका २५. टीका सर्वस्व २६. अमरकोष टीका (आशाधर कृत) २७. त्रिकांड रहस्य २८. अमर चंद्रिका आदि ।

इनके अतिरिक्त-कनड़ी, काश्मीरी, चीनी, फारसी, तिब्बती, तेलगु, मराठी, ब्राह्मी, श्यामी, सिंहली, अंग्रेजी, हिन्दी, गुजराती, उर्दू, आदि भाषाओं में भी अमरकोष पर टीकायें बनी हैं। "कवि काव्यकाल कल्पना" नाम के बृहद् ग्रन्थ में अमरकोष की ६९ टीकाओं का विवरण दिया है।

विविध प्राचीन ग्रंथों की संस्कृत टीकाओं में इस कोष के अनेक जगह प्रमाण दिये गये हैं। इसका पठन पाठन संस्कृत की प्रायः सभी पाठशालाओं में अद्यावधि चला आ रहा है। यह सब इस कोश की महान् लोकप्रियता का द्योतक है। इसी से-कवियों ने ये उद्घोष किये हैं-"अमरोऽयं सनातनः"। "अमरकोषो जगत्पिता"।

अमरकोष में बौद्ध और वैदिक धर्म के अवतारी पुरुषों के नाम हैं किन्तु जैन तीर्थंकरों के कोई नाम नहीं हैं। ग्रन्थकार बहुत उदार रहे हैं। (उन्होंने मंगलाचरणमें भी किसी धर्माराध्य का नाम नहीं दिया है) फिर उन्होंने जैन महापुरुषों के नाम

नहीं देकर अपने कोष को अपूर्ण क्यों रखा ? यह प्रश्न प्रत्येक निष्पक्ष विचारक और जैन धर्मानुयायी के मस्तिष्क में सहज उठता है। इसके लिए जब हमने अमरकोष की कुछ संस्कृत टीकाओं को देखा तो मालूम हुआ कि बुद्ध के नामों के आगे जिन देव के भी नाम अवश्य मूल ग्रन्थकार ने दिये हैं किन्तु वह श्लोक संप्रदायाभिनिवेश के कारण मूल से निकाल दिया गया है और धीरे-धीरे उसका लोप कर दिया गया है देखिये—

(१) ओरियंटल बुक एजेंसी पूना से सन् १९४१ में प्रकाशित क्षीरस्वामि कृत (ईस्वी ११वीं शती) टीका पृष्ठ ७ प्रथम कांड-श्लोक १५ की टीका के आगे—

(सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थ-
कृज्जिनस्त्रिकाल विदाद्या ऊह्या)

(२) निर्णय सागर प्रेस मुम्बई से सन् १९१५ में प्रकाशित-व्याख्या सुधा पृष्ठ ८

"यद्यपि वेद विरुद्धार्थानुष्ठातृत्वा
ज्जिनशाक्यौ नरकवर्गे वक्तुमुचितौ ।
तथापि देवविरोधित्वेन बुद्धयुपारोहादत्रैवोक्तौ ।"

(अर्थः—यद्यपि वेद विरोधी होने से जिनेन्द्र और बुद्ध के नाम नरक वर्ग में देने चाहिये तो भी यहां इसलिये दिये गये है कि उनका देव विरोधित्व साथ साथ बुद्धि में आ जाये)

इसी पर टिप्पणी १ लगाकर लिखा है:-क्वचित्पुस्तके इत उत्तरम्- "सर्वज्ञोवीतरागोऽर्हन् केवली तीर्थकृज्जिनः । जिन देवता नामानि षट् । इत्यधिकम् ॥

(३) आज से ११२ वर्ष पूर्व विक्रम सं. १६१६ में प्रकाशित देवदत्त त्रिपाठी कृत हिन्दी टीका पृ० ३ पर लिखा है:– "सर्वज्ञः, वीतरागः, अर्हन्, केवली, तीर्थंकृत, जिनः ये ६ नास्तिक के देवताओं के नाम है।" (मूल में श्लोक नहीं दिया है, जब हमने पूरे श्लोक के लिये अमरकोष की हस्तलिखित प्रतियों की खोज की तो बघेरा, टोंक, निवाई आदि के जैन भण्डारों की प्रतियों में वह पूरा श्लोक इस प्रकार उपलब्ध हुआ—

"सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्केवली तीर्थकृज्जिनः।
स्याद्वादवादी निर्ल्लोकः निर्ग्रन्थाधिप इत्यपि ॥"

अनेक जैन विद्यालयों के संस्कृत कोर्स (पाठ्यक्रम) में अमरकोष नियत है। अधिकारियों का कर्त्तव्य है कि–वे यह श्लोक विद्यार्थियों को अमर कोष में पढ़ाने का प्रबन्ध करावें जिससे इसका प्रचार हो। साथ ही जैन प्रकाशन संस्थाओं का भी कर्त्तव्य है कि–वे भी अमरकोष में बुद्ध के नामों के आगे यह श्लोक मोटे टाइप में प्रकाशित कर अमरकोष के विविध संस्करण निकालें जिससे दीर्घकाल से चली आ रही क्षति की कुछ पूर्ति हो।

इसी की टाइप (नकल) का श्लोक धनंजय नाममाला में इस प्रकार है:–

सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्केवली धर्मचक्रभृत् ॥११६॥

इससे भी अमरकोष में उक्त श्लोक वर्तमान रहना प्रमाणित होता है।

जिन देव के नाम वाले श्लोक के सिवा अमरकोष के

द्वितीय कांड के ब्रह्म वर्ग में श्लोक ६ के बाद आठ दार्शनिकों में जैनदर्शन के भी दो नाम दिये हैं देखिये– स्यात्स्याद्वादिक आर्हतः ।। पूरे आठ दर्शनों के दो-दो नाम इस प्रकार दिये हैं:–

मीमांसको जैमिनीये, वेदांती ब्रह्मवादिनी ।
वैशेषिके स्यादौलूक्यः, सौगतः शून्यवादिनि ।।१।।
नैयायिकस्त्वक्षपादः स्यात्स्याद्वादिक आर्हतः ।
चार्वाक लौकायतिकौ, सत्कार्ये सांख्य कापिलौ ।।२।।

इनमें सभी भारतीय (श्रमण वैदिक) दर्शन आ गये हैं अतः ये श्लोक बहुत महत्वपूर्ण हैं फिर भी अनेक संस्करणों में इन्हें क्षेपक रूप में प्रदर्शित किया है और अनेक में बिल्कुल निकाल ही दिया है संभवतः यह सब बौद्ध और जैन इन दो श्रमण-धर्मों से विरोध के कारण किया गया है★ अन्यथा ये श्लोक मूल ग्रन्थकार कृत हैं; क्योंकि हेमचन्द्राचार्य ने भी(१२वीं शती में) इसी की स्टाइल पर निम्नांकित श्लोक "अभिधान चिन्तामणि" के मर्त्यकांड ३ में इस प्रकार बनाये है:–

स्याद्वाद वाद्यार्हतः स्यात्,
शून्यवादी तु सौगतः ।।५२५।।
नैयायिकस्त्वक्षपादो योगः
सांख्यस्तु कापिलः ।

★श्लोक १ के चौथे चरण में बौद्ध के और श्लोक २ के दूसरे चरण में जैन के नाम हैं अगर इन नामों को हटाकर सिर्फ वैदिक दर्शन के ही नाम रहने से देते तो दोनों श्लोक अधूरे हो जाते अतः विवश हो दोनो श्लोकों को ही मूल से निकाल दिया है ।

वैशेषिकः स्यादौलूक्यः,
बार्हस्पत्यस्तु नास्तिकः ॥५२६॥
चार्वाक लौकायतिकश्चैते
षडपि तार्किकाः ।

(इनमें षड् दर्शनों के ही नाम दिये हैं शेष दो मीमांसा और वेदांत के नाम देवकांड २ के श्लोक १६४-६५ में दिये हैं)

अतः जैन ग्रन्थ-प्रकाशकों को चाहिये कि वे इन दो "मीमांसको जैमिनीये....." श्लोकों को भी अमरकोष कांड २ के ब्रह्मवर्ग में श्लोक ६ के बाद मोटे टाइप में प्रकाशित करने का प्रक्रम करें जिससे सांप्रदायिकों का प्रयत्न विफल हो और ग्रन्थ अक्षुण्ण बने +

+ बघेरा, उदयपुर, टौंक आदि के जैन भण्डारों में प्राप्त अमरकोष की प्रतियों के अन्त में लेखकों ने भिन्न-भिन्न प्रशस्तियां दी हैं पाठकों के उपयोगार्थ समुच्चय रूप से नीचे उन्हें भी प्रस्तुत किया जाता है इनमें प्रथम जैन और द्वितीय शैव हैं :—

—अन्त्य प्रशस्ति—

१— कृतावमरसिंहस्य, नामलिंगानुशासने ।
काण्डस्तृतीयः सामान्यः, सांग एवं समर्थितः ॥
इत्युक्त व्यवहारार्थं, नामलिंगानुशासनम् ।
शब्दानां न ह्यतोऽन्त, तावपीन्द्रबृहस्पती ॥
यद्मानि बोधयत्यर्कः, काव्यानि कुरुते कविः ।
तत्सौरभं नभस्वंतः, सन्तस्तन्वन्तु तद्गुणान् ॥
(वायुरित्यर्थः)

अमरसिंह किस संप्रदाय-विशेष के थे यह उन्होंने कहीं नहीं लिखा है किन्तु अमरकोष के सूक्ष्म अध्ययन और अन्य प्रमाणों से इसका निर्णय किया जा सकता है वही नीचे देखियेः- अमरदीपिका टीका में अमरकोष के मंगलाचरण को बुद्ध वाची बताया है। इसी तरह क्षीर स्वामी (वैदिक) टीका में भी मंगलाचरण को जिन (बुद्ध) वाची ही बताया है। तथा वामनाचार्य-दुर्गाप्रसाद, काशीनाथ, शिवदत्त, एन. बी. देसाई, शील-स्कंध बेवर आदि वैदिक, बौद्ध, अंग्रेज विद्वानों ने अपने प्रस्तावना-निबन्धों में अमरकोष कार को बौद्ध ही माना है इसके लिये इन्होंने निम्नांकित ३ युक्तियां दी हैं:-

(१) अमरसिंह ने देव विशेष के नामों में सर्वप्रथम

यदक्षर पद भ्रष्ट, स्वर व्यंजन वर्जित ।
तत्सर्वं क्षम्यतां देवि, प्रसीद परमेश्वरि ॥
यावत्पृथ्वी रविर्यावत् यावच्चन्द्र हिमाचलौ ।
पठ्यमाना बुधै स्ताव, देषा नन्दतु पुस्तिका ॥
यावच्छ्री वीतरागस्य, धर्मो जयति भूतले ।
विद्वद्भिर्वाच्यमानोऽयं ग्रन्थस्तावद्विनन्दतु ॥

२- यावच्चन्द्र दिवाकरौ ग्रहपती क्षोणी समुद्रा अपि ।
यावद् व्योम वितान सलिभतया दिक् चक्र माक्रामति ॥
यावद् देहनिवासिनी पशुपतेः गौरी मुखं चुम्बति ।
ताव त्तिष्ठतु कोष एष सुधियां कठेषु रत्नोपमः ॥
नानाकवीनां भुवि नाम कोषाः ।
सन्त्येव शब्दार्थविदां प्रबंधा : ।
तथापि सूक्तेऽमरसिंह नाम्नः ।
कण्ठे रतीव प्रसृतं मनो मे ।

भगवान् बुद्ध और उनके अवांतर भेदों के नाम दिये हैं फिर वैदिक देवी-देवताओं के नाम दिये हैं।

(२) कांड ३ नानार्थ वर्ग ३ के श्लोक ३१ में "धर्मराजौ जिनयमौ" पाठ दिया है इसमें जिन (बुद्ध) को प्रथम दिया है और यम (वैदिक श्राद्ध देव) को बाद में। अगर ग्रन्थकार चाहते तो 'यमजिनौ' पाठ भी दे सकते थे इसमें छंदोभंग की भी आपत्ति नहीं थी किन्तु उनके तो जिन (बुद्ध) आराध्य थे अतः पहिले उन्हें स्थान दिया।

(३) यह लोकोक्ति प्रसिद्ध है कि-अमरसिंहो हि पापीयान् सर्वभाष्यमचूचुरत् अर्थात्- पापी अमरसिंह ने सारा भाष्य (पातंजल महाभाष्य) चुरा लिया। अगर अमरसिंह वैदिक होते तो वैदिक विद्वान् कभी उनको पापी और भाष्य की चोरी करने वाला नहीं बताते।

इनसे स्पष्ट है कि अमरसिंह बौद्ध विद्वान् थे। इसके बावजूद भी कुछ जन विद्वान् अमरसिंह को जैनधर्मानुयायी बताते हैं और अमरकोष को जैन कोष। इसके लिये उनकी युक्तियां निम्नांकित हैं:-

(१) किसी जैन ग्रन्थकार ने एक कथा दी है कि अमरसिंह नाममालाकार धनंजय कवि के साले थे।

(२) जैन शास्त्र भण्डारों में अमरकोष की अनेक प्रतियां मिलती हैं।

(३) अमरकोष पर जैन विद्वान् आशाधर (वि. १३ वीं शती) ने टीका बनाई है।

(४) शाकटायन (जैन व्याकरण की स्वोपज्ञ अमोघवृत्ति (वि. सं ९वीं शती) में अमरकोष का उल्लेख है ।

(५) "जैन बोधक" वर्ष ४३ अंक ५ (फरवरी १९३३) में एक हस्तलिखित प्रति के अनुसार अमरकोष में १२५ जैन श्लोक दिये हैं और अमरसिंह को जैन सिद्ध किया है एवं उनको बौद्ध माने जाने का निरसन किया है ।

नीचे क्रमशः संक्षेप में इनकी समीक्षा की जाती है:-

(१) यह कथा किसी ने यों ही गढ़ डाली है इसमें अनेक ऊलजलूलतायें हैं अतः यह बिल्कुल अप्रामाणिक है। इसमें अमर सिंह को धनंजय का साला बताया है जो निराधार है क्योंकि धनंजय ८-९ विक्रम शतीके हैं जबकि अमरसिंह इनसे कम से कम चार-पांच सौ वर्ष पूर्व हुए हैं जैसा कि इतिहास से प्रमाणित है-

(क) ७वीं ८वीं विक्रम शती में बौद्ध विद्वान् जिनेन्द्र बुद्धि ने काशिका विवरण पंजिका में अमरकोप का "तंत्र प्रधाने सिद्धांते" ॥१८५॥ (नानार्थ वर्ग, कांड ३) श्लोक उद्धृत किया है ।

(ख) उज्जयिनी के गुणराट् ने ईसा की ६ठी शती में अमरकोष का चीनी अनुवाद किया है ।

(ग) क्षीर स्वामी (शिवोपासक, ईस्वी ११वीं शती) ने अमरकोषोद्घाटन में लिखा है कि अमरसिंह चन्द्रव्याकरणकार चन्द्र गोमिन् से पूर्व हुए हैं। चन्द्रगोमिन् वसुराट् के गुरु और ४५० ईस्वी में होने वाले बंगाली, बौद्ध विद्वान् हैं।

(घ) धन्वन्तरिः क्षपणकामरसिंह शंकु वेताल भट्ट घटक-र्पर कालिदासाः ।

ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररु-चिर्नव विक्रमस्य ।।

इस प्रसिद्ध श्लोक में अमरसिंह को विक्रमादित्य की सभा के नवरत्नों में से एक रत्न बताया है ।

ऐसी हालत में अमरसिंह को धनंजय का साला बताना कितना मनघढंत है यह पाठक सहज जान सकते हैं ।

(२) जैन भण्डारों में अमरकोष की प्रतियां मिलने से उसे जैन कोष बताना यह अद्भुत युक्ति है इस तरह तो जैन भण्डारों में मिलने वाले अनेक वैदिक ग्रन्थ यथा-भर्तृहरि कृत शतकत्रय, कालिदास कृत मेघदूत, रघुवंश आदि भी जैन ग्रन्थ हो जायेंगे । और वैदिक भण्डारों में मिलने वाले जैन ग्रन्थ वैदिक हो जायेंगे अतः यह युक्ति निस्सार ही नहीं बल्कि काफी आपत्तिजनक है । वास्तविकता यह है कि ग्रन्थ भण्डारों में विरुद्ध धर्मों के ग्रन्थों का संग्रह उनका परस्पर अध्ययन समीक्षण करने की दृष्टि से किया जाता है ।

(३) आशाधर ने तो रुद्रट के काव्यालंकार और वाग्भट के अष्टांग हृदय आदि वैदिक ग्रन्थों पर भी टीका बनाई है अतः किसी जैन विद्वान् के द्वारा जैनेतर ग्रन्थ पर टीका बनाने से वह ग्रन्थ जैन नहीं हो जाता । जैसे जिनसेनाचार्य ने कालिदास के मेघदूत को अपने पार्श्वाभ्युदय में वेष्टित कर लिया है इससे मेघदूत जैनग्रन्थ नहीं हो जाता । अमरकोष पर तो पचासों वैदिक विद्वानों ने टीकायें लिखी हैं इससे वह वैदिक ग्रंथ नहीं हो गया । स्वयं अनेक वैदिक विद्वानों ने युक्तिपूर्वक अमरकोष को बौद्ध ग्रन्थ सिद्ध किया है जैसा कि पूर्व में बताया जा चुका है ।

(४) जैन ग्रन्थों में किसी ग्रन्थ का उल्लेख मात्र होने से ही वह जैन ग्रन्थ नहीं हो जाता। जैन ग्रन्थों में तो अनेक जैनेतर ग्रन्थों के उल्लेख हैं इस तरह तो वे भी सब जैन ग्रंथ हो जायेंगे अतः यह युक्तिवादभी लचरहै। जैनेतर ग्रन्थों में भी अनेक जैनग्रन्थों के उल्लेख हैं इससे जैनग्रन्थ जैनेतर नहीं बन जाते। सही बात यह है कि-परस्पर विद्वान् एक दूसरे धर्म के लोक-प्रिय ग्रन्थों का प्रमाण रूप में या समीक्षादि के रूप में उल्लेख करते आये हैं।

(५) जैन बोधक अंक ५ में जो १२५ श्लोक दिये हैं उनमें मंगलाचरण का एक श्लोक "श्रियः पति पुष्यतु वः समीहितं...." बताया है। किन्तु यह श्लोक तो मूलतः वादीभसिंह कृत गद्य चिन्तामणि का है। इसी तरह की हालत कुछ अन्य श्लोकों की भी है। ऐसा प्रतीत होता है कि-जब अमरकोष को जैन बनाने के लिये कथा गढ डाली गई तो किसी जैन विद्वान् ने अमरकोष को स्पष्ट जैन बनाने की दृष्टि से या उसमें जैन कथनों के अभाव की पूर्ति करने की दृष्टि से यह प्रयत्न किया है। इस वक्त उक्त अंक हमारे पास नही होने से हम उसकी पूरी समीक्षा नहीं कर रहे हैं। कोई भी विज्ञ पाठक थोड़े से विचार से ही उसकी निस्सारता-युक्ति हीनता अच्छी तरह हृदयंगम कर सकता है।

अब मैं नीचे ऐसे दो नये प्रमाण प्रस्तुत करता हूं जिनसे सहज जाना जा सकेगा कि अमरकोष जैन कोष नहीं है:-

(१) अमरकोष के टीकाकार पं. आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत अध्याय १ श्लोक २४ के स्वोपज्ञ भाष्य में पृष्ठ २६ पर—

लोके यथा-"स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्य श्रेयसी सुकृतं वृष-इति" । लिखा है यह अमरकोष के कांड १ काल वर्ग ४ का २४वां श्लोक है । इसी के बाद—

"शास्त्रे यथा-" करके आत्मानुशासन गुणभद्र कृत का एक श्लोक और नीतिवाक्यामृत (सोमदेव कृत) का एक सूत्र दिया है ।

इससे साफ प्रकट है कि आशाधर ने अमरकोष को लौकिक ग्रन्थ बताया है, जैन ग्रन्थ नही ।

(२) अमरकोष की अनेक प्रतियों मे प्राप्त-"सर्वज्ञो वीतरागोऽर्हन्‌....." श्लोक जो पूर्व मे उद्‌धृत किया गया है उसमें जिनेन्द्र का नाम 'निर्ह्रीकः' भी बताया है । जिसका अर्थ लज्जाहीन (नग्न) है । ऐसा नाम कभी कोई जैन अपने आराध्य-देव के प्रति नहीं दे सकता ।

धनंजय कृत नाममाला और हेमचन्द्र कृत अभिधान चिन्तामणि जो प्रसिद्ध प्राचीन जैन कोष हैं उनमें कहीं भी यह नाम या इसके अर्थ का कोई पर्यायवाची नहीं है । हाँ शिवोपासक क्षीर स्वामी ने जरूर अमरकोष टीका में पृष्ठ १७३ पर ब्रह्म वर्ग मे बुद्ध और जैनादि के नाम देते हुए दिगम्बर जैन के इस प्रकार नाम उद्‌धृत किये हैं:-

क्षपणोऽपि दिगम्बरः । नग्नाटः श्रावकोऽह्रीको, निर्ग्रंथो जीवजीवकौ ।।' इसमें एक नाम 'अह्रीक' है जिसका भी अर्थ लज्जाहीन (नग्न) ही है । यह साफ अमरकोष के 'निर्ह्रीक' का पर्यायवाची है।卐

अतः स्पष्ट है कि अमरकोष जैन कोष नहीं है। अमरकोष में २४ तीर्थंकरों के नाम, जैन सैद्धांतिक-प्ररूपण, जैन पारिभाषिक शब्द आदि कुछ भी तो जैनत्व सूचक कथन नहीं पाये जाते। उल्टा, कांड ३ विशेष्यनिघ्न वर्ग प्रत्यक्षं स्यादैन्द्रियकमप्रत्यक्षमतीन्द्रियं ॥७६॥ में ऐन्द्रियक ज्ञान को प्रत्यक्ष और अतीन्द्रिय ज्ञान को अप्रत्यक्ष बताया है जो तत्वार्थ सूत्र (जैन सिद्धांत ग्रंथ) के 'आद्ये परोक्षं" "प्रत्यक्षमन्यत्" सूत्रों के विरुद्ध पड़ता है।

ऐसी हालत में अमरकोष को जैन बताना मिथ्या मोह मात्र है। निष्पक्ष दृष्टि से यह बौद्ध ही है-सत्य का अनुरोध भी यही है।

अमरकोष के ब्रह्मवर्ग में जो ब्राह्मण धर्मीय कथन है उससे कोई इसे वैदिक मानें तो यह ठीक नहीं है। अमरकोष के पहिले भी कात्य, वाचस्पति, व्याडि, भागुरि आदि के वैदिक कोष ग्रन्थ थे उन्हीं से ब्रह्म वर्ग के अपने विषयानुसार सामग्री ली गई है जो विषय की पूर्णता की दृष्टि से आवश्यक थी। इसी को ग्रंथकार ने ग्रन्थारंभ में "समाहृत्यान्य तंत्राणि संक्षिप्तैः प्रतिसंस्कृतैः" ॥२॥ श्लोक से व्यक्त किया है। श्वे. जैन हेमचन्द्राचार्य ने भी यह सब ब्राह्मण धर्मीय कथन अपने "अभिधान चिन्तामणि" कोष में दिया है।

कोष, व्याकरण, गणित, आयुर्वेद आदि विषय ऐसे हैं जो किसी संप्रदाय विशेष से सम्बद्ध नहीं होते। अगर कोई ऐसा करता है तो वह अपूर्णता को ही प्राप्त होता है उसे लोकप्रियता नहीं मिलती।

अत: पूर्णता की दृष्टि से अमरसिंह ने बौद्ध होते हुए भी अमरकोष में बौद्ध जैन वैदिक सभी भारतीय धर्मों का परिचायक आवश्यक लोक प्रसिद्ध कथन बड़ी उदारता के साथ संग्रह किया है।

कहाँ तो ग्रन्थकार की महान् उदारता और कहाँ व्याख्या सुधाकर का यह लिखना कि–"वेद विरोधी होने से बुद्ध और जिनेन्द्र के नाम नरक वर्ग में देने चाहिये थे"। यह कथन कितना संकीर्ण और गौरव विहीन है पाठक स्वय विचार करें।

—शृंगार शतक—

(मोक्ष मार्ग प्रकाशक) के ५वें अधिकार में "अन्यमतो से जैनमत की तुलना" प्रकरण के अन्तर्गत पं. टोडरमलजी सा. ने भर्तृहरि कृत वैराग्य शतक नाम के प्राचीन वैदिक ग्रन्थ से एक श्लोक दिया है जो इस प्रकार है:–

एको रागिषु राजते प्रियतमा देहार्धधारी हरो।
नीरागेषु जिनो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः॥
दुर्वारस्मर बाण पन्नग विष व्यासक्त मुग्धो जनः।
शेष कामविडंबितो हि विषयान् भोक्तुं न मोक्तुं क्षमः॥

अर्थात्–रागियों में तो एक महादेव हैं जिन्होंने अपनी प्रियतमा (पार्वती) के आधे शरीर को धारण कर रखा है। और वीतरागियों में एक जिनदेव हैं जिनसे बढ़कर स्त्री-त्यागी कोई दूसरा नहीं है। शेष लोग तो दुर्निवार कामदेव के बाण रूपी सर्प विष से ऐसे गाफिल हैं कि जो विषयों को न तो भली-भांति भोग ही सकते हैं और न छोड़ ही सकते हैं–इस तरह वे

सिर्फ काम विडंबना से पीड़ित हैं ।

इस श्लोक में योगिराट् भर्तृहरि ने सरागियों में महादेव को और वीतरागियों में जिनदेव को प्रधान बताया है ।

सस्ती ग्रन्थमाला दिल्ली से प्रकाशित मोक्ष मार्ग प्रकाशक में पृ. २०१ पर इस श्लोक को श्रृंगार शतक का ९७वां श्लोक और मथुरा के संस्करण में पृ. १२९ पर इसे श्रृंगार शतक का ७१वां श्लोक बताया है । किन्तु हमने भर्तृहरि के अनेक मुद्रित शतकत्रयों को देखा-बहुत सों में तो-"न रहेगा बांस न बजेगी बांसुरी" यह सोचकर इस श्लोक को बिल्कुल निकाल ही दिया है देखो-ज्ञानसागर प्रेस बम्बई से सन् १९०२ में प्रकाशित "भर्तृहरि शतकम्" (संस्कृत हिन्दी टीका युक्त) तथा सन् १९२० से १९२३ में हरिदास एण्ड कम्पनी मथुरा से प्रकाशित-विस्तृत हिन्दी टीका युक्त) प्रसिद्ध, सचित्र संस्करण ।

कुछ संस्करणों में यह श्लोक देने की तो कृपा की है किन्तु उसे इस तरह बदल कर रख दिया है:-

एको रागिषु राजते प्रियतमादेहार्धहारी हरो ।
नीरागेष्वपि यो विमुक्तललनासंगो न यस्मात्परः ॥
दुर्वारस्मर बाण पन्नग विष ज्वालावलीढो जनः ।
शेषः काम विडंबितो हि विषयान्
भोक्तुं च मोक्ष क्षमः ॥८३॥

देखो-सन् १९१९ में निर्णयसागर प्रेस मुम्बई से प्रकाशित कृष्ण शास्त्रि कृत संस्कृत टीका सहित 'श्रृंगार शतक' का चतुर्थ संस्करण ।

इसमें खास परिवर्तन-"नीरागेषु जिनो" की जगह "नीरागेष्वपि यो" किया गया है। इस तरह मूल ग्रंथ कार ने जो जिनेन्द्र को वीतरागियों में प्रधान बताया था उस विशेषता का सर्वथा ही लोप कर दिया है। और मनः कल्पित पाठ परिवर्तन कर अर्थ यह दिया गया है कि-सरागियों और वीतरागियों दोनों में ही एक महादेव ही प्रधान हैं किन्तु यह अर्थ श्रृंगार शतक के ही प्रथम-श्लोक के विरुद्ध है जिसमें स्पष्ट बताया है कि-"उस विचित्र चरित्र कामदेव को नमस्कार हो जिसने महादेव ब्रह्मा और विष्णु को भी मृगनयनी गृहिणियों का दास बना दिया है।"

दूसरी बात यह है कि-"न यस्मात्परः" पद के साथ कृष्ण शास्त्रीजी का पूर्वोक्त अर्थ जमता ही नहीं है। इसके सिवा इस पद के 'न' को श्लोक के अन्तिम पद के साथ जोड़कर अर्थ किया गया है उससे महान् दूरान्वय दोष उत्पन्न हो गया है। तथा 'भोक्तुं न मोक्षुं क्षमः" इस अन्तिम पद के 'न' की जगह 'च'-कर दिया गया है इससे भी बड़ा बेतुकापन हो गया है।

सही बात है-सम्प्रदायाभिनिवेश न ग्रन्थ के गौरव को देखता है और न अर्थ को वास्तविकता को (उसे तो दोनों की मिट्टी पलीद करने से काम)

कहाँ तो मूल ग्रन्थकार की निष्पक्ष उदात्त भावना और कहां संकीर्णतावश उसका लोप और विपर्यास ! दोनों पर विज्ञ पाठक विचार करें।

— वैशम्पायन सहस्रनाम—

'मोक्षमार्ग प्रकाशक' के उक्त प्रकरण में ही आगे वैश-

म्यायन सहस्रनाम का यह श्लोक दिया गया है:–कालनेमिर्महा-वीरः शूरः शौरि जिनेश्वरः' ॥ यह श्लोक महाभारत के अनुशासन पर्व, अध्याय १४६ का ८२वां श्लोक है। जहां वैशम्पायनजी ने विष्णु के सहस्रनाम का प्ररूपण किया है। इसमें विष्णु का एक नाम 'जिनेश्वर' दिया है। (संभवतः इसीसे हेम-चन्द्राचार्य ने 'अनेकार्थ संग्रह' कांड २ श्लोक २६६ में लिखा है– 'जिनोऽर्हद् बुद्ध विष्णुषु'।)

परन्तु साम्प्रदायिकता को यह भी सहन नहीं हुआ है और किसी ने इसको इस प्रकार बदल दिया है:–कालनेमिनिहा वीरः शौरिः शूरजनेश्वरः। देखो–श्रीपाद दामोदर सातवेलकर, औंध (सितारा) से सन् १६३१ में प्रकाशित महाभारत। तथा गीता प्रेस गोरखपुर से प्रकाशित महाभारत पृ. ६०४३ (सन् १६५८)।

मूलग्रन्थकार की उदारता का हनन कर अप्रमाणिकता को प्रश्रय देने की पद्धति कहां तक शोभनीय है इस पर विज्ञ पाठक विचार करें।

—मनुस्मृति, यजुर्वेद—

आगे 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में निम्नांकित ३ श्लोक मनु-स्मृति से और १ मंत्र भाग यजुर्वेद से उद्धृत किया है–

कुलादि बीजं सर्वेषां प्रथमो विमलवाहनः।
चक्षुष्मान् यशस्वी नाभि चन्द्रोऽथप्रसेन जित् ॥१॥
मरुदेवी च नाभिश्च भरते कुल सत्तमाः।
अष्टमो मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरुक्रमः ॥२॥

दर्शयन्वर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृतः ।
नीति त्रितय कर्त्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः ।।३।।

ॐ नमोऽर्हंतो ऋषभो ॐ ऋषभ पवित्रं पुरुहूत मध्वरं यज्ञेषु नग्नं परममाहसंस्तु तं वरं शत्रुजयंतं पशुरिन्द्रमाहुतिरिति स्वाहा । ॐ त्रातारमिंद्रं ऋषभं वदंति अमृतारमिन्द्रं हवे सुगतं सुपार्श्वमिन्द्रं हवे शक्रमजित तद्वर्धमान पुरुहूत मिन्द्रामाहुरिति स्वाहा ।"

आज ये दोनों कथन भी मनुस्मृति और यजुर्वेद में नहीं पाये जाते । पं. टोडरमलजी के बाद २०० वर्षों में ही सांप्रदायिकों ने साहित्य का कितना अंगभंग और उसमें कितना रद्दोबदल कर दिया है यह इन प्रमाणों से अच्छी तरह जाना जा सकता है 'मोक्षमार्ग प्रकाशक' में पं. टोडरमलजी ने और भी विविध वैदिक ग्रन्थों से जैन उल्लेख उद्धृत किये हैं शायद उनमें से कुछ और की भी यही हालत हुई हो ।

इस प्रकार जैन उल्लेखों के निष्कासन और विपर्यास की यह छोटी सी कहानी है । अब एक दो उदाहरण ऐसे भी नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं जिनमें एतद् विषयक बड़ा ही अर्थ का अनर्थ किया गया है:—

'सत्यार्थ प्रकाश' द्वि संस्करण सन् १८८४ के पृष्ठ ४४७ पर लिखा है:—

न भुंक्ते केवली न स्त्री मोक्ष मेति दिगंबराः ।
प्राहुरेषामयं भेदो महान् श्वेतांबरैः सह ।।

इसका अर्थ स्वामी दयानन्दजी सा. ने इस प्रकार किया

है—"दिगंबरों का श्वेताम्बरों के साथ इतना ही भेद है कि—दि. लोग स्त्री का संसर्ग नहीं करते और श्वे. करते हैं इत्यादि बातों से मोक्ष को प्राप्त होते हैं। यह इनके साधुओं का भेद है"। उर्दू संस्करण में भी लिखा है—दि. श्वे में इतना ही इखतलाफ है कि—दि. औरत के नजदीक नहीं जाते और श्वे जाते हैं।"●

यह श्लोक वास्तव में सायण माधवाचार्यकृत "सर्वदर्शन-संग्रह" (१३०० ईस्वी सन्) का है। खेमराज श्री कृष्णदास बम्बई से वि. सं. १६६२ में प्रकाशित संस्करण में पृष्ठ ७३ पर यह ६२वां श्लोक दिया है। उदयनारायणसिंहजी ने इसका अर्थ इस प्रकार किया है:—"अकेला न भोजन करते न स्त्री को भोगते ऐसा दिगम्बर मोक्ष को पाते है यह बड़ा भेद श्वेताम्बरों के साथ कहा है।"

ये सब अर्थ कितने असत्य और शालीनता से बाहर हैं यह जैनधर्म से थोड़ा भी परिचय रखने वाले अच्छी तरह जान सकते हैं।

● बादके संस्करणोमें इस अर्थ मे थोडा परिवर्तन कर दियाहै फिर भी सही अर्थ नहीं हो पाया है। पूरा सही अर्थ इस प्रकार है.—"केवली (अर्हन्त) भोजन नही करते और स्त्री मोक्ष नहीं प्राप्त करतीं ऐसा दिगम्बर कहते हैं यही श्वेताम्बरो के साथ इनका महान् भेद है।" सत्यार्थ प्रकाश में जो जैन धर्म की आलोचना के लिये एक लम्बा चौड़ा समुद्देश लिखा है इस एक नमूने से ही उसकी भी असत्यता और अप्रमाणिकता का अच्छी तरह परिचय मिल जाता है।

इसी प्रकार के गलत हिन्दी अनुवाद इस 'सर्वदर्शनसंग्रह' में पद पद पर हैं—उदाहरणतः पृष्ठ ७२ पर देखिये—'अष्टादश दोषा न यस्य च ।।८३।।' इसका अर्थ किया है—"ये ही १८ नयदोष हैं।" जबकि इसका सही अर्थ यह है कि—"जिसके १८ दोष नहीं हैं" (ऐसे जिनेन्द्र हैं)। इसी तरह पृ. ७३ पर देखिये-

लुंचिताः पिच्छकाहस्ताः पाणिपात्रा दिगंबराः ।
ऊर्ध्वाशिनो गृहे दातु द्वितीयास्यु र्जिनर्षयः ।।८९।।

इसमें तीसरे चरण का अर्थ इस प्रकार किया है—"दिगंबर लोग दाता के घर भी भोजन नहीं करते हैं।" जबकि सही अर्थ यह है कि—'दाता के घर में खड़े भोजन करने वाले दि. हैं।'

निष्पक्ष उदार विद्वानों से प्रार्थना है कि—वे साम्प्रदायिक संकीर्णता की पर्याप्त निंदा करें और जो इस प्रकार के कार्य हुए हों उन्हें वापिस सुधारें जिससे श्रमण ब्राह्मण धर्म में परस्पर भ्रातृभाव की और भी वृद्धि हो।

'शत्रोरपि गुणा वाच्या' के रूप में कहो चाहे सहज रूपमें कहो पूर्वकालीन अनेक वैदिक विद्वानों ने जैनधर्म के प्रति वात्सल्य भाव प्रदर्शित किया है जो उनकी उदात्त भावना का द्योतक है। इसकी जड़ उन्होंने इतनी गहरी डाली थी कि—जैनों के भगवान् ऋषभदेव को ८वें ऋषभावतार के रूप में मान्य किया था। आज के सांप्रदायिकों को उस ओर ध्यान देना चाहिये एवं पूर्वजों के गुणानुराग का अनुसरण करना चाहिये। इसी में भारतीत एकता है जो आज के युग की खास आवश्यकता है।

अमरकोष के कर्त्ता अमरसिंह किस धर्म के मानने वाले थे यह आज भी निश्चय रूप से नहीं कहा जा सकता, यद्यपि ऐतिहासिकों का बहुमत उन्हें बौद्ध मानता है। स्व. रावजी सखाराम दोशी के अनुसार यस्य ज्ञान·········' वाले श्लोक से पूर्व दो श्लोक प्राचीन प्रतियों में '१. जिनस्य लोक त्रयवन्दितस्य·········२. नमः श्री शान्तिनाथाय·····' और ये जिन्हें धार्मिक असहिष्णुता के कारण निकाल दिया गया। इसमें से श्लोक सख्या १ तो गद्य चिन्तामणि का मंगलाचरण है किन्तु २ का श्लोक कहाँ का है अभी भी शायद अज्ञात ही है। इस ही प्रकार 'सर्वज्ञोवीतरागो·········' वाला श्लोक भी मुद्रित प्रतियों में नहीं है जबकि हस्तलिखित कई प्रतियों में वह मिलता है, कोषकार ने जिनेन्द्र वाची नाम अपने कोष में न दिये हों यह बात मानी नहीं जा सकती। निष्पक्ष ऐतिहासिको को इस सम्बन्ध में और भी अनुसंधान कर सचाई प्रस्तुत करनी चाहिये।



३०

मूर्ति निर्माण की प्राचीन रीति

आज कल हम देखते हैं कि जिस किसी बन्धु को जिन मूर्ति की प्रतिष्ठा करानी होतीहै, वह यदि मूर्ति बड़े परिमाणकी चाहता हो या और कोई विशेष प्रकार की चाहता हो और वैसी बनी बनाई तैयार मूर्ति कारीगरों के यहाँ नहीं मिलती हो तो प्रतिष्ठा से बहुत पहिले ही किसी कारीगर को साई देकर व कीमत तय करके उसका सौदा कर लिया जाता है और जो साधारण प्रतिमा की ही प्रतिष्ठा करानी होती है तो प्रतिष्ठा के आस-पास के वक्त में ही बनी बनाई मूर्ति किसी कारीगर से खरीद ली जाती है। जहाँ पंचकल्याणक प्रतिष्ठा का महोत्सव होता है वहाँ भी तैयार मूर्तियां लेकर बेचने को कितने ही कारीगर लोग पहुँच जाते हैं। उनसे भी कितने ही जैनी भाई मूर्तियाँ खरीद कर प्रतिष्ठा करवा लेते हैं। आज कल सर्वत्र ऐसा ही आम रिवाज हो गया है। इस विषय में शास्त्रोक्त मार्ग क्या है उसे लोग भूल से गये हैं। आज से करीब सवासात सौ वर्ष पूर्व के बने पं० आशाधरजी के प्रतिष्ठा पाठ में इस विषय में जो कथन किया गया है उसको देखने से मालूम होता है कि आज की यह प्रथा पुराने जमाने में नहीं थी। इस विषय में जैसा कथन आशाधरजी ने किया है वैसा ही प्रायः वसुनन्दी ने भी स्वरचित प्रतिष्ठा सार संग्रह ग्रन्थ में किया है। यह प्रतिष्ठा पाठ अभी तक मुद्रित नहीं हुआ है।

मूर्ति घड़ाने के लिये जंगल में जाकर खान से पाषाण कैसा हो और किस विधि से लाया जावे और कैसे कारीगर से मूर्ति घड़ाई जावे इत्यादि कथन जो इन प्रतिष्ठा ग्रन्थों में लिखा मिलता है उसकी जानकारी आधुनिक जैन समाज को नहीं के बराबर है। अतः मैं यहां उस प्रकरण को वसुनंदिकृत प्रतिष्ठा पाठ से लिखता हूं। यह वर्णन उसके तीसरे परिच्छेद में है।

गृहे निष्पाद्यमाने च निष्पन्ने भावयिष्यति।
शिलां बिंबार्थमानेतुं गच्छेच्छिल्पि समन्वितः ॥६७॥

जिन मन्दिर बन रहा हो उसके पूर्ण होने में अभी थोड़ा काम बाकी हो तब ही प्रतिमा बनाने के लिए पाषाण लेने को शिल्पी के साथ जावे।

कृत्वा महोत्सवं तत्र निमित्तान्य वलोक्य च।
यात्रानुकूल नक्षत्रे सुलग्ने शोभने दिने ॥६८॥

जाने से पहिले वहां उच्छव करे और शुभ निमित्तों को देखे। फिर उत्तम लग्न और शुभ दिन में अनुकूल नक्षत्र के होते यात्रा करे।

(आगे ७ श्लोक में यात्रा मुहूर्त सम्बन्धी ज्योतिष का विषय लिखा है। विस्तारभय से वह कथन यहां छोड़ा जाता है।)

गच्छत्वेवं प्रयत्नेन सम्यगन्वेषयेच्छिलां।
प्रसिद्धपुण्यदेशेषु नदी नगवनेषु च ॥७६॥

प्रसिद्ध पुण्य स्थानों, नदी, पर्वत, वनों में जाकर वहां यत्न के साथ अच्छी तरह से प्रतिमा बनाने योग्य पाषाण को ढूंढना चाहिए।

श्वेता रक्ता ऽ सिता पीता मिश्रा पारावतप्रभा ।
मुद्गकापोतपद्माभा मंजिष्ठाहरितप्रभा ॥७७॥
कठिना शीतला स्निग्धा, सुस्वादा सुस्वरा दृढा ।
सुगंधात्यंततेजस्का मनोज्ञा चोत्तमा शिला ॥७८॥

वह शिला जिससे कि प्रतिमा बनाई जायेगी सफेद, लाल, काली, पीली, कबुरी, सलेटिया, मूंगिया, कबूतरिया, कमल जैसे रंग की, मंजीठ के रंग जैसी और हरे रंग की होनी चाहिये। और वह कठिन, ठण्डी, चिकनी, उत्तम स्वाद वाली, उत्तम आवाज की (झोजरी न हो) मजबूत, अच्छी गंधवाली, अत्यन्त चमकीली, मनोहर और उत्तम होनी चाहिए।

मृद्वी विवर्णा दग्धा वा लघ्वी रूक्षा च धूमिला ।
निःशब्दा बिंदुरेखादिदूषिता वर्जिता शिला ॥७९॥

जो कमल, कुवर्ण, जली हुई, हल्की, रूखी, धूमिल, बिना आवाज की, और बिंदुरेखादि दोषों वाली हो ऐसी शिला प्रतिमा बनाने के काम में नहीं लेनी चाहिये।।

परीक्ष्यैवं शिलां सम्यक् तत्र कृत्वा महोत्सवम् ।
पूजां विधाय शस्त्राग्रं ह्रूं कारेणाभि मंत्रयेत् ॥८०॥

परीक्षा से उत्तम शिला मिल जाय तो खान में से उस शिला को काटने के पहिले वहां भली प्रकार उच्छव के साथ पूजा विधान करके जिस शस्त्र से शिला को काटनी हो उस शस्त्र के अग्रभाग को "ओम् ह्रूं फट् स्वाहा" इस मंत्र से मंत्रित कर लेवें।

शिलां विभिद्य शस्त्रेण पुनर्गंधाविभिर्यजेत् ।
प्रदोषसमये कृत्वा गंधं हस्तान् लेपनम् ॥८१॥

फिर उस शस्त्र के द्वारा शिला को काटकर उसकी गंधादि से पूजा करें। तत्पश्चात् रात्रि के पूर्व भाग में गंध द्रव्यों का हाथों में लेपन करके

सिद्धभक्ति विधाया दो मंत्रं मनसि संस्मरेत् ।
ओम् नमोस्तु जिनेन्द्राय ओम् प्रज्ञाश्रवणे नमः ॥८२॥
नमः केवलिने तुभ्यं नमोस्तु परिमेष्ठिने ।
स्वप्ने मे देवि विद्यांगे ब्रूहि कार्यं शुभाशुभम् ॥८३॥
अनेन दिव्यमंत्रेण सम्यग्ज्ञात्वा शुभाशुभम् ।
प्रात स्तत्र पुनर्गत्वा पूजयेत्तां शिलां ततः ॥८४॥

और प्रथम ही सिद्धभक्ति का पाठ करके आग के मंत्र का मन में स्मरण करें। "ओम् नमोस्तु जिनेन्द्राय, ओम् प्रज्ञाश्रवणे नमः। नमः केवलिने तुभ्यं, नमोस्तु परमेष्ठिने॥ स्वप्ने मे देवि! विद्यांगे!, ब्रूहि कार्यं शुभाशुभं"॥ इसका स्मरण करते हुये सो जावे। इस दिव्यमंत्र से स्वप्न में अच्छी तरह शुभाशुभ जानकर यदि कार्य शुभ दीखे तो प्रभात ही फिर वहां जाकर उस शिला की पूजा करे।

यथा कोटिशिला पूर्वं चालिता सर्वविष्णुभिः ।
चालयामि तथोत्तिष्ठ शीघ्रं चल महाशिले ॥८५॥
सप्ताभिमंत्रिता कृत्वा मंत्रेणानेन तां शिलाम् ।
पीठार्थं प्रतिमार्थं वा रथमारोपयेत्ततः ॥८६॥

"यथा कोटिशिला।...." यह पूरा श्लोक ही मंत्र है। इस मंत्र से उक्त शिला को ७ बार मंत्रित किये बाद बैठक सहित प्रतिमा को बनाने के लिये उस शिला को रथ में रखकर ले चले।

एवमानीय तां सम्यक् त्रिः परीत्य जिनालयम् ।
कृत्वा महोत्सवं तत्र सुदिने संप्रवेशयत् ॥८७॥

इस प्रकार उस शिला को अच्छी तरह लाकर किसी शुभ दिन में उच्छव करके और जिनालय की तीन प्रदक्षिणा देकर जिन मन्दिर में ले जावे।

वहीं शिल्पी को बुलाकर उससे उस शिला की मूर्ति घड़ाई जावे। इस सम्बन्ध में आशाधरकृत प्रतिष्ठा पाठ में इस प्रकार लिखा है—

सुलग्ने शांतिकं कृत्वा सत्कृत्य वरशिल्पिनम् ।
तां निर्मापयितुं जैनं बिंबं तस्मै समर्पयेत् ॥६१॥
सद्दृष्टिर्वास्तु शास्त्रज्ञो मद्यादि विरतः शुचिः ।
पूर्णांगो निपुणः शिल्पी जिनार्चायां क्षमादिमान् ॥६२॥
[अध्याय १]

अर्थ—शांति विधान करके शुभ मुहूर्त में जिनबिंब बनाने के लिये किसी अच्छे कारीगर को सत्कारपूर्वक वह शिला सुपुर्द कर देवे। वह कारीगर तेज नजर का, वास्तु शास्त्र का ज्ञाता मद्यादिका त्यागी, पवित्र, पूर्णांगी, शिल्पकाम में निपुण और क्षमादिकाधारी— अक्रूर परिणामी होना चाहिये। ऐसा शिल्पी जिनबिंब बनाने के योग्य होता है।

पाठक देखेंगे कि जिन प्रतिमा बनाने के कहां तो पूर्व काल के विधि-विधान और कहां आज की प्रथा, दोनों में आकाश पाताल का अन्तर है। प्रतिमा निर्माणार्थ पाषाण लाने की विधि तो दूर रही आजकल तो इतना भी विचार नहीं किया जाता कि जिस मूर्ति को हम प्रतिष्ठार्थ ले रहे हैं उसका घड़ने

वाला शिल्पी कहीं मद्यमांसाहारी तो नहीं है ? बस बाजार बिकती चीज खरीद की और प्रतिष्ठा में रख दी ऐसी मूर्तियों में चमत्कारों की आशा करना मृगमरीचिका है। पाषाण को भगवान बनाना कोई बच्चोंका खेल नहीं है। पूर्वकालमे भगवान की मूर्ति घड़ने वाले सलावट भी ऐसे विचारवान् होते थे कि वे अपना खानपान शुद्ध रखते थे और पवित्र रहते थे और हम परमेश्वर की मूर्ति घड़ने वाले हैं इस बात से अपने आप में गौरव का अनुभव करते थे। इसी से आशाधरजी ने आकर-शुद्धि का वर्णन करते हुए जन्मकल्याणक में भगवान् का प्रथम धूली कलशाभिषेक सूत्रधार (शिल्पी) के हाथ से कराना लिखा है। ऐसे शिल्पियों का सन्मान भी उस जमाने में खूब किया जाता था। उनके सन्मान का उल्लेख भी आशाधरजी ने उक्त कलशाभिषेक के कथन में किया है। इन्होंने ही प्रतिष्ठाविधि में गर्भकल्याणक के प्रसंग में एक और उल्लेख किया है—

सार्वर्तुकानि वरवस्त्रफलप्रसून
शय्यासनाशनविलेपन मंडनानि ।
तत्तत्क्रियोपकरणानि तथेप्सितानि
तीर्थेशमातुरुपदी कुरुतां धनेशः ॥२०॥
[अध्याय ४]

ओम् निधीश्वर जिनेश्वरमात्रे भोगोपभोगान्युपनयोपनयेति स्वाहा। चारुवस्त्र मुद्रिकाहार फल पत्रपुष्पादिकं पीठाग्रे प्रतिष्ठयेत् । तच्च सर्वं विश्वकर्मा गृह्णीयात् ।

अर्थ सब ऋतुओं के उत्तम वस्त्र, फल, पुष्प, शय्या, आसन, भोजन, विलेपन, मंडन तथा और भी उन उन क्रियाओं को साधक इच्छित सामग्री को कुबेर जिनमाता को भेंट करें।

सुन्दर वस्त्र, अंगूठी, हार, फल, पत्र पुष्पादि भेंट की सामग्री को "ओम निधीश्वर" आदि ऊपर लिखे मंत्र को बोलते हुए भद्रासन के आगे रक्खें। उस सब सामग्री को शिल्पी ग्रहण करे। आजकल इनमें से वस्त्र, शय्या, आसन आदि चीजों को कोई कोई प्रतिष्ठाचार्य पण्डित ले लेते हैं या वह सामग्री मेला कराने वाली पंचायत या यजमान के अधिकार में रह जाती है। पहिले इसके लेने का नियोग शिल्पी का था जैसा कि आशाधर जी ने कहा है।

गर्भावतार की विधि में शिल्पी सम्बन्धी एक और उल्लेख आशाधरजी ने निम्न प्रकार किया है—

"तामेव रहसि पुरानिरूपितप्रतिष्ठेयामर्हत्प्रतिमां नूतन-सितसद् वस्त्रप्रच्छादितां पुरश्चरतटंकिकाकरविश्वकर्मा सौध-र्मेन्द्रो महोत्सवेनानीय सुविशुद्धभद्रासनगर्भपद्मे निवेशयेत्।"

जिसके आगे टांकी हाथ में लेकर प्रतिमा घड़ने वाला शिल्पी चल रहा है ऐसा सौधर्मेन्द्र पूर्व कथित उसी प्रतिष्ठेय जिनप्रतिमा को नये सफेद उत्तम वस्त्र से ढककर और महोत्सव के साथ लाकर पवित्र भद्रासन पर कमल के मध्य में एकांत में स्थापन कर दे।★

★ आचार्यकल्प पं० टोडरमलजी के साथी विद्वद्वर पं० राय-मल्लजी कृत 'ज्ञानानन्द श्रावकाचार" के पृष्ठ १०२-१०३ पर भी मूर्ति निर्माण के विषय में इस प्रकार वर्णन है :—

"आगे प्रतिमा का निर्मापण के अर्थ खान जाय पाषाण लावे ताका स्वरूप कहिये हैं—सो वह गृहस्थी महा उछाव सूं खान जावे

इन उद्धरणों से सहज ही जाना जा सकता है कि प्राचीन काल में भगवान की प्रतिमा बाजारु खरीद बेच की चीज नहीं थी जिस शिला से वह बनाई जाती थी वह भी खान से बडे विधि-विधान से लाई जाकर मन्दिर में रखी जाती थी और वहीं पर सलावट आकर उसे बनाता था। बनाने वाला शिल्पी भी शुद्ध आचार-विचार का धारी होता था और वह समाज में सम्मान की दृष्टि से देखा जाता था। यहां तक कि प्रतिष्ठा की विधियों में भी उसे साथ रक्खा जाता था और प्रतिष्ठोपयोगी कितने ही बहुमूल्य पदार्थों की प्राप्तिके अधिकार भी उसे मिले हुए थे जिससे वह मालोमाल हो जाता था। इसके अतिरिक्त और भी पुरस्कार उसे यजमान द्वारा मिला करते थे।

खान की पूजा करे। पीछे खान को स्योत आवे अरु कारीगर ने मेल आवे सो वह कारीगर ब्रह्मचर्य अंगीकार करे, अल्प भोजन ले, उज्ज्वल वस्त्र पहिरे. शिल्पशास्त्र का ज्ञानी घना विनय सूं टांकी करि पाषाण की धीरे-धीरे कोर काटे।

पीछे वह गृहस्थ गृहस्थाचार्य सहित और घना जैनी लोग, कुटुम्ब परिवार के लोग बाजा-बाजा बजाते मगल गावते जिनगुण के स्तोत पढ़ते महा उत्सव सूं खान जाय। पीछे फेरि वांका पूजन कर बिना चाम का संजोग करि महामनोज्ञ रूपा सोना के काम का महा पवित्र मन कूं रंजायमान करने वाला रथ विषे मोकली रूई का पहला में लपेट पाषाण रथ में धरे। पीछे पूर्ववत् महा उत्सव सूं जिन मन्दिर लावे।

पीछे एकांत स्थानक विषे घना विनय सहित शिल्पशास्त्रानुसार प्रतिमाजी का निर्माण करे ता विषे अनेक प्रकार गुण-दोष लिख्या है

जिस मूर्ति को माध्यम बनाकर हम अपने आराध्य देव की आराधना करके अपना कल्याण करते हैं—इहलोक परलोक सुधारते हैं उस मूर्ति को बाजारू चीज बना देने से क्या उसका गौरव रहेगा, यह प्रश्न काफी गम्भीर और विचारणीय है।

सो सर्व दोषां ने छोड़ सम्पूर्ण गुण सहित यथाजात स्वरूप निपुणता दोय चार पांच सात वर्ष मे होय, एक तरफ तो जिन मंदिर की पूर्णता होय और एक तरफ प्रतिमाजी अवतार धरे।

पीछे घने गृहस्थाचार्य पंडित अरु देश-देश का धर्मी ताकूं प्रतिष्ठा का मुहूर्त ऊपर कागज दे दे घना हेत सू बुलावे। सर्व संघ को नित प्रति भोजन होय और सर्व दुःखित को जिमावे, कोई जीव विमुख न होय रात्रि दिवस ही प्रसन्न रहे।

पीछे भला दिन भला मुहूर्त विषे शास्त्रनुसार प्रतिष्ठा होय। घनो दान बटे इत्यादि घनी महिमा होय। ऐसी प्रतिष्ठी प्रतिमाजी पूजना योग्य है। बिना प्रतिष्ठी पूजना योग्य नहीं।।" ●

सारे देश मे प्रतिवर्ष कितनी ही पचकल्याणक प्रतिष्ठायें होती हैं और उनमे १०-२० नहीं किंतु सैकड़ो की सख्या मे जैन मूर्तियों की प्रतिष्ठा होती है। लेकिन ये मूर्तियां शास्त्रोक्त विधि से निर्मित कलापूर्ण एव मनोज्ञ हैं या नहीं इस ओर बहुत कम ध्यान दिया जाता है। प्रस्तुत लेख मे विद्वान् लेखक ने मूर्ति निर्माण की शास्त्रोक्त विधि पर विशद प्रकाश डाला है उस पर मूर्ति प्रतिष्ठापकों एवं प्रतिष्ठाचार्यों का ध्यान जाना आवश्यक है।



३१

पीठिकादि मंत्र और शासनदेव

कुछ पंडितों का कहना है कि आदि पुराण में भगवज्जिनसेन ने पीठिकादि मंत्रों में "सौधर्माय स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वाहा" "अनुचराय स्वाहा" इत्यादि सुरेन्द्र मंत्र लिखे हैं। तथा अग्निकुमारों के इन्द्र और कुबेर का भी मंत्रों में उल्लेख किया है। ऐसा कथन करके आचार्य जिनसेन ने देवगति के देवों की पूजा करने का संकेत किया है उससे शासन देवों की पूजा करना सिद्ध होता है।

नीचे हम इस लेख में इसी बात पर ऊहापोह करते हैं—

आशाधरजी आदि कृत प्रतिष्ठा ग्रन्थों में चक्रेश्वरी आदि २४ यक्षियों को शासन देवता और गोमुख आदि २४ यक्षों को शासन देव के नाम से लिखा है। इसके अलावा नवग्रह, दशदिग्पाल, क्षेत्रपाल, जयादि देवियें और रोहिणी आदि विद्या देवियें इत्यादि देवदेवियों की यागमंडल मे स्थापना कर उनकी प्रतिष्ठादि ग्रथों में पूजा करने का कथन आता है। उनमें से भी किसी देव-देवी का नाम इन पीठिकादि मंत्रों मे नहीं है। जब कि क्रियाकांडी ग्रन्थों में अधिकतर इन्हीं की पूजा-आराधना लिखी है तब जिनसेन का पीठिकादिमत्रों में उनमे से किसी एक का भी उल्लेख न करना यह बताता है कि आचार्य श्री जिनसेन उक्त देव-देवियों की पूजा आराधना करने के पक्ष में कतई नही थे।

रही बात सुरेन्द्र मंत्रों की सो इस विषय में ऐसा समझना चाहिये कि भगवज्जिनसेन ने आदि पुराण में गर्भ से लेकर निर्वाणपर्यंत ५३ गर्भान्वय क्रियायें कही हैं। उनमें से सब से उत्तम ७ क्रियाओं को परमस्थान बताते हुये उनका कर्त्रन्वय नामकरण किया है।

अगले तीसरे भवमें तीर्थंकर होनेवाला जीव जब उच्चवर्ण के शुद्ध जाति कुल में जन्म लेकर गर्भाधानादि संस्कारों से युक्त होता है तब उसके सज्जाति नामक प्रथम परमस्थान माना जाता है। सज्जाति ही आत्मोन्नति का मूल आधार है। वह सज्जाति का धारी सम्यग्दृष्टि श्रावक जब इज्या, वार्ता, दत्ति, आदि षट्कर्मों को करता हुआ धर्म में दृढ रहता है, अन्य गृहस्थों में न पाई जावे ऐसी शुभ वृत्ति का धारी होता है और पाप रहित आजीविका करता है तथा शास्त्र ज्ञान और चरित्र में विशिष्ट होता है तब वह गृहस्थों का स्वामी गृहस्थाचार्य कहलाता है इसे ही गृहीशिता नामकी २० वीं क्रिया कहते हैं और यही सद्गृहित्व नामका दूसरा परमस्थान कहलाता है। वर्णोत्तम, महीदेव, सुश्रुत, द्विजसत्तम, निस्तारक, ग्रामपति और मानार्ह इन नामों को कहकर लोग उसका सत्कार करते हैं। (आदिपुराणपर्व ३८ श्लोक १४७) उक्त सद्गृहस्थ जब वस्त्रादि परिग्रहों का त्याग कर जिनदीक्षा धारण करता है तब उसके जिनरूपता नाम की २४ वी क्रिया होती है। यह ही पारिव्राज्य नामक तीसरा परमस्थान कहलाता है। इस क्रियाका धारी ही आगे चलकर सोलह कारण भावना भाकर तीर्थंकर प्रकृति का बंध करता है। वह मुनि समाधिमरण से प्राण त्याग कर जब स्वर्ग में उत्पन्न हो इन्द्रपदवी का धारी होता है तब उसके इन्द्रोपपाद नामकी ३३ वीं क्रिया होती है

और वह ही सुरेन्द्रत्व नामक चौथा परमस्थान कहलाता है। फिर वह इन्द्र स्वर्ग से च्युत होकर गर्भ-जन्मकल्याणक से युक्त तीर्थंकर हो चक्रवर्त्तिपद का धारी होता है तब उसके साम्राज्य नामकी ४७ वीं क्रिया होती है और वही साम्राज्य नामक ५ वां परमस्थान माना जाता है। तदनंतर वे तीर्थंकर दीक्षा ले मुनि हो तप कर केवलज्ञान पा अर्हंत अवस्था को प्राप्त होते हैं तब उनके अष्टप्रातिहार्य, बारहसभायें, समवशरण आदि विभूतियें होती हैं, इसे ही ५० वीं आर्हंत्य क्रिया कहते है और यही ६ वां परमार्हंत्य नामक परमस्थान माना जाता है। इस अर्हंत अवस्था के बाद जब उन तीर्थंकर की मोक्ष होती है तब वह ५३ वी अग्रनिर्वृत्ति नाम की क्रिया कहलाती है और यही "परंनिर्वाण" नामक ७ वां परमस्थान माना जाता है।

यद्यपि ये क्रियायें गर्भान्वय की ५३ क्रियाओं के अंतर्गत हैं तथापि जब ये क्रियायें किसी तीर्थंकर होनेवाले जीव के होती हैं तब उनकी कर्त्रन्वय नाम से जुदी संज्ञा कही जाकर वे सात परमस्थान माने जाते हैं। जैसे गर्भ से सम्बन्धित क्रियायें गर्भान्वय कही जाती है, और दीक्षा से सम्बन्धित क्रियायें दीक्षान्वय कही जाती हैं। उसी तरह किसी विशिष्ट कर्त्ता से (तीर्थंकर जीव से) सम्बन्ध रखने वाली क्रियायें कर्त्रन्वय कहलाती हैं। नहीं तो कर्त्रन्वय सज्ञा का अन्य क्या अर्थ हो सकता है ? अतिनिकट काल में तीर्थंकर होने वाले ऐसे जो कोई पुण्यशाली जीव हैं उन्हीं के ये कर्त्रन्वय क्रियाये होती हैं। आदिपुराण में लिखा है कि :-

अथातः संप्रवक्ष्यामि द्विजाः कर्त्रन्वयक्रियाः ।
याः प्रत्यासन्ननिष्ठस्य भवेयु र्भव्यदेहिनः ॥८१॥
पर्व ३८

तास्तु कर्त्रन्वया ज्ञेया याः प्राप्याः पुन्यकर्तृभिः ।
फलरूपतया वृत्ताः सन्मार्गाराधनस्य वै ॥६६॥
सज्जातिः सद्गृहित्वं च पारिव्राज्यं सुरेन्द्रता ।
साम्राज्यं परमार्हन्त्यं परंनिर्वाणमित्यपि ॥६७॥
स्थानान्येतानि सप्त स्युः परमाणि जगत्त्रये ।
अर्हद्वाग्मृता स्वादात् प्रतिलभ्यानि देहिनाम् ॥६८॥
पर्व ३८

अर्थ —अथानंतर हे द्विजो मैं आगे उन कर्त्रन्वय क्रियाओं को कहता हूं जोकि अतिनिकट भव्यप्राणी ही के हो सकती हैं।

कर्त्रन्वय क्रियायें वे हैं जो पुण्य करने वालों को प्राप्त होती हैं। और जो समीचीन मार्ग की (सोलहकारण की) आराधना करने के फलस्वरूप प्रवृत होती है। उनके नाम-सज्जाति, सद्गृहित्व, पारिव्राज्य, सुरेन्द्रत्व, साम्राज्य, परमार्हत्य और परंनिर्वाण। ये तीन-जगत् में ७ परमस्थान माने गये हैं। ये स्थान अर्हत के वचनामृत के पान से जीवों को मिलते हैं। अर्थात जिनवाणी के अभ्यास से मिलते हैं।

ये ही सात परमस्थान पीठिकादि सात जाति के मंत्रों में गर्भित हैं। वे इस तरह कि- पीठिका मंत्रों में परंनिर्वाण स्थान जातिमंत्रों में सज्जाति स्थान, निस्तारक मंत्रों में सद्गृहित्व, ऋषिमन्त्रों में पारिव्राज्य, सुरेन्द्रमन्त्रों में सुरेन्द्रस्थान, परमराजादिमन्त्रों में साम्राज्य स्थान और परमेष्ठिमन्त्रों में परमार्हत्य स्थान। इस प्रकार सातों जाति के मन्त्रों में सातों परमस्थान गर्भित हो रक्खे हैं।

इन परमस्थानों के जिस अनुक्रम से उपर नाम लिखे हैं

उसी अनुक्रम से ही वे तीर्थंकर होने वाले जीव के होते हैं। ऐसा आदिपुराण के निम्नपद्यों से प्रगट होता है –

भव्यात्मा समवाप्य जातिमुचितां जातस्ततः सद्गृही।
पारिव्राज्यमनुत्तरं गुरुमतादासाद्य यातो दिवम्॥
तत्रैन्द्रीं श्रियमाप्तवान् पुनरतश्च्युत्वा गतश्चक्रितां।
प्राप्तार्हन्त्यपदः समग्रमहिमा प्राप्नोत्यतो निर्वृतिम् ॥२११॥
पर्व ३९

अर्थ—वह भव्य पुरुष प्रथम ही योग्य जाति सज्जाति को पाकर सद्गृहस्थ होता है। फिर गुरु के पास से उत्कृष्ट परिव्रज्या (मुनि दीक्षा) धारण कर स्वर्ग जाता है। वहां उसे इन्द्र की सम्पदा मिलती है। तदनंतर वहां से च्युत होकर चक्रवर्ती पद को प्राप्त होता है। फिर अर्हन पद को पाकर समस्त महिमा का धारी होता है। और इसके बाद निर्वाणको प्राप्त करता है।

इस विवेचन से साफ तौर पर यही सिद्ध होता है कि पीठिकादि सप्तविधमन्त्रों में केवल सप्त परम स्थानों का उल्लेख है वहां शासन देवों का कोई प्रसंग ही नहीं है। सुरेन्द्रमन्त्र भी सुरेन्द्र नामक परमस्थान की वजह से समझने चाहिये, न कि शासनदेव की वजह से अथवा भाविनैगमनय की दृष्टि से तीर्थंकर पूज्यता को लेकर यह सब मन्त्र कल्प समझना चाहिये। खास ध्यान देने योग्य चीज यहां यह भी है कि इन सात जाति के मंत्रों में जो अर्हंत, सिद्ध और ऋषि वाचकमंत्र है। उनके आगे आचार्य ने केवल नमः शब्द लगाया है, स्वाहा शब्द भी नहीं लगाया है। और शेष मंत्रों के आगे बिना नमः शब्द के खाली स्वाहा शब्द लगाया है। इसका कारण स्पष्टतः यही

मालूम होता है कि अर्हंत, ऋषि खास पूजनीय होने से उनके आगे नमः शब्द का प्रयोग किया है। और शेष परमस्थान पूजनीय नहीं होने से उनके आगे नमः शब्द नहीं लिखा है। खाली स्वाहा शब्द लिखकर आहुति(आह्वान) देने मात्र उनका सम्मान प्रदर्शित किया है। वह भी गर्भाधान, विवाहादि सांसारिक कार्यों में ही। और अर्हंत, सिद्ध व ऋषि वाचक मंत्रों के आगे जो स्वाहा शब्द भी नहीं लगाया गया है उससे आचार्य का अभिप्राय उनको यहां आहुति दिलाने का भी नहीं जान पड़ता है। क्योंकि दूसरों को आहुति देने के साथ इनको भी आहुति देने के लिये स्वाहा शब्द लिख देते तो पूजा की पद्धति सबको समान हो जाती। ऐसा होना आचार्य को अभीष्ट नहीं था। इसलिये आचार्य ने अर्हंतादिकों के आगे स्वाहा शब्द नहीं लिखा, खाली नमः शब्द लिखकर यह भाव दर्शाया है कि अर्हंतादिक को यहां आहुति नहीं देनी चाहिये, नमस्कार करना चाहिये।

यहां आचार्य जिनसेन ने तो सुरेन्द्र परमस्थान के धारी सुरेन्द्र तक को सुरेन्द्रमंत्रों में नमस्कार के योग्य नहीं माना है। ऐसी हालत में आशाधरादिकों का अपने-अपने प्रतिष्ठापाठादि क्रियाकांडी ग्रंथों में भवनत्रिक देवों की जो किसी तरह परमस्थान के धारी भी नहीं है अर्हंतादि की तरह नमः शब्द के साथ पूजा का कथन करना निश्चय ही जिनसेनाचार्य की आम्नाय से बहिर्भूत है। अतः मान्य नहीं है।

यहां ऐसा भी नहीं समझना कि–सुरेन्द्रमंत्रों में स्वाहा शब्द से इन्द्र को आहुति देने का कथन करके ग्रन्थकार ने शासन देवों की पूजा का आशय व्यक्त किया हैं। ग्रन्थकार तो सुरेन्द्रमंत्रों की तरह गृहस्थाचार्य के वाचक निस्तारक मंत्रों में भी

स्वाहा लिखते हैं इससे यही फलितार्थ निकलता है कि ग्रन्थकार की दृष्टि स्वाहा शब्द लिखते वक्त परमस्थान की तरफ थी जिससे दोनों ही परमस्थानीय होने से दोनों ही के मंत्रों में उन्होंने स्वाहा लिख दिया है। "क्या कोई शासन देव भी होते हैं ?" ऐसा तो उनके विचारों में भी नहीं था।

प्रश्न — अगर ऐसी ही बात थी तो पीठिकामंत्रों में अग्निकुमारों के इन्द्र का नाम और निस्तारक मंत्रों में कुबेर का नाम तथा सुरेन्द्रमंत्रों में "अनुचराय स्वाहा" जिसका अर्थ होता है इन्द्र के अनुचरों को स्वाहा इत्यादि उल्लेख क्यों किये हैं ? ये तो परमस्थान भी नहीं है फिर इन सब को स्वाहा कैसे लिखा ?

उत्तर - पीठिकामन्त्रों में से जिस मन्त्र में अग्निकुमारों के इन्द्र का नाम आया है वह मन्त्र यह है-सम्यग्दृष्टे २ आसन्नभव्य २ निर्वाणपूजार्ह २ अग्नीद्र स्वाहा।" इसमें स्वाहा के पूर्व चतुर्थी विभक्ति नहीं है जैसाकि अन्य मन्त्रों मे है किन्तु संबोधन है। इसलिये अग्नीन्द्र के लिये "स्वाहा" ऐसा अर्थ तो यहा होता नहीं है। अग्निकुमारों के इन्द्र की गणना सप्त परमस्थानों में भी नहीं है इसलिये भी उसके स्वाहा नही लिखा जा सकता है। अनेक दूसरे मन्त्रों के देखने से ऐसा विदित होता है कि कितने ही मन्त्रों में स्वाहा शब्द का प्रयोग उस मन्त्र की पूर्ति अर्थ में किया जाता है। यानी अखीर में स्वाहा लिखकर उस मन्त्र की समाप्ति की सूचना दी जाती है। इसके सिवा वहां स्वाहा का अर्थ आहुति देना या द्रव्य अर्पण करना घटित नहीं होता है। उदारहण के लिये प्रतिष्ठापाठों में शुद्धि मन्त्र इस प्रकार लिखा मिलता है—

ओं ह्रीं अमृते अमृतोद्भवे अमृतवर्षिणि अमृतं स्रावय २

क्ष्वीं क्ष्वीं हंसः स्वाहा।" ऐसा बोलकर जल के छींटे देवे। तथा विघ्न निवारण मन्त्र ऐसा लिखा है –

ओं ह्रूं क्षूं फट् किरिटि २ घातय.......ह्रूं फट् स्वाहा।" बोलकर सरसों फेंके। "ओं नमोऽर्हते सर्व रक्ष २ ह्रूं फट् स्वाहा।" इसे ७ बार बोलकर पुष्पाक्षत परिचारकों पर डाले। यह रक्षामन्त्र है। इसी तरह सकलीकरण विधि में 'ओं ह्रां णमो सिद्धाणं स्वाहा" बोलकर ललाट का स्पर्श करे। इत्यादि इसी तरह से स्वाहा का प्रयोग यहां पीठिका मन्त्रों में जिनसेन ने अग्नीद्र के साथ किया है। इस प्रकार के मांत्रिक प्रयोग जिनसेन ने आदि पुराण में अन्यत्र भी किये हैं। देखिये पर्व ४० के श्लो० १२२ और १२६—

"सम्यग्दृष्टे २ सर्वमातः २ वसुन्धरे २ स्वाहा" बोलकर बालक का नाभिनाल पृथ्वी में गाड़ दे। "जिस प्रकार सम्यक्त्व को धारण करने वाली जिनमाता सब की माता है उसी प्रकार सबकी आधारभूत होने से पृथ्वी भी सबकी माता है ऐसी हे पृथ्वी" ऐसा इस मन्त्र का भावार्थ है। सम्यग्दृष्टे यह विशेषण जिनमाता का है पृथ्वी का नहीं है। और सर्वमातः यह विशेषण दोनों ही का है।

"सम्यग्दृष्टे २ आसनभव्ये २ विश्वेश्वरि २ उर्जितपुन्ये २ जिनमाता २ स्वाहा।" यह मन्त्र बोलकर पुत्र की माता को स्नान करावे।

सांसारिक कार्यों को करते हुये पुण्य पुरुषों के नाम का उच्चारण करके यह भावना व्यक्त करना कि उन जैसे हम भी होवें या उनका स्मरण करना ऐसी इन मंत्रों की शैली मालूम देती है।

इससे सिद्ध होता है कि—पीठिकामंत्रों में अग्नीन्द्र 'स्वाहा' का अर्थ अग्नीन्द्र के लिये पूजाद्रव्य अर्पण करने का नहीं है। किन्तु वहां स्वाहा का प्रयोग मन्त्रपूर्ति के लिये किया गया प्रतीत होता है।

चूंकि केवलियों के निर्वाण के वक्त उनका निर्जीव शरीर अग्निकुमारों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न अग्नि से दग्ध हुआ करता है। इसलिये परंनिर्वाण नाम के परमस्थान के सूचक इन पीठिका मन्त्रों के साथ अग्नींद्र का उल्लेख किया गया है। इसी से मन्त्र में उसका एक विशेषण "निर्वाणपूजार्ह लिखा है। जिसका अर्थ होता है केवलियों की निर्वाणपूजा में काम आने योग्य।

इसी प्रकार वैश्रवण-कुबेर के लिये समझ लेना चाहिये। मन्त्र में वैश्रवण शब्द को भी अग्नीन्द्र की तरह ही संबोधनांत लिखकर आगे उसके स्वाहा लिखा है। अतः यहां भी चतुर्थी विभक्ति न होने से कुबेर के लिये स्वाहा नहीं लिखा है।

तथा सुरेन्द्रमन्त्रों में एक मन्त्र "अनुचरायस्वाहा" आता है जिसका अर्थ इन्द्र के अनुचर के लिये स्वाहा किया जाता है। ऐसा अर्थ करना गलत है। वाक्य में अनुचराय यह चतुर्थी विभक्ति का प्रथम वचन है उससे इन्द्र का एक अनुचर अर्थ प्रगट होता है। इन्द्र के एक नहीं अनेक अनुचर होते हैं अतः उक्त अर्थ स्पष्टतः असंगत है। सही अर्थ उसका ऐसा है—"भगवान् का अनुचर-सेवक जो सुरेन्द्र है उसके लिये स्वाहा।" यही अर्थ पुराणे पंडित दौलतरामजी ने वचनिका में किया है।

पुराणे पंडित श्री पन्नालालजी साहब संघी (विद्वज्जन

बोधक के कर्त्ता) और पंडित फतहलालजी (विवाहपद्धति के रचयिता) ने तथा कई आधुनिक पंडितों ने पीठिकादि सभी मंत्रों का अर्थ अर्हंतसिद्ध-गुरु किया है। यहां तक कि सुरेन्द्र और निस्तारक मन्त्र जो स्वर्गेन्द्र और गृहस्थाचार्य के वाची हैं उनमें प्रयुक्त शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ की भी उन्होंने अवहेलना करके उनका भी अर्थ जिनदेव में ही घटाया है। ऐसा उन्होंने क्यों किया ? इसके दो मुख्य कारण हैं। एक तो यह है कि-इन मन्त्रों में प्रत्येक जाति के मन्त्र के अन्त मे सेवा फलं षट् परमस्थानं भवतु" आदि काम्यमंत्र आता है। जिसका मतलब होता है उनकी सेवा करने का फल षट् परमस्थान की प्राप्ति चाहना। इस प्रकार की इच्छा पूर्ति जिनदेव और गुरु की आराधना से तो हो सकती है किन्तु स्वर्ग के इन्द्र और गृहस्थाचार्य की आराधना से नहीं हो सकती है वे षट् परमस्थान आदि की प्राप्ति करा नहीं सकते हैं।

दूसरा कारण है आदिपुराण का वह वाक्य जो मन्त्रों की विवेचना किये बाद लिखा गया है कि–एतैः सिद्धार्चनं कुर्यादाधानादि क्रियाविधौ।" आधानादि क्रियाओं मे इन मन्त्रों से सिद्धोंका अर्चन करना चाहिये यहां इन मन्त्रोसे सिद्धार्चन करने की बात कही है। इसलिये मन्त्रों मे आये "ग्रामपतये स्वाहा" "षट्कर्मणे स्वाहा" "कल्पाधिपतये स्वााहा" "सौधर्माय स्वाहा" इत्यादि का अर्थ सिद्ध भगवान करना चाहिये।

इस प्रकार शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ करने से उपरोक्त दो आपत्तियां खड़ी होती हैं। अतः कोई ऐसा रास्ता ढूंढा जावे जिससे शब्दों के प्रसिद्ध अर्थ ही किये जावें और उक्त आपत्तियें भी न आने पावें।

इस दिशा में ऐसा ही कुछ हम यहां लिखने का प्रयत्न करते हैं—

आदिपुराण पर्व ३८ श्लो० ७१ आदि में लिखा है कि गर्भाधान आदि क्रिया संस्कारों के करते वक्त प्रथम ही वेदी बनाकर उस पर सिद्ध या अर्हंत का बिम्ब विराजमान करे। उस के सामने तीन कुन्डों मे तीन अग्नियो की स्थापना कर वहीं.......छत्रत्रय और.......चक्रत्रय की स्थापना किये बाद प्रथम ही सिद्धपूजा करके फिर पीठिकादि मन्त्रो से हवन करना चाहिये" यह सब विधिविधान सिद्धार्चन कहलाता है। इसमें दो बातें बताई हैं-एक तो सिद्ध भगवान की पूजा करना और दूसरी किसी क्रियासस्कार के निमित्त मन्त्रों से हवन करना। हवन करना यहां सिद्धपूजा नहीं है। सिद्धपूजा तो हवन के पहिले ही हो चुकती है। जैसा कि आदिपुराण में लिखा है—

> **तेष्वर्हदिज्याशेषांशैः आहुतिर्मंत्रपूर्विका।**
> **विधेया शुचिभिर्द्रव्यैः पुंस्पुत्रोत्पत्तिकाम्यया ॥७३॥**
> **तन्मंत्रास्तु यथाम्नायं वक्ष्यंतेऽन्यत्र पर्वणि।**
> **सप्तधापीठिकाजाति मंत्रादिप्रविभागतः ॥७४॥**
> **विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः।**
> **अव्यामोहादतस्तज्ज्ञैः प्रयोज्यास्त उपासकैः ॥७५॥**
> **पर्व ३८**

अर्थ—अर्हंतपूजा कर चुकने के बाद बचे हुये पवित्र द्रव्यों से पुत्रोत्पत्ति की इच्छा से उन अग्नियो मे मंत्रपूर्वक आहुति करनी चाहिये। उन क्रियाओं के मंत्र तो यथाम्नाय आगे के पर्व में कहे जायेंगे। वे पीठिकामंत्र जाति मन्त्र आदि के भेदों से सात प्रकार के हैं। वे मन्त्र गर्भाधानादि क्रियाओं मे काम आते

हैं ऐसा भगवान ने कहा है। अतः उस विषय के ज्ञाता श्रावकों को प्रमाद छोड़कर उनका प्रयोग करना चाहिये।

इस कथन से यही प्रगट होता है कि—ये मंत्र भगवान् की पूजा के नहीं हैं। ये तो गर्भाधानादि क्रियाओं के मंत्र हैं। भगवान् की पूजा तो पहिले हो चुकती है। फिर गर्भाधानादि क्रियाओं के वास्ते उस पूजा के बचे द्रव्यों से मंत्रों को बोलकर आहुतियें दी जाती है। इससे पूजा और मंत्राहुतियें दो जुदी २ चीजें हुई। किन्तु भगवान्की प्रतिमाके सामने उनकी पूजा पूर्वक मंत्रों से आहुतियें दी जाने के कारण यह सारा ही विधान समुच्चय रूप से सिद्धार्चन के नाम से कहा जाता है। इसलिये "एभिः सिद्धार्चनं" इन वाक्यों का अर्थ इन मंत्रों से "सिद्धों की पूजा करे।" ऐसा नहीं करना चाहिये, किन्तु इन मन्त्रों के साथ सिद्धों की पूजा करे" ऐसा अर्थ करना चाहिये। उसका मतलब यह होगा कि—संस्कार करते वक्त दो काम करने चाहिये—सिद्धों की पूजा करे और मन्त्रों से आहुतियें देवें दोनों भिन्न २ हैं। मन्त्रों से आहुतियां देना सिद्धपूजा नहीं है। आहुतियों के मन्त्र तो गर्भाधान, विवाह आदि सांसारिक क्रियाओं के काम के हैं। इसीलिये ग्रन्थकार ने इन्हें क्रियामन्त्र नाम से लिखा है। यथा—

"क्रियामंत्रास्त एते स्युराधानादिक्रियाविधौ" यही बात इन वाक्यों से भी व्यक्त की है—

"विनियोगस्तु सर्वासु क्रियास्वेषां मतो जिनैः"

तात्पर्य इसका यह है कि ये जैनमन्त्र है। इन मन्त्रों का सांसारिक क्रियाओं में उपयोग करना यह जैनरीति कहलाती है जो जिनेन्द्र की पूजा संसार और कर्मों के नाश करने के लिये व मोहादि विकारों को मिटाने के लिये की जाती है वह उद्देश्य

इन मन्त्रों का नहीं है। बल्कि ये मन्त्र तो उल्टे गर्भाधान-विवाहादि संसार के बढ़ाने के काम में लिये जाते हैं। और जो ऐसे कामों में सिद्धपूजा की जाती है वह तो मांगलिकरूप से मगल के तौर पर की जाती है।

५३ गर्भान्वय क्रियाओं में २२ वी गृहत्याग क्रिया के बाद तो हवनादि सम्भव ही नही है अतः वहां तो इन मन्त्रों का कोई उपयोग ही नहीं होता है गृहत्यागक्रिया से पहिले भी गर्भाधान से लेकर पांच वीं मोद क्रिया तक की क्रियाओं में नवमी निषद्या क्रिया, १०वीं अन्नप्राशन क्रिया और १६ वीं विवाहक्रिया इन क्रियाओं में इन मन्त्रों का प्रयोग करने का उल्लेख आदिपुराण में किया है और ये सब क्रियायें सांसारिक हैं। अतः ये मन्त्र सांसारिक कार्यों के लिये है ऐसा कहें तो संभवतः इसमें कोई अत्युक्ति नहीं होगी। और इसीलिये इन विवाहादि क्रियाओं के अनुष्ठान जिन मन्दिर में नहीं होते है, गृहस्थ के घर पर होते हैं। जैनरीति से की जाने के कारण व्यवहार में हम इन्हें धार्मिक क्रियाये कहते है। जैन धर्म के गौरव को रखने के लिये ऐसे काम भी बड़े आवश्यक है जिससे कि हमें लौकिक कामों में भी अजैन ब्राह्मणों के अधीन न रहना पड़े। और संभवतः इसी ध्येयको लेकर जिनसेनने यह क्रियाकांड लिखा है।

रही बात "सेवाफल षट् परमस्थानं" की सो तत्वार्थराजवार्तिक अध्याय ६ सूत्र २४ में वैय्यावृत्य नाम के तप का वर्णन करते हुये आचार्य उपाध्याय मनोज्ञ आदिकों का वैय्यावृत्य करना लिखा है। वहाँ मनोज्ञ का अर्थ असंयत सम्यग्दृष्टि लिखकर उनका भी वैय्यावृत्य करने को कहा है। परमस्थान के धारी सुरेन्द्र व निस्तारक की गणना भी तो वैय्यावृत्य के भेद

मनोज्ञ में ही आती है। उनके मन्त्रों में स्वाहा बोलकर उन्हें आहुतियें देना यह उनका सम्मान हैं सो ही उनका वैय्यावृत्य ह उनकी सेवा है और वह एक तप है। उसका फल यदि कोई षट् परमस्थान की प्राप्ति होना चाहता है तो इसमें क्या असंगतता है ? आयतन सेवा भी धर्म का अंग है ही। और स्वामी समंतभद्र ने भी रत्नकरंड में देव पूजा तक का समावेश वैय्यावृत्य में किया है।

इस प्रकार पीठिकादि मन्त्रों में प्रयुक्त कतिपय शब्दों का अर्थ अगर सिद्ध भगवान् न करके उनका सहजरूप से होने वाला प्रचलित अर्थ भी किया जावे तो उससे भी शासनदेव पूजा की सिद्धि नहीं होती है। और तो क्या इस सारे ही प्रकरण में शासन देवों के नाम तक भी नहीं है। सुरेन्द्र मन्त्रों में जिसप्रकार सौधर्मेन्द्र को आहुति दी गई है उसी प्रकार निस्तारक मन्त्रों में सम्यग्दृष्टि गृहस्थाचार्य को भी आहुति दी गई है। दोनों ही परमस्थान के धारी होने के कारण उनके लिये आहुति लिखकर उनका सन्मान बढाया है। वह सन्मान भी लौकिक क्रियाओं तक ही सीमित है पारमार्थिक विधानों में तो पंच परमेष्ठी की ही आराधना की जाती है। सप्त परमस्थानों में भी सब का समान पद नहीं है इसी लिये मन्त्रों में अर्हंत–सिद्ध गुरुओं को तो नमः लिखा गया है, ★स्वाहा आहुति भी नहीं और शेष परमस्थानों को खाली स्वाहा (आहुति मात्र) लिखा गया है। इसका यही मतलब निकलता है कि इनकोही आहुति देना, परमेष्ठियों को

★आहुति (आह्वान) और स्वाहा का मतलब बुलाना, स्मरण करना, शिष्टाचार मात्र है।

नहीं देना। उन्हें तो नमस्कार करना जिससे कि उनकी निम्नोन्नत पद की अभिव्यक्ति होती रहे। यह बात शब्द प्रयोगों से जानने में आ रही है। शब्द प्रयोग यों ही नहीं किये जाते हैं उनमे भी कोई तथ्य समाया हुआ रहता है। जैनाचार्यों के कथन सदा उच्चादर्श को लिये रहते हैं उनसे हीनादर्श अभिव्यंजित करना किसी तरह योग्य नहीं। विद्वानों को इस ओर पूर्ण लक्ष्य रखना चाहिये।



३२

जैन धर्म में अहिंसा की व्याख्या

संसार के किसी भी धर्म पर दृष्टिपात करिये तो उसमें दो बातें मुख्यतः पाई जाती हैं। वे हैं आचार और विचार। उस धर्म में बताये गये चारित्र के नियमों का पालन करना आचार कहलाता है। और तत्व निर्णय के लिये ऊहापोह जो किया जाता है उसे विचार कहते हैं। जैन धर्म में भी ये दो बातें बताई हैं और बहुत ही उत्तम बताई है। उनके नाम हैं—अहिंसावाद और स्याद्वाद। जैन धर्म में आचार का मूल आधार अहिंसा और विचारों का मूल आधार स्याद्वाद यानी अनेकांत बताया गया है। स्याद्वाद से सब, सबके विचारों को शान्ति से समझें, व्यर्थ का वितंडावाद न करें और अहिंसा से सब, सबके जीवन की रक्षा करें, खुद आराम से जीवें और दूसरों को भी आराम से जीने देवें। इस प्रकार जैन धर्म ने संसार को ये दो चीजें ऐसी अमूल्य दी हैं जिनके आश्रय से संसार के सभी प्राणियों को शान्ति का लाभ हो सकता है। क्योंकि वस्तुतः अशान्ति के, वैमनस्य के प्रायः दो ही कारण हुआ करते हैं—आपस में विचारों का न मिलना और दूसरे के दुःखों की परवाह न करना। इसमें कोई संदेह नहीं कि जैन धर्म ने अशान्ति के इन दोनों ही कारणों को मिटाने के लिये अहिंसा और स्याद्वाद बता कर दुनिया का बहुत बड़ा उपकार किया है। इन्हीं बातों का निर्देश करते हुए स्वामी समंतभद्र ने जैन मत को अद्वितीय मत बताया है—

दया दम त्याग समाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृताऽऽञ्जसार्थम् ।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥

अर्थ—हे जिनेन्द्र ! जिस मत में दया, दम, त्याग और समाधि में तत्पर रहने को कहा गया है, और जो नयों तथा प्रमाणों के द्वारा सम्यक् वस्तु तत्व को बिल्कुल स्पष्ट करने वाला है तथा जो एकांतवादियों के वितंडावादो से अबाधित है, ऐसा आपका मत ही अद्वितीय है ।

स्याद्वाद तो एक कसौटी है जिसके जरिये मुमुक्षु को धर्म के असली स्वरूप की पहिचान होनी है । किन्तु केवल पहचान से ही आत्मा का उद्धार नही हो सकता है । उद्धार होता है पहचान के बाद तदनुसार आचरण करने से । इसीलिए कहा है कि "आचारः प्रथमो धर्मः ।" और इसी से जैन धर्म में बताये गये ग्यारह अंगों में प्रथम अंग का नाम आचारांग लिखा है । ऊपर हम लिख आये हैं कि जैन धर्म मे आचार का मूल अहिंसा बताई है । यों तो कुछ न कुछ अहिंसा सब ही धर्मो में बताई है। क्योंकि अगर अहिंसा किसी भी धर्म में से निकाल दी जावे तो फिर उस धर्म में सार चीज कुछ नहीं रहती है । तथापि जैन धर्म में अहिंसा की जितनी प्रधानता, जितना उसका विस्तृत रूप और जितनी उसकी सूक्ष्म विवेचना है उतनी अन्य धर्मों में नहीं है । अन्य धर्मों में से किसी में तो केवल मनुष्यों को ही वध न करने का उपदेश दिया गया है । किसी में मनुष्यों व गौ बैल अश्व आदि उपयोगी पशुओं को वध करने का आदेश दिया है । किन्तु जैन धर्म में सूक्ष्म से सूक्ष्म को लेकर बड़े से बड़े तक सब ही प्राणी मात्र की हिंसा न करने की आज्ञा दी गई है । और कहा है कि—

"अहिंसा भूतानां जगति विदितं ब्रह्म परमं ॥" जीवों की दया करना इसे ही जगत् में परब्रह्म माना है। इस जगत् में असंख्य ऐसे बारीक जन्तु भी हैं जिनकी हिंसा चलने, बैठने, बोलने, खाना खाने आदि क्रियाओं में टल नहीं सकती है। तब यहाँ कब कोई अहिंसक रह सकता है ? ऐसा प्रश्न गणधर देव ने भगवान अरहंत देव से किया था। यथा—

कधं चरे कधं चिट्ठे कधमासे कधं सये ।
कधं भुंजेज्ज भासिज्ज कधं पावं ण वज्झदि ॥

अर्थ—अगणित जीवों से व्याप्त इस संसार में कोई किस प्रकार से चले ? कैसे ठहरे ? कैसे बैठे ? कैसे सोवे ? कैसे खावे ? और कैसे बोले ? जिससे पाप बन्ध न होवे।

इन प्रश्नों का उत्तर भगवान ने इस प्रकार दिया—

जदं चरे जदं चिट्ठे जदमासे जदं सये ।
जदं भुंजेज्ज भासेज्ज एवं पावं ण वज्झइ ॥

अर्थ—यत्न से चले, यत्न से तिष्ठे, यत्न से बैठे, यत्न से सोवे, यत्न से खावे और यत्न से बोले। इस प्रकार यत्नाचार पूर्वक प्रवृत्ति करने वालों के पापों का बंध नहीं होता है।

मतलब इसका यह हुआ कि—जीव हिंसा को बचाने का विचार रखता हुआ जो क्रिया करता है उस क्रिया में कदाचित् बाहरमें जीव हिंसा हो भी जावे तो अन्तरंगमें बचानेकी भावना होने से उसे पाप नहीं लगता है। इसे ही यत्नाचार कहते हैं और यही जैन धर्म में अहिंसा पालन का रहस्य है। जैसा कि जैन शास्त्रों में कहा है कि—

उच्चालयम्हि पाये इरिया समिदस्स णिग्गमत्थाए।
आबाधेज्ज कुलिंगं मरिज्ज तं जोग मासेज्ज॥
णहि तस्स तण्णिमित्तो बंधो सुहुमोवि देसिदो समये॥

अर्थ—देख भाल कर पैर उठा कर चलने वाले के पैर के नीचे आकर किसी जीव को बाधा पहुँचे या वह मर भी जावे तो भी उसके थोड़ा सा भी पाप आगम में नहीं कहा है।

विपरीत इसके जो यत्नाचार से प्रवृत्ति नहीं करता है, उसके हिंसा न होते हुए भी वह हिंसाजन्य पाप का भागी होता है—

मरदु व जियदु व जीवो अयदाचारस्स णिच्छिदा हिंसा।
पयदस्स णत्थि बंधो हिंसा मेत्तेण समिदस्स॥

अर्थ—जीव चाहे जीवे चाहे मरे असावधानी से काम करने वालों को हिंसा का पाप अवश्य लगता है। किन्तु जो सावधानी से काम कर रहा है, उसे प्राणिवध होजाने पर भी हिंसा का पाप नहीं लगता है।

अयदाचारो समणो छस्सुवि कायेसु बधगोत्ति मदो।
चरदि जदं जदि णिच्चं कमलं व जले णिरुवलेवो॥

अर्थ—*यत्नाचार नहीं रखने वाला श्रमण छहों ही काय के* जीवों के घातजन्य पाप कर्मो का बंध करता है ऐसा सर्वज्ञ देव ने माना है। और जो यत्नाचार से प्रवृति करता है वह सदा ही जल में कमल की तरह पाप लेप से रहित माना गया है।

इससे सिद्ध होता है कि—जैन धर्म में हिंसा अहिंसा का

होना प्रधानतः भावों पर निर्भर है। यदि भावों के आधीन बंध मोक्ष की व्यवस्था न हो तो संसार का ऐसा कोई भी प्रदेश नहीं है जहाँ पहुँच कर साधक पूर्ण अहिंसक रहकर कोई साधना कर सके। जैसा कि कहा भी है कि—

विष्वग्जीवचिते लोके क्व चरन् कोऽप्यमोक्ष्यत।
भावैकसाधनौ बंधमोक्षौ चेन्नाभविष्यताम्॥

अर्थ—यदि परिणामों के आश्रित के बंध मोक्ष नहीं होता तो चारों ओर से जीवों से भरे इस संसार में कहाँ किसकी मोक्ष होती? क्योंकि जीवों से ठसाठस भरे जगत् में जीव हिंसा से बच निकलना संभव नहीं है।

न कर्मबहुलं जगन्न चलनात्मकं कर्म वा,
न नैककरणानि वा न चिदचिद्वधो बंधकृत्।
यदैक्यमुपयोगभूः समुपयाति रागादिभिः,
स एव किल केवलं भवति बंधहेतुर्नृणाम्॥

अर्थ—कर्मबंध का कारण न तो कर्म वर्गणाओं से भरा जगत् है। न चलन रूप कर्म यानी मन वचन काय की क्रिया रूप योग है। न अनेक प्रकार के करण (इंद्रियें) हैं और न चेतन अचेतन का घात है किन्तु आत्मा का उपयोग जब रागादिकों के साथ एकता कर लेता है तो निश्चय करके वही एकमात्र पुरुषों के बंध का कारण हो जाता है।

क्योंकि विशुद्ध परिणामों के धारक जीव के उसके शरीर का निमित्त पाकर हो जाने वाला पर प्राणियों के प्राणों का व्यपरोपण ही यदि बंध का कारण हो जाय तो फिर कोई मुक्त

ही नहीं हो सकताहै। क्योंकि वायु कायादि जीवों की विराधना तो योगियों के भी टल नहीं सकती है। जैसा कि कहा है—

जदि सुद्धस्सवि बंधो होहिदि बहिरंगवत्थुजोएण।
णत्थिहु अहिंसगो णाम वाउकायाविवधहेदू॥

अर्थ—यदि बाह्य वस्तु के संयोग से अर्थात् बाह्य में किसी जीव का वध हो जाने मात्र से ही शुद्ध जीव के भी कर्मों का बंध होने लगे तो कोई भी जीव अहिंसक नहीं हो सकता है। क्योंकि श्वासादि के द्वारा सभी से वायु कायादि जीवों का वध होना निश्चित है।

आचार्य सिद्धसेन ने कहा है कि—(द्वात्रिंशतिका ३ में)

वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।
शिवं च न परोपघातपरुषस्मृतेर्विद्यते॥
वधोपनयमभ्युपैति च परानिघ्नन्नपि।
त्वयायमतिदुर्गमः प्रशमहेतुरुद्योतितः॥१६॥

अर्थ—कोई प्राणी दूसरेके प्राणों का वियोग करता है फिर भी वह हिंसाका भागी नहीं होता है। (क्योंकि उसके भाव हिंसा करने के नहीं थे) दूसरा कोई प्राणी जिसके कि विचार परघात करने की भावना से कठोर हो गये हैं। (वह निश्चयतः हिंसक है) उसका कल्याण नहीं हो सकता है। तथा तीसरा कोई प्राणी (जिसके कि भाव मारने के हैं) वह दूसरों को हिंसा न करता हुआ भी हिंसकपने को प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार हे जिनेन्द्र! आपने यह अतिगहन शांति का मार्ग बताया है।

यहां कोई शंका करे कि 'आत्मा तो अजर अमर है उसका वध कभी होता नहीं है तब जीवहिंसा की बात कहना ही निरर्थक है।' इसका समाधान यह है कि तत्व का निर्णय स्याद्वाद

से होता है। यहां भी स्याद्वाद से विचार करें तो आत्मा शरीर से सर्वथा भिन्न नहीं है। लक्षण की अपेक्षा से कथंचित् भिन्न है। आत्मा चैतन्यमय है और शरीर जड़ है। तथापि दूध में शक्कर की तरह आत्मा शरीर के साथ ऐसा घुलमिल जाता है कि सहसा दोनों को पृथक् नहीं किया जासकता है। जैसे दोनों मानों एक हो गये हैं। यह अभिन्नता दोनों के एक दूसरे पर पड़नेवाले प्रभाव से भी प्रगट होती है। जब आत्मा क्रोध करता है तो आंखें लाल होती हैं, चेहरा विकराल हो जाता है। यह उदाहरण बताता है कि शरीर पर आत्मा का प्रभाव पड़ा है। बाल्य अवस्था में आत्मा में हीन शक्ति रहती है फिर युवावस्था तक क्रमशः आत्मा में बल बढ़ने लगता है, पुनः वृद्धावस्था में बल घट जाता है इत्यादि से जाना जाता है कि शरीर का प्रभाव भी आत्मा पर काफी पड़ता है। इससे सिद्ध होता है कि आत्मा और शरीर में लक्षण भेद से भिन्नता होते हुए भी दोनों का एक क्षेत्रावगाह हो जाने के कारण दोनों में बहुत कुछ अभिन्नता भी है। और जब दोनों में अभिन्नत्व है तो शरीर को कष्ट देने से उसके साथ मिले हुये आत्माको भी कष्ट पहुंचताहै यही हिंसा है। इस तरह अजर अमर जीव को भी हिंसा होना सिद्ध होता है। जीव हिंसा का अर्थ यहां सर्वथा आत्मा का नाश हो जाना नहीं है किन्तु कष्ट से वर्तमान शरीर को छोडकर अन्य शरीर में जाना यह जीव हिंसा का अर्थ है। आत्मा और शरीर को सर्वथा भिन्न या अभिन्न मानने से तो हिंसा और अहिंसा दोनों ही नहीं बनसकेंगी। जैसा कि कहा है —

आत्मशरीरविभेदं वदंति ये सर्वथा गतविवेकाः।
कायवधे हंत कथं तेषां संजायते हिंसा॥

जीववपुषोरभेदो येषामैकांतिको मतः शास्त्रम् ।
कायविनाशे तेषां जीवविनाशः कथं वार्यः ॥

अर्थ जो अविवेकी आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद बताते हैं, खेद है कि उनके यहां शरीर के घात से हिंसा कैसे हो सकेगी। इसी तरह जिनके यहां आत्मा और शरीर में एकांततः अभेद माना गया है उनके यहां शरीर के नाश होने पर आत्मा का भी नाश हो जावेगा इस आपत्ति का निवारण कैसे हो सकेगा। अर्थात् आत्मा और शरीर में सर्वथा भेद मानने से किसी के शरीर का घात करने से आत्मा को कुछ भी आघात नही पहुंचेगा तो हिंसा नाम की कोई चीज ही दुनिया में न रहेगी तब हिंसा के त्याग का उपदेश भी कोई क्यों देगा ? तथा आत्मा और शरीर का सर्वथा अभेद माना जावे तो शरीर के घात से आत्मा का भी घात हो जावेगा। इस तरह जीव का नाश मानने से दयापालनादि धर्माचरण भी व्यर्थ हो जावेगा। जब आत्मा नहीं तो परलोक भी न रहेगा।

सत्य तो यह है कि-जैसे अग्नि से तप्त लोहे पर चोट देने से लोहे के साथ मिली हुई अग्नि पर भी आघात पहुँचता है, उसी तरह किसी के शरीर पर आघात पहुँचाने से उसके साथ मिले हुये आत्मा को भी बड़ी पीड़ा होती है इस पीड़ा ही का नाम हिंसा है। क्योंकि जीव के शरीर, इन्द्रिय, श्वास आदि द्रव्य प्राण हैं इन्हींसे आत्मा प्रत्येक पर्याय में जीता है। इन द्रव्य प्राणों का वियोग ही लौकिक में मरण कहलाता है। 'नहि मृत्युसमं दुःखं' मृत्यु का दुःख जीवों के सबसे बड़ा दुःख है। मरणांत दुःख देने वाले जीव घोर पातकी, महानिर्दयी, क्रूरपरिणामी होते हैं। जहां क्रूरता है वहीं हिंसा है-अधर्म है। दया के

बिना धर्म नहीं हो सकता है। कहा भी है कि—

> यस्य जीवदया नास्ति तस्य सच्चरितं कुतः।
> न हि भूतद्रुहां कापि क्रिया श्रेयस्करी भवेत्॥

अर्थ—जिसके जीवदया नहीं है उसके समीचीन चारित्र कैसे हो सकता है? क्योंकि प्राणियों के साथ द्रोह करने वालों का कोई भी काम कल्याण का करने वाला है।

> दयालोरव्रतस्यापि स्वर्गतिः स्याददुर्गतिः।
> व्रतिनोऽपि दयोनस्य दुर्गतिः स्याददुर्गतिः॥

अर्थ—दयालु पुरुष यदि व्रताचरण नहीं भी करता है तो भी उसके लिये स्वर्गगति मुश्किल नहीं है। और जो व्रतों का पालन करता है किन्तु हृदय में दया नहीं है तो उसके लिये नरकादि दुर्गति भी सुलभ है।

> तपस्यतु चिरं तीव्रं व्रतयत्वतियच्छतु।
> निर्दयस्तत्फलैर्हीनः पीनश्चैकां दयां चरन्॥

अर्थ—चाहे कोई चिरकाल तक घोर तपस्या करे, व्रत पाले और दान देवे, यदि दया नहीं है तो उनका कोई फल मिलने वाला नहीं है। और एक दया है तो उनका बहुत फल है।

> मनो दयानुविद्धं चेत् मुधा क्लिश्नासि सिद्धये।
> मनोऽदयानुविद्धं चेत् मुधा क्लिश्नासि सिद्धये॥

अर्थ—अगर दया से भीगा हुआ मन है तो सिद्धि के लिये क्लेश उठाने की जरूरत नहीं है क्योंकि दयालु को सिद्धि प्राप्त

कर लेना सुगम है। और जो दया से भीगा हुआ मन नहीं है तो उसको भी सिद्धि के लिये क्लेश उठाने की कोई जरूरत नहीं है। क्योंकि निर्दयी को कभी सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती है। प्रसिद्ध संत कवि तुलसीदासजी ने भी कहा है कि 'परहित सरिस धर्म नहीं भाई, पर पीड़ा सम नहीं अधमाई ॥' वेदव्यास ने भी सारे पुराणों का सार २ शब्दों में इस प्रकार बताया है—अष्टादश पुराणेषु व्यासस्य वचन द्वयं । परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् ॥ (अर्थात् १८ पुराणों का सार यह है कि परोपकार ही पुण्य है और परपीडन = हिंसा ही पाप है।

सर्वेषां समयानां हृदयं गर्भश्च सर्वशास्त्राणाम् ।
व्रतगुणशीलादीनां पिंडः सारोपि चाहिंसा ॥

अर्थ—सब मतों का हृदय और सब शास्त्रों का गर्भ तथा व्रत गुण-शीलादिकों की पिंड ऐसी सारभूत एक अहिंसा ही है।

यद्यपि जैन दर्शन में किसी को दुःख देना पाप बताया है। किन्तु इसमें भी इतना और विशेष समझलेना चाहिये कि यदि कर्त्ता के कषायभाव हो तो पाप हो सकता है। अगर कषायभाव नहीं है तो अपने या दूसरे को पीड़ा देने मात्र से पाप नहीं होता है। क्योंकि डाक्टर भी आपरेशन करके रोगी को पीड़ा तो पहुंचाता ही है। साधु भी उपवासादि से अपने आपको कष्ट देता है। गुरु भी शिष्य को ताड़ना करता है। किन्तु ऐसा करते हुये भी इनको पाप नहीं लगता है। क्योंकि इनके भाव अहित करने के नहीं हैं अतः इनके कषायभाव नहीं है। एक जीवहिंसा ही नहीं अन्य पाप भी भावों पर ही निर्भर हैं। यथा—

मनसैव कृतं पापं न शरीरकृतं कृतम् ।
येनैवालिंगिता कांता तेनैवालिंगिता सुता ।।

अर्थ - मानसिक परिणामों से किया हुआ ही पाप माना जाता है । बिना मन के केवल शरीर के द्वारा किया हुआ पाप नहीं माना जाता है । क्योंकि जिस शरीर से अपनी स्त्री का आलिंगन किया जाता है उसी से अपनी पुत्री का भी आलिंगन किया जाता है । किन्तु दोनों क्रियायें बाहर से एक समान होते हुए भी भीतर भावों का बड़ा अन्तर रहता है ।

इसी तरह का एक और पद्य है—

सर्वासामेव शुद्धीनां भावशुद्धिः प्रशस्यते ।
अन्यथालिंग्यतेऽपत्यमन्यथालिंग्यते पतिः ।।

अर्थ—सब शुद्धियों में भावशुद्धि प्रधान है । एक महिला पुत्र को भी छाती से लगाती है और पति को भी । किन्तु जिस भाव से पुत्र को लगाती है उस भाव से पति को नहीं ।

इस प्रकार हिंसा अहिंसा के मसले को समझने के लिये जैन शास्त्रों में बहुत ही गम्भीर विचार किया गया है ।

अहिंसा परमो धर्मःयतो धर्मस्ततोजयः ।
अहिंसा परमो धर्मः अहिंसा परमागति ।।

अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः ।
[पातंजलयोगदर्शन]

"अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति"
[अमृतचन्द्र]

३२

जैन धर्म श्रेष्ठ क्यों है ?

संसार में मत मतान्तरों का इतना जाल छाया हुआ है, कि उसके मारे किसी मुमुक्षु को यह तक पता नहीं पड़ता कि मुझे किस मार्ग से चलने में लाभ है।

"हरित भूमि तृण संकुलित समुझि परै नहि पंथ।
जिमि पाखंडि विवाद तें लुप्त होंहि सद्ग्रंथ॥

अर्थात हरीघासों से अच्छादित मार्ग जिस प्रकार दिखाई नहीं देता उसी तरह पाखण्डियों के विवाद से यह नहीं ज्ञान पड़ता कि उत्तम ग्रन्थ कौन हैं जिनके कथनानुसार चला जाये। सबही मजहबों की ओर आँख उठाकर देखिये वे सब अपनी-अपनी तारीफों के पुल बाँधते हुए दीख पड़ेंगे, उन्हें सुनकर हितेच्छु प्राणी डाँवाडोल-सा हो जाता है और वह अपने लिये कुछ भी निश्चित नहीं कर पाता। तब विवश हो यही एक करना सबको अच्छा मालूम होता है और ऐसा ही किया भी जाता है कि जो धर्म बाप-दादों से चला आता है उसीपर हम भी चलते रहें। कहा भी है कि

"स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः"

अपने धर्म का पालन करते-करते ही जीवन व्यतीत

करना ठीक है; अन्य धर्म तो भयानक है卐

कुछ मनुष्य इसके भी आगे बढ़े हैं, वे कोई धर्म ही नहीं मानते उनका विचार है कि —

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्नाः नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम् ।
धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां महाजनो येन गतः स पंथा ॥

अर्थ - तर्क को कोई प्रतिष्ठा नहीं (उससे असत्य को भी सत्य सिद्ध किया जा सकता है) श्रुतियों का यह हाल है कि वे एक से एक मिलती नहीं, ऐसा कोई ऋषि भी नहीं जिसका कि वचन प्रमाण माना जाय इधर धर्म इतना गूढ है कि उसका ठीक तत्व समझ नही पड़ता तब उसी रास्ते चलना चाहिए जिसपर प्रतिष्ठित पुरुष चल रहे हैं ।

पर इस तरह अँधाधुन्ध चलना एक आत्महितैषी के लिये उचित नही कहा जा सकता । इसीलिये इस छोटे से ट्रैक्ट में यह चर्चा उठाई गई है और इसमें यह पूर्ण रीति से सिद्ध किया गया है कि एक ऐसा भी धर्म वर्तमान में प्रचलित है जो अपने को सर्व श्रेष्ठ और यथार्थ होने का दावा रखता है वह किस तरह

卐 किन्तु इसमे परीक्षा प्रधानता न होकर पक्षांधता है एक भव्य मुमुक्षु प्राणी इस तरह लकीर का फकीर नहीं बनता एक नीतिकार ने कहा है—"तातस्य कूपोऽय मिति ब्रुवाणाः क्षारं जलं का पुरुषाः पिबंति" (यह कुआ हमारे बाप-दादों का है यह मानकर खारे जल को भी पीते रहने वाले कापुरुष हैं, विवेकी नही । जब चार पैसे की हांडी—ठोक बजाकर ली जाती है तो जिस धर्म से इस लोक और परलोक का सम्बन्ध है उसे यों ही मानते चले जाना समझदारों का काम नहीं ।

से श्रेष्ठ है उसके बाबत जो बातें नीचे लिखी जायँगी उन्हें एक तरह से सब धर्मों की कसौटी कहना चाहिए, जिसपर कसकर देखने से सब धर्मों में से एक असली धर्म का पृथक्करण किया जाकर एकमात्र उसे ही अपने जीवन में उतारा जाय।

सबसे पहले विचार इस बात का होता है कि मनुष्य को किसी धर्म के धारण करने की क्यों आवश्यकता होती है ? इसलिए कि वह उसके द्वारा अपने दुःखों से छुटकारा चाहता है। लेकिन इसको दुःख क्या है ? क्या विवाह न होना संतान न होना धन ऐश्वर्यादि का न मिलना इत्यादि ? मान लिया जाय कि ये सब मिल जायँ तो क्या वह पूर्ण सुखी हो जायगा ? कदापि नहीं। बड़े-बड़े राजाओं और बादशाहों के क्या इनकी कमी थी; फिर भी वे यथार्थ में सुखी न हो सके। किसी ने ठीक ही कहा है कि—

दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बंधनं विषं विषयाः।
कोऽयं जनस्य मोहो ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा॥

अर्थ स्त्रियाँ तिरस्कार की करनेवाली, परिवार के मनुष्य बन्धन के तुल्य और इन्द्रियों के विषय विष रूप है। इतने पर भी मनुष्य के मोह को देखा जो इन शत्रुओं से भी मित्रता की आशा रखता है।

संतोषामृततृप्तानां यत्सुखं शांतचेतसाम्।
कुतस्तद्धनलुब्धानामितश्चेतश्च धावताम्॥

अर्थ—जो सुख संतोषरूप अमृत से तृप्त होनेवाले शांतचित्त पुरुषों में है। वह इधर-उधर दौड़नेवाले धनलोलुपियों को कहाँ से मिल सकता है।

बात बिलकुल ठीक है जो आशा और तृष्णा का दास है वह किसका गुलाम नहीं है। वास्तव में जिस-जिस आत्मा में काम क्रोध, लोभ, मोह मद मत्सर आदि भाव जितनी ही जितनी मात्रा में अधिक है उसे उतना ही उतना ज्यादह दुःखी समझना चाहिए। और जिसमें ऐसे भावों की जितनी ही कमी है उसे उतना ही सुखी मानना चाहिये।

"नास्ति रागसमं दुखं नास्ति त्यागसमं सुखम्"

राग के समान दुःख और त्याग के समान सुख नहीं है।

आपदा कथितः पंथाः इन्द्रियाणामसंयमः।
तज्जयः संपदां मार्गो येनेष्टं तेन गम्यताम्॥

अर्थ—आपदाओं-दुःखों का मार्ग इन्द्रियों का असंयम है। और उन इन्द्रियों का जीतना उन्हें अपने वश में रखना यह सम्पदाओं का-सुखों का मार्ग है। जो तुम्हें इष्ट हो उसी पर चलिये। दुःख चाहो तो इन्द्रियों के अधीन बने रहो और सुख चाहो तो उनपर विजय प्राप्त करो।

"येनांशेन तु रागस्तेनांशेनास्य बंधनं भवति"

जितने अंशो में राग द्वेषादि भावों का सद्भाव है उतने ही अंशों में आत्मा का बन्धन मानना चाहिए। जब यह तय होचुका कि दरअसल में जीव को दुःख पहुँचाने वाले उसी के कामक्रोधादि भाव हैं, तब यदि कोई दुःख से बचना चाहे तो उसका मुख्य कर्त्तव्य है कि वह ऐसा उपाय सोचे कि जिससे कामक्रोधादि नष्ट हो जायँ, ऐसे धर्म की शरण में जाय, जो इन कुभावों के मेटने की तजवीज बताता हो, तभी उसकी आत्मा को शांति मिल सकती है।

अब यह देखना है कि वह धर्म कौनसा है जिसकी नीति कामक्रोधादि बुरे भावों के हटाने की हो आज हम आपके सामने एक ऐसी ही किस्म के मजहब का हाल बताते हैं जिसका बाहरी परिचय हमारे कितने ही भाइयों को है, पर वे उसके अन्तस्तत्व से बहुत ही कम जानकारी रखते हैं, और इसीलिए जिसके कितने ही उपयोगी सिद्धांत उलटपलट भी समझ लिये गये हैं।

वह मत है "जैनमत"। यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि इस मत की नीति को देखते हुए संसारभर में यही एक ऐसा मत है जिसके आश्रय से बहुत कुछ सांसारिक संकटों से बचाव हो सकता है।

उत्तम आदर्श

किसी मत की उत्तमता को देखने के लिए सबसे पहले उसमें यह होना जरूरी है कि वह दुःखी जीवों के दुःख को दूर करने के लिये कोई उत्तम आदर्श रखता हो। ऊपर जिस दुःख का जिक्र किया गया है उसे मेटने के भरपूर साधन जैनमत में पाये जाते है जैनधर्म की रगरग में इन कामक्रोधादि के दूर करने की आपको शिक्षा मिलेगी, उस मत की मूर्तियों को देखिए वे कितनी शांत निर्विकार और वीतराग हैं, जिनके दर्शन करने से ही दर्शकों के दिल में एकबारगी ही शान्ति-धारा बह निकलती है, यही कारण है जो मूर्ति पूजा को भी जैनधर्म जैसे वैज्ञानिक धर्म में दाखिल किया गया है। जो लोग मूर्तिपूजा का विरोध करते हैं, उनका वह विरोध चाहे दूसरे धर्मों के लिये किसी तरह ठीक हो सकता है किन्तु जैनधर्म जिस मतलब को लेकर मूर्ति पूजा की इजाजत देता है उसके प्रति आक्षेप की गुञ्जाइश ही नहीं है।

उसका सिद्धांत है कि जैसे एक विद्यार्थी नकशे को अपने सामने रखकर अपने हाथ से वैसा ही नकशा खेंचने का अभ्यास करता है, वैसे ही शांति चाहने वाला शांतिमय मूर्ति की उपासना कर उसके निर्विकार भाव को अपने हृदय पट पर उतारने का अभ्यास कर सकता है, बतलाइये इसमें कोनसी बात खण्डन के योग्य है।

उसीके अनुरूप उसमत के साधु होते हैं, जिनके लिये लिखा है कि "वे विषयों की आशा से रहित होते हैं, आरम्भ और परिग्रह के त्यागी होते हैं और होते हैं ज्ञान, ध्यान, तप, में लवलीन, साथ ही शांति के अवतार, निर्मोही, निर्लोभी, इंद्रियों के विजेता, और विशाल क्षमा के धारी होते हैं। उनकी तपस्या, रहन-सहन इतने ऊँचे दर्जे की होती है कि हरएक विषय-लोलुपी उस वेष को धारण नहीं कर सकता। इसलिये "नारि मुई घर-संपति नाशी। मूंड मुंडाय भये सन्यासी" जैसे फक्कड़ों का बोल-बाला जैनधर्म में दिखाई नहीं पड़ता। सुलफों, और गांजों की दम लगाने वाले लाखों नामधारी साधु समूह ने जो भारतवर्ष को बरबाद कर रक्खा है, उसमें जैन नाम धारी कोई साधु आपको न मिलेगा। जैनमुनि चाहे थोड़ेही मिलो, पर वे होंगे देश के लिये जवाहिरात की तरह कीमती चीज। जो दया पालन के लिये इतने मशहूर होते हैं कि वे अपने शिर के बालों को भी जूँओं के बचाव के लिये उस्तरों से नहीं मुंडवाते, किन्तु अपने ही हाथों से शिर और डाढ़ी मूंछ के बालों को घास की तरह उखाड़ कर फेंक देते हैं। यह है "सिंहवृत्ति" इसके लिये अदम्य साहस, शरीर से गहरी निस्पृहता और घोर धीरवीरता चाहिये, उसे दीन और विषयों के भिखारी धारण नहीं कर सकते। यह बात "श्रीयुत महामहोपाध्याय डा० शतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे प्रकांड

अजैन विद्वान् ने "भी स्वीकार की है कि" जैन-साधु एक प्रशंसनीय-जीवन व्यतीत करने के द्वारा पूर्ण रीति से व्रत नियम और इंद्रियसंयम का पालन करता हुआ जगत् के सन्मुख आत्म-संयम का एक बडा ही उत्तम आदर्श प्रस्तुत करता है" क्यों न हो जहां ज्ञान, वैराग्य, शम, दम, अहिंसा, समदृष्टि आदि गुणों में एक भी गुण हो तो वह आदरणीय होता है, फिर जहाँ वे सब ही गुण पाये जायें वह फिर किस बुद्धिमान् के पूज्य न होगा। इस तरह क्या तो जैन साधु क्या जैनियों की आराध्य मूर्ति दोनों ही ज्ञान वैराग्य शील-संतोष का हमारे सामने एक उत्तम आदर्श रखते हैं, इसीके सहारे से सभ्यजन अपना आत्म-सुधार कर दुःखदायी काम-क्रोधादिक भावों को बहुत कुछ दूर कर सकता है। जैन आगमों में भी पद पद आपको ज्ञान, वैराग्य, और संतोष की ही शिक्षा मिलेगी, जैनधर्म का सारा ढांचा ही वैराग्य के रंग से रंगा हुआ है, वह जो कुछ भी अनुष्ठान या क्रिया काण्ड बतलावेगा, वह ऐसा ही होगा जो प्रत्यक्ष ही शांति का दाता हो, वह आपको ऐसी बातें कभी न बतलावेगा जिसका कोई अच्छा-सा नतीजा वर्तमान में निकलता कभी नजर न आता हो, और यूँही जिन्हें परलोक में सुखदाई बतला दिया गया हो। जैन धर्म तो आपको ऐसे ही मार्ग में चलने का आदेश करता है जिससे आत्मा को इस लोक और परलोक में शांति मिले। वह पुकार २ कर कहता है कि हे दुःखी प्राणियों ! तुम दुःख से छूटना चाहते हो तो क्रोध को छोड़ो, मान को त्यागो, कपट को हटाओ, और लोभ को जलाञ्जलि दो। इंद्रिय विषयों के क्षणिक सुख से मुँह मोड़ो, अपनी आत्मा को क्षमा, सत्य शौच, तप संयम, दया, शील और संतोष से खूब भरदो, तभी तुम्हारा दुःखसंकटों से उद्धार होगा। वरना अगणित जन्मों में यूँहो ठोकरें खाते

फिरोगे। "जैसा करे वैसा ही भरे" यह बात जैनधर्म ही बताता है वह यह नहीं कहता कि "किसी को सुखी-दुःखी बनाना परमेश्वर के हाथ में है"। किसी मजहब की ऐसी मान्यता कि "सुख-दुःख का कर्त्ता ईश्वरहै" दुनिया के लिये उपयोगी नहीं हो सकती। ऐसी नसीहत से तो लोग पाप कमाने में और भी अधिक उच्छृंखल-निरंकुश बन सकते हैं। उनके दिल में यह धारणा होना सम्भव है कि हमसे अन्याय जुल्म और अनर्थ हो भी जायेंगे तो एक दिन परमेश्वरकी खुशामद-भक्ति-करके पापाचार के फल से छूट जायंगे। लल्लो-चप्पों से खुश होकर ईश्वर हमारे गुनाहो को माफ करदेगा, लेकिन जैनधर्म को देखिये-उसके यहाँ कोई ऐसी रियायत नहीं। वहतो डंकेकी चोट कहता है कि "सुखी और दुःखी होना खुद मनुष्यों के हाथ में ही है। नेक चलन चलेगा तो सुख पावेगा, वरना दुःख उठावेगा। यह तो वस्तु स्वभाव है जो किसी के पलटाये पलट नही सकता है। जैसे कोई शराब पीले तो उसके ऊपर शराब अपना जरूर असर करेगी। शराब से यों कहा जाय कि "हे शराब ! तुझे मैं पीगया हूं पर तू मुझे पागल मत बना" क्या शराब उसकी यह प्रार्थना सुनेगी ? कभी नहीं; वह तो असर डालेगी ही, क्योंकि उसकी तासीर ही ऐसी है। ठीक वैसे ही जो पाप करेगा उसका फल उसे जरूर मिलेगा, पुण्य करेगा तो सुख रूप मिलेगा, क्यूँकि पाप-पुण्य का स्वभाव ही ऐसा है-वस्तु स्वाभाव मे किसी की दस्तंदाजी चल नही सकती और इसके लिये किसी ईश्वर विशेष को बीच में डालने की कोई जरूरत नहीं रहती, सब काम अपने आप वस्तु-स्वभाव से ही होते रहते हैं। अग्नि का स्वभाव गर्म है, जल का शीतल है, इसमें कौन क्या कर सकता है "स्वभावोऽतर्क गोचरः" अलग-अलग पदार्थ का अलग-अलग स्व भाव अपना २

काम करता रहता है इस तरह वस्तु-स्वभाव को मानने वाले जैन धर्म की बदौलत दुनिया के बहुत कुछ अत्याचार रफा हो सकते हैं। इसलिये कहना होगा कि

जैन धर्म का अवतार विश्वहित के लिये है

इसी प्रयोजन को लेकर वह हमारे सामने इतना अच्छा कार्यक्रम पेशकरता है जो सरल होने के साथ २ हमे पाप के कीचड़ से भी निकालता जाता है। हमें अगणित पापो के नाम गिनाकर उलझन में नही डालता। किन्तु उन सब को पांच हिस्से में बांट कर हमें सुगमरूप सुझाता ह। वे पांच ये है— किसी जीव को सताना, झूंठ बोलना चोरी करना, जिनाकारी करना (व्यभिचार) और ममत्व- असंतोष रखना। इन्हीं पांच पापों में सभी पाप समाजाते हैं। जैनधर्म इन्हीं के त्याग का उपदेश देता है। जो जितनी मात्रा में इनका त्यागी है वह उतना ही उत्तम चारित्री है। मनुष्यों की तरक्की के लिये जैनधर्म का चारित्र बहुत लाभकारी है। दर असल में वह एक अहिंसाप्रधान धर्म है। यद्यपि अन्यधर्म भी अहिंसा का प्रतिपादन करते हैं; पर जैनधर्म जिस खूबी और जिस प्रणाली से व्याख्यान करता है वह निराली ही है। "याज्ञिकी हिंसा हिंसा न भवति" आदि कहने वाले अन्यधर्मों की तरह वह अपना अनुचित पक्षपात नहीं करता। वह नहीं कहता कि जैनधर्म के अर्थ की हुई हिंसा अधर्म नहीं है। किसी को मौत के मुँह में पहुँचाने को ही जैनधर्म हिंसा नहीं बताता किन्तु कषायवश किसी के दिल को दुखाना भी वह हिंसा बताता है। साथ ही वह यह भी नहीं कहता कि मनुष्य और पशु जैसे मोटे जीवों को सताना ही हिंसा हो किन्तु वह तो आँखों से नजर न आनेवाला सूक्ष्म से सूक्ष्म जीवों की हिंसा से

भी टलने का कथन करता है जिन स्थानों में ऐसे सूक्ष्म जीव पायेजाते हैं उन्हें अपने दिव्य ज्ञान से देखकर जैनधर्म के सर्वदर्शी भगवान् ने उन स्थानों से यथाशक्ति बचे रहने की हिदायत की है। "खुद जीवो और दूसरों को जीने दो" यह जैनों का खास सिद्धान्त है। एतदर्थ वह कितने ही नियम भी बताता है। जैसे—जल छानकर पीना, रात्रि में भोजन न करना, अंनत जीवों के पिण्ड ऐसे कंदमूल न खाना, बहु जंतु स्थान ऐसे हरे साग, पत्र, पुष्प, फल न खाना, सब से मैत्रीभाव रखना, प्रेम व्यवहार रखना, किसी से बैर विरोध न करना, शत्रु का भी बुरा न चाहना आदि इसीके साथ वह ऊपर लिखे शेष ४ पापों के छोड़ने का भी पूर्णतया आग्रह करता है। एक गृहस्थ का जीवन भी अगर जैनत्व को लिये हुये हो तो वह इतना अधिक निर्दोष होगा कि भारतवर्ष को उसका अभिमान होना चाहिये★ जैनधर्म की कथित आचरणव्यवस्था पर ध्यान देने से यह निःसंदेह कहा जा-सकता है कि उससे समग्र देश और समाज में अत्याचार और उत्पात मिटकर अमन चैन बना रह सकता है। और इस गुण से जैनधर्म को यदि विश्वहित का अवतार कहा जाये तो कुछ भी अत्युक्ति न होगी।

ईश्वरोयकथन

यों तो सभी मतवाले अपने २ मत की उत्पत्ति किसी ऋषिमुनि और ईश्वर के द्वारा हुई बताते हैं। यह एक परोक्ष बात है, अपनी उत्तमता दिखाने को चाहे कुछ भी कह दिया

★ वह किसी भी देश की कोई भी दण्डविधान-धारा का कभी भी शिकार नहीं हो सकेगा।

जाए। तथापि इसपर भी विचार हो सकता है। ईश्वर जो होता है वह काम, क्रोध, रागद्वेषादि दोषों से रहित होता है। सर्वज्ञ होता है। इसलिये उसका उपदेश भी निर्दोष, पूर्वापरविरोध-रहित सत्य, सर्व हित कर ही होगा। क्योंकि वक्ता अपने गुण के मुआफिक ही व्याख्यान किया करता है। अतः जिस मत मे न तो कामक्रोधादि दोषों के दूर करने का मार्ग सुझाया है और न कोई किसी खास हित के लिये ही कथन है तथा पूर्वापर विरोध जिन के बचनों में पाया जाता है वह मत कदापि ईश्वरोक्त नहीं हो सकता। परोक्ष में बोलने वाले पक्षी की आवाज सुनकर जैसे उसे बिना देखे ही जान लेते हैं वैसे ही किसी मत के वचन को देखकर ही उसके वक्ता का पता भी लग सकता है। यह एक सीधी सी बात है। जैनधर्म रागादि दोषों को हटाने की पूरी तौर से शिक्षा देता है। उसके सिद्धांत में कहीं कोई पूर्वापर विरोध भी नजर नहीं आता और वह हित कर्ता भी है जैसा कि ऊपर बतायागया है। इसलिये वही एक ईश्वरोक्त हो सकता है यह निश्चित है। उसके यहां इष्टदेव की मूर्ति बनाई भी रागादि दोषों से रहित जाती है। इसलिये भी उसका ईश्वरोक्त होना अधिक संभव है।

सैद्धांतिक विवेचन

जो धर्म सर्वज्ञ वीतराग द्वारा कहा हुआ होता है उसके सिद्धांत में अयथार्थता आही कैसे सकती है। क्योंकि असत्य कथन या तो ज्ञान की कमी से हो सकता है और या मोह, स्वार्थ लोभादि कषायों से हो सकता है। जैनधर्म वीतराग सर्वज्ञ आप्त के द्वारा प्रतिपादित है जैसाकि ऊपर कहा गया है। अतः उसका अनेकांतवाद, कर्मफिलासोफी, तात्विकसिद्धांत आदि विवेचन में

अंशमात्र भी भूल नहीं है। डाक्टर सर जगदीश चन्द्र बोस ने साइंस से वनस्पतियों में जीवों का अस्तित्व बताकर पाश्चात्य विद्वानों को चकित कर दिया और कहा कि मैंने तो यन्त्रों द्वारा आज जीवों को सिद्ध कर दिखलाये हैं पर जैन ग्रन्थों में बहुत काल पहिले ही से यह लिखा मिलता है कि वनस्पति में जीव होते हैं।

जैन आगमों में लिखा है कि शब्द पुद्गल का गुण है जब कि अन्य दर्शनों में उसे आकाशका गुण बताया है। इसपर परस्पर के शास्त्रों में गहरा वादविवाद भी लिखा मिलता है। किंतु आज शब्द के फोनोग्राफ में भरे जाने व टेलीग्राफ रेडियो से दूर देश में पहुंचने आदि से यह अनायास ही साबित हो गया कि शब्द पुद्गल ही की पर्याय है, आकाश की नहीं। तभी तो उसका इस तरह रोका जाना प्रत्यक्ष में दिखरहा है। इत्यादि उदाहरणों से साफ है कि जैनधर्म का सैद्धांतिक विवेचन भी बिल्कुल यथार्थ है। इटली के एक विद्वान् डा० एल० पी० टेसी टोरीसाहब इसी का समर्थन करते हुये बतलाते हैं कि—

"जैनदर्शन बहुत ही ऊँची पंक्ति का है। इसके मुख्यतत्व विज्ञान शास्त्र के आधार पर रचेहुये हैं। यह केवल मेरा अनुमान ही नहीं है बल्कि पूर्ण अनुभव है। ज्यों-ज्यों पदार्थविज्ञान उन्नति करता जाता है त्यों-त्यों ही जैनधर्म के सिद्धांत सिद्ध होते जाते हैं।"

जैनधर्म का तत्व और उपदेश वस्तु स्वरूप, प्राकृतिक नियम, न्याय शास्त्र, शक्यानुष्ठान और विज्ञानसिद्धांत के अनुसार होने के कारण सत्य है। जैनियों का अनेकांत और

नयवाद एक ऐसा सिद्धांत है जो कि सत्य की खोज में पक्षपात रहित होने की प्रेरणा करता है। जैनदर्शन एक ऐसा अभेद्य किला है जिसका आजतक किसी प्रतिवादी से बाल भी बांका न होसका। पुराने ढर्रे के हिन्दू धर्मावलंबी शास्त्री तो अबतक नहीं जानते कि जैनियों का स्याद्वाद किस चिड़िया का नाम है।

परीक्षा की प्रधानता

अपने एक इसी बल पर वह स्पष्ट घोषणा करता है कि—

पक्षपातो न मे वीरे न द्वेषः कपिलादिषु।
युक्ति मद्‌वचनं यस्य तस्य कार्यः परिग्रहः॥
[हरिभद्रसूरि]

अर्थात—मेरे न तो वीर भगवान् में पक्षपात है और न कपिलादि ऋषियों में द्वेष है। जिसके वचन युक्ति सहित हों उसे ही ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि—

"युक्तियुक्तं प्रगृह्णीयाद् बालादपि विचक्षणः"

विचक्षण पुरुष वाजिब बात बालक की भी मानता है, इसी लिये जैन धर्म युक्ति और स्वतंत्र विचारों से कभी भयभीत नहीं होता। वह इतर मतों की तरह ऐसा कभी नहीं कहता कि जो कुछ हम कहते हैं वही ठीक है। उस पर तर्क-वितर्क करने की जरूरत नहीं है। इस प्रकार "बाबावाक्यं प्रमाणं" की उसके यहां पूछ नहीं है। वह तो खुले रूप में कहता है कि—

'निर्दोषं कांचनं चेत् स्यात् परीक्षायां बिभेति किम्'

असली सोना है, तो कसौटी का क्या डर है। अपने

सिद्धांत की दृढ़ असलियत का उसे पूर्ण निश्चय है और इसीलिये वह अपने अनुयायियों को जोर देकर आदेश करताहै कि उसपर श्रद्धान करने पर ही तुम्हारे सम्यक्त्व नाम का वह चिह्न प्रकट हो सकेगा जो कल्याण का प्रथम सोपान है।

प्राचीनता

यह कोई नियम नहीं है कि जो प्राचीन हो वही सत्य हो। प्राचीनता और समीचीनता में कोई संबंध नहीं है। अगर सत्य प्राचीन हो सकता हो तो असत्य भी क्यों न प्राचीन माना जाय। अनुकूल-प्रतिकूल का द्वंद्व तो सदैव बना रह सकना लाजिमी है। फिर भी लोगों की अक्सर यह धारणा होना अनुचित नहीं कही जा सकती कि अमुकमत श्रेष्ठ था तो पहिले क्यों नहीं था अब ही नया क्यों हुआ। पूर्व कालीन मनुष्य अधिक विवेकी हुये हैं यह मार्ग क्यों नहीं सूझा। एक तरह से इस प्रकार का कथन भी उपेक्षणीय नहीं हो सकता। इसीलिये हरएक मत अपने आपको सबसे पूर्व का बतलाया करता है।

जैनधर्म की प्राचीनता सिद्ध करने को किसी उलझन में पड़ने की आवश्यकता नहीं रहती। क्योंकि जैनधर्म तो आत्मा का निज स्वभाव है। जब कि आत्मा अजर-अमर सदैव से चला आता है तो उसीके साथ जैनधर्म भी सदैव का रहा यह निर्विवाद है। आत्मा का खास स्वभाव काम, क्रोधादि रहित है; क्योंकि स्वभाव सदा द्रव्य के साथ बना रहता है। आप देखेंगे कि मनुष्य सदैव निरन्तर क्रोधादि रूप नहीं रहता है। किसी कारण विशेष से उसके कुछ समय तक वैसा विकार हो जाता है, कारण के हटने पर पुनः उसी शांत रूप में आ जाता है। जैसे

जल का स्वभाव ठण्डा है किन्तु अग्नि के प्रसंग से गर्म भी हो जाता है। इससे सिद्ध है कि अगर आत्मा का स्वभाव क्रोधादि मय होता तो वह सदा क्रोधादि रूप ही बना रहता; पर ऐसा निरंतर पाया नहीं जाता क्योंकि वस्तुत: उसका असली स्वभाव क्षमादि शांत रूप है। और जैन धर्म भी इसे उसी स्वभाव में रहने की प्रेरणा करता है। अतः जो आत्मा का स्वभाव है वही जैनधर्म है। इस लिए उसे नया नहीं कह सकते। और इसी कारण जैनधर्म की उत्पत्ति का पता लगाना असंभव है।

वर्तमान काल कलियुग है। इस निकृष्टकाल से पूर्ववर्ती काल उत्तरोत्तर उत्कृष्ट मान लेने पर जैन धर्म जैसा श्रेष्ठ धर्म भी पूर्वकाल में अधिकाधिक रूप में माना जाना चाहिये। क्योंकि उत्तम काल में ही उत्तम चीज का पाया जाना न्याय संगत है। वर्तमान में जैनधर्म का हीन-प्रभ दिखाई देना भी उक्त मान्यता को पुष्ट करता है। यह बात हम ही अपनी तरफ से कह रहे हों सो नहीं है किन्तु प्राचीनता का दम भरनेवाले इतर ग्रंथ भी उसके साक्षी हैं। यथा —

१—शंकराचार्य महाराज स्वयं स्वीकार करते हैं कि जैनधर्म अति प्राचीन काल से है। वे वादरायण व्यास के वेदान्त सूत्र के भाष्य में कहते हैं कि दूसरे अध्याय के द्वितीय पाद के सूत्र ३३ से ३६, जैनधर्म ही के सम्बन्ध में हैं। शारीरिक-मीमांसा के भाष्यकार रामानुज जी का भी यही मत है।

२—योगवाशिष्ठ वैराग्य प्रकरण के अध्याय १५ श्लोक ८ में रामचन्द्रजी ने जिनेन्द्र के सदृश शान्त होने की इच्छा प्रकट की है।

३—वाल्मीकि रामायण बालकांड सर्ग १४ श्लोक २२ में

राजा दशरथ ने श्रमणगणों का अतिथि सत्कार किया; ऐसा लिखा है—

"तापसा भुंजते चापि श्रमणा भुंजते तथा"

भूषण टीका में श्रमण का अर्थ जैनमुनि किया है।

४–शाकटायन के उणादि सूत्र में जिन शब्द व्यवहृत हुआ है—

"इण्सिजजिनीङ्ग्य विभ्योनक्"

सूत्र २५६ पाद ३

सिद्धान्त कौमुदी के कर्त्ता ने इस सूत्र की व्याख्या में "जिनोऽर्हन्" कहा है। मेदिनी कोष में भी जिन शब्द का अर्थ अर्हत-जैनधम के आदि प्रचारक लिखा है। वृत्तिकारगण भी जिनका अर्थ "अर्हत्" करते हैं। यथा उणादि सूत्र सिद्धान्त कौमुदी। शाकटायन ने किस समय उणादि सूत्र की रचना की थी? यास्क के निरुक्त में शाकटायन के नामका उल्लेख है। और पाणिनि के बहुत समय पहिले निरुक्त बना है इसे सभी स्वीकार करते हैं। और महाभाष्य प्रणेता पतंजलि के कई सौ वर्ष पहिले पाणिनि ने जन्म ग्रहण किया था। अतएव अब निश्चय है कि शाकटायन का उणादिसूत्र अत्यन्त प्राचीन ग्रथ है और उसमें जैनमत का जिकर है। ×

५—आज से २४५७ वर्ष पूर्व महावीर स्वामी हुए, जो

× यह पुस्तक सर्वप्रथम वीर निर्वाण स० २४५७ मे प्रकाशित हुई थी।

जैनों के चौवीस वें तीर्थंकर थे। जिनका कि संवत् आज भी चल रहा है। उनके २५० वर्ष पहिले भगवान् पार्श्वनाथ हुये। कुछ लोगों का यह भ्रम पूर्ण विश्वास है कि पार्श्वनाथ जैनधर्म के आदि स्थापक थे उन्हें जानना चाहिये कि पार्श्वनाथ के पहिले भी २२ तीर्थंकर और हुये हैं जो जैनधर्म के विस्तारक थे। सब से प्रथम श्री ऋषभदेव ने इसका प्रचार किया है। भागवत के पांचवें स्कन्ध के अध्याय २-६ में ऋषभदेव का कथन है जिसका भावार्थ यह है—

"चौदह मनुओं में पहिला मनु स्वयं प्रभू का प्रपौत्र नाभि का पुत्र ऋषभदेव हुआ जो जैनमत का आदि प्रचारक था। इनके जन्मकाल में जगत् की बाल्यावस्था थी इत्यादि।"

महाभारत की टीका में भी जैन ऋषभ का उल्लेख है। इससे मानना होगा कि हिन्दू शास्त्रों के मत से भी ऋषभ ही जैनधर्म के प्रथम प्रचारक थे।

६—डा० फुहरर ने जो मथुरा के शिला लेखों से समस्त इतिहास की खोज की है उससे जान पडता है कि पूर्वकाल में जैन लोग ऋषभदेव की मूर्तियां बनाते थे। इस विषय का 'एपिग्रेफिया इंडिका" नामक ग्रन्थ अनुवाद सहित मुद्रित हुआ है। ये शिला लेख दो हजार वर्ष पूर्व कनिष्क-हविष्क वासुदेवादि राजाओं के राजत्वकाल में खोदे गये हैं। इससे सिद्ध है कि यदि महावीर-पार्श्वनाथ ही जैनधर्म के प्रथम प्रचारक होते तो दो हजार वर्ष पहिलेके लोग ऋषभदेवकी मूर्तिकी पूजा नहीं करते।

७ जैनियों के परम पूज्य चौबीस तीर्थंकरों को वेदों में भी नमस्कार किया है। देखो—

"ओं त्रैलोक्यप्रतिष्ठितानां चतुर्विंशतितीर्थंकराणां ऋषभादिवर्द्धमानान्तानां सिद्धानां शरणं प्रपद्ये"—ऋग्वेद

अर्थ—त्रैलोक्य प्रतिष्ठित ऋषभ से वर्द्धमान पर्यंत जो चौबीस तीर्थंकर सिद्ध हैं उनकी मैं शरण प्राप्त होता हूं।

यजुर्वेद में कहा है कि –

ओं नमोऽर्हन्तो ऋषभो

ऋग्वेद यजुर्वेद के एतद्विषयक कुछ प्रमाण इस निबन्ध में आगे भी दिये हैं।

८ उर्व, भारवि, भर्तृहरि, भर्तृमेण्ठ, कंठ, गुणाढ्य, व्यास, भास, बोस, कालिदास, बाण, मयूर, नारायण, कुमार, माघ, राजशेखर, आदि महाकवियों ने भी अपने २ काव्यों में जैन विषयक उल्लेख यत्र तत्र किया है □

इसके अलावा जैनों का उल्लेख कितने ही शिलालेखों, मूर्तिलेखों और ताम्रपत्रों में भी काफी तौर से पाया जाता है।

सबसे अधिक शिलालेख दक्षिण भारत में हैं। मि० ई० हुलिस, मि० जे० एफ० फ्लीट, और मि० लेविस राईस आदि भिन्न २ पाश्चात्य विद्वानों ने साउथ इण्डिया इन्स्क्रिप्सन, इण्डियन ऐंटिक्वेरी, ऐपिग्रॉफिया कर्णाटिका आदि ग्रन्थों में वहां के हजारों लेखों का संग्रह किया है। ये लेख शिलाओं तथा ताम्रपत्रों पर संस्कृत और पुरानी कनड़ी आदि भाषाओं में खुदे

□ देखो यशस्तिलक चपू आश्वास ४था पृष्ठ ११३ निर्णयसागर में मुद्रित।

हुऐ हैं। प्राचीन कनड़ी के लेखों में जैनियों के लेख बहुत अधिक हैं, क्योंकि उत्तर कर्णाटक, दक्षिण कर्णाटक, और मैसूर राज्य में जैनियों का निवास प्राचीन काल से है ! उत्तर भारत में जो संस्कृत और प्राकृत भाषा के लेख मिले हैं; वे प्राचीनता और उपयोगिता की दृष्टि से बहुत महत्व के हैं, इन लेखों में जैन लेखों की संख्या अधिक है, इन सब में कुछ लेख तो २२०० वर्ष तक के पुराने हैं, ये लेख भारत के इतिहास के लिये भी बहुत सहायक हैं। बहुतसे राजाओं का पता तो केवल जैनियों के ही लेखों से लगता है। जैसे – कलिंग (उड़ीसा) का राजा खारवेल। अगर जैन लेख प्रशस्ति न होती तो आज विख्यात कवि "भारवि" के समय का पता लगाना भी मुश्किल हो जाता ★

तथा यह बात प्रायः सभी जानते हैं कि जैनियों की कितनी ही मूर्तियां कितने ही स्थानों में जमीन खोदते वक्त मिलती रही हैं, उनमें से कतिपय तो बहुत ही प्राचीन हैं, बल्कि कुछ मूर्तियां तो यहां केकड़ी के जैन मन्दिरों में भी विराजमान हैं जो धनोप (जिला शाहपुरा मेवाड़) की खुदाई में मिली थीं। क्या इस प्रकार जमीन के अन्दर हिंदुस्थान में चारो तरफ जैनियों के शिलालेखों और विशालकाय मूर्तियों का निकलना अच्छी प्रकार साबित नहीं करता कि जैन धर्म एक बहुत ही प्राचीन धर्म है जो किसी समय सर्वत्र विस्तृत था।

साहित्य-सम्पदा

जैन साहित्य समुदाय भी कम महत्व का नहीं है।

★ देखो महावीर प्रसाद द्विवेदी लिखित हिंदी किरातार्जुनीय की इण्डियन प्रेस इलाहाबाद मे मुद्रित भूमिका पृष्ठ २ से ६ तक।

संस्कृत, प्राकृत, मागधी, कनड़ी, आदि विविध भाषाओं में ताड़-पत्रों पर लिखे कितने ही प्रभावशाली प्राचीन जैन ग्रन्थ पाये जाते हैं। यद्यपि अधिकांश-जैनग्रन्थ विरोधियों की द्वेषाग्नि में और जैनियों की लापरवाही के कारण चूहों-दीमकों आदि से नष्ट हो गये हैं, तथा कही २ जैनियों की वह लापरवाही अद्यापि वैसी ही बनी हुई है, तथापि ईडर, जैसलमेर, जयपुर, आरा, नागौर, मूडबिद्री आदि स्थानों के ग्रन्थ भंडारों में अब भी जैन-ग्रन्थों का अच्छा संग्रह है। जैन ग्रन्थकर्त्ताओं ने सभी विषयों पर लेखनी उठाई है, उनकी रचना शब्द-सौन्दर्य, भाव गांभीर्य और अर्थ-चमत्कृति में अपूर्व कही जा सकती है जैनेन्द्र, शब्दानुशासन आदि व्याकरण, अभिधानचिंतामणि, विश्वलोचन आदि कोष गद्य चिंतामणि, तिलक मंजरी, आदि गद्यग्रन्थ, धर्मशर्माभ्युदय, पार्श्वाभ्युदय, द्विसंधान, चंद्रप्रभ चरित आदि काव्य, जीवंधर चपू यशस्तिलक चंपू आदि चपू, अलंकार चिंतामणि, काव्यानुशासन आदि अलंकार ग्रंथ अष्ट सहस्री, प्रमेयकमलमार्तंड, श्लोकवार्तिक, स्याद्वादरत्नाकर आदि न्यायग्रंथ, मोक्षशास्त्र, धवल जयधवल, महाधवल आदि दार्शनिक ग्रन्थ, इसी प्रकार वैद्यक ज्योतिष गणित आदि विषयों के भी जैन ग्रन्थों की कमी नहीं है। इन सब में कितने ही ग्रन्थ निःसंदेह प्रकाण्ड विद्वत्ता के सूचक, गौरव शाली और साहित्य संसार के चमकते हीरे कहे जाने चाहिये। वर्तमान में जितने जैन ग्रन्थ मुद्रित हुए हैं उनसे कई गुणे अभी हाल अप्रकाशित हैं। दक्षिण में तामिल व कनड़ी इन दोनों भाषाओं के जो व्याकरण प्रथम प्रस्तुत हुए हैं वे जैनियों ने ही रचे थे। अपने उपयोगी और सत्य सिद्धान्तों का सर्व साधारण में प्रचार करने की गरज से कितने ही मुख्य जैन-ग्रन्थ प्राकृत भाषा में रचे गये हैं। हरिभद्र सूरि ने भी यही हेतु

दिया है जैसा कि उनके इस पद्य से प्रकट है। यथा—

"बालस्त्रीवृद्धमूर्खाणां नृणां चारित्रकांक्षिणाम्।
अनुग्रहार्थं तत्वज्ञैः सिद्धान्तः प्राकृतं कृतः॥

जैन साहित्य के बाबत हम अधिक कुछ न लिखकर एक प्रसिद्ध अजैन विद्वान् श्रीमहामहोपाध्याय डॉ० "सतीशचन्द्र विद्याभूषण" सिद्धान्तमहोदधि कलकत्ता की सम्मति देते हैं, उसे देखिये—

जैनियों की विचार पद्धति, यथार्थता, सूक्ष्मता, सुनिश्चितता, और संक्षिप्तता को देखकर मुझे आश्चर्य हुआ था। और मैंने धन्यवाद के साथ इस बात को नोट किया है कि किस प्रकार से प्राचीन न्याय पद्धति ने जैन नैयायिकों द्वारा क्रमशः उन्नति लाभकर वर्तमान रूप धारण किया है। ब्राह्मणों के न्याय की आधुनिक पद्धति जिसे नव्यन्याय कहते हैं और जिसे गणेश उपाध्याय ने १४वीं शताब्दीमें जारी किया है वह जैन और बौद्धों के इस मध्यकालीन न्याय की तलछट से उत्पन्न हुई है। व्याकरण और कोश रचना विभाग में शाकटायन, देवनंदि और हेमचन्द्र आदि के ग्रंथ अपनी उपयोगिता और विद्वत्ता में अद्वितीय हैं। प्राकृतभाषा संपूर्ण मधुमय सौंदर्य को लिये हुए जैनियों की रचनामें ही प्रकट की गई है। ऐतिहासिक संसार में तो जैनसाहित्य शायद जगत् के लिए सबसे अधिक काम की वस्तु है। यह इतिहास लेखकों और पुरावृत्त विशारदों के लिये अनुसंधान की विपुल सामग्री प्रदान करने वाला है।"

आक्षेप परिहार

१—हमारे अजैन भाई कह सकते हैं कि जिस जैन धर्म

की तुम इतनी डींग मारते हो वह दरअसल में इतना श्रेष्ठ होता तो उसके मानने वालों की आज इतनी कम संख्या न होती। उत्तर यह है कि किसी मजहब की उत्तमता उसके अनुयायियों की अधिक संख्या पर निर्भर नहीं हो सकती, प्रायः उत्तम चीज पाई भी थोड़ी जाती है। पत्थरों के ढेर मिलेंगे पर जवाहिरात बिरली ही जगह पायेंगे। काकों के झुंड मिलेंगे, लेकिन हंस नजर न पड़ेंगे। एक बात यह भी है कि उत्तम चीज के रखने का पात्र भी तो उसीके योग्य चाहिये, सिंहनी का दूध सुवर्ण पात्र को छोड़ अन्यत्र नही ठहरता। जो दया प्रधान धर्म विषयकषाय छोड नेकी शिक्षा देता है, उसका पालन इन्द्रियों के गुलाम, कषायों के पुतले, कठोर चित्त वाले जिनकी कि अधिक सख्या है क्यों कर कर सकते हैं। विरोधियों के झूंठे अपवाद और उसपर जैनियों के प्रमाद से भी उसकी कम क्षति नही हुई है फिर भी देश में जैन नाम धारियों को चाहे संख्या न बढ़ी हो तो भी उसका अन्य धर्मों पर जो गहरा असर पडा है, उससे अप्रकट आंशिक जैन तो बहुत अधिक हैं। इसे ही प्रसिद्ध देशभक्त लो० बालगंगाधर तिलक ने भी प्रकट किया है कि 'यथार्थ पशु-हिंसा जो आजकल नहीं होती है यह एक बड़ी भारी छाप जैन धर्म ने ब्राह्मण धर्म पर मारी है" क्यों कि —

यच्छुभं दृश्यते वाक्यं तज्जैनं पर दर्शने।
मौक्तिकहि यदन्यत्र तदब्धौ जायतेऽखिलम्॥

अर्थ—जो अच्छा उपदेश पर मतों में मिलता है उसे जैनों से ही लिया हुआ समझना चाहिए। क्योंकि मोती कहीं पर भी हो, आता समुद्र से ही है।

२ जैनियों को निरीश्वर वादी और नास्तिक कहना भी सरासर मिथ्या है अगर जैनी ईश्वर न मानते होते तो वे अपने आलीशान मन्दिरों में किनकी उपासना करते हैं ? वास्तव में जैन लोग निर्दोष, सर्वज्ञ, हितोपदेशी को ही अपना ईश्वर मानते है और उन्हीं की प्रतिमा को वे पूजते हैं, अलबत्तह वे किसी ईश्वर को कर्त्ता हर्त्ता नहीं मानते हैं। जैसा कि उनका कहना हैं। यथा—

'परेषुयोगेषु मनीषयांधः प्रीतिं दधात्यात्मपरिग्रहेषु।
तथापि देव स यदि प्रसक्तमेतज्जगद्देवमयं समस्तम् ॥
[यशस्तिकचपू ४ था समाश्वास]

अर्थ—जो शत्रुओं पर द्वेष करता है और आत्मस्नेहियों में प्रीति करता है ऐसा भी यदि ईश्वर होने लगे तो सारे जगत् को ईश्वरमय मानना चाहिये। क्योंकि राग-द्वेष तो सभी में पाये जाते हैं।

इसीलिये किसी ईश्वर को दुनियावी झंझटों में पड़ना वे मान्य नहीं करते। अगर जैनों को इसी कारण से नास्तिक कहा जाता है तो भगवद्गीता में ऐसा ही उपदेश देने वाले श्री कृष्ण को भी नास्तिक कहना चाहिये। क्योंकि उन्होंने भी लिखा है कि—

न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते ॥
नादत्ते कस्यचित्पापं न कस्य सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यंति जंतवः ॥
[भगवद्गीता अध्याय ५ श्लोक १४-१५]

अर्थ परमेश्वर जगत् के कर्तृत्व और कर्म को उत्पन्न नहीं करता और कर्म फल की योजना भी नहीं करता स्वभाव से सब होता है ॥ १ ॥

ईश्वर किसी का पाप पुण्य ग्रहण नही करता, ज्ञान पर अज्ञान का परदा पड़ा होने से प्राणी मोह में फँस जाते है ॥ २ ॥

आत्मा, पुण्य, पाप और परलोक को मानने वाले जैनों को नास्तिक कहना भारी भूल है । तथा "नास्तिको वेदनिंदक." वैदिक मत को न मानने से भी जैनों को नास्तिक नहीं कह सकते । यों तो यवन भी कह सकते हैं कि कुरान शरीफ को न मानने वाले नास्तिक है । यदि ऐसा है तो बिचारी नास्तिकता सब के गले पड़ने लगेगी ।

३—जैन धर्म की अहिंसा को कायरता की जननी और भारतवर्ष के अधःपतन का कारण कहना भी ठीक नहीं है। जिन दिनों सम्राट् चंद्रगुप्त, गगराज, अशोक, अमोघवर्ष, कुमारपाल आदि जैन राजाओं का यहां राज्य था तब भारतवर्ष बहुत कुछ उन्नति पर था । जैनों के पूज्य सभी तीर्थंकर क्षत्रिय कुल मे हुये है उनमें शांति, कुंथु और अरनाथ इन तीन तीर्थंकरों ने तो दिग्विजय कर षट् खंड पृथ्वी का शासन किया है । श्री नेमिनाथ तीर्थंकर भी जरासध से युद्धार्थ रणभूमि मे गये हैं। चामुंडराय भामाशाह, आशाशाह, आदि रण पारंगत वीर जैन ही थे । फिर मुसलमानी राज्यों मे अकबर का राज्य क्यों प्रशंसनीय गिना जाता है ? इसलिए कि अकबर स्वयं अहिंसाप्रिय बादशाह था और वह हीरविजय प्रभृति जैन विद्वानों के सदुपदेशों के अनुसार अपने राज्य में अहिंसा को महत्व देने का प्रयत्न करता था । अगर हिंसा ही उन्नति का कारण होती तो मुसलमानी सल्तनत

का नामशेष क्यों होता। सच तो यह है, कि जब से अहिंसा को छोड़ा तभी से भारत का पतन हुआ है। राजाओं में ईर्ष्या, द्वेष, विलासिता और पारस्परिक फूट बढने लगी तब पतन अवश्यंभावी था। अहिंसा तो वीरों का धर्म है। प्रत्यक्ष देखलो, महात्मा गांधी की एक आंशिक अहिंसा से ही सुदीर्घकालीन परतंत्र भारत स्वतंत्र हो गया।

इस प्रकार जैन धर्म में वे सभी बातें पाई जाती है, जो एक उत्कृष्ट धर्म में पाई जानी चाहिये, इसी से हम उसे निःसंकोच बहुत ही श्रेष्ठ धर्म कह सकते है और इसीलिये समन्तभद्र जैसे प्रचंड नैयायिक उसे अद्वितीय बताते है। यथा—

"दयादमत्यागसमाधिनिष्ठं नयप्रमाणप्रकृतांजसार्थम्।
अधृष्यमन्यैरखिलैः प्रवादैर्जिन ! त्वदीयं मतमद्वितीयम् ॥६॥
[युक्त्यनुशासन]

अर्थ– हे जिनेन्द्र ! आपका मत नय प्रमाण के द्वारा वस्तुतत्वको बिल्कुल स्पष्ट करने वाला, संपूर्ण प्रवादियों द्वारा अबाध्य होनेके साथ-साथ दया, दम, त्याग और समाधि (प्रशस्त ध्यान) की तत्परता को लिए हुये है यही सब उसकी विशेषता है अथवा इसीलिए वह अद्वितीय है ॥

तथा वेही आचार्य आगे चल कर उसे—

"सर्वापदामन्तकरं निरन्तं सर्वोदयतीर्थमिदंतवैव"

इस पद से संपूर्ण आपदाओं का नाशक सर्वोदय तीर्थ तक बतलाते हैं।

इतना अधिक समीचीन और परमोपयोगी होने की वजह

से ही उसके महत्व का यत्रतत्र कथन जैनेतर ग्रन्थकारों को भी करना पड़ा है। सो ठीक ही है। क्यों कि "नहि कस्तूरि कामोदः शपथेन निवार्यते" (कस्तूरी की खुशबू शपथ (सौगन्ध) खाने से नहीं रोकी जाती)। ऋग्वेद अष्टक २ अ० ७ वर्ग १७ में अर्हंत को केवल ज्ञानी अतुल्य बलशाली और सब की रक्षा करनेवाला लिखा है।"

"यजुर्वेद अध्याय ६ मंत्र २५ में २२ वें तीर्थंकर नेमिनाथ को आहुति प्रदान की है। साथ ही उन्हें आत्मस्वरूप के प्रकट कर्त्ता और यथार्थ वक्ता कहा है।"

यजुर्वेद अध्याय १६ मंत्र १४ में लिखा है कि "अतिथिरूप पूज्य महावीर जिनेन्द्र की उपासना करो, जिससे त्रिविध अज्ञान और मद की उत्पत्ति न हो।"

शिव पुराण में लिखा है कि "अड़सठ ६८ तीर्थों की यात्रा का जो फल है, वह आदिनाथ (ऋषभ देव) के स्मरण से होजाता है" यथा—

> अष्टषष्ठिषु तीर्थेषु यात्रायां यत्फलं भवेत्।
> आदिनाथस्य देवस्य स्मरणेनापि तद्भवेत्॥

योगवाशिष्ठ के वैराग्य प्रकरण में रामचन्द्रजी ने जिनेन्द्र के सदृश शांति प्राप्त करने की इच्छा प्रकट की है। यथा—

> "नाहं रामो न मे वांछा भावेषुच न मे मनः।
> शांतिमास्थातुमिच्छामि स्वात्मन्येव जिनोयथा॥
> [अध्याय १५ श्लोक २८]

दक्षिणामूर्ति सहस्रनाम में कहा है कि "शिवोवाच "

जैनमार्गरतोजैनो जितक्रोधो जितामयः ॥

इसमें भगवान का नाम जैनमार्ग रत; और जैन बताया है। वैशम्पायन सहस्रनाम में—

कालनेमिनिहा वीरः शूरः शौरिर्जिनेश्वरः ।

यहां भी जिनेश्वर को भगवान् कहा है ।

दुर्वासा ऋषिकृत महिम्न स्तोत्र में—

"कर्ताऽर्हन् पुरुषोहरिश्चसविता बुद्धःशिवस्त्वं गुरुः ॥

यहां अर्हन्त कहकर इष्टदेव की स्तुति की है।

हनुमन्नाटक के मङ्गलाचरण में—

"अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः, कर्मेति मीमांसकाः ।
सोऽयं वो विदधातु वांछितफलं त्रैलोक्यनाथः प्रभुः"॥

अन्यदेवों के साथ-साथ अर्हन्त से भी जिसे जैन लोग मानते हैं वांछित फल की प्रार्थना की है और उसे तीन लोक का नाथ तक लिखा है । इन संपूण प्रमाणों तथा युक्तियों से जैनधर्म की श्रेष्ठता स्वयं सिद्ध होती है।

प्रभास पुराण में—

"रैवताद्रौ जिनो नेमि युगादि विमलाचले ।
ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्" ॥

नेमिजिन को मुक्ति का कारण कहा है ।

नगर पुराण में—

दशभिर्भोजितैः विप्रैः यत्फलं जायते कृते ।
मुनेरर्हत्सुभक्तस्य तत्फलं जायते कलौ ॥

अर्थ—दस ब्राह्मणों के जिमाने का जो फल कृतयुग में

होता है वह फल कलियुग में अर्हन्त भक्तमुनि को आहार देने से होता है। अब जरा मनुस्मृति में भी लिखा देखिये—

"दर्शयन् वर्त्म वीराणां सुरासुर नमस्कृतः।
नीतित्रितयकर्ता यो युगादौ प्रथमो जिनः" ॥

अर्थ—युग के आदि में होनेवाले जो प्रथम जिनेन्द्र हैं वे तीन नीति के कर्ता, वीरों के मार्ग दर्शक, और सुरासुरों से पूजित हैं।

इत्यादि कितने ही प्रमाण है जो ग्रन्थ बढ़जाने के भय से छोड़े जाते हैं

जो धर्म इतना प्रशंसित, इतना मान्य, और इतना अधिक उपयोगी है उसके लिये यों लिखना कि—

"हस्तिना ताड्यमानोऽपि न गच्छेज्जैनमंदिरम्।"

"हस्ति से ताड़ित होकर भी अपनी रक्षार्थ जिनमंदिर में न जाय।" लेखक के गम्भीर कलुषाशय को प्रकट करता है। जैसे उसने क्रोध के आवेश में लिखा हो। इसलिये उसकी कदर भी उतनी ही होनी चाहिये जितनी एक क्रोधी की जबान की होती है।

उसके ऐसा लिखने से जैनधर्म की हानि हुई हो चाहे न हुई हो, किन्तु उसने एक शांतिदायी धर्म के संसर्ग से अलग रखकर अपने अनुयायियों को निश्चय ही गहरी हानि पहुंचाई है।

प्रध्वस्तघातिकर्माणः केवलज्ञानभास्कराः।
कुर्वंतु जगतःशांति वृषभाद्याःजिनेश्वराः ॥
ओं शांतिः ! शांतिः !! शांतिः !!!



३४

दर्शनभक्ति (माथुरसंघी) का शुद्ध पाठ

अथ दर्शन-भक्ति

वीरं विलीणमोहं णमो णराऽमर णमंसियं विमलणाणं★
कम्म महा घण सेलो पलोट्टिदो जेणिमो अणादिपुराणो ॥१॥

मिच्छत्त बद्ध मूलो कसाय सोलस सिलायडो उसिदतुंगो
थी पुंणपुंस वेदय गलदुज्झर धादु लिहिद चित्तुद्देसो ॥२॥

हस्सरदि मिहुण किण्णरणिसेविदो अरदिसोय सावय गुविल्लो
भयसय अणेय दुस्सहदुगुंछिदो वाहि विसम विसहरकडिल्लो ॥३॥

अट्ठविह कम्म पछय णगाहिओ मोह गिरिवरो णाम इमो
जस्स भरेणऽक्कंता समम्मि पडिवज्जिदं सक्काण सक्का ॥४॥

भवसय सहस्स विहगगण णिसेविदो जेण णासिदो मोह गिरी
सो सम्मणाणदंसण चरित्त विहि देस ओ दिसदु मे सिद्धि ॥५॥

——

भव्यः सम्प्रति लब्धकाल करण प्रायोग्य लब्धयादिकः
सम्यक्त्वस्य समुद्भवाय घटयन् मिथ्यात्वकर्म स्थितिम् ।

★—'विउलणाण' पाठः ।

कर्तुं प्रक्रमते तरां त्रिकरणैः संवेगवैराग्यवान्
संशुद्धासुदयावलेरुपरिजां कुर्वन् मुहूर्तं स्थितिम् ।।१।।

मिथ्यात्वं परतस्ततः परिणतेर्हेतो स्त्रिधा भिद्यते
शुद्धाशुद्धविमिश्रितैः प्रदलनाद्भेदैर्यथा कोद्रवाः ।
ते दृग्मोहविकल्पना स्त्रिगणनाश्चारित्रमोहस्य यैः
प्राग्भेदैः सहिताश्चतुर्भिरुदितास्ते सप्त दृग्घातिनः ।।२।।

यत्तेषां प्रशमात् तदौपशमिकं सम्यक्त्वमत्राऽन्तरे
प्रक्षीणेषु च तेषु सप्तसु भवेत् तद्दर्शनं क्षायिकम् ।
शुद्धश्चेदुदयं गतः प्रशमिता शेषास्तथैव स्थिताः
कर्मांशाः षडुदीरितं मुनिवरैस्तन्नामतो वेदकम् ।।३।।

रत्नानां गणनासु यान्ति गणनां प्रागेव यान्युज्ज्वला-
न्यत्राऽऽशानिचयैं भवन्ति सहिता ये संयताः केचन
मुक्ताः स्युः सुखधाम यैश्चविभवा यैरेव संलक्षिताः
सम्यक्त्वानिविभांति तानि सुबृहन्मूल्यानि रत्नानि वा ।।४।।

भीमाऽनेक भवप्रपञ्चविपिना न्निःसर्पणे सार्थवान्
नाना दुःख महासमुद्र भयतो निस्तारणे नौरिव
सान्द्राऽज्ञानतमः समूहदलने भास्वानिवाऽभ्युत्थितः
सम्यक्त्वत्रितयं नमामि तदहं तस्यैव संशुद्धये ।।५।।

त्रैकाल्यं द्रव्यषट्कं नवपदसहितं जीवषट्काय-लेश्याः
पञ्चाऽन्ये चाऽस्तिकायाः व्रत-समिति-गति-ज्ञान-चारित्र-भेदाः
इत्येतन्मोक्षमूलं त्रिभुवनमहितैः प्रोक्तमर्हद्भिरीशैः
प्रत्येति श्रद्दधाति स्पृशति च मतिमान् यः सवैशुद्धदृष्टिः ।।६।।

अरहंताऽऽगम सत्थे चरित्त सद्दहणलक्खणं तंतु
उवसम वेदय-खइयं तिविहं सम्मत्तमभिबंदे (१) ॥७॥
सम्मत्ते थिरभावो कायव्वो मेरु पव्वय सरिच्छो
जेण हु णाण-चरित्ता हवंति सम्मत्तमूलाओ (२) ॥८॥
सम्मत्त सलिलपवहो णिच्चं हिययम्मि पवहए जस्स
कम्मं बालुववरणुच्च तस्स बंध च्चिय ण एइ (३) ॥९॥
॥ इति दर्शन भक्ति समाप्ता ॥

नोटः—यह दर्शन भक्ति-पाठ माथुर संघी (काष्ठा संघी) हैं मूल संघी नहीं हैं। मूल सघी और माथुर सघी (काष्ठासंघी) भक्ति पाठ जुदे जुदे पाये जाते हैं। यह दर्शनभक्ति का माथुरसंघी शुद्ध पाठ एक प्राचीन हस्तलिखित बसवा ग्राम के गुटके से उतारा गया है जो वि० स० १६२१ का है। इस पाठ में प्राकृत दर्शन भक्ति और संस्कृत दर्शन भक्ति के जुदे जुदे पाठ नहीं हैं किन्तु प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओंमें यह एक दर्शन भक्ति बनाई गई है।

'दिव्यध्वनि (मासिक) वर्ष १ अंक ५ (अप्रेल ६६) तथा जैन-सन्देश शोधांक न० २३ में भी यह दर्शन भक्ति पाठ छपा है जो काफी अशुद्ध है। उनकी इस प्रस्तुत पाठ से तुलनाकर शुद्धाशुद्ध रूप को भली प्रकार जाना जा सकता है।

इसकी जो अन्तिम ६वीं गाथा है वह पद्मनन्दि कृत 'धम्मर-सायण' ग्रंथ में भी गाथा नं० १४० के रूप में पाई जाती है। तथा कुन्दकुन्द के दर्शनपाहुड़ में भी गाथा नं० ७ के रूप में पाई जाती है और वहाँ से यहाँ ली गई है।

अन्य भक्तियों की तरह दर्शन भक्ति-पाठ भी रहा है। पं० सोम-देव ने भी यशस्तिलकचम्पू (ज्ञानपीठ से प्रकाशित 'उपासकाध्ययन' पृ० २२५) में 'दर्शनभक्ति की सुन्दर रचना की है।

३५

जैन खगोल विज्ञान

आसमान में चमकने वाले सूर्य चन्द्रमा तारे कौन हैं? और इनका स्वरूप जैनधर्म में कैसा बताया है? ये हमारी इस पृथ्वी से कितने ऊँचे हैं? इनका आकार कैसा है? लम्बाई चौड़ाई इनकी कितनी है? इनकी कितनी संख्या है? ये चलते हैं? या स्थिर? और इनके द्वारा किस तरह से रात्रि-दिन बनते हैं? इत्यादि वर्णन जैसा भी जैनशास्त्रों में पाया जाता है उसकी भी जानकारी न केवल सामान्य जैनों को किन्तु कितने ही जैनविद्वानों को भी नही है और न उनको इतना अवकाश है जो वे इस विषय के संस्कृत-प्राकृत के बड़े-२ जैन ग्रन्थों का अध्ययन-मननकर इस विषय को अच्छी तरह हृदयंगम कर सकें। इसलिये इच्छा हुई कि इस दिशा में कुछ ज्ञान की सामग्री प्रस्तुत की जावे उसीके फलस्वरूप यह लेख लिखा जा रहा है।

जैनशास्त्रों में सूर्य चंद्रादिकों के विमान लिखे हैं। ये विमान चमकदार पार्थिव परमाणुओं से बने हैं। इनसे भिन्न २ रंगों की प्रभा निकलती है। सूर्य से तपे हुये सोने जैसी, चन्द्रमा से सफेद रंग की, राहु-केतु से काले रंग की, शुक्र से नई चमेली जैसी, बृहस्पति से मोती की सीप जैसी, बुध सेअर्जुनमय, शनि से तप्त सुवर्णसदृश और मंगल से लाल रग की प्रभा निकलती है। किन्हीं की प्रभा गहरी है और किन्हीं की हलकी। सूर्य

चन्द्रमा, ग्रह, नक्षत्र और तारे ये इनकी ५ किस्में हैं और ये ज्योतिष्क कहलाते हैं।

ठोस गोल चीज जिसकी गोलाई गेंद जैसी हो उसके दो खंड करने पर उनमें से एक खंडको ऊपर इस प्रकार स्थापन करें कि गोल भाग नीचे की तरफ रहे और समतल भाग ऊपर को रहे, ठीक ऐसा ही आकार इन ज्योतिष्कों का समझना चाहिये। ये सब ऊपर को थाली जैसे गोल होने के कारण जितनी इनकी चौड़ाई है उतनी ही इनकी लंबाई है। चंद्रमा की चौड़ाई एक योजन के ६१ भागों में ५६ भाग प्रमाण है। सूर्य की चौड़ाई एक योजन के ६१ भागों मे ४८ भाग प्रमाण है। शुक्र की १ कोश, वृहस्पति की कुछ कम १ कोश। बुध-मंगल-शनि की आधा-२ कोश की चौड़ाई है। तारों की चौड़ाई किन्ही को पावकोश, किन्ही की आध कोश, किन्हीं की पौन तथा एक कोश की है। किन्तु कहीं यह भी लिखा मिलता है कि – कोई भी तारा आध कोश से अधिक विस्तार का नही होता है। और न कोई भी ज्योतिष्क पाव कोश से कम विस्तार का होता है।

मोटाई का हिसाब प्रायः ऐसा है कि – जिसकी जितनी चौड़ाई है उससे आधी उसकी मोटाई होती है। किन्तु राज-वार्तिक - श्लोकवार्तिक आदि शास्त्रों ने शुक्र-वृहस्पति-बुध-शनि-मंगल और राहु की मोटाई ढाई सौ धनुष की ही लिखी है। प्रसंगोपात्त यहां हम क्षेत्रमान का भी कथन कर देते हैं—

८ यवधान्य के मध्य की जितनी चौडाई हो उतने माप का एक उत्सेधांगुल होता है। ऐसे २४ अगुलों का एक हाथ, चार हाथ का १ धनुष, दो हजार धनुषों का १ कोश और ४ कोशों का १ योजन होता है। यह उत्सेध योजन कहलाता है।

इससे पांच सौ गुण एक प्रमाण योजन होता है।

ऊपर सूर्यादि का माप प्रमाण योजन से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा वह माप पांचसौ गुण अधिक होगा। श्लोक-वार्तिक में लिखा है कि—

"अष्टचत्वारिंशद्योजनैकषष्टिभागत्वात् प्रमाणयोजनापेक्षया, सातिरेकत्रिनवतियोजनशतत्रयप्रमाणत्वादुत्सेधयोजनापेक्षया।"
[मूल मुद्रित पृ० ३७८]

अर्थ—सूर्य का विस्तार जो एक योजन के ६१ भागों में ४८ भाग प्रमाण बताया वह प्रमाण-योजन की अपेक्षा से बताया है। उत्सेध की अपेक्षा तो उसका विस्तार कुछ अधिक ३६३ याजनों (१५७२ कोश) का होता है।

श्वेतांबरमत में प्रमाणयोजन को उत्सेध योजन से चारसौ गुणा माना है न कि पांच सौ गुणा। अतः उसके अनुसार लोक-प्रकाश नामक श्वेतांबर ग्रन्थ में सूर्य का विस्तार इस प्रकार बताया है—

शतानि द्वादशैकोनषष्टि क्रोशास्तथोपरि।
चापाद्वात्रिंशत् विहस्तो त्र्योंगुलाश्च साधिकाः॥
ततायतं सूर्यबिंबमुत्सेधांगुलमानतः॥

अर्थ—१२५६ कोश, ३२ धनुष, ३ हाथ और साधिक ३ अंगुल इतना विस्तार उत्सेधांगुलकी अपेक्षा से सूर्य बिंब का समझना चाहिये।

ऊपर चन्द्रमा का विस्तार एक योजन के ६१ भागों में ५६ भाग प्रमाण बता आये हैं। यह विस्तार पूर्णचंद्र का है।

किन्तु चन्द्रमा घटता बढता भी दिखाई देता है। उसका कारण यह है कि—चन्द्रमा के नीचे राहु का विमान विचरता रहता है। यानी राहु के विमान के ध्वजदंड से ४ प्रमाणांगुल (उत्सेध की अपेक्षा कुछ अधिक ८३ हाथ) ऊपर चन्द्रमा विचरता है। राहु के विमान का वर्ण श्याम है अतः उसकी ओट में चन्द्रमा का अंश आजाने से वह अंश हमको दिखाई नहीं देता है। तथा राहु की गति चन्द्रमा की गति के समान नहीं है। इसलिये वह चन्द्रमा से जितना आगे पीछे रह जाता है, तदनुसार चन्द्रमा हमको इस धरातल पर घटबढ़ दीखता है। दोनों की गति में अंतर कुछ ऐसे ढंग का रहता है जिससे कृष्णपक्ष में चन्द्रमा का सोलह भागों (१६ कलाओं) में प्रतिदिन एक-एक भाग ढंकता रहता ह और शुक्ल पक्ष मे प्रतिदिन एक-एक भाग प्रगट होता रहता है। सिद्धांतसारदीपक ग्रंथ में लिखा है कि—

शुक्ल पक्ष में राहु की गति चन्द्रमा से सदैव धीमी रहती है और कृष्ण पक्ष में सदैव तेज रहती है। इसलिये दोनों पक्षों में चन्द्रमा घटता बढ़ता नजर आता है। फलितार्थ इसका यह हुआ कि कृष्णपक्ष के अंत में जब चन्द्रमा १६ भागों में से १५ भाग प्रमाण राहु की ओट में छुप जाता है तो शुक्लपक्ष में चन्द्रमा की गति से राहु की गति धीमी होने से शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से चन्द्रमा शनैः २ ज्यों ज्यों राहु से आगे निकलता जाता है, त्यों त्यों ही वह हर दिन सोलह भागों में एक-एक भाग अधिक २ बढ़ता हुआ नजर आता है। पंद्रहवें दिन वह इतने आगे निकल जाता है कि उसके नीचे राहु की ओट रहती ही नहीं। वह दिन पूनम की तिथि का होता है। उस दिन चन्द्रमा हमें पूर्णरूप में दिखाई देता है। फिर उसके अनंतर जब कृष्णपक्ष शुरू होता

है तो राहु की गति चन्द्रमा की गति से तेज हो जाने के कारण चन्द्रमा शनैः २ पीछे रहता है। और ज्यों ज्यों ही राहु आगे आगे बढता जाता है त्यों त्यों ही चन्द्रमा हर दिन सोलह भागों में एक एक भाग ढकता हुआ चला जाताहै उससे वह हमें प्रतिदिन कम-२ नजर आने लगता है। अमावस को चन्द्रमा के १५ भाग राहु से आच्छादित हो जाने पर भी उसका एक भाग फिर भी अनावृत ही रहता है और सूर्यास्त के वक्त में ही चन्द्रमा भी उस दिन अपने अस्तस्थान पर पहुँच जाने के कारण उसका वह अनावरण एक भाग भी हमको अमावस की रात्रि में नजर नहीं आता है। यह स्थिति तो नित्य राहु की वजह से होती है। किन्तु दूसरा पर्व राहु और होता है, वह भी श्याम होता है जिसकी वजह से चन्द्रग्रहण होता है। पूनम के दिन जब नित्य राहु चन्द्र के नीचे नहीं रहता तो कभी-२ उस दिन पर्वराहु चन्द्रमा के नीचे आ जाता है। वह जितना कुछ आगे पीछे होता है उसी माफक चन्द्रग्रहण हमें दिखाई देता है। इसी तरह श्यामवर्ण का एक केतु नामक ज्योतिष्क भी होता है। वह भी कभी २ अमावस के दिन सूर्य के नीचे आजाता है जिससे सूर्यग्रहण होता है। त्रिलोकसार गाथा ३३९ में चन्द्र को राहुग्रस्त और सूर्य को केतुग्रस्त ही होना बताया है। किन्तु भक्तामरस्तोत्र (मानतुंगकृत) के श्लोक नं० १७-१८ मे क्रमश: सूर्य चन्द्र दोनो को राहुग्रस्त ही होना बताया है। श्वे० संग्रहणी सूत्र मे लिखा है कि—राहु के समान कभी कभी केतु से भी ग्रहण होता है। चन्द्रग्रहण सदा पूर्णिमा को और सूर्यग्रहण सदा अमावस को होता है। सूर्य और चन्द्रग्रहण कम से कम छह मासों में एक बार और अधिक से अधिक चन्द्रग्रहण ४२ मासों में एक बार और सूर्यग्रहण ४८ वर्षों में एक बार होता है।

धरातल से ज्योतिष्कों की ऊंचाई

इस धरातल से ७६० योजन की ऊंचाई पर तारे हैं। उनसे दस योजन ऊपर सूर्य है। सूर्य से ८० योजन ऊपर चन्द्रमा है अर्थात पृथ्वी से ३५ लाख २० हजार मील की ऊंचाई पर चन्द्रमा है। चन्द्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र हैं। ग्रहों की संख्या ८८ में से बुध का स्थान नक्षत्रों से ४ योजन ऊपर है। बुध से आगे शुक्र, बृहस्पति, मंगल और शनि ये क्रमशः तीन तीन योजन ऊपर-२ हैं। राहु-केतु का स्थान चन्द्र-सूर्य से नीचे है। शेष ८१ ग्रहों का स्थान बुध और और शनि के अंतराल में है। इसप्रकार ज्योतिष्क पटल इस धरातल से ७६० योजनों की दूरी से प्रारंभ होकर ६०० योजनों पर्यंत स्थित है अर्थात् ऊपर ७६० योजनों बाद ११० योजनों तक ज्योतिष्कों का सद्भाव पाया जाता है। और उन सबका तिर्यक् अवस्थान प्रायः एक राजूप्रमाण त्रसनाली में है। किन्तु इसमें इतना विशेष समझना कि जंबूद्वीपस्थ मेरु के इर्दगिर्द ११२१ योजनों तक किसी भी ज्योतिष्क का सद्भाव नही है। बल्कि सूर्य-चन्द्र तो हमेशा जंबूद्वीप में मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर ही घूमते हैं। जिस ज्योतिष्क की धरातल से जितनी ऊंचाई बताई है वह धरातल से सदा उतना ही ऊंचा रहता है जैसे सूय की ऊचाई पृथ्वी से ८०० योजन ऊपर बताई है तो वह उदयास्त के वक्त भी पृथ्वी से उतना ही ऊंचा रहता है। दूर रहने की वजह से अपने को नीचा पृथ्वी से लगा हुआ दिखाई देता है।

ऊपर सूर्य से चन्द्रमादि की जो ऊंचाई बताई है उसने यह नहीं समझना कि चन्द्रमादि सूर्य की सीध में इतने ऊंचे हैं। जब परस्पर में इनकी समानगति नहीं है तो वे सदा एक सीध में

कैसे रह सकते हैं ? कदाचित् कोई कभी एक सीध में भी आजाये तो आजाये पर इस सीध की अपेक्षा यहां एक से दूसरे की ऊंचाई बताने की विवक्षा नहीं है। यहां तात्पर्य ऐसा समझना कि—जो ज्योतिष्क आकाश की जिस सतह में घूमता है यह सतह अमुक ज्योतिष्क से उतनी ऊंची है। जैसे चन्द्रमा से ४ योजन ऊपर नक्षत्र बताये तो इसका अर्थ यह हुआ कि आकाश की जिस सतह में नक्षत्र विचरते है वह सतह चन्द्रमा को विचरते की सतह से ४ योजन ऊपर है। यह ध्यान में रखना कि जिनका स्थान जितनी ऊंचाई पर बताया है वे सब आकाश में उस स्थान में एक ही सतह में विचरते हैं।

यह नियम है कि जिस द्वीप में जितने चन्द्रमा होते हैं उनमें से प्रत्येक चन्द्रमा के साथ निम्नलिखित ज्योतिष्क भी अवश्य होते हैं। यह उसका परिवार कहलाता है—

"१ सूर्य, २७ नक्षत्र, ८८ ग्रह और ६६९७५ कोड़ाकोड़ी तारे" यहां कोड़ाकोड़ी से मतलब है ६६९७५ क्रोड़ को एक क्रोड़ से गुणा करने पर प्राप्त होने वाली संख्या। वह संख्या प्रचलित के अनुसार ६६ संख, ९७ पद्म ५० नील होती है। जंबूद्वीप में २ चन्द्रमा होने से ज्योतिष्कों की उक्त संख्या जंबूद्वीप में दूनी समझना चाहिये। जंबूद्वीप में जब कभी एक चन्द्रमा जहां अपने समस्त सूर्यादि परिवार के साथ, आकाश की गोलाई में विद्यमान होगा, उसी वक्त आकाश की गोलाई में सामने दूसरा चन्द्रमा भी अपने सूर्यादि परिवार के साथ विद्यमान रहेगा। जंबूद्वीप में जिस समय एक सूर्य अभ्यंतर की प्रथम वीथी में विचरेगा, उसी समय ठीक उसी के सामने दूसरा सूर्य भी उसी प्रथम वीथी में (आकाश की गोलाई को वीथी कहते हैं)

विचरेगा। उस वक्त दोनों सूर्यों के बीच ९९६४० योजनों का अंतर रहेगा। वह इस तरह कि अभ्यंतर की प्रथम वीथी जंबूद्वीप की अंतिम सीमा से १८० योजन भीतर है। अतः दोनों तरफ का १८०-१८० मिलाने पर ३६० योजन हुए जिन्हें एक लाख योजन प्रमाण जबूद्वीप में से कम करने पर ९९६४० योजनों की दूरी अभ्यंतर की प्रथम वीथी स्थित दोनों सूर्यों के बीच जाननी चाहिये।

ज्योतिष्कों का आधार।

ये पृथ्वी के पिंड स्वरूप ज्योतिष्क घनवात के आधार पर ठहरे हुये हैं। घनवात गाढी पवन का नाम है। अपने यहां जो पवन है वह तो पतली है जिसे तनुवात कहते हैं। किन्तु ज्यों ज्यों ऊपर को जाइये त्यों त्यों पवन में गाढापन का अंश बढ़ता हुआ मिलेगा। प्रत्यक्ष मे देखते है कि—जब पतंग नीचे को रहता है, तब तक वह गोत खाता रहता है यानी अधिक अस्थिर रहता है। वही ऊपर जाने पर स्थिर-सा हो जाता है। और जो घनवात है वह तनुवात पर ठहरी हुई है। तनुवात को आधार की जरूरत नहीं।

ज्योतिष्कों का गमन

जैन शास्त्रों में पृथ्वी का भ्रमण नहीं माना है। ज्योतिष्कों का भ्रमण माना है। ये जम्बूद्वीप में मेरुपर्वत के इर्द गिर्द मेरुसे ११२१ योजन दूर रहकर गोलाकार घूमते हैं। मेरु से इतनी दूरी पर भी तारे ही घूमते हैं। सूर्य चन्द्रादि तो मेरु से कम से कम ४४८२० योजन दूर रहकर घूमते हैं। इनमें चन्द्रमा सबसे मंदगति वाला है और सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, और तारे ये सब चन्द्रमा

से उत्तरोत्तर शीघ्र गति वाले हैं। किन्तु ग्रहों में राहु की गति चन्द्रमा से भी कभी-२ धीमी होती है। जैसा कि ऊपर लिखा जा चुका है। यह एक अपवाद नियम है। वर्ना सबसे मंद गति चन्द्रमा की है और सबसे तेज गति तारों की है। संग्रहणी सूत्र (श्वेतांबर) में कहा है कि "ग्रहों की गति परस्पर में न्यूनाधिक है। बुध की गति सभी ग्रहों से मंद है। बुध से शुक्र मगल-बृहस्पति और शनि इनकी उत्तरोत्तर शीघ्रगति है।"

चन्द्रमा, सूर्य और ग्रह ये आज जिस वीथी में घूम रहे हैं कल वे दूसरी वीथी मे और परसों तीसरी में, इस प्रकार नित्य ये अलग-२ वीथियों में घूमा करते हैं। ऐसा भ्रमण अन्य ज्योतिष्कों का नहीं है। जिस आकाशमार्ग मे गोलाकार घूमा जाता है। वह वीथी कहलाती है इसी को मंडल भी कहते हैं। चन्द्र-सूर्य जब मेरु को बीच में रखकर उसके इर्दगिर्द एक पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब वह एक मंडल या एक वीथी होता है। फिर दूसरी दफे कुछ आगे बढ़ कर जब पूरा गोल चक्कर लगाते हैं तब वह दूसरा मंडल होता है। इस प्रकार जितने मंडल हैं वह उतनी ही बार मेरु के चक्कर लगाता है और कुछ-२ आगे बढता हुआ अगले २ मंडलों में चलता है। जब वह अन्तिम मंडल पर पहुँच जाता है तो उसी क्रम से वापिस फिर पीछे की ओर आते-२ पूर्ववत् उसी प्रथम मंडल में आ जाता है। सूर्य की गमन करने की कुल वीथियें (मंडल) १८४ हैं। और चन्द्रमा की १५ वीथियें है। सूर्य की प्रत्येक वीथी में दो दो योजन का अतराल रहता है तथा चन्द्रमा की प्रत्येक वीथी में ३५$\frac{३०}{६१}\frac{४}{७}$ योजनों का अतराल रहता है। सूर्य की ६५ वीथियें जम्बूद्वीप में हैं और ११९ लवण समुद्र में हैं। तथा चन्द्रमा की

५ वीथियें जंबूद्वीप में हैं और १० लवण समुद्र में हैं। सूर्य चन्द्र की प्रथम वीथी जंबूद्वीप की अन्तिम सीमा से १८० योजन भीतर हैं। और दोनों की आखिर की वीथी समुद्रतट से ३३० योजन परे हैं। दोनों का दक्षिण उत्तर का गमन-क्षेत्र कुल ५१० योजनों का होता है। यह गमन-क्षेत्र वीथियों की चौड़ाई और उनके अंतरालों को जोड़ने पर निकलता है। प्रत्येक वीथी की चौड़ाई सूर्य-चन्द्र के बिंब प्रमाण है। इस गमन क्षेत्र मे इनके जाने आने को ही दक्षिणायन-उत्तरायन बोलते हैं। जंबूद्वीप में दो सूर्य और दो चन्द्रमा हैं। प्रत्येक वीथी में दो सूर्य घूमते हैं और दो चन्द्रमा घूमते हैं। किन्तु चन्द्रमा की वीथी सूर्य की वीथीसे जुदी है। सूर्य से वह ८० योजन ऊपर को है और उसमें भी दो चन्द्रमा घूमते हैं प्रत्येक वीथी के घेरे में एक सूर्य जहां से चलना शुरू करता है वहां तक आने में उसे ६० मुहूर्त (२ अहोरात्र) लगते हैं। और इसी काम में एक चन्द्रमा को ६२ २३/२२१ मुहूर्त लगते हैं। प्रत्येक अपनी-२ वीथी में दो सूर्य और दो चन्द्रमा परिभ्रमण करतेहै और वे दोनों बिल्कुल आमने सामने रहकर भ्रमण करते हैं। जब एक सूर्य या एक चन्द्रमा चलता हुआ किसी एक वीथी के आधे घेरे को पूरा करता है तब ही शेष आधे घेरे को सामने का दूसरा सूर्य या चंद्रमा चलकर पूरा कर देता है। जिस स्थान में आज हम को जो सूर्य उदय होता दिखता है उस स्थान पर वही सूर्य पुनः ६० मुहूर्त में आवेगा किन्तु हमे ३० मुहूर्त में ही आता हुआ नजर आता है वह सूर्य दूसरा है। जबूद्वीप मे दो सूर्यों के उदयास्त की व्याख्या इस प्रकार है—

जंबूद्वीप की एक लाख योजनों की चौड़ाई के ३ भाग किये जावें। जब अगल बगल के दो भागों मे आमने सामने के दो सूर्यों से दिन रहता है तब उसी वक्त बिचले भाग में पूर्व-

पश्चिम विदेह में रात होती है। और बिचले भाग में आमने सामने के दोनों सूर्यों से पूर्व व पश्चिम विदेह में दिन रहता है तब अगल बगल दोनों भागों में (जंबूद्वीप के दक्षिण और उत्तर भाग में) रात होती है। जब निषधपर्वत पर पूर्व दिशा में सूर्य उदय होता है तब उस वक्त जबूद्वीप के दक्षिण भाग में दिन हो जाता है। इसी वक्त इसी सूर्य का सामने वाला सूर्य नील पर्वत पर पश्चिम दिशा में उदय होकर उससे जंबूद्वीप के उत्तर भाग में दिन हो जाता है। तब उस वक्त पूर्व विदेह और पश्चिम विदेह में रात्रि हो जाती है। जब निषधगिरि के पूर्व शिरे पर उदय होने वाला सूर्य चलकर निषध के पश्चिम शिरे पर आ जाता है तब वह जंबूद्वीप के दक्षिण भाग के लिये अस्त होकर वहां रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पश्चिम विदेह में उदय माना जाकर वहां दिन हो जाता है। तथा इसी तरह जो दूसरा सूर्य नीलगिरि के पश्चिम शिरे पर उदय हुआ था वह चलकर जब नीलगिरि के पूर्वीय शिरे पर आता है तब वह जंबूद्वीप के उत्तरीय भाग के लिये अस्त होकर वहां भी रात्रि हो जाती है। और उसी सूर्य का उसी वक्त पूर्व विदेह में उदय माना जाकर वहा दिन हो जाता है। यह ध्यान में रखना कि ऐसा सम रात्रिदिन के वक्त होता है। पूर्व विदेह में उदय होने वाला दूसरा सूर्य जब नीलगिरि से चल कर निषध पर आता है तो वही दूसरा सर्य भरतक्षेत्र में दूसरे दिन उदय होता है। न कि पूर्व दिन में भरतमें अस्त होने वाला सूर्य। वह तो भरत में तीसरे दिन उदय होगा। क्योंकि जिस दिन जो सूर्य भरत में अस्त होता है उस दिन की रात्रि में वह पश्चिम विदेह में रहता है। उसके दूसरे दिन वह ऐरावत में रहता है और दूसरे दिन की रात्रि में वह पूर्व विदेह में रहता है। वही सूर्य

फिर तीसरे दिन भरत में प्रकाश करता है। इसी रीति से ऐरावत क्षेत्र का अस्त हुआ सूर्य पुनः तीसरे दिन ऐरावत में प्रकाश करता है। एक सूर्य आधे विदेह को ही प्रकाशित करता है। बीच में पड़े मेरु से विदेह के दो भाग माने जाते हैं। पूर्व दिशा की ओर के एक भाग को पूर्वविदेह और पश्चिम दिशा की ओर के भाग को पश्चिम विदेह कहते हैं। दोनों भागों में दो सूर्य का प्रकाश रहता है। निषध और नील पर्वत के बीच में विदेह क्षेत्र स्थित है। निषध से नील तक जाने में सूर्य का उतना ही समय लगता है जितना निषध या नील के पूर्व शिरे से पश्चिम शिरे तक जाने में लगता है। क्योंकि जंबूद्वीप के कुल १९० भागों में से ६४ भागों मे बीच का अकेला एक विदेह क्षेत्र है। और शेष ६३-६३ भागों में दोनों तरफ के दक्षिण-उत्तर के सब कुलाचल और क्षेत्र हैं।

तत्वार्थसूत्र के श्री अकलंकदेवकृत भाष्य में मेरु को सब क्षेत्रों से उत्तर में बताते हुये इस विषय में निम्न प्रकार प्रतिपादन किया है—

"पूर्वविदेहे हि सविता नीलादुदेति, निषधेऽस्तमुपैति। तत्र प्राङ्नीलः, प्रत्यङ्निषधः, अपाक् समुद्रः मेरुरुदक्। अपरविदेहे तु निषधे उदयः नीलेऽस्तमय इति। तत्र प्राङ् निषधः, प्रत्यङ् नीलः अपाक् समुद्रः, उदङ् मेरुः। उदक्कुरुषु गधमादनादुदयो माल्यवत्यस्तमयः। तत्र गधमादनः प्राक्, माल्यवान् प्रत्यक्, नीलः अपाक्, मेरुः उदक्। देवकुरुषु सौमनसादुदयः, विद्युत्प्रभेऽस्तमयः। तत्र सौमनसः प्राक्, विद्युत्प्रभः प्रत्यक्, निषधोऽपाक्, मेरुरुदगिति।"

[अध्याय ३ सूत्र १० की ७२ क.।]

अर्थ—पूर्व विदेह में सूर्य नीलकुलाचल पर उदय होता है निषध पर अस्त होता है वहां पूर्व में नीलाचल है, पश्चिम में निषध है। दक्षिणमें समुद्र और उत्तरमें मेरुहै पश्चिम विदेहमें सूर्य निषध पर उदय होता है नील पर अस्त होता है। वहां पूर्व में निषध है, पश्चिम में नील है, दक्षिण में समुद्र, और उत्तर में मेरु है। उत्तरकुरु में गंधमादन पर सूर्य उदय होता है, माल्यवान् पर अस्त होता है। वहां पर्व में गंधमादन है, पश्चिम में माल्यवान् है, दक्षिण में नील और उत्तर में मेरु है। देवकुरु में सूर्य सोमनस पर्वत पर उदय होता है, विद्युत्प्रभ पर अस्त होता है। वहां सोमनस पूर्व में है, पश्चिम में विद्युत्प्रभ है, दक्षिण में निषध और उत्तर में मेरु है। इस प्रकार सब स्थानों से मेरु उत्तर की तरफ रहता है। माल्यवान्, सोमनस, विद्युत्प्रभ, और गंधमादन ये ४ गजदंत पर्वतों के नाम हैं और इनका स्थान क्रमशः मेरु की ईशानादि विदिशाओं में है। गंधमादन और माल्यवान् के बीच उत्तरकुरुक्षेत्र व सोमनस और विद्युत्प्रभ के बीच देवकुरु क्षेत्र है।

लोकप्रकाश (श्वेतांबर) ग्रन्थ के १८ वें सर्ग में लिखा है कि—

पूर्वापरविदेहेषु निशीथेऽर्हज्जनिर्यदा।
भरतैरावतक्षेत्रे मध्याह्नः स्यात्तदा यतः ।।२४४।।

अर्थ—पूर्वपश्चिम विदेहों में अर्द्धरात्रि में जब तीर्थंकर का जन्म होता है तब भरत ऐरावत क्षेत्र में मध्याह्न होता है।

सूर्य की गमन करने की कुल १८४ वीथियें हैं। प्रत्येक वीथी में दो योजन का अन्तराल है। कुल अन्तराल १८३ हैं।

प्रत्येक वीथी में दो सूर्य आमने सामने चलते हैं। किसी एक वीथी में चलकर दूसरी वीथी में आने में दोनों सूर्यों को एक अहोरात्र (३० मुहूर्त) सम्मिलित काल लगता है। इस तरह एक अयनके १८३ दिन होते हैं। दो अयनोंके ३६६ दिनों का एक सूर्य-वर्ष कहलाता है। अभ्यंतर की प्रथम वीथी से लेकर ६३वीं वीथी में तिष्ठता सूर्य भरतक्षेत्र में निषधपर्वत पर उदय होता दीखता है। ६४वीं ६५वी वीथीयों में तिष्ठता सूर्य हरिक्षेत्र पर उदय दिखता है और शेष ११६ वीथियों में तिष्ठता सूर्य भारतवासियों को लवणसमुद्र पर उदय होता दीखता है। प्रथम वीथी स्थित सूर्य निषधपर्वत के उत्तरतट से १४६२१ $\frac{५९}{६०}$ योजन ओली तरफ (दक्षिण की ओर) आने पर भरतक्षेत्र के अयोध्यावासियों को उदय होता नजर आता है। और निषधपर्वत के दक्षिणतट से करीब ५५७५ योजन परे जाने पर अस्त होता नजर आता है। ये वीथियें ज्यों ज्यों दक्षिण से उत्तर को गई हैं त्यों त्यों ही वे गोलाई में उत्तरोत्तर कम होती गई हैं। तथापि उन सब में प्रत्येक को अपनी गति से पूर्ण करने में एक सूर्य को ६० मुहूर्त से न अधिक समय लगता है न कम। ऐसा नियम है। अतः कहा जा सकता है कि सूर्य जब दक्षिण से उत्तर को आने लगता है तब उसकी चाल प्रत्येक वीथी में क्रमशः धीमी होती जाती है और उत्तर से दक्षिण की ओर जाते वक्त उसकी चाल उत्तरोत्तर तेज होती जाती है। वीथियों में सब से कम गोलाई वाली अभ्यंतर की वीथी है। इसकी गोलाई ३१५०८९ योजनों की है। इसमें ६० का भाग देने से सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५२५१ $\frac{२९}{६०}$ योजन प्रमाण निकलती है। इसको सवा से गुणा करने पर उतने प्रमाण सूर्य की एक घण्टे की गति होगी। यह गति सूर्य की अभ्यंतर की प्रथम वीथी में जाननी चाहिए। आगे की वीथियों

में उत्तरोत्तर गति बढ़ती जाती है। अंतिम १८४वीं वीथी की गोलाई ३१८३१४ योजनों की है और उसमें सूर्य की एक मुहूर्त की गति ५३०५$\frac{१५}{६०}$ योजनों की होती है।

चन्द्रमा की कुल १५ ही वीथियें हैं और प्रत्येक वीथी में ३५$\frac{३०}{६१}\frac{४}{७}$ योजनों का अतंराल है। ये वीथियें भी दक्षिण से उत्तर की तरफ ज्यों ज्यों आती गईहै त्यों त्यों ही वे उत्तरोत्तर गोलाई में कम होती आई हैं। चन्द्रमा की प्रथम वीथी और अतिम वीथी सूर्य की प्रथम वीथी और अन्तिम वीथी के ठीक ८० योजन ऊपर सीध में है। इसलिये सूर्य की इन दो वीथियों की गोलाई जितने योजनों की बताई उतनी ही चन्द्रमा की भी इन दो वीथियों की समझनी चाहिये। चन्द्रमा प्रत्येक बीथी को चाहे वह कितनी भी छोटी बड़ी हो एक से दूसरी पर जाने में उसे ६२$\frac{२३}{२२१}$मुहूर्त लगते है कम अधिक नहीं। अतः वह भी सूर्य की तरह दक्षिण से उत्तर में आते वक्त उत्तरोत्तर मंद-गति से और उत्तर से दक्षिण में जाते हुये उत्तरोत्तर तीव्रगति से गमन करता है।

यों तो जंबूद्वीप में सभी ज्योतिष्क गमनशील हैं किन्तु इसमें भी एक अपवाद है। इस द्वीप में कुछ (३६) तारे ऐसे भी हैं जो गमन नही करते है। उन्हें ध्रुवतारे कहते है। (त्रिलोक-सार गाथा ३४७)।

श्वे० तत्वार्थाधिगम भाष्य में लिखा है कि—ध्रुवतारा की गति मेरु की प्रदिक्षणा रूप से नहीं है। वह अपने ही स्थान पर घूमता रहता है। यथा—

"तस्यैव स्थाने स ध्रुवः परिभ्राम्यति न तु मेरोः प्रादक्षिण्येन गतिं प्रतिपद्यते। तथाहि तदद्यापि ध्रुवताराचक्रमाक्रांतोत्तरदिक्कं

परिवर्तमानमुपलभ्यते प्रत्यक्षप्रमाणेनैव।" (४ थे अध्याय के १४ वें सूत्र का भाष्य)

नक्षत्रों का गमन

जिस प्रकार सूर्य चन्द्रमा एक दूसरी और दूसरी से तीसरी आदि वीथियों में भ्रमण करते हैं उसी प्रकार नक्षत्र भ्रमण नहीं करते हैं। जिन नक्षत्रों की जो खास एक वीथी नियत है वे उसी में सदा भ्रमण किया करते हैं ऐसी वीथियें सब नक्षत्रों की कुल ८ हैं। उनमें २ वीथी जंबूद्वीप में हैं और ६ लवण समुद्र मे ह। प्रथम वीथी से अंतिम वीथी उत्तर दक्षिण मे ५१० योजन दूर है। नक्षत्रों की प्रथम वीथी चन्द्रमा की प्रथम वीथी के ऊपर हैं और ८वी वीथी चन्द्रमा की अंतिम १५वीं वीथी के ऊपर है। नक्षत्रों की शेष २ री से ७वीं वीथी क्रम से चन्द्रमा की ३ री, सातवीं, छठवीं आठवी, दशवीं, ११ वी वीथी के ऊपर है। नक्षत्रों की प्रथम वीथी में १२ नक्षत्र घूमते हैं, उनके नाम—

अभिजित्, श्रवण, घनिष्ठा शतभिषा, पूर्वाभिषा, पूर्वाभाद्रपदा, उत्तराभाद्रपदा, रेवती, अश्विनी, स्वाति, पूर्वाफाल्गुणी, भरणी।

तीसरी वीथी में—मघा, पुनर्वसु ये २ नक्षत्र घूमते हैं। सातवीं वीथी में रोहिणी, चित्रा, ये २ नक्षत्र घूमते है, छठवीं में कृत्तिका, आठवीं में विशाखा, दशवीं मे अनुराधा, और ११वीं में ज्येष्ठा सदा भ्रमण किया करता है। १५ वी वीथी में ८ नक्षत्र भ्रमण करते हैं उनके नाम—

हस्त, मूल, पूर्वाषाढ़, उत्तराषाढ़, मृगशीर्षा, आर्द्रा, पुष्य, और अश्लेषा। जो नक्षत्र जिस वीथी में घूमता है वह अपनी

चाल से उस वीथी को ५६ [illegible] मुहूर्तों में पूर्ण कर लेता है अर्थात् पूरा एक चक्कर लगा लेता है।

प्रकाश और अंधकार

कोई कहते हैं—"सूर्य जब, मेरु की आड़ में आ जाता है तब वह हमें अस्त होता नजर आता है और आड़ से निकलते वक्त उदय होता नजर आता है। परन्तु ऐसी जैन-मान्यता नहीं है। क्योंकि मेरु उत्तर दिशा में है और सूर्य का उदयास्त पूर्व-पश्चिम दिशा में होता है। दूसरी बात यह है कि मेरु की चौड़ाई जैनागम में दस हजार योजनों से अधिक नहीं लिखी है। इसको तो सूर्य अपनी गति से करीब दो मुहूर्त से कम में ही लांघ सकता है। ऐसी अवस्था में मेरु की आड़ की बात बनती नहीं है।

कोई कहते हैं—"पृथ्वी नारंगी की तरह गोल है और सूर्य उसके नीचे ऊपर चक्कर लगाता है अतः उसकी आड़ में आने से सूर्य अस्त और आड़ से निकलने पर उदय होता है। जिससे उदयास्त के वक्त सूर्य पृथ्वी मे निकलता व उसमें प्रवेश होता नजर आता है। और इसी से उदयास्त के वक्त सूर्य का पाव आधा आदि हिस्सा भी दृष्टिगोचर होता है। एक दम पूरा मंडल दिखाई नहीं देता है।"

किन्तु इस प्रकार की भी जैन मान्यता नहीं है, इसका कारण यह है कि — यद्यपि सूर्य पृथ्वी से आठ सौ योजन ऊंचा है तथापि वह उदयास्त के वक्त हमसे बहुत दूर रहने के कारण पृथ्वी से लगा हुआ प्रतीत होता है और दूर होने से पहिले उसका आगे का भाग नजर आता है, बाद में फिर पिछला भाग भी दिखने लगता है उसी से हमको उस के पाव आधा आदि हिस्सा दीखने का भ्रम हो जाता है।

तथा हम यह भी सर्वथा नहीं कहते कि पृथ्वी बिल्कुल दर्पण के समान सपाट ही है, उसमें भी कालादिवश से ऊंचाई नीचाई हुई है। यह बात आचार्य श्री विद्यानन्द स्वामीने श्लोकवार्तिक के निम्न वाक्यों में प्रगट की है—

"न च वयं दर्पणसमतलामेव भूमिं भाषामहे प्रतीतिविरोधात् तस्याः कालादिवशादुपचयापचयसिद्धे निम्नोन्नताकारसद्भावात्... ....तत एव नोदयास्तमययोः सूर्यादिबिंबार्द्धदर्शनं विरुध्यते। भूमिसंलग्नतया वा सूर्यादिप्रतीतनं संभाव्या, दूरादिभूमेश्तथाविधदर्शनजननशक्तिसद्भावात्।"

[अध्याय ४ सूत्र १३]

अर्थ—हम जैन यह भी नहीं कहते कि पृथ्वी दर्पण के समान समतल ही है। समतल कहना प्रतीति के विरुद्ध है। कालादि के वश से घटाबढ़ी होकर पृथ्वी में ऊंचानीचापन देखा जाता है। इसलिये उदयास्त के वक्त सूर्यादि का आधा बिंब दिखाई देने में कोई आपत्ति नहीं है। और विपक्षी का यह कहना कि पृथ्वी नारंगीवत् गोल न होती तो उदयास्त के वक्त सूर्यादि का भूमि से लगा हुआ दृष्टि में आना संभव नहीं था" उचित नहीं है। वैसा तो भूमि में दूरी होने और दूर की चीज पृथ्वी से लगी हुई नजर आवे ऐसी नेत्रशक्ति होने से भी हो सकता है।

इस प्रकार खासतौर से किसी पदार्थ की आड़ के कारण सूर्य का उदयास्त नहीं है। किन्तु समतल भूमि में जहांतक सूर्य का प्रकाश फैलता है। उसकी दूरी से सूर्य का उदयास्त समझना चाहिये। जब सूर्य अभ्यंतर की प्रथम वीथी में होता है तब उस का कुल प्रकाश पूर्व से पश्चिम में ९४५२६ $\frac{४२}{६०}$ योजनों तक फैलता

है उसमें से आधा आगे को और आधा पीछे को रहता है। यानी साधिक ४७०६३ योजनों की दूरी पर भरत क्षेत्र के अयोध्या-वासियों को वह पूर्वदिशा से उदय होता नजर आता है, और इतनी ही दूरी पर वह पश्चिम में अस्त होता नजर आता है। निषधाचलके जिस स्थान पर सूर्यका उद्‌यास्त होताहै वह स्थान भी अयोध्या से इतना ही दूर है। इसी अपेक्षा से भरतक्षेत्र के वास्ते सूर्य का उद्‌यास्त निषध पर्वत पर बताया है। इतना ही प्रकाश सामने के दूसरे सूर्य का रहता है। दोनों तरफ अंतराल मे अंधयार रहता है। ज्यों ज्यों सूर्य आगे चलता जायेगा उसका प्रकाश भी उसके साथ आगे २ बढ़ता जावेगा और पीछे २ अंधकार होता आवेगा। इस वीथी की परिधि ३१५०८९ योजनों की है। उनमें से आमने सामने के दोनों सूर्यों का ताप १८९०५३$\frac{४}{१०}$ योजनों का है। तथा एक तरफ के अंतराल में ६३०१७$\frac{४}{५}$ योजनों का अंधकार रहता है। दोनों तरफ के अंधकार का प्रमाण १२६०२५$\frac{३}{५}$ योजनों का होता है। कुल ताप (प्रकाश) और तम. (अंधकार) की जोड़ ३१५०८९ योजनों की होती है सो ही अभ्यंतर प्रथम वीथी की परिधि (घेरा) होती है। इस वीथी में सूर्य के गमन करते समय जंबूद्वीप में प्रायः सर्वत्र १८ मुहूर्तो का दिन और १२ मुहूर्तों की रात्रि होती है। इस वीथी में स्थित सूर्य का उत्तर दक्षिण ताप मेरु के मध्य से लेकर लवण समुद्र के ६वें भाग तक फैला रहता है। ऊपर को आताप एक सौ योजन और नीचे को १८०० योजन तक रहता है। यह वीथी मेरु के मध्य से ४९८२० योजनों की दूरी पर है। इस वीथी से ज्यों ज्यों उत्तर की तरफ जाइये त्यों त्यों ही आकाश प्रदेशों की गोलाई उत्तरोत्तर कम होती जायेगी और दक्षिण की तरफ गोलाई बढ़ती जायेगी। अतः जो ताप प्रथम वीथी स्थित सूर्य

का प्रथम वीथी में बताया है वह ताप भी उस वक्त उत्तर की तरफ के आकाश प्रदेशों की गोलाई में उतना नहीं बताया है किन्तु उत्तरोत्तर घटता बताया है। और दक्षिण तरफ के आकाश प्रदेशोंकी गोलाईमें उत्तरोत्तर बढ़ता बताया है। इसका कारण शायद यह हो कि गोलाई का मोड़ जहाँ जहाँ कम दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप कम फैला है। और जहाँ जहाँ मोड़ अधिक दूरी पर हुआ है वहाँ वहाँ ताप अधिक फैला है।

और जब सूर्य अन्तिम बाह्यवीथी में विचरता है तब वहाँ दोनों तरफ के सूर्यों का ताप १२७३२५ ३/५ योजनो का रहता है। और दोनों तरफ का अंधकार १९०९८८ ३/५ योजन प्रमाण रहता है। प्रकारांतर से यों समझिये कि प्रथम वीथी में जब सूर्य विचरता है तब उस प्रथम वीथी को आदि लेकर सभी वीथियों की अपनी-अपनी परिधियो में १० भागों मे से ६ भागो मे ताप रहता है और ४ भागों में अंधकार रहता है। तथा जब सूर्य अन्तिम बाह्य वीथी में विचरता है तब उसमें और अन्य सभी वीथियों की परिधियों में १० भागों में से ४ भागों में ताप व ६ भागों में अंधकार रहता है। मध्य की शेष वीथियों में से जिस किसी वीथी में सूर्य के विचरते वक्त अन्य सब वीथियों में ताप प्रमाण कितना है ? यह जानने के लिये उन वीथों की परिधियों में ६० का भाग देने पर जो लब्धि आवे उसको सूर्य के विचरने वाली वीथी के दिनमान के मुहूर्तों से गुणा करने पर जो सख्या हो उतने योजनों का उनमें ताप प्रमाण समझना चाहिये। इससे प्रगट होता है कि आदिपथ से बाह्यपथ की ओर जाते समय सूर्य का स्वभावतः ही ताप उत्तरोत्तर घटता जाता है और बाह्यपथ से अभ्यंतर पथ की ओर आते समय ताप उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ

जाता है। अन्तिम बाह्य वीथी में सूर्य के विचरते वक्त प्रायः जंबूद्वीप में दिनमान १२ मुहूर्त का और रात्रिमान १८ मुहूर्त का होता है। यह सबसे छोटा दिन और सबसे बड़ी रात–माघ मास में होती है। तथा १८ मुहूर्त का बड़ा दिन और १२ मुहूर्त की छोटी रात श्रावण मास में होती है। वैशाख और कार्तिक में १५-१५ मुहूर्तों का समरात्रि दिन होता है। उस समय सूर्य मध्यम वीथी में विचरता है। और उस समय सभी वीथियों में ताप और तमः का प्रमाण समान भागों में रहता है। अभ्यंतर की प्रथम वीथी से बाह्य की अन्तिम वीथी में जाने में सूर्य को १८३ दिन लगते हैं। इसी को दक्षिणायन कहते हैं। इससे उल्टे बाह्य से अभ्यंतर में आने में उसी सूर्य को १८३ दिन लगते हैं। उसे उत्तरायण कहते हैं। दक्षिणायन में क्रमशः दिन घटता है, और उत्तरायण में क्रमशः दिन बढ़ता है। यह घटाबढ़ी ६ मुहूर्त तक होती है। १८३ दिनों में ६ मुहूर्त की हानि-वृद्धि हो तो एक दिन में कितनी हो ऐसे त्रैराशिक करने से २ मुहूर्त का ६१ वां भाग प्रमाण काल की प्रतिदिन हानि-वृद्धि होगी। अर्थात ३०।। दिन में १ मुहूर्त दिन घटे-बढ़ेगा। यानी श्रावण में १८ मुहूर्त का, भाद्रपद में १७ मुहूर्त का आगे माघ मास तक प्रति मास एक एक मुहूर्त दिन घटना समझ लेना। इस प्रकार दक्षिणायन में दिनमान घटता जाता है। इससे आगे उत्तरायण चलता है। उसमें श्रावण मास तक प्रतिमास इसी क्रम से दिनमान बढ़ता जाता है। जैसे फाल्गुन में १३ मुहूर्त का, चैत्र में १४ का इत्यादि। प्रायः ३० मुहूर्त का अहोरात्र होता है। ऐसा नियम है इसलिये जब जितना दिनमान होगा तब ही शेष मुहूर्तों की रात्रि होगी।

यहाँ हम यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि—हमारे यहाँ दिन

होगा तो विदेह क्षेत्र में रात्रि होगी और विदेह में रात्रि होगी तो हमारे यहां दिन होगा, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि— हमारे यहां सूर्यास्त होते ही विदेह में सूर्योदय होने लग जाय या वहां सूर्योदय होते ही यहां सूर्यास्त होने लग जावे। ऐसा तो समरात्रि दिन के वक्त हो सकता है। विषम रात्रि दिन में तो ऐसा नहीं हो सकता है। क्योंकि जब १८ मुहूर्त का दिन और १२ मुहूर्त की रात्रि होती है तब भरत क्षेत्र मे सूर्यास्त होने के ३ मुहूर्त पहिले ही पश्चिम विदेह में सूर्योदय हो जायेगा। और पूर्व विदेह में सूर्यास्त के ३ मुहूर्त पूर्व ही भरत में सूर्योदय हो जायेगा। मतलब कि उसवक्त भरत में जो दिन का अन्तिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही पश्चिम विदेह में दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। तथा पूर्व विदेह में जो दिन का अंतिम ३ मुहूर्तात्मक भाग है वही भरत में दिन का ३ मुहूर्तात्मक प्रारम्भिक भाग है। और जब १८ मुहूर्त का दिन होता है तब सूर्यास्त के तीन मुहूर्त बाद में पश्चिम विदेह में सूर्योदय होता है। और पूर्व विदेह में सूर्यास्त के ३ मुहूर्त बाद में भरत में सूर्योदय होता है। कारण कि दिनमान और रात्रि मान में जो काल का अन्तर है उसमें दिनमान जितना अधिक होगा उसका आधा समय पूर्वक्षेत्र में सूर्यास्त का शेष रहते ही उत्तर (अगले) क्षेत्र में सूर्योदय हो जायेगा। तथा जितना अधिक रात्रिमान होगा उसका आधा समय पूर्व क्षेत्र में सूर्यास्त के बाद उत्तर क्षेत्र में सूर्योदय होगा।

शुक्ल-कृष्णपक्ष

जिस पखवाड़े में सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा दिखाई देता है, और फिर

अस्त हो जाता है वह शुक्लपक्ष कहलाता है। और जिस पखवाड़े में सूर्यास्त के बाद प्रतिरात्रि उत्तरोत्तर बढ़ते हुए एक एक मुहूर्त तक चन्द्रमा का उदय नहीं होता बाद मे उदय होकर सारी रात्रि तक चन्द्रमा दिखता रहता है वह कृष्णपक्ष कहलाता है। ऐसा चन्द्रसूर्य की समानगति न होने के कारण से होता है। हमेशा चन्द्रमा सूर्य से धीमी गति चलता है। चलते २ हर अमावस को चन्द्रसूर्य साथ हो जाते हैं। इसीलिये अमावस का पर्याय नाम सूर्येन्दुसगम भी है। उस दिन दोनों साथ-२ अस्त होते हैं। दूसरे दिन शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को चन्द्रमा अपनी चाल से सूर्य से इतना पीछे रह जाता है कि उस दिन जहां उसे अस्त होना है वहाँ वह सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद मे पहुँचता है इसलिये शुक्ल प्रतिपदा को सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद तक चन्द्र दिखता रहता है। फिर अस्त हो जाता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त, तृतीयाको ३ मुहूर्त बढते-बढते पूर्णिमाको सूर्यास्तके १५ मुहूर्त बाद तक चन्द्रदर्शन होता रहता है। समरात्रि दिनमे रात्रि १५ मुहूर्त की होती है। अतः तब पूर्णिमा को सारी रात्रि में चन्द्रमा की चाँदनी रहती है। उस दिन जिस वक्त पश्चिम मे सूर्यास्त होता है उसी वक्त पूर्व दिशा मे चन्द्रमा अपने उदय स्थान में आकर उदय हो जाता है। आगे कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा चाल में इतना पीछे रह जाता है कि सूर्यास्त के मुहूर्त बाद में चन्द्रमा अपने उदय स्थान पर आकर उदय होता है। इसीलिये कृष्ण प्रतिपदा को चन्द्रमा का उदय सूर्यास्त के १ मुहूर्त बाद होता है। आगे द्वितीया को २ मुहूर्त बाद, तृतीया को ३ मुहूर्त बाद, इत्यादि प्रतिदिन एक एक मुहूर्त बढ़ते २ चतुर्दशी को सूर्यास्त के १४ मुहूर्त बाद चन्द्रोदय होता है। आगे अमावस को सूर्यास्त के वक्त ही चन्द्रमा भी अपने अस्त स्थान पर पहुंच कर अस्त होकर

सूर्य चन्द्र दोनों साथ साथ हो जाते हैं। चूंकि चन्द्रमा की सूर्य से मंदगति होने के कारण उस रात्रि के अंत मे चन्द्रमा के अपने उदयस्थान पर पहुँचने के पहिले ही सूर्य आगे चलकर उदय हो जाता है इससे अमावस की सारी रात्रि में चन्द्रदर्शन नहीं होता है। इस प्रकार यह सूर्य के निमित्त से कमज्यादा समय तक चन्द्रदर्शन होना जानना चाहिये। लेख के शुरू में चन्द्रमा के छाटे बड़े आकार का होना राहु के निमित्त से बताया है यह इन दोनों कथनों में खास अंतर समझना चाहिये।

भूगोल-खगोल के विषय में कुछ विशिष्ट ज्ञातव्य बातें हमने "जैन-निबंध रत्नावली" पुस्तक मे भी ग्रंथित की हैं—देखो पृ. २८४ पर "भरतैरावत में वृद्धि-ह्रास किसका है?" शीर्षक निबंध तथा पृ० २६१ पर—"उपलब्ध जैन ग्रन्थों में ज्योतिष-चक्र की व्यवस्था" शीर्षक निबंध।

भारतीय वर्ष मास तिथि नक्षत्रादि की गणना सूर्य चन्द्र तारों की चाल पर आधारित है जब कि अन्य सभी की कैलेन्डर (Calander) पंचांग पद्धति काल्पनिक है अतः वह ऋतुओं से भी मेल नहीं खाती। प्रसंगोपात्त भूभ्रमण के विषय में भी कुछ समीक्षात्मक विचार नीचे प्रस्तुत किये जाते हैं:—

भू-भ्रमण मान्यता की सदोषता

जैन-जैनेत्तर-पौर्वात्य एवं पाश्चात्य सभी के धर्मग्रन्थों (आगम, पिटक, वेद, बाईबिल. कुरान आदि) में पृथ्वी को स्थिर और सूर्य को चर माना है किन्तु जब ज्योतिष और गणित पद्धतियों में विकास का युग आया तब इस विषय में तार्किक दृष्टि से ऊहापोह होने लगा। वराहमिहिर, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर,

लल्ल, भास्कर तथा महावीर आदि प्रसिद्ध गणिताचार्य इस विषय में धर्मग्रन्थों की मान्यता के ही समर्थन में रहे पर इस बीच आर्यभट्ट (वि० सं० ५३३ आदि) कुछ गणिताचार्यों ने पृथ्वी को चर बताया। भारतवर्ष में वह युग भी इस विषय के खंडन-मंडन का रहा।

भू-स्थिर वादियों के जोरदार तर्क (प्रश्न) निम्नांकित थे :—

१—अगर पृथ्वी चल है तो पक्षी सुबह अपने घोंसलों को छोड़कर शाम वहीं वापिस कैसे आ जाते हैं ?

२—आकाश में फेंके जाने वाले बाण विलीन क्यों नहीं हो जाते ? आकाश में फेंकी गई वस्तु विषम-गति-शील और दिशान्तर क्यों नहीं हो जाती ?

३ पृथ्वी की गति का मंद होना इसमें कारण माना जाय तो एक दिन-रात में इस विस्तृत पृथ्वी का पूरा भ्रमण कैसे हो जायेगा ?

इसके विपरीत अगर पृथ्वी का तीव्र वेग से घूमना मानते हो तो इससे उस पर इतनी प्रचंड वायु चलेगी कि जिससे महल, मकान, वृक्ष पर्वतादि की चोटियां, ध्वजाएं आदि सब छिन्न-भिन्न हो जायेंगे। अतः पृथ्वी का भ्रमण किसी भी तरह सिद्ध नहीं होता।

४—पृथ्वी समान रूप से गति करती हुई वर्ष भर में सूर्य का एक पूरा चक्कर लगाती है तो ऋतुओं का परिवर्तन कैसे संभव है ?

५—अगर पृथ्वी चलती है तो ध्रुवतारा उत्तर की ओर

ही सदा एक स्थान पर ही क्यों दिखाई देता है ? पृथ्वी के साधारण दैनिक भ्रमण से प्रतिदिन सूर्य पूर्व से पश्चिम में जाता हुआ दिखता रहे और पृथ्वी के दैनिक-वार्षिक भ्रमण में भी ध्रुवतारा ज्यों का त्यों स्थिर खड़ा रहे यह कैसे मान जाय ?

इन प्रश्नों और तर्कों का कोई समुचित उत्तर भू-भ्रमण वादियों के पास नहीं।

इसके सिवा भू-भ्रमण प्रत्यक्ष-बाधित भी है क्योंकि सर्व देश काल में सर्व प्राणियों को पृथ्वी की स्थिरता का ही अनुभव होता है। अनुमान से भी भू-भ्रमण का कोई निश्चय नहीं होता क्योंकि उस प्रकार का कोई अविनाभावी हेतु नहीं देखा जाता। (विशेष जानने के लिए—"पी० एल० ज्योग्राफी" ग्रन्थ द्रष्टव्य है)।

इस भू-स्थिरता का सिद्धांत सुदीर्घ काल तक मान्य और प्रचलित रहा किन्तु पाश्चात्य देशों में सर्वप्रथम १६ वीं शती में कोपरनिकस ने पृथ्वी को चर और सूर्य को स्थिर बताया। गेलिलिओ ने भी विभिन्न प्रमाणों से इसकी पुष्टि की किन्तु पोप लोगों ने इसे बाइबिल का अपमान बताया। परिणाम स्वरूप गेलिलिओ आदि को राजकीय दण्ड भोगने पड़े। फिर भी यह मान्यता नये नये सिद्धांतों की खोजों से उत्तरोत्तर बढती रही और पश्चिम को लांघकर यह पूर्व में भी प्रचलित हो गई एवं राज-मान्यता के साथ विद्यालयों में पाठ्य-विषय भी बन गई।

इस प्रकार भूभ्रमण का सिद्धांत काफी लोकप्रिय हो गया और सूर्य-भ्रमण का सिद्धांत प्राचीन ग्रन्थों का विषय रह गया।

फिर भी बहुत से ऐसे पाश्चात्य विचारक विद्वान् भी

होते रहे हैं जिन्होंने भू-स्थिरता को ही मान्य किया है। हेनरी फास्टर ने सन् १९४८ में एक लेख में लिखा है कि "विलियम एडगल ने ५० वर्षों के महान् प्रयत्न के बाद यह निर्णय प्रकट किया कि पृथ्वी थाली के समान चपटी है और इसके चारों ओर सूर्य भ्रमण करता है।"

इसी तरह जे० मेकडोनल्ड ने भी सन् १९४६ में अपने विस्तृत लेख में यह लिखा है कि सूर्य गति करता है। और जो यह मानते है कि—पृथ्वी अपनी धुरी पर १ हजार मील प्रति घण्टे की गति से गमन करती है वह हास्यास्पद है।

आधुनिक वैज्ञानिकों से अभी भू-स्थिरवदियों के पूर्वोक्त प्रश्नों का ही यथोचित समाधान नहीं हो रहा है कि—सापेक्ष-वाद सामने आ उपस्थित हुआ जिसके प्रस्तुतकर्त्ता इस २० वीं ईस्वी सदी के विश्व-प्रसिद्ध गणितज्ञ वैज्ञानिक आईंस्टीन हैं। उन्होने बताया है कि—"गति व स्थिति केवल सापेक्ष-धर्म हैं। 'प्रकृति' कुछ ऐसी है कि किसी भी ग्रह-पिण्ड की वास्तविक गति किसी भी प्रयोग द्वारा निश्चित रूप से नहीं बताई जा सकती। पृथ्वी की अपेक्षा में सूर्य चलता है या सूर्य की अपेक्षा में पृथ्वी चलती है। दोनों सिद्धात अपनी अपनी जगह ठीक है फिर भी पहला सिद्धांत कुछ जटिल है और दूसरा सिद्धांत सरल है।

इस तरह भू-भ्रमणवाद पर जो बल दिया जा रहा है वह सिर्फ सामान्य जनता की सुविधा की दृष्टि से है। अतः यह सुविधावाद भी एक तरह से सापेक्षिक ही है।

आईन्स्टीन के सापेक्षवाद ने वैज्ञानिक के एकान्ताग्रह को

झकझोर दिया है और अब वे यह कहने को बाध्य हो गएहैं कि—

सूर्य चलता है या पृथ्वी, यह विवाद महत्वहीन और निरर्थक है। दोनों में से कुछ भी माना जा सकता है। कोई बाधा नहीं। प्रकृति अनंत धर्मात्मक होने से अति सूक्ष्म है अतः वास्तविकता का साक्षात्कार करना असंभव-सा है।

लेखक का समाधान

खगोल के विषय मे वर्तमान विज्ञान या जैनेतर शास्त्रों की मान्यता गलत है या सही है इसको लेकर वह लेख नही लिखा गया है। जैन शास्त्रो मे इस विषय का वर्णन किस प्रकार से लिखा मिलता है यह दिखाने को वह लेख लिखा गया है। यह बात मैंने उस लेखके प्रारम्भ मे ही प्रगट करदी है। इसलिए उस लेख मे अगर मैंने कही जैन शास्त्रो से विरुद्ध मनघडत लिख दिया हो या कही अपनी बुद्धि की मंदता से जैन शास्त्रों के वाक्यो का अर्थ यथार्थ न समझकर अन्यथा प्ररूपणा करदी हो, इस प्रकार की कोई बातें हो तो उसका उत्तर-दायित्व मेरे ऊपर है और उसी का जवाब देना मेरा काम है। ऐसी सूरत मे 'जैन खगोल विज्ञान की आलोचना" इस शीर्षक का लेख छपाना और उसमे उसके लेखक से जैन मान्यता को सिद्ध करने की मांग पेश करना अनधिकार चर्चा है और जिनवाणी को चुनौती देना है क्योंकि उसका विवेचन लेखक का नही जैन शास्त्रो का है। इसलिये समालोचक जी के लेख का उक्त शीर्षक अनुचित है। जैन मान्यता को छोड़िए इस विषय मे जैनेतर शास्त्र भी तो सबके सब एकमत नही है। समालोचक जी ने चन्द्रमा को सूर्य से नीचे माना है पर विष्णुपुराणमें ऊँचा माना है। भास्कराचार्य ने पृथ्वी को चलती मानी है, समालोचक

जो उसे स्थिर मानते हैं। विज्ञान की तो खगोल-भूगोल के विषय में और भी भिन्न मान्यतायें हैं फिरभी सभी अपने-अपने ढंग से सामंजस्य बैठाते हैं। अस्तु।

इस पृथ्वी से ज्योतिष्क कितनी दूरी पर है ? और वे आपस में एक से दूसरे कितने-कितने नीचे-ऊचे हैं ? उनकी अपनी लम्बाई चौड़ाई कितनी-कितनी हैं ? उनकी सख्या कितनी-कितनी है ? चन्द्रमा के घटबढ़ का क्या कारण है ? उनकी गति का हिसाब कैसे हैं ? इत्यादि बातें ऐसी हैं जिनको सही-सही रूप से समझना छद्मस्थ की बुद्धि से परे है। इस प्रकार के अतीन्द्रिय विषयों के लिए सिवा आगम प्रमाण के और कोई चारा नहीं है। अगर हम आगमों को धत्ता बताकर अपने तर्क के आधार पर ही सब कुछ मानें तो सुमेरुपर्वत व राम, रावण, कृष्ण नारायणादिका मानना भी छोड़ना पड़ेगा। इसलिए हमारे यहाँ यह आदश दिया है कि—"आज्ञासिद्ध' चतद्ग्राह्यं, नान्यथा वादिनो जिनाः।

हां जो चीज प्रत्यक्ष से विरुद्ध पड़ती हो उसमें अगर कोई तर्क करे तो कर सकता है इसी खयाल से हमारे लेख के अन्तिम भाग में भू भ्रमण पर कुछ विचार पेश किये गये थे। बाकी वह लेख खडन-मंडन की दृष्टि से नहीं लिखा गया है सिर्फ उसमे स्वमत का दिग्दर्शन मात्र कराया गया है।

समालोचक जी ने हमारे लेख की कुछ बातें प्रत्यक्ष विरुद्ध भी बतलाई हैं उनपर विचार नीचे प्रस्तुत है : -

हमारे लेखमें "चन्द्रमाको सूर्यादिसे मंदगति वाला बतायाहै और तारों की गति सबसे तेज बताई है। और ग्रहों की आपसी चाल में वृहस्पति व शनि की चाल तेज बताई है।" हमारे लेख के इस कथन

पर समालोचक जी ने यह आपत्ति की कि – आकाश में उक्त ज्योतिष्कों की चाल इससे विपरीत दृष्टिगोचर होती है। समालोचक जी का ऐसा लिखना ठीक नहीं है। जैन शास्त्रों मे बृहस्पति-शनिका स्थान ऊचाई में सब ज्योतिष्को से ऊपर माना है। इसलिए वे हमे दूर होने के कारण धीमे चलते नजर आते हैं। वैसे गति उनकी अन्यग्रहो से तेज ही है और जो हमने चन्द्रमा की गति सूर्यादि से धीमी लिखी वह भी ठीक ही लिखी है। प्रत्यक्ष देखते हैं कि अमावस के दिन सूर्य चन्द्र साथ-साथ अस्त होकर साथ-साथ चलते हुये दूसरे दिन सूर्यास्त के वक्त चन्द्रमा सूर्य से पीछे रह जाता है, तभी वह सूर्यास्त के बाद कुछ समय तक हमको दिखने लगता है। पीछे रहने का यह अतर अगले-अगले दिनों में उत्तरोत्तर बढता जाता है। इससे साफ जाहिर होता है कि – चन्द्रमा की चाल सूर्य की चाल से धीमी होती है। जैन शास्त्रों में एक राहु का विमान ऐसा माना है जो हमेशा चन्द्रमा के साथ-साथ नीचे चलता है। किन्तु दोनों की गति समान नहीं है और राहु के विमान का वर्ण श्याम है इसलिए राहु की आड मे जितना चन्द्रमा का अश आता रहता है उतनी ही चन्द्रमा की गोलाई में कमी हमको दिखाई देती रहती है और ज्यों-ज्यों चन्द्रमा राहु की आड से निकलता रहता है त्यों-त्यों ही उसकी कलायें हमें बढ़ती नजर आती रहती है। बस चन्द्रमा की घटाबढ़ी का यही कारण है और बातें सब काल्पनिक हैं। इसका विशेष खुलासा हमारे लेख में किया है उसे देखें।

इसके प्रतिवाद में समालोचक जी लिखते हैं कि—

"चन्द्रमा की राह में नित्य कोई राहु होता तो चन्द्रमा का प्रकाश शुद्ध नहीं मिल सकता। उसका धुंधलापन आकाश में दिखा करता।"

उत्तर में निवेदन है कि—राहु चन्द्रमा से नीचे चलता है। वह

श्याम वर्ण का होने से उसकी आड़ में जितना भाग चन्द्रमा का आता है उतना भाग हमें दिखाई नहीं देता है। जैसा कि हम ऊपर लिख आये है और जितना भाग चन्द्रमा का राहु की आड़ में नहीं रहता उतने भाग का शुद्ध प्रकाश तो मिलता ही है यह प्रत्यक्ष सबके है ही और रात्रि में स्वच्छ आकाश में जब आप थोडी कला वाले चन्द्रमा को कभी ध्यान से देखेंगे तो चन्द्रमा का जितना भाग राहु की आड मे होता है उसका भी कुछ आभास होता ही है। प्रत्यक्ष कि प्रमाणम्।

इस पर शंकायें होती है कि—चन्द्रमा में स्वयं में चमक नहीं वह सूर्य के प्रकाश से चमकता है तो अन्य ग्रह नक्षत्रादि किसके प्रकाश से चमकते हैं और स्वयं सूर्य भी किसके प्रकाश से चमकता है? यदि सूर्य स्वयं प्रकाशवान है तो वैसा ही चन्द्रमा को क्यों न माना जावे और चन्द्रमा मे प्रकाश सूर्य का दिया हुआ है तो चन्द्रमा की चांदनी शीतल क्यों है? सूर्य का प्रकाश पाते ही कमल खिल उठते हैं ऐसा प्रकृति का नियम है। अगर चद्रमा का प्रकाश सूर्य का दिया हुआ होता तो कमल मुद्रित भी नहीं होते और आपके लेखानुसार चंद्रमा जब सूर्य से नीचे चलता है तो सूर्य का प्रकाश चंद्रमा के ऊपरी हिस्से पर पड़ेगा न कि नीचे के हिस्से पर। तब हमको चंद्रमाके नीचे का हिस्सा प्रकाशवान् नहीं दिखना चाहिए था। ऐसी अटपटी बातें लिखने से क्या फायदा? सीधी सी बात जो चंद्रमा के घटबढ़ की जैन शास्त्रो में लिखी है वही स्वाभाविक मालूम पड़ती है। और भी राशि आदि की बातें व तीसरें वर्ष अधिक मास होना आदि सब जैन शास्त्रो मे लिखा है। आप त्रिलोकसार नामक जैन शास्त्र देखिएगा उसमें सब मिलेगा।

इस तरह जैन खगोल (ज्योतिष्क) से भी पंचांग की सब बातें समीचीन ढंग से सिद्ध होती है। ★

३६

छप्पन दिक्कुमारियें

आजकलके प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा विधि मे जिन माता की सेवा ५६ दिक्कुमारियों द्वारा करवाते हैं। परन्तु कुमारियों की इस ५६ संख्या का उल्लेख दिगम्बर जैन परंपरा में तो न कहीं-करणानुयोग, प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में देखने में आया और न प्रतिष्ठा शास्त्रों में ही आया फिर न मालूम ये प्रतिष्ठाचार्य किस आधार पर ऐसा करते हैं?

भगवान् की माता के गर्भ-शोधन का कार्य श्री ह्री आदि कुलाचल वासिनी देविये आकर करती हैं, ऐसा तो अनेक जैन शास्त्रों में लिखा मिलता है और ये ही दिक्कुमारियें या दिक्कन्यायें कहलाती है। किन्तु उनकी तो संख्या सभी करणानुयोगी शास्त्रों में छः बताई है, न कि छप्पन? तथा तत्वार्थ राजवार्तिक, त्रिलोकसार, हरिवंश पुराण आदि ग्रन्थो में लिखा है कि —

१३ वें रूचकद्वीप के मध्यमें बलयाकार रूचक नाम का पर्वत है; उसके कूटों पर निवास करने वाली देवियों का नियोग जिनमाता की सेवा करने का है। इनकी संख्या ४४ लिखी है। इन रूचकवासिनी देवियों द्वारा जिनमाता की सेवा का कथन पं० आशाधरजी ने और पं० नेमिचन्द्र जी ने भी अपने २ प्रतिष्ठा शास्त्रों में किया है। पार्श्वपुराण में पं० भूधरदासजी ने गर्भ-

शोधन करने का नियोग कुलाचलवासिनियों का और सेवा का नियोग रूचकवासिनियों का बताया है। किन्तु आचार्य श्री जिनसेन ने आदिपुराण में माता की सेवा और गर्भशोधन सब कार्य श्री ह्री आदि कुलाचलबासिनी देवियो द्वारा ही किया हुआ बताया है। किन्तु ५६ सख्या किसी ने नही लिखी है। कुलाचल बासिनी और रूचकगिरि बासिनी इन दोनों प्रकारकी देवियों को हो यदि हम दिक्कुमारियें मानलें तब भी इन दोनों की संयुक्त संख्या ५० ही होती है, ५६ नही। पता नहीं छप्पन कुमारी यह संज्ञा किस आधार पर प्रचलित हुई है।

जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में इस विषय का श्लोक नं० ७२१ वां नहीं छपा है, शायद प्रकाशक ने जिस हस्तलिखित प्रति से इसको छपाया है उसमें भी यह श्लोक नहीं था, ऐसा मालूम पड़ता है। परन्तु इस श्लोक का अर्थ छपा है। उसमें दिक्कु-मारियों की सख्या ६ और ५६ दोनों ही लिखी हैं। सही चीज क्या है? इसका निश्चय तो मूल पाठ के मिलने पर ही हो सकता है। अभी तो हम यही कह सकते हैं कि जो छह संख्या है वह मूलपाठ की है और ५६ संख्या अनुवादककी तरफ से लिखी गई हैं।

पं० भूधरमिश्र ने अपने बनाये चर्चा समाधान ग्रन्थ में इस विषय की चर्चा नं० ६८ उठा कर उसके समाधान मे ५६ दिक्कुमारियों की नामावली निम्नप्रकार बताई है—

"कल्पवासिनी की इन्द्राणी १२, भवनबासिनी की इन्द्राणी २०, व्यंतरों की इन्द्राणी १६, चन्द्रमा की १, सूर्य की १, कुलाचल बासिनी श्री आदि ६, कुल ५६।"

इस समाधान में कोई तथ्य नहीं है। ५६ संख्या का जोड तोड़ बैठाने के लिए अटकल नाम भर दिये हैं। चतुर्निकाय की इन्द्राणियों के दिक्कुमारिये नाम किसी भी जैनशास्त्र में नहीं लिखे हैं। मिश्रजी ने यह भी लिखा है कि—

"कुलाचल वासिनी देवियें तो जिनमाता का गर्भशोधन करती हैं और बाकी इन्द्राणियें माता की प्रच्छन्न सेवा करती हैं, ऐसा आदि पुराण में वर्णन किया है।"

परन्तु आदि पुराण मे ऐसा कोई वर्णन नहीं है। उसके १२ वें पर्व के श्लोक २६६ वां को लेकर शायद मिश्रजी ने वैसा लिखा हो, पर उस श्लोक का वैसा अर्थ होता ही नही है। वह श्लोक यह है—

निगूढं च शची देवीमसिषेवे किल साप्सरा।
मघोनाघ विघाताय प्रहिता तां महासतीं ॥२६६॥

अर्थ—अपने पापों को नाश करने के लिए इन्द्र के द्वारा भेजी हुई इंद्राणी भी अप्सराओ के साथ-२ गुप्तरूप से महासती मरुदेवी की सेवा किया करती थी।

इस श्लोक में तो शची ऐसा एक वचन देकर सिर्फ एक सौधर्मेन्द्र की इन्द्राणी द्वारा सेवा की बात लिखी है। चतुर्निकाय की ५० इन्द्राणियें मिल कर प्रच्छन्न रूपसे माता की सेवा करने का अर्थ इस श्लोक का होता नहीं है।

श्री पं० टोडरमल्लजी साहब ने इस चर्चा समाधान ग्रन्थ के बाबत लिखा है—

"इसमें जितनी चर्चाओं के समाधान दिये हैं उनमें से थोड़ीसी चर्चाओं के समाधान ही ठीक हैं।"

अतः भूधरमिश्र ने जो ५६ कुमारियें लिखी हैं वे मानने योग्य नहीं हैं।

त्रिलोकसार गाथा ६४१ में मानुषोत्तर पर्वत के १२ कूटों परभी निवास करनेवाली दिक्कुमारिये बताईहैं। इनको उक्त ४४ रूचकवासिनियों की संख्या में मिलाकर ५६ संख्या बना लेना भी उचित नही है। क्योंकि ऐसा करने से कुलाचल वासिनी छः प्रसिद्ध दिक्कुमारियाँ छूट जाती हैं और इन छः को शामिल करने पर ५६ के बजाय ६२ दिक्कुमारियों की संख्या बनती है। इस लिये खाली दिक्कुमारी नाम देखकर ही उन्हें ५६ की संख्या में शामिल करना योग्य नहीं है। यों तो त्रिलोकसार की गाथा ७४४ में वक्षार पर्वतों पर भी दिक्कन्याओं का निवास बताया है। इस तरह सभी दिक्कुमारियों का नियोग जिनमाता की सेवा करने का मानने पर तो उनकी संख्या ५६ से भी बहुत अधिक हो जायेगी इसलिये गणना में उन्हीं देवियोंको लेना चाहिए जिनका नियोग जिनमाता की सेवा करने का शास्त्रों में लिखा हो।

प्रतिष्ठाशास्त्रोंमें सर्वत्र श्री ह्री आदि ८ दिक्कुमारियों के नाम मिलते हैं। इनमें आदि के छः नाम तो शास्त्रोक्त हैं और अन्त के दो नाम कल्पित हैं। इन ८ नामों को यदि रूचकवासिनी देवियों की संख्या में मिला दिये जायें तब भी कुल संख्या ५२ ही बनती है, ५६ नहीं। हाँ, अगर दिक्कुमारियों के कल्पित नाम २ की बजाय ६ लिखे होते तो ५६ संख्या हो सकती थी, मगर ६ कल्पित नाम किसी प्रतिष्ठा शास्त्र में देखने में अभी तक आये नहीं।

इसलिए वर्तमान के प्रतिष्ठाचार्य जो दिक्कुमारियों की ५६ संख्या मानते हैं और आमन्त्रण पत्रिकाओं में लिखते हैं, उनका कर्तव्य है कि वे किसी मान्य आगम प्रमाण से छप्पन संख्या को सिद्ध करें, ऐसी हमारी प्रार्थना है । वरना उन्हें आगामी अब ५६ संख्या का उल्लेख नही करना चाहिये ।



३७

द्रव्यसंग्रह का कर्त्ता कौन ?

श्री गणेशप्रसाद वर्णी जैनग्रन्थमाला वाराणसी से इन दिनों द्रव्यसंग्रह नामक ग्रन्थ पुराणे पण्डित जयचन्दजी कृत भाषावचनिका और भाषा पद्यों सहित प्रगट हुआ है। संपादक जी ने इसके सम्पादन में बहुत परिश्रम करके इसको सब तरह से उपयोगी बनाया है। उक्त वचनिका और भाषा पद्यों का यह प्रकाशन पहिली बार ही हुआ है। इसके पूर्व नहीं हुआ। साथ में लघुद्रव्यसंग्रह भी छपा है। सम्पादकजी ने इस पर ४० पृष्ठों की प्रस्तावना लिखकर ग्रन्थ ग्रन्थकार और ग्रन्थ के संस्कृत टीकाकार ब्रह्मदेव व भाषा वचनिकाकार के विषय में अच्छी विचार सामग्री प्रस्तुत की है। उसमें अन्य २ बातों के अलावा आपने यह भी व्यक्त किया है कि इस द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता वे प्रसिद्ध नेमिचन्द्र नहीं हैं जिन्होंने गोम्मटसार-त्रिलोकसारादि ग्रन्थों की रचना की है। किन्तु ये कोई दूसरे ही नेमिचन्द्र हैं जो उनसे उत्तरकाल में हुए हैं। इस बात को सिद्ध करने के लिए आपने बहुत लिखा है। फिरभी हम उसे अंतिम निर्णय माननेको तैयार नहीं हैं। अब भी उसके विरुद्ध काफी लिखे जाने की गुञ्जाइश है। इस सम्बन्ध में आपने जो दलीलें दी हैं उन्हें हम हमारी समीक्षा के साथ नीचे लिखते हैं —

(दलील नं० १) द्रव्य संग्रहकार ने द्रव्यसंग्रह की प्रशस्ति

में अपने को तनुसूत्रधर लिखा है और उसके टीकाकार ब्रह्मदेव ने उनका उल्लेख सिद्धान्तदेव के नाम से किया है। त्रिलोकसार-आदिके कर्त्ता नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्री थे। न वे तनुसूत्रधर थे और न सिद्धांतदेव इस तरह से दोनों नेमिचन्द्र एक नहीं, भिन्न-२ थे।

(समीक्षा) द्रव्यसंग्रह की तरह त्रिलोकसार की प्रशस्ति में भी ग्रन्थकार ने अपने को अल्पसूत्र का धारी बताया है। इतना ही नहीं और भी कथन त्रिलोकसार के कर्त्ता ने यहाँ प्रायः द्रव्य-संग्रह की भाँति ही किया है। दोनों के वाक्यों को देखिये—

इदि णेमिचन्दमुणिणा अप्पसुदेणभयणंदिवच्छेण ।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदा इरिया ॥१०१८॥

[त्रिलोकसार]

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा दोससंचयचुदा सुदपुण्णा ।
सोधयतु तणुसुत्तधरेण णमिचन्दमुणिणा भणियं जं ॥५८॥

[द्रव्यसंग्रह]

णेमिचन्दमुणि, सुदपुण्ण-बहुसुदा, तणुसुत्तधर-अप्पसुद ।

ये शब्द दोनों में समानार्थक हैं। द्रव्य संग्रह में नेमिचन्द्र मुनि ने अपने को अल्पशास्त्र का धारी बताकर पूर्ण श्रुतज्ञानियोंसे अपनी कृति को शोधने की प्रार्थना की है। यही आशय त्रिलोक-सार में भी व्यक्त करते हुए लिखा है कि अल्पश्रुति होते हुए भी नेमिचन्द्र मुनि ने त्रिलोकसार ग्रन्थ रचा इस ढीठता के लिये बहुश्रुति आचार्य उसे क्षमा करें। इस समान कथन से यही प्रति-भासित होता है कि दोनों के कर्त्ता एक ही व्यक्ति हैं। रही सिद्धांतचक्री और सिद्धांतदेव की बात सो त्रिलोकसार के

प्रारम्भ और अन्त में "भगवन्नेमिचन्द्रसिद्धांतदेवा." नेमिचन्द्रसिद्धांतदेवानामभिप्रायानुसारिणः" इन वाक्यों से टीकाकार माधवचन्द्र ने भी त्रिलोकसार के कर्त्ता को सिद्धांतदेव लिखा है।

(दलील नं० २) गोम्मटसारादि के कर्त्ता नेमिचन्द्र अपनी रचनाओं मे अपने गुरुओं का उल्लेख करते पाये जाते हैं। इसप्रकार का उल्लेख नेमिचन्द्र ने द्रव्यसंग्रह मे नही किया है। इससे दोनों भिन्न-भिन्न हैं।

(समीक्षा) द्रव्यसंग्रह छोटासा ग्रन्थ होने से नेमिचन्द्र ने उसमें अपने गुरु का नाम नही दिया है। अगर उसे दूसरे नेमिचन्द्र की कृति माना जाये तो उन दूसरे नेमिचन्द्र ने भी तो अपने गुरु का नाम क्यों नहीं दिया ?

(दलील नं० ३) सैद्धांतिक मतभेद होने से भी दोनों भिन्न २ प्रतीत होते है। भावाश्रव के भेदो की मान्यता मे दोनों में एकरूपता नहीं है। गोम्मटसार में भावाश्रव के जो भेद लिखे हैं उनसे द्रव्यसंग्रह में लिखे भेद मिलते नहीं है।

(समीक्षा) दोनों के भावाश्रव के भेदों में मुख्य फर्क यही है कि गोम्मटसार में उन भेदोंमे प्रमादको नहीं लिया है और बृ० द्रव्यसंग्रह की गाथा ३० में प्रमाद को लिया है। इस फर्क का कारण यह है कि—इस विषय में शास्त्रों में दो तरह की विवेचना पाई जाती हैं। तत्वार्थ सूत्र और उसके भाष्यों आदि में आश्रव के भेदों में प्रमाद को लिया हैं। मूलाचार आदि में प्रमाद को नहीं लिया हैं। ये दोनों ही तरह के कथन गोम्मटसारादिके कर्त्ता नेमिचन्द्र के सामने भी थे और दोनों ही को वे मानते थे। इसी लिये उन्होंने जहां बृ० द्रव्यसंग्रह है आश्रवभेदों

में प्रमाद को लिया है वहाँ लघुद्रव्यसंग्रह की १६ वीं गाथा में प्रमाद को नहीं भी लिया है। यह तो निश्चित है कि—टीकाकार ब्रह्मदेव के कथनानुसार लघु और वृहत् दोनों ही द्रव्यसंग्रह के कर्त्ता एक ही व्यक्ति हैं। रहा भावाश्रव के भेदों की संख्या का फर्क सो यह तो संक्षेप विस्तार की अपेक्षा से है। जिसका उल्लेख ब्रह्मदेव ने टीका में भी किया है।

(दलील नं० ४) एक दक्षिण में हुए और दूसरे उत्तर में हुये यह प्रान्तभेद भी दोनों को भिन्न २ सिद्ध करता है।

(समीक्षा) दक्षिण प्रांत के मुनि उत्तर प्रांत में पहिले भी आते जाते रहे है और अब भी आते जाते हैं। मुनि श्री शांतिसागरजी महाराज दक्षिण प्रांत के होकर भी बहुत वर्षों तक उत्तर प्रांत में रहे हैं यह विदित ही है। उसी तरह गोम्मटसारादि के कर्त्ता नेमिचन्द्रजी भी दक्षिण से आकर उत्तरप्रांत में भी कुछ वर्षों विहार किया हो तो यह कोई असम्भव नहीं है। प्रवास मे अस्थायी निवास होने से ही उन्होंने लघुकाय द्रव्यसंग्रह की रचना की है। अगर इसके कर्त्ता उत्तर प्रांत के अन्य कोई नेमिचन्द्र सैद्धान्तिक होते तो उनकी अन्य भी रचनायें सुनी जातीं। और यह कृति भी इतनी छोटी नहीं होती।

(दलील नं० ५) गोम्मटसारादि के कर्त्ता नेमिचन्द्र चामुण्डराय के गुरु थे। चामुण्डराय का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध से बाद का नहीं है। वही समय उनके गुरु नेमिचन्द्र का हो सकता है। द्रव्यसंग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र तो वि० सं० ११२५ में हुये हैं। अतः दोनों नेमिचन्द्र भिन्न २ हैं।

(समीक्षा) इस समझ में भी भूल है। बाहुबलिचरित्र में

गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सं० ६०० लिखा है। प्रोफेसर पं० हीरालालजी ने जैनशिलालेखसंग्रह प्रथम भाग की प्रस्तावना में कल्कि सं० ६०० को विक्रम सं० १०८६ सिद्ध किया है। बाहुबलि मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने की थी उस वक्त उनके गुरु नेमिचन्द्र जो मौजूद थे हो। इसके अलावा मुद्रित चारित्रसार खुले पत्र पृ० २२ में चामुण्डराय ने अमितगति श्रावकाचार का "उपेत्याक्षाणि सर्वाणि ......" श्लोक उद्धृत किया है वह श्लोक उसके १२वें परिच्छेद का ११९वां है। अमितिगति का अस्तित्व विक्रम की ११वीं शताब्दि के उत्तरार्द्ध तक है। उनके श्लोक उद्धृत करने से चामुण्डराय नेमिचन्द्र का समय राजा भोज के वक्त तक पहुँच जाता है। इतिहास में राजाभोज का राज्यकाल वि० सं० १०७५ से १११० तक का माना है। ब्रह्मदेव ने राजा भोज के समय में ही द्रव्यसंग्रह का रचा जाना बताया है। इससे गोम्मटसार के कर्ता और द्रव्य-संग्रह के कर्ता एक ही नेमिचन्द्र प्रतीत होते है। भिन्न २ नहीं।

आप द्रव्यसंग्रह के कर्ता नेमिचन्द्र का समय वि० सं० ११२५ बताते हैं। परन्तु जब ब्रह्मदेव के कथनानुसार द्रव्यसंग्रह राजाभोज के समय मे बना है और भोज का समय वि० सं० १११० के बाद नहीं है तो आपका सं० ११२५ का समय बताना संगत हो सकता है? साथ ही आपका द्रव्यसंग्रहकार नेमिचन्द्र को वसुनन्दि श्रावकाचार के कर्ता का गुरु बताना भी ठीक नही है। क्योंकि वि० सं० ११०० में होने वाले जिन नयनन्दी को आप वसुनन्दी के दादागुरु मानकर उनके आधार पर नेमिचन्द्र का समय वि० सं० ११२५ कल्पना करते हैं वह आधार ही गलत है। गलत इसलिये है कि उक्त नयनन्दी अपने बनाये अपभ्रंश

के सुदर्शनचरित में अपने गुरु का नाम माणिक्यनन्दी लिखते हैं। जब कि वसुनन्दि ने अपने श्रावकाचार की प्रशस्ति में नयनन्दी के गुरु का नाम श्रीनन्दि लिखा है। इस सम्बन्ध में अपने विचार हमने जैन निबन्ध रत्नावली के पृष्ठ ४१३ में लिखे हैं उस स्थल को आप देखें।

आपका यह लिखना कि—"ब्रह्मदेव ने द्रव्यसंग्रह अधिकार २ के प्रारम्भ में वसुनन्दि श्रावकाचार की नं० २३-२४ की २ गाथायें उद्धृत करके उनकी वे उसी प्रकार से व्याख्या करते हैं जिस प्रकार से कि उन्होंने द्रव्यसंग्रह की गाथाओं की है। अतः वसुनन्दी के गुरु नेमिचन्द्रजी द्रव्यसंग्रह के कर्ता होने चाहिये।" यह सब बेतुकी कल्पना है।★ उन दो गाथाओं में से "परिणामिजीवमुत्तं" यह एक गाथा तो मूलाचार षडावश्यक अधिकार की गाथा नं० ४८वीं है, और दूसरी गाथा अलबत्ता वसुनन्दि कृत हो सकती है। जो गाथा मूलाचार की है उसकी व्याख्या पंचास्तिकाय पृ० ५६ में जयसेन ने भी उसी तरह कर रक्खी है जैसी कि ब्रह्मदेव ने की है। दोनों टीकाकारों का गद्य बराबर एक समान मिल रहा है। जिसे देखकर आशका होती है कि दोनों में से किसने किस का अनुसरण किया है। यहाँ

★ यह कोई नियम नहीं है कि किसी उक्तं च गाथा की भी साथ में व्याख्या करने से उस गाथाकार के गुरु ही विवक्षित (व्याख्य-कृत) ग्रन्थ के कर्ता हो अगर ऐसा माना जायगा तो जयसेन ने अनेक ग्रंथों की टीकाओं में कुछ उक्तञ्च गाथाओं की भी साथ व्याख्या कर दी है तो क्या टीकाकृत ग्रंथ उक्तंच गाथाकार के गुरु की कृतियाँ हो जायेंगे ? अगर नहीं तो ऐसा नियम बनाना ठीक नहीं, देखिये—

ब्रह्मदेव ने वसुनन्दो की जिन दो गाथाओं को लेकर उनकी जितनी और जैसी व्याख्या द्रव्यसंग्रह में की है। वैसी ही और उतनी ही व्याख्या जयसेन ने पंचास्तिकाय में मूलाचारवाली एक ही गाथा उद्धृत करके की है। इससे स्पष्टतः यही प्रतिभासित होता है कि इस स्थल मे अगर जयसेन ने ब्रह्मदेव का अनुसरण किया होता तो वे भी दोनों गाथाओं को देकर उनकी व्याख्या करते पर जयसेन ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने तो सिर्फ एक मूलाचारवाली गाथा ही की व्याख्या की है। और ब्रह्मदेव ने दोनो गाथाओं को उद्धृत करके उनकी व्याख्या की है। इससे यह भी प्रगट होता है कि—जयसेन ने जिस एक गाथा की व्याख्या की है उसे उन्होंने मूलाचार से ली है न कि वसुनन्दी श्रावकाचार से और ब्रह्मदेव ने जिन दो गाथाओं की व्याख्या की है उन गाथाओं को उन्होंने वसुनन्दिश्रावकाचार से ली है।

जयसेन और ब्रह्मदेव इन दोनों की टीकाओं में अन्य भी कई एक स्थल समानता को लिये हुये हैं卐उनमें से पंचास्तिकाय गाथा २७ की टीका (पृ० ६१) में "इदानी मतार्थः कथ्यते" ऐसा लिखकर "वच्छक्खर" गाथा उद्धृत करते हुये १० पंक्तियें गद्य मेंलिखी हैं जिनमें चार्वाक, भट्टचार्वाक, सांख्य, बौद्ध, मीमांसक-

卐 उदाहरणार्थ देखिये :—

जयसेन कृत टीका:—	ब्रह्मदेवकृत टीका :—
पंचास्तिकाय गाथा २३	परमात्मप्रकाश दोहा १४७
पचास्तिकाय गाथा १५२	परमात्मप्रकाश दोहा १५६
पंचास्तिकाय गाथा १४६	द्रव्यसंग्रह गाथा ५७
पचास्तिकाय गाथा २७	द्रव्यसंग्रह गाथा ३

मताश्रित शिष्यों को समझाया है और फिर ११वीं पंक्ति में "इतिमतार्थो ज्ञातव्यः" लिखकर इस प्रकरण को समाप्त किया है। इसी विषय का ब्रह्मदेव ने द्रव्यसंग्रह की गाथा ३ की टीका में वर्णन करते हुए सिर्फ वही "वच्छक्खरं" गाथा उद्धृत करके और केवल चार्वाकमतानुसारी शिष्य को ही समझाने का दो एक लाइन में कथन करके बाकी कथन जयसेन की टीका वाला छोड़ दिया है इससे यही ध्वनित होता है कि ब्रह्मदेव ने जयसेन का अनुसरण किया है। जब जयसेन ने यहां १० लाइनें अपनी बुद्धि से गद्य में बनाकर लिखी हैं तो उसमें की एक दो लाइनें ही वे ब्रह्मदेव की क्यों लेंगे ? उन्हें क्या वे नहीं बना सकते थे ? इस ऊहापोह से ब्रह्मदेव जयसेन से उत्तरकालवर्ती सिद्ध होते हैं। ऐसी हालत में जयसेन ने पंचास्तिकाय की टीका पृ० ६ में द्रव्य संग्रह की रचना में सोमश्रेष्ठी का जो निमित्त लिखा है, वह जानकारी जयसेन को ब्रह्मदेव कृत द्रव्य संग्रह की टीका से मिली हो ऐसा नहीं समझना चाहिये। किन्तु जयसेन को यह जानकारी ब्रह्मदेव से पहिले ही किसी अन्य स्रोत से मिली हुई थी।

प्रवचनसार अधिकार २ की गाथा ४६ की जयसेन कृत टीका के वाक्य पद्मप्रभ मलधरी ने नियमसार गाथा ३२ की टीका में उद्धृत किये है। अतः जयसेन पद्मप्रभ से पहिले हुये हैं। पद्मप्रभ वि० सं० १३वीं सदी के पूर्वार्द्ध में हुए हैं। और जयसेन ने पंचास्तिकाय गाथा २ की टीका में वीरनन्दी कृत आचारसार का चौथे अध्याय का एक पद्य "येनाज्ञानतमः" उद्धृत किया है। अतः ये जयसेन वीरनन्दि के बाद हुये हैं। वीरनन्दि ने आचारसार की स्वोपज्ञ कनड़ी टीका वि० सं०

१२१० में बनाई है। इन सब उल्लेखों के आधार पर जयसेन का समय वि० सं० १२०० करीब का सिद्ध होता है और ब्रह्मदेव का इनसे बाद का।

इतिहास का वही खोजी तथ्य तक पहुँच सकता है जो तटस्थ होकर पक्षपात और आग्रह को न रखता हुआ समय २ पर मिलने वाले साधक-बाधक प्रमाणोंके अनुसार अपने विचारों को बदलता रहता हो।

अन्त में माननीय सम्पादक जी सा० से हमारा सविनय अनुरोध है कि इस विषय में आपने जो अपने विचार द्रव्यसंग्रह की प्रस्तावना में व्यक्त किये हैं उन पर शान्ति से पुनः मनन करने का कष्ट करें।

प्रस्तावना पृ० ४८ में "आन इष्ट को ध्यान अयोगि, अपने चलन शुभ जोगि "पद्य का अर्थ—"इसे उन्होंने अपना इष्ट और शुभोदय समझा" ऐसा दिया है किन्तु सही अर्थ इस प्रकार होना चाहिए-अन्य इष्ट का ध्यान विचार अयोग्य है अपने इष्ट के यहाँ चलना ही शुभ और योग्य है।

'लघुद्रव्य संग्रह' में मुद्रण की गलतियों के अलावा भी कुछ पाठ अशुद्ध हैं जिनके शुद्ध रूप इस प्रकार हैं :—

अशुद्ध पृष्ठ ६० संखादासंखादा
शुद्ध—सखासंखाणंता
अशुद्ध—पृष्ठ ६२ ठाण साहूण
शुद्ध—ताण साहूणं
अशुद्ध—पृष्ठ ६२ गणिणा
शुद्ध—मुणिणा

अशुद्ध—पृष्ठ 'अवर्त्त' का अर्थ "अव्यक्त"
शुद्ध—"अव्यक्त"

निम्नांकित गलत छपे हैं शुद्ध इस प्रकार हैं—

अशुद्ध—पृष्ठ ५८ पुठवी
शुद्ध—पुढवी
अशुद्ध—पृष्ठ ६२ पज्जयणायेण
शुद्ध—पज्जयणयेण



३८

हवनकुण्ड और अग्नित्रय

दि० जैन धर्म के ज्ञात साहित्य में इस विषय का संक्षिप्त कथन सबसे पहिले आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण मे पाया जाता है यही नहीं और भी क्रिया-कांडों के विषय पर सबसे पहिले लेखनी चलाने वाले दिगम्बर ऋषियों में उक्त जिनसेन का ही आभास होता है। दूसरे इनके बाद क्रियाकांड पर और भी विस्तृत लिखने वाले पं० आशाधर जी नजर आते हैं। किन्तु इस विषय में दोनों का दृष्टिकोण भिन्न २ प्रतीत होता है। आचार्य जिनसेन ने इस विषय में जो कुछ विधान प्रस्तुत किये हैं उनमें उन्होंने जैनधर्म को मूल संस्कृति की सुरक्षा का पूरा २ ध्यान रक्खा है कि जब कि आशाधर जी द्वारा निरूपित विधि-विधानों में कहीं २ यह चीज नहीं पाई जाती है। आशाधर जी के विधि-विधानों मे लौकिक मान्यताओं और श्वेतांबरी मान्यताओं का बहुत कुछ उपयोग किये जाने की वजह से यह विसंगति खड़ी हुई है। उदाहरण के तौर पर इसके लिये जैन-सन्देश-शोधांक १० में तथा जैन निबन्ध रत्नावली प्रथमभाग पृ० ६० में प्रकाशित हमारा नवग्रह वाला लेख देखियेगा। आशाधर जी के बाद इन्द्रनन्दि, हस्तिमल्ल, एकसन्धि आदि ने तो इस विषय को और भी वृद्धिगत किया है जिसमें इन्होंने आशाधर जी का अनुसरण करने के साथ ही ब्राह्मणमत की कई नई क्रियाओं का भी समावेश किया है।

आशाधर जी द्वारा रचित इस प्रकार के साहित्य में हवन के विषय का कोई प्रकरण हमारे देखने में नहीं आया है। यह तो नहीं कह सकते कि उन्हें हवन क्रिया अभीष्ट ही नहीं थी क्योंकि वे अपने प्रतिष्ठासारोद्धार के प्रथम अध्याय में ऐसा लिखते हैं—

दातृसंघ नृपादीनां, शांत्यै स्नात्वा समाहिताः।
शांतिमंत्रैर्जपं होमं, कुर्युरिंद्रा दिने दिने ॥१४०॥

अर्थ—दाता, संघ और राजा आदि की सुख शांति के लिये वे इन्द्र (याजक) स्नान करके निराकुल चित्त से शान्ति मत्रों के द्वारा प्रतिदिन जप होम किया करें।

इस विषय का वर्णन आदि पुराण में हमारे देखने में निम्न प्रकार आया है। पर्व ३८ के श्लोक ७१ से ७३ तक में लिखा है कि—

"जिन प्रतिमा के सामने तीन पुण्याग्नियों के साथ छत्रत्रय सहित चक्रत्रय स्थापन करने चाहिये। अर्हंत, गणधर और शेष केवलियों के निर्वाण समय जो तीन अग्नियाँ जलाई गई थी वे यहां सिद्ध प्रतिमा को वेदी के समीप संस्कारित करनी चाहिये अर्थात् मंत्र पूर्वक जलानी चाहिये। उन अग्नियों में अर्हत्पूजा में बचे पवित्र द्रव्यों से मन्त्र पूर्वक आहुतियें देनी चाहिये।" ●

● आदिपुराण पर्व ४७ श्लोक ३४७-३४८ में तीर्थंकर कुण्ड के दाहिनी ओर गणधर कुण्ड व बांई ओर सामान्य केवलिकुण्ड की स्थापना लिखी है सामान्य केवलियों की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है

तथा पर्व ४० के श्लोक ८२ से ८४ में लिखा है कि—

"क्रियाओं के प्रारम्भ में उत्तम द्विजों को रत्नत्रय के संकल्प से अग्निकुमार देवों के इन्द्र के मुकुट से उत्पन्न हुई तीन प्रकार की अग्नियाँ जलानी चाहिये। ये अग्नियाँ तीर्थंकर, गणधर और शेष केवलियों के निर्वाण महोत्सव में पूजा का अंग होकर पवित्र मानी गई हैं। गार्हपत्य आहवनीय, और दक्षिणाग्नि नाम से प्रसिद्ध ये तीनों महाग्नियाँ तीनों कुण्डों में जलाने योग्य हैं।" ★इस विषय में उत्तर पुराण में भी कुछ ज्ञातव्य अंश हैं इसके लिए देखो ज्ञानपीठ प्रकाशन पृ० २५८।

बस इतना ही कथन महापुराण में हमारे नजर में आया है इस संक्षिप्त वर्णन से यह नहीं जाना जाता कि अग्नि कुण्डों का आकार, उनका प्रमाण क्या रहे इत्यादि बातों का खुलासा नहीं होता है।

इस विषय को प्रतिष्ठा ग्रन्थों में टटोला गया तो आशाधर कृत प्रतिष्ठापाठ में तो केवल हवन का उल्लेख मात्र है विशेष कुछ लिखा नहीं है जैसा कि इस लेख में ऊपर हम बता आये हैं। आशाधर के बाद कई प्रतिष्ठा ग्रन्थ बने उनमें से आखिरी

उसका स्थान आदिपुराण मे बाई ओर लिखा है तब इसका नाम दक्षिणाग्नि क्यो है ? शायद यह नाम हवन करने वाले के दक्षिण की ओर वह अग्नि होने के कारण से हो। और आदिपुराण में उसका स्थान बाई ओर वहाँ स्थित प्रतिमा की अपेक्षा कहा हो

★ आदिपुराण में ऋषभदेव के निर्वाण महोत्सव के प्रकरण में भी इस विषय का कथन आया है

प्रतिष्ठा ग्रन्थ नेमिचन्द्र कृत प्रतिष्ठातिलक है ऐसा हमारा ख्याल है। यह प्रतिष्ठा तिलक विस्तृत भी लिखा गया है। प्रारम्भ में ही इसके कर्ता ने साफ लिख दिया है कि इसका निर्माण इन्द्रनन्दि आदि की संहिताओं के आधार पर किया गया है और यह बात इस प्रतिष्ठा ग्रन्थ के अध्ययन से भी जाहिर होती है कि इसमें यत्र-तत्र आशाधर, इन्द्रनन्दि, एकसन्धि के कथनों का काफी उपयोग किया है। इसके कर्ता नेमिचन्द्र ने जो प्रशस्ति दी है उससे इनके समय पर काफी प्रकाश पड़ता है। प्रशस्ति के अनुसार ये हस्तिमल्ल की कोई ११वीं पीढ़ी में हुये हैं। हस्तिमल्ल का समय १४वीं सदी है अतः इनका समय १६वीं ही नहीं १७वीं शताब्दि भी हो सकता है। समय की दृष्टि से यह प्रतिष्ठा ग्रन्थ बहुत बाद का लिखा हुआ है इसलिये इसमें वे सभी विधि-विधान पाये जा सकते हैं जिन्हें आशाधर के बाद इस विषय में जुदे-जुदे ग्रन्थकारों ने बढ़ाये हैं।

इस प्रतिष्ठातिलक के ३ रे परिच्छेद में हवनकुण्ड और उनमें की अग्नियों का विवरण निम्न प्रकार पाया जाता है—

"जैसे प्रतिमा के आश्रय से जिन मन्दिर पूजा जाता है वैसे ही तीर्थंकरों के सम्बन्ध से पूजनीय ऐसी गार्हपत्य अग्नि के आश्रय से जो पूजा के योग्य हुआ है ऐसे चौकोर कुण्ड को हम पूजते हैं ॥२८॥ सर्व गणधरों के सम्बन्ध से पूजनीय ऐसी आहवनीय अग्नि के आश्रय से जो पूजा के योग्य हुआ है ऐसे त्रिकोण कुण्ड को हम पूजते हैं ॥२९॥ केवलियों के निर्वाणोत्सव में देवेन्द्रों ने जिसकी पूजा रची है ऐसी दक्षिण दिशा की दक्षिणाग्नि का स्थान होने से जो द्विजों के पूजने योग्य हुआ है ऐसे उस गोलकुण्ड को मैं जलादि से पूजता हूं ॥३०॥

इस विवेचन का फलितार्थ यह हुआ कि—तीर्थंकरों के निर्वाण समय में उनकी दग्धक्रिया में जो अग्नि प्रज्वलित हुई उसका नाम गार्हपत्य है और वह चोकोर कुण्ड में जलाई जानी चाहिये। तथा इसी प्रकार गणधरों की अग्नि का नाम आहवनाय है और वह त्रिकोण कुण्ड में जलानी चाहिये। एवं सामान्य केवलियों की अग्नि का नाम दक्षिणाग्नि है और वह गोलकुण्ड में जलानी चाहिये व इसका स्थान तीन अग्नियों में दक्षिण की ओर रहना चाहिये।

किन्तु ब्र० शीतलप्रसाद जी ने अपने बनाये प्रतिष्ठा ग्रंथ में गोल कुण्ड की जगह अर्द्धचन्द्राकार कुण्ड का कथन किया है। ऐसा ही कथन इन्होंने गृहस्थधर्म और जैन शब्दार्णव पुस्तक में भी किया है। पता नहीं ब्रह्मचारी श्री शीतलप्रसाद जी ने ऐसा कथन किस आधार पर किया है इन्होने प्रतिष्ठा ग्रन्थ का निर्माण तो अधिकांश रूप से जयसेन प्रतिष्ठा पाठ के अनुसार किया है। परन्तु जयसेन प्रतिष्ठा पाठ में भी गोल कुण्ड लिखा है न कि अर्द्धचन्द्राकार।

इसी प्रकार मुद्रित सभी जैन विवाह पद्धतियों में प्राय: गणधरकुण्ड को गोल और केवलिकुण्ड को त्रिकोण लिखा है। जबकि प्रतिष्ठा ग्रन्थों में गणधर कुण्ड को त्रिकोण और केवलिकुण्ड को गोल लिखा है। जैन विवाह पद्धतियों का आधार पं० फतहचन्द जी जयपुर निवासी कृत विवाह पद्धति रहा है। पं० फतहचन्द जी ने इसे विक्रम सं० १९३३ में लिखी थी। इसकी हस्तलिखित प्रति हमारे पास है उसमें भी गणधर कुण्ड को गोल और केवलिकुण्ड को त्रिकोण लिखा है। सम्भव है यह गलती प्रारम्भ में किसी लिपिकार के द्वारा भूल से उलट पलट नकल

करने के कारण हो गई हो और फिर उसी गलत नकल की परंपरा चल पड़ी हो। खेद इस बात का है कि यह गलती अबतक भी की जारही है जो क्रिया कांडी विद्वानों की घोर अज्ञता की सूचक है। सच तो यह है कि पिछले कई वर्षों से प्रतिष्ठा का कार्य कुछ ऐसे नामधारी प्रतिष्ठाचार्यों के हाथो आ पड़ा है जिन्होंने न तो प्रतिष्ठा विधिका ज्ञान किसी प्रामाणिक गुरु परिपाटी से प्राप्त किया है और न उन्होंने स्वयं इस विषय के अनेक संस्कृत ग्रन्थों का गम्भीर अध्ययन कर ही कुछ तथ्य प्राप्त किये हैं। इन नाम के प्रतिष्ठाचार्यो मे से कुछ तो ऐसे भी थे जिन्हें संस्कृत भाषा का बोध ही नही था। ऐसों ही की कृपा से इदानीं प्रायः सदोष प्रतिष्ठा विधि प्रचार में आ रही है।

हमारा एक प्रतिष्ठा में जाने का काम पडा वहां हमने प्रतिष्ठाचार्य जी को हवन विधि कराते यह देखा कि "कोई बीसों दंपति गठ जोड़ों मे बधे हुये कितने ही अग्नि कुण्डों में आहुतियें दे रहे हैं" हवन करने वालोके साथ-साथ उनकी स्त्रियाँ भी हवन करें ऐसा किसी प्रतिष्ठा शास्त्र के अनुसार कहां तक सुसंगत है यह विचारणीय है ऊपर उद्धृत आशाधर के श्लोक में तो हवन के लिये इन्द्रों का ही उल्लेख किया है इन्द्राणियों का नहीं। हवन करने वालों की बढी हुई संख्या के लिये तीन अग्निकुण्ड पर्याप्त न होने से बहुत से अग्निकुण्ड बनाना यह भी विचारणीय ही है। हां यह तो पढ़ने में आया है कि कही तीन अग्निकुण्ड की जगह एक चौकार तीर्थंकर कुण्ड से ही काम किया जा सकता है।

विचार करने से बात दरअसल यह पाई गई कि इस तरह की अनर्गल प्रवृति प्रतिष्ठाचार्यों की लोभवासना से है। ये

लोग इन दंपतियों के गठजोड़ों में कुछ नकदी रुपये रखा कर उन सबको ले लेते हैं। फिर इन्ही की देखा देखी निर्लोभी प्रतिष्ठाचार्य भी हवन में स्त्रियों को बैठाने लग गये। हालांकि उन्हें गठजोड़ों में रुपैये रखाने या लेने से कोई सरोकार नहीं है। इस तरह यह अशास्त्रीय प्रवृत्ति चल पड़ी है।



३६

मूलाचार का संस्कृत पद्यानुवाद

हमारे यहां मुनियों के आचार विषय का प्राकृत गाथाबद्ध एक मूलाचार नामक प्राचीन ग्रन्थ चला आता है। जो वट्टकेराचार्य का बनाया हुआ है। जिसको आजकल के ऐतिहासिक विद्वान कुन्दकुन्दाचार्यकृत भी बतलाते हैं। इस ग्रन्थ पर संस्कृत में वसुनन्दिकृत एक बड़ी अच्छी टीका है। टीका सहित यह ग्रन्थ माणिकचन्द ग्रन्थमाला मे छप चुका है। दिगम्बर सम्प्रदाय मे यतियों के आचार विषय का प्रतिपादक यह एक ऐसा ग्रथ है जो प्राचीन और उच्चकोटि का माना जाता है। इस विषय के उपलब्ध ग्रन्थों में समय की दृष्टि से दूसरा नम्बर संस्कृत आचारसार का है। इसका समय विक्रम की १३ वीं शताब्दी का प्रथम चरण अनुमान किया जाता है। किन्तु १३वीं शताब्दी के अन्तिम चरण में होने वाले पं० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत की स्वोपज्ञ टीका में इस आचारसार का एक भी पद्य उद्धृत नही किया है। तीसरा ग्रन्थ पं० आशाधर जी का रचा अनगारधर्मामृत है। पं० आशाधरजी ने इस ग्रन्थ की स्वोपज्ञ टीका में मूलाचार की गाथाओं का खूब उपयोग किया है। कहीं २ मूलाचार की उक्त संस्कृत टीका के भी उद्धरण दिये हैं। साथ ही टीका में संस्कृत के बहुत से ऐसे पद्य भी उद्धृत किये हैं जो ऐसे मालूम पड़ते हैं जैसे वे मूलाचार की प्राकृत

गाथाओंका ही संस्कृत में भावानुवाद हों। इस लेख में नीचे हम इसी की चर्चा करेंगे।

मूलाचार की गाथाओं के छाया रूप में जो संस्कृत पद्य अनगारधर्मामृत की टीका में उद्धृत हुये हैं। उनमें से कुछ पद्य नमूने के तौर पर हम यहाँ पेश करते हैं—

पुढवी य बालुगा सक्करा य उवले सिला य लोणे य।
अय तंब तउय सीसय रुप्प सुवण्णे य वइरे य ॥९॥
हरिदाले हिंगुलये मणोसिला सस्सगंजण पवाले य।
अब्भपडलब्भवालुय बादरकाया मणिविधीया ॥१०॥
[मूलाचार ५ वां अधिकार]

मृत्तिका बालुका चैव शर्करा चोपलः शिला।
लवणायस्तथा ताम्रं त्रपु सीसकमेव च ॥
रूप्यं सुवर्णं वज्रं च हरितालं च हिंगुलम्।
मनः शिला तथा तुत्थ मंजनं च प्रवालकम् ॥
झीरोलकाभ्रकं चैव मणिभेदाश्च बादराः।
[अनगारधर्मामृत पृष्ठ १६६]

इंगाल जाल अच्ची मुम्मुर सुद्धागणी य अगणीय।
ते जाण तेउजीवा जाणित्तापरिहरेदव्वा ॥१४॥
[मूलाचार ५ वां अधि०]

ज्वालांगारस्तथार्चिश्च मुर्मुरः शुद्ध एव च।
अनलश्चापि ते तेजो जीवाः रक्ष्यास्तथैव च ॥
[अनगारधर्म०, पृ० २००]

रादो दु पमज्जित्ता पण्णसमण पेक्खिदम्मि ओगासे।
आसंक विसुद्धीए अपहत्थग फासणं कुज्जा ॥१२६॥
[मूलाचार ५ वां अधि०]

रात्रौ च तत्यजेत्स्थाने प्रज्ञाश्रमणवीक्षिते ।
कुर्वन् शंकानिरासायापहस्त स्पर्शनं मुनिः ॥
[अनगारधर्मा० पृ० ३१८]

उग्गम उप्पादण एसणं च संजोजणं पमाणं च ।
इंगाल धूम कारण अट्ठविहा पिंडसुद्धी दु ॥२॥
[मूलाचार अधिकार ६]

उद्गमोत्पादनाहार संयोगः सप्रमाणकः ।
अंगारधूमौ हेतुश्च पिंडशुद्धिर्मताष्टधा ॥
[अनगारधर्मा० पृ० ३३५]

अप्पासुयेणमिस्सं पासुयदव्वं तु पूदिकम्मं तं ।
चुल्ली उक्खलि दव्वी भायणगंधत्ति पंचविहं ॥६॥
[मूलाचार अधि० ६]

मिश्रमप्रासुनाप्रासुद्रव्यं पूतिकमिष्यते ।
चुल्लिको दूखलं दर्वी पात्र गंधौ च पंचधा ॥
[अनगारधर्मा० पृ० ३३६]

इत्यादि बहुत से समानार्थक पद्य हैं उन सबका ही यदि यहां उल्लेख किया जावे तो लेख बहुत विस्तृत हो जावेगा अतः नीचे हम उनकी केवल तालिका ही देते हैं—

मूलाचार अधिकार	अनगारधर्मामृत गाथा	पृष्ठ
५	११-१२	....१९९
,,	१६-१७	....२००
,,	१२७	....३१८
११	४	....३२०

१४	७-६-७	....३२१
,,	९-१०	....३२२
,,	१७-१८	....३२३
६	१३-१४	....३४१
,,	१५-१६	....३४२
,,	१८	....३४३
,,	१९ से २७	....३४४, ३४५,
,,	२८ से ३०	....३४७
,,	३१	....३४८
,,	३३-३८	....३५०
,,	४०	....३५१
,,	४७	....३५२
,,	४८-५४	....३५४
,,	४ से ५२	....३५५
,,	५३	....३५६
,,	५७-७२	....३५७
,,	६६	....३७०
,,	६७-६८	....३७१
७	१४७	....४७५
५	१५४	....४८२
,,	१९२ से १९५	....५२१
७	८३ से ८६	....५७४
,,	१०१	....५७६
,,	११६	....५७८
,,	१२८	....५८२
७	१२९ से १३३	....५८३
,,	१३७-१३८	....५९०

७	१४०-१४१	... ५६१
,,	१४३ से १४६	... ५६२
,,	१५३	... ५६३
,,	१५६	... ५६४
,,	१६०-१६१	... ५६५
,,	१६२ से १६४	... ५६६
,,	१६७	... ५६७
,,	१५८	... ,,
,,	१६६	... ५६८
,,	१८७	... ६२५
,,	१६०-१६१	... ६२६

यहां जो पृष्ठ संख्या दी गई है वह माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला में छपे अनगारधर्मामृत की है। इस प्रकार मूलाचार की उक्त ८६ गाथायें ऐसी हैं जिनके अनुवाद रूप से संस्कृत पद्य अनगार-धर्मामृत की टीका में उद्धृत हुये हैं। ऐसा मालूम पड़ता है कि—किसी ग्रन्थकार के द्वारा संस्कृत पद्यों में सारे ही मूलाचार का भावानुवाद किया गया है। उसी के ये उद्धरण आशाधरजी ने दिये हैं। किन्तु खेद इस बात का है कि आशाधरजी ने इतने उद्धरणों में कहीं भी न तो ग्रन्थकार का उल्लेख किया और न ग्रन्थ के नाम का ही। आशाधरजी से पूर्व रचित इस ग्रन्थ का शास्त्र भण्डारों में पता लगाना चाहिये। यह ग्रन्थ भी एक तरह से मूलाचार की संस्कृत पद्यमय टीका ही है। ग्रन्थ पठनीय और बड़ा उपयोगी जान पड़ता है। जहां तक सभावना है यह ग्रन्थ आचार्य अमितगति का होना चाहिये। अमितगति ने प्राकृत पचसंग्रह और भगवती आराधना इन दो ग्रंथों की गाथाओं (आर्या छंदों) का संस्कृत अनुष्टुप्-श्लोकों मे अनुवाद

किया है (जो मुद्रित हो गये हैं) और यह अनुवाद भी मूलाचार की गाथाओं का संस्कृत अनुष्टुप्श्लोकों में एकसी शैली में ही है अतः अमितगति कृत ही ज्ञात होता है। इसे एक तरह से "संस्कृत मूलाचार" कहना चाहिये। बहुत सी हस्तलिलित प्रतियों में मूलाचार को यत्याचार नाम से भी लिखा है, अतः इस नाम से भी शास्त्र भण्डारों में इस संस्कृत रूपान्तर ग्रंथ की खोज होनी चाहिये।

आशाधरजी ने जो इसके उद्धरणों में अमितगति का नाम नही दिया सो उन्होंने धर्मामृत ग्रंथ की टीका में अमितगति के अनेक ग्रंथों के उद्धरण दिये हैं पर कहीं भी अमितगति का नाम नहीं दिया है अतः इन उद्धरणों में भी ऐसा ही किया गया है।



४०

परकाया प्रवेश, एक सत्य घटना

उक्त शीर्षक का लेख, मथुरा से प्रकाशित होने वाली "अखण्ड ज्योति" पत्रिका के मई सन् १६७० के अंक में प्रकट हुआ है। वह यहाँ साभार उद्धृत किया जाता है—

"सन् १६३६ की घटना है। एक दिन पश्चिमी कमान के सैनिक कमाण्डेन्ट श्री एल० पी० फैरेल अपने सहायक अधिकारियों के साथ एक युद्ध सम्बन्धी योजना तैयार कर रहे थे। वहाँ उनका कैंप लगा हुआ था। यह स्थान आसाम बर्मा की सीमा पर था। वहीं पास में एक नदी बहती थी। एकाएक वहाँ स्थित फैरेल आदि कुछ लोगों का ध्यान नदी की ओर चला गया। वे क्या देखते हैं कि—एक महा जीर्णशीर्ण शरीर का वृद्ध संन्यासी पानी में घुसा एक शव को बाहर खींच रहा है। कमजोर शरीर होने से शव ढोने में उसे अड़चन हो रही थी। हाँफता जाता था और खीचता भी। बड़ी कठनाई से शव किनारे आ पाया।

श्री फैरेल यद्यपि अँग्रेज थे पर अपनी बाल्यावस्था से ही आध्यात्मिक विषयों में रुचि रखते थे। भारतवर्ष में एक उच्च सैनिक अफसर नियुक्त होने के बाद तो उनके जीवन में एक नया मोड़ आया। भारतीय तत्व दर्शन का उन्होंने गहरा

अध्ययन ही नहीं किया बल्कि जिनकी भी जानकारी मिली उन सिद्ध महात्माओंके पासजा जाकर अपनी जिज्ञासाओंका समाधान भी करते रहे। धीरे २ उनका परलोक, पुनर्जन्म, कर्मफल और आत्मा की अमरता पर विश्वास हो चला था। यह घटना तो उनके जीवन में अप्रत्याशित ही थी। और उसने उनके उक्त विश्वास को निष्ठा में बदल दिया।

एक वृद्ध संन्यासी शव को क्यों खींच रहा है ? इस रहस्य को जानने की अभिलाषा रखते हुये सब लोग एक-टक देखने लगे कि—वृद्ध संन्यासी इस शव का क्या करता है ?

वह संन्यासी उस शव को खींच कर एक वृक्ष की आड़ में ले गया। फिर थोडी देर तक सन्नाटा छाया रहा। कुछ पता नहीं चला कि वह क्या कर रहा है ? कोई १५-२० मिनट पीछे ही दिखाई दिया कि वह युवक जो अभी शव के रूप में नदी मे बहता चला आ रहा था उन्ही गीले कपड़ों को पहिने वृक्ष की आड़ में से बाहर निकल आया और कपड़े उतारने लगा। सम्भवतः वह उन्हें सुखाना चाहता होगा।

मृत व्यक्ति का एकाएक जीवित हो जाना एक महान् आश्चर्य जनक घटना थी और एक बड़ा भारी रहस्य भी। जो श्री फैरेलके मन मे कौतूहल भी उत्पन्न कर रहा था और आशका भी। फैरेल के आदेश से उसी दम कुछ सशस्त्र सैनिकों ने जाकर युवक को पकड लाकर श्री फैरेल के सुपुर्द कर दिया। युवक के वहाँ आते ही श्री फैरेल ने प्रश्न किया—"वह वृद्ध कहाँ है ?" इस पर युवक हँसा जैसे इस गिरफ्तारी आदि का उसके मन पर कोई प्रभाव ही न पड़ा हो। और फिर बोला "वह वृद्ध में ही हूं।"

लेकिन् अभी कुछ देर पहिले तो तुम शव थे, पानी में बह रहे थे, एक बुड्ढा तुम्हें पानी में से खींचकर किनारे पर ले गया था फिर तुम प्रकट हो गये यह रहस्य क्या है ? यदि तुम्हीं वह वृद्ध हो तो उस वृद्ध का शरीर कहाँ है ?

युवक ने सन्तोष के साथ बताया कि हम योगी हैं। हमारा स्थूल शरीर वृद्ध हो गया था, काम नहीं देता था। अभी इस पृथ्वी पर रहने की हमारी आकांक्षा तृप्त नहीं हुई थी। किसी को मारकर बलात् शरीर में प्रवेश करना तो पाप होता इसलिये बहुत दिन से इस प्रतीक्षा में था कि कोई अच्छा शव मिले तो उसमें अपना यह पुराना चोला बदल लें। सौभाग्य से यह इच्छा आज पूरी हुई। मैं ही वह वृद्ध हूं। यह शरीर पहिले उस युवक का था अब मेरा है। इस पर फैरेल ने प्रश्न किया तब फिर तुम्हारा पहला शरीर कहाँ है ?

संकेत से उस युवक शरीर में प्रवेश धारी संन्यासी ने बताया—वह वहाँ पेड़ के पीछे अब मृत अवस्था में पड़ा है। अब उसकी कोई उपयोगिता नहीं रही। थोड़ी देर बाद उसका अग्निसंस्कार कर देने का विचार था पर अभी तो इस शरीर के कपड़े भी मैं नहीं सुखा पाया था कि आपके इन सैनिकों ने मुझे बन्दी बना लिया।

श्री फैरेल ने इसके बाद उस संन्यासी से बहुत सारी बातें हिंदू-दर्शन के बारे में पूछीं और बहुत प्रभावित हुए। वे यह भी जानना चाहते थे कि—स्थूल शरीर के अणु २ में व्याप्त प्रकाश शरीर (चैतन्य) के अणुओं को किस प्रकार समेटा जा सकता है ? किस प्रकार शरीर से बाहर निकाला और दूसरे शरीर में

अथवा खुले आकाश में रक्खा जा सकता है ? पर यह सब कष्ट साध्य योग साधनाओं से पूरी होने वाली योजनायें थीं। उनके लिये श्री फैरेल के पास न तो पर्याप्त साहस ही था और न समय ही। पर उन्होंने यह अवश्य ही स्वीकार कर लिया कि सूक्ष्म अन्तर्चेतना से सम्बन्धित भारतीय तत्वदर्शन कोई गप्प या कल्पना मात्र नहीं है; वह वैज्ञानिक तथ्य है। श्री फैरेल के उक्त संस्मरण को धोखा नहीं कहा जा सकता। वे एक जिम्मेदार व्यक्ति थे और यह घटना उन्होने स्वयं ही १७ मई १९५९ के साप्ताहिक हिन्दुस्तान में छपाई थी।"

इस घटना को उद्धृत करने के बाद हमारा लिखना है कि—इस प्रकार की घटनाओं का समर्थन जैन शास्त्रों से भी होता है क्या ? जब हम शुभचन्द्राचार्यकृत "ज्ञानार्णव" शास्त्र को देखते हैं तो उससे भी ऐसी घटनाओं की पुष्टि होती है।

ज्ञानार्णव सर्ग २९ पद्य नं० ९३ से १०२ तक में लिखा है—

"प्राणायाम का अभ्यासी कौतूहली योगी प्रथम ही आक की रुई में मन्द-मन्द रूप से प्रवेश करे। जब इसमें प्रवेश का अभ्यास हो जाये तो बाद निष्प्रमादी होकर चमेली, बकुल, मौलश्री आदि के सुगन्धित पुष्पों में प्रवेश करने का अभ्यास करे। अभ्यास हो जाने पर फिर कपूर केशर-अगर-चन्दन-कूट आदि सुगन्धित द्रव्यों में वरुण पवन से प्रवेश करने का अभ्यास करे। इन सबमें अभ्यास हुये बाद फिर सूक्ष्म पक्षीकायिक अर्थात् मच्छर, मक्खी आदि जीवों में प्रवेश करने का अभ्यास करे। अभ्यास हो जाने पर फिर क्रमशः भ्रमर, पतंग, छोटे मृग, बड़े मृग, मनुष्य, घोड़ा, और हाथी इनके शरीरों में घुसता और

निकलता रहे। तदनन्तर मिट्टी, काष्ठ पाषाण, के बने रूपों में भी इसी तरह का अभ्यास करे। इस प्रकार से विचरने वाला योगी मुक्त आत्मा के समान निर्लेप होकर विचरता है। परन्तु परकाया प्रवेश का यह अभ्यास बड़ी ही कठिनता से सिद्ध होता है। कभी २ बड़े २ योगियों को तो बहुत काल मे प्रयास करने पर भी यह सिद्ध नहीं होता है। और फल इसका कौतुक मात्र के सिवा अन्य कुछ नही है। अलबत्ता प्राणायाम के अभ्यास से योगी के कामवासना नष्ट हो जाती है। मन वश में रहता है। सब रोगों का नाश होकर शरीर में स्थिरता रहती है इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। उसके शरीर मे विष का भी असर नहीं होता है। ऐसे जितेन्द्रिय, धीर वीर योगी के सैकड़ों जन्मों के संचित किये तीव्र पाप दो घड़ी के भीतर २ लय हो जाते हैं।"

प्रायः ऐसा ही कथन श्वेतांबराचार्य हेमचन्द्र ने भी योगशास्त्र में किया है। साथ ही विशेष कथन उसमें उन्होंने यह किया है कि—परकाया प्रवेश सजीव देह में नहीं करना चाहिये। सजीव देह में करने से उस काया के जीव का घात ऐसा होता है कि जैसे उसका शस्त्र से घात किया हो।

पातंजल योग—दर्शन के ३ रे पाद के निम्नलिखित सूत्र ३८ में भी परकाया प्रवेश का उल्लेख है—

"बंधकारणशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः।" (यह उद्धरण जैनेतर ग्रन्थ का है।)

भट्टारक शुभचन्द्र ने पांडव पुराण मे लिखा है कि—

कुन्दकुन्दो गणी येनोर्ज्जयंतगिरिमस्तके।
सोऽवदात् वादिता ब्राह्मी पाषाणघटिता कलौ ॥१४॥
[पर्व १]

अर्थ—जिन्होंने इस पंचमकाल में गिरनार पर्वत के शिखर पर स्थित पाषाण की बनी सरस्वती देवी को उसके मुँह से बुलवाई, वे कुन्दकुन्दचार्य हमारी रक्षा करें।

इससे ध्वनित होता है कि ऋषि कुन्दकुन्द को भी परकाया प्रवेश की सिद्धि थी। ऐसी सम्भावना की जा सकती है।

आदिपुराण पर्व २१ श्लोक ६५ में आचार्य जिनसेन ने कहा है कि—

"जिनकी इन्द्रियां वश में नहीं हैं ऐसे असमर्थ साधुओं का मन यदि अति तीव्र प्राणायाम से व्याकुल होता है तो उनके लिये ध्यान में मन्दमन्द उच्छवास लेने का निषेध नहीं है।"

इससे यही फलितार्थ निकलता है कि जैन साधुओं के लिये अगर प्राणायाम का निषेध है तो वह असमर्थों के लिये है। साधुमात्र के लिये सर्वथा निषेध नहीं है।

इस लेख के प्रारम्भ में जो घटना उद्धृत की है उसमें चोला बदलने की - वृद्ध से युवा हो जाने की बात आई है। उस पर से कोई यह न समझले कि ऐसा करते २ तो वह कभी मरेगा ही नहीं ? यह तो जैन सिद्धान्त के विरुद्ध है। समाधान उसका यह है कि—यौगिक क्रिया से चोला बदलने वाला भी जितनी आयु पूर्व भव से लेकर आया है उससे अधिक जीवित नहीं रह सकता है। चोला बदलते वक्त जितनी आयु शेष रही है उतने काल तक ही उस बदले हुये शरीरों मे वह रह सकता है अधिक नहीं।

४१

नंदीश्वर द्वीप में ५२ जिनालय

प्रत्येक वर्ष में तीन बार आष्टाह्निक पर्व आता है। इसको जैन शास्त्रों में "महापर्व" माना है। और इस अनाद्य-निधन महापर्व का बड़ा माहात्म्य वर्णन किया है, (आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक ३२—आष्टाह्निको महः सार्वजनिको रूढ एव सः। धवला पुस्तक १ पृष्ठ २६ जिन महिम सबद्ध कालोऽपि मंगलं यथा—नदीश्वर दिवसादि। तिलोयपण्णत्ती अधिकार १ गाथा २६ जिण महिमा सम्बन्ध णदीसर दीव पहुदीओ।) जैनधर्म की बहुत सी प्राचीन कथाओं में इस पर्व का उल्लेख मिलता है। कथा ग्रन्थों के अलावा करणानुयोगी ग्रन्थों में भी कथन आता है कि इस धार्मिक पर्व में देवगण भी नंदीश्वर द्वीप में जाकर वहां के अकृत्रिम ५२ जिनालयों मे बड़ी भक्तिभाव से भगवान् अर्हंत की आठ दिन तक पूजास्तुति करते हैं।

इन ५२ जिनालयों का स्थान कहां पर किस तरह है? और उनकी ५२ संख्या किस प्रकार होती है? इस विषय में साधारण जन तो क्या 'पण्डित' कहलाने वाले भी भूल करते दिखाई देते हैं। इसलिये इच्छा हुई कि इस सम्बन्ध में यथार्थ परिज्ञान कराया जावे।

जंबूद्वीप से ८ वें नंदीश्वर द्वीप के ठीक बीच में पूर्व दिशा

में इंद्रनील मणिका एक 'अजन' नामक पर्वत है। यह पर्वत ८४ हजार योजनका ऊंचा और इतनाही चौड़ा गोल है। यानी समवृत्त कहिये नीचे से ऊपर तक बराबर गोल है। जिसकी नींव एक हजार योजन की है। इस पर्वत के ऊपर और तलहटी में विचित्र वनखंड हैं। इस पर्वत की तलहटी में पर्वत की चारों दिशाओं में पर्वत से एक लाख योजन की दूरी पर चार जलपूर्ण वापिकायें हैं। ये वापिकायें एक लाख योजन की लम्बी चौड़ी समचौकोर हैं और एक हजार योजन की ऊंची हैं। इनके जल में जलचर जीव नहीं है। फूले हुये कमलादिकों से वहां का जल सुगंधित रहता है। प्रत्येक वापिका की पूर्वादिक् चारों दिशाओं में क्रम से अशोकवन, सप्तच्छदवन, चंपकवन और आम्रवन ये चार वन है। ये वन एक-एक लाख योजन के लम्बे आध-आध लाख योजन के चौड़े हैं। जिस वन का जो नाम है उसी नाम का उनमें एक-एक चैत्यवृक्ष होता है।

उक्त चारों वापिकाओं में बीचोंबीच दही के समान सफेद रंग का एक-एक दधिमुख पर्वत है। ये चारों पर्वत दश २ हजार योजन के ऊचे, इतने ही चौड़े समवृत्त खड़े ढोल की तरह के गोल हैं। इनकी नींव एक-एक हजार योजन की है। इनके ऊपर विविध वन है।

इन्हीं वापिकाओं में प्रत्येक वापी के जो चार कोणे हैं उनमें दो कोणे तो भीतर अजनगिरी की तरफ हैं। और दो कोणे बाहर की तरफ हैं। बाहर की तरफ के प्रत्येक कोणे के निकट एक-एक रतिकर पर्वत है। चारों वापिका सम्बन्धी बाहर के ८ कोणों के निकट ८ रतिकर पर्वत समझने। ये रतिकर सोने के रंग के हैं। प्रत्येक की ऊंचाई एक हजार योजन की है; इतनी

ही इनकी चौड़ाई है। अढाई सौ योजन की नींव है। ये भी सब समवृत्त हैं और इन पर भी वन खंड हैं।

इस प्रकार एक अंजनगिरि, चार दधिमुख और आठ रतिकर इन पर्वतों पर मध्य में उत्तम एक-एक रत्नमय जिन मन्दिर स्थित है। ये नंदीश्वर द्वीप के पूर्वदिशावर्ती १३ जिनालय हुये। इसी तरह तेरह २ जिन मन्दिर नदीश्वरद्वीप मे शेष तीन दिशाओं में भी हैं। इस प्रकार कुल ५२ अकृत्रिम जिनालय होते हैं। ये जिनालय एक सौ योजन के लम्बे, पचास योजन के चौड़े, पचहत्तर योजन के ऊंचे हैं। इनको नींव आध योजन की है। प्रत्येक जिनमन्दिर में १०८ गर्भगृहों में १०८ रत्नमयी प्रतिमायें विराजमान हैं। वे प्रतिमायें पांच सौ धनुष ऊंची, (यह ऊचाई बैठी प्रतिमा की है। देखो त्रिलोक प्रज्ञप्ति अधिकार ४ गाथा १८७१ और १८७७। तथा लोक विभाग अध्याय १ श्लोक २६६।) सिंहासन छत्रादि संयुक्त हैं। उनके नीले केश, सफेद दांत, मूंगे की तरह के लाल होठ व रक्तवर्ण के हस्तपादतल होते हैं। सब प्रतिमायें दशताल के लक्षणों से युक्त हैं।

रतिकर पर्वतों की संख्या

त्रिलोक प्रज्ञप्ति के ५ वें अधिकार में इस विषय का वर्णन करते हुये जिस गाथा में रतिकर पर्वतों की संख्या का निर्देश किया है वह गाथा यह है—

> वावीण बाहिरेसुं दोसुं कोणेसु दोण्णि पत्तेक्कं।
> रतिकरणामा गिरिणो कणयमया दहिमुह सरिच्छा ॥६७॥

इसका अनुवाद श्री पं० बालचन्दजी शास्त्री ने इस प्रकार किया है—

"वापियों के दोनों बाह्य कोनों में से प्रत्येक में दधिमुखों के सदृश सुवर्णमय रतिकर नामक दो पर्वत हैं।"

श्री पं० सुमेरुचन्द्रजी दिवाकर ने " नंदीश्वर दर्शन" ट्रैक्ट लिखा है, उसके पृष्ठ १७ पर इसी अनुवाद का अक्षरशः अनुसरण किया है।

किन्तु यह अनुवाद ठीक नहीं है। इस अनुवाद के अनुसार एक कोणे में दो रतिकर होने से दो कोणे में चार रतिकर एक वापिका सम्बन्धी हुये तो चारों वापियों के १६ रतिकर होंगे। इनमें अंजन और दधिमुखों की ५ संख्या मिलाने पर २१ संख्या एक दिशावर्ती नंदीश्वर द्वीप के चैत्यालयों की हो जायेगी जो कथमपि योग्य नहीं है। क्योंकि नंदीश्वर की एक दिशा में १३ जिनालय होना आगम प्रसिद्ध है। स्वयं ग्रन्थकार ने ही आगे गाथा ७० में रतिकरों की संख्या आठ ही लिखी है। अनुवाद को ठीक मानने पर ग्रन्थ में पूर्वापर विरोध उपस्थित होता है। साथ ही अनुवाद में "रतिकरों को दधिमुखों की तरह सुवर्णमय (पीले रंग के) लिखे हैं।" यह अर्थ भी ठीक नहीं है क्योंकि गाथा ६५ में दधिमुखों को दही के रंग के (सफेद) लिखे हैं।

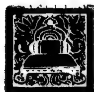
अतः उक्त ६७ वीं गाथा का सही अर्थ इस प्रकार होना चाहिये—"वापियों के दोनों बाह्य कोणों में प्रति कोण में एक एक के हिसाब से दो रतिकर पर्वत हैं। वे कनकमय हैं और दधिमुखों के समान वे भी गोल हैं, उन पर भी विविध वन हैं।"

त्रिलोक प्रज्ञप्ति में इसी प्रकरण में गाथा ६६ में लोक-विनिश्चयकर्त्ता का मत दिया है। जिसमें प्रत्येक वापी के चार कोणों में चार रतिकर पर्वत लिखे हैं। ऐसा कथन तत्वार्थ-राजवार्तिक (अध्याय ३ सूत्र ३५ की टीका) और हरिवंश पुराण (सर्ग ५ श्लोक-६७५) में भी किया है। किन्तु इन दोनों ही ग्रन्थों में यह स्पष्ट कर दिया है कि—इन ६४ रतिकरों में से बाह्यकोणों वाले ३२ रतिकरों पर ही ३२ जिनालय है। अभ्यंतर कोणों के ३२ रतिकर तो देवों के क्रीड़ा स्थान है। इस बात को न समझकर हरिवंशपुराण के पृष्ठ ११६ (ज्ञानपीठ से प्रकाशित) पर अनुवादक ने वहां टिप्पणी देकर इस कथन को भ्रांति पूर्ण बता दिया है। जो ठीक नहीं है।

श्वेताम्बर ग्रन्थ लोक प्रकाश के २४ वें सर्ग में इस सम्बन्ध में कुछ विशेष कथन निम्न प्रकार किया है—

देवरमण, नित्योद्योत, स्वयं प्रभ, और रमणीयक ये चार अंजनगिरियों के नाम हैं। आकार इनका गोपुच्छ सदृश है। नीचे से ऊपर चौडाई में कम होते चले गये हैं। ऊंचाई इनकी ८४ हजार योजन की है। पृथ्वी पर चौड़ाई १० हजार योजन की और मस्तक पर १ हजार की है। वापिका के चारों ओर के वनों की लम्बाई एक लाख योजन की और चौड़ाई पांचसौ योजनों की है। दधिमुख पर्वतों की ऊंचाई ६४ हजार योजनों की है। वापियों के अन्तराल में दो-दो रतिकर पर्वत हैं। नंदीश्वर द्वीप की प्रत्येक दिशा में तेरह २ के हिसाब से कुल ५२ जिनालय चारों दिशाओं में हैं। जिनालयों की ऊंचाई ७२ योजन की है।

प्रत्येक मन्दिर के देवच्छंदक में प्रत्येक दिशा में २७-२७ जिन प्रतिमायें रत्नमय सिंहासनों पर पर्यंकासन से विराजमान हैं। एक मन्दिर में १०८ प्रतिमायें हैं। ऋषभ, वर्द्धमान, चन्द्रानन और वारिषेण ये उनके नाम हैं। अर्थात् एक दिशावर्ती २७ प्रतिमायें ऋषभ नाम की हैं इसी तरह शेष ३ दिशाओं में स्थित २७-२७ प्रतिमाओं के वर्द्धमान आदि ३ नाम समझ लेना।



तिलोयपण्णत्ती - अनुवाद पर गलत स्पष्टीकरण

हमने 'जैनगजट' २१-८-६७ में एक लेख-"नंदीश्वर द्वीप में ५२ जिनालय" शीर्षक से प्रकाशित कराया था, उसमें हमने तिलोयपण्णत्ती अधिकार ५ गाथा ६७ के अनुवाद को गलत बताया था। उस पर श्री अनुवादक जी सा० ने सितम्बर ६७ के 'जैनगजट' में एक 'स्पष्टीकरण' प्रकाशित कराते हुए यहाँ तक लिखा है कि-'उस अनुवाद में कुछ भूल नहीं दिखी।" इसका मतलब यह हुआ कि-हमने जो अनुवाद की भूलें प्रदर्शित की थीं वे गलत थीं किन्तु ऐसा नहीं है। अनुवादकजी का स्पष्टीकरण भी उस अनुवाद की भूलों को नही मिटा सका है, हम उसी पर प्रकाश डालते हैं।

उक्त गाथानुवाद इस प्रकार है :—

"वापियों के दोनों बाह्य कोनों में से प्रत्येक में दधिमुखों के सदृश सुवर्णमय रतिकर नामक दो पर्वत हैं।"

हमने इस पर यह आपत्ति की थी कि—दोनों बाह्य कोनों में से प्रत्येक में दो रतिकर के हिसाब से चार रतिकर हो जायेंगे जब कि होने चाहिए दो ही, अतः अनुवाद सदोष है।

इस पर अनुवादकजी ने स्पष्टीकरण किया है कि—"अनुवाद में 'दो-दो' ऐसी द्विरुक्ति नहीं है, अतः उसका अभिप्राय यही है कि—वापियों के बाह्य दो कोनों में से प्रत्येक में रतिकर पर्वत हैं जो संख्या में दो होते हैं।"

समीक्षा—यह स्पष्टीकरण भी निरर्थक है क्योंकि—दो-दो ऐसी द्विरुक्ति से तो सिर्फ स्पष्टता होती है बिना द्विरुक्ति के भी अर्थ वही होता है जो द्विरुक्ति के होने पर होता है। अगर ऐसा नहीं मानेंगे तो तिलोयपण्णत्ती की निम्नांकित गाथाओं केआपके द्वारा किए अनुवाद भी उलटे गलत हो जायेंगे।

देखो अधिकार ६ गाथा ७१ का अनुवाद—"इस प्रकार ये प्रत्येक इन्द्रों के सात सेनायें होती है"।

यहाँ अगर 'सात' संख्या में द्विरुक्ति नहीं होने से आपके स्पष्टीकरणानुसार सब इन्द्रों की कुल मिलाकर-सात ही सेनायें मानें तो बिल्कुल गलत होगा अतः 'प्रत्येक' शब्द के साथ में होने से ७ की संख्या सब इन्द्रों के साथ अलग-अलग लागू होगी। प्रत्येक शब्द ही स्वतः द्विरुक्ति को द्योतित कर देता है अतः ऐसे स्थलों में द्विरुक्ति के होने न होने से कोई अन्तर नहीं पड़ता।

"प्रत्येक" शब्द के साथ जहाँ संख्यावाची शब्दों में दिरुक्ति नहीं की गई है ऐसे आप ही के द्वारा किये गाथानुवाद निम्न प्रकार हैं—

अधिकार ६ गाथा ७४-७५। अ० ८ गाथा २३२-२३३, २६३ से २६५, ३१०-३११-३१८, ३२१-३२२।

इनमें बिना द्विरुक्त संख्या के भी अर्थ वही होता है जो द्विरुक्ति के होने पर होता है।

अगर आपके स्पष्टीकरण को ठीक माना जायेगा तो आपके ये सब गाथानुवाद गलत हो जायेंगे। क्योंकि उसके अनुसार दो बाह्य कोनों में से प्रत्येकमें दो (और आपके स्पष्टीकरण के मुताबिक दो-दो) रति कर के हिसाब से चार रतिकर होते हैं। इसके सिवाय अन्य अर्थ उस अनुवाद के शब्दों से फ़लित नहीं होता इस वास्ते वह अनुवाद गलत ही मानना चाहिए। उसकी शब्द योजना ऐसी होनी चाहिए थी कि जिससे दो ही रतिकर का अर्थ निकलता किन्तु ऐसा है नहीं।

आपका स्पष्टीकरण विकल, भ्रांत होने से गलत है अतः शुद्ध शब्द योजना इस प्रकार होनी चाहिए थी कि– 'वापियों के बाह्य दो कोनों में से प्रत्येक में (प्रति कोने में) एक-एक के हिसाब से दो रतिकर पर्वत हैं।' आगे आप लिखते हैं :—

"दूसरी आपत्ति उनके रंग के विषय मे प्रकट की गई है सो यदि "दधिमुखों के सदृश सुवर्ण मय" इन शब्दों में सुवर्णमय विशेषण को पृथक स्वतंत्र ही रखकर जैसा कि रहा भी है—दधिमुखों के सदृश इतना ही पृथक् विशेपण लें तो उसका अभिप्राय ठीक ग्रहण हो सकता है।"

समीक्षा—आपका यह लिखना भी ठीक नहीं क्योंकि— "दधिमुखों के सदृश" इस वाक्य के आगे कॉमा' अथवा "और" शब्द लगा होता तो यह पृथक् विशेषण हो सकता था किन्तु इनका यहाँ अभाव है अतः उक्त अनुवाद का यह कथन भी सदोष है।

आपके स्पष्टीकरण के "जैसा कि रहा भी है" ये वाक्य तो और भी ज्यादा मिथ्या व आपत्तिजनक हैं। आप अपने मन में चाहे जो अर्थ धारे रहें किन्तु अगर शब्द संयोजन गलत है तो उससे गलत ही अर्थ निकलेगा। शब्द-गठन ऐसा होना चाहिए कि-जिससे कोई दूसरा, विपरीत, भिन्न, व्यर्थ, आपत्तिजनक एवं भ्रांत अर्थ नहीं निकल सके तभी वह कथन या लेखन निर्दोष हो सकता है अन्यथा नहीं।

तिलोयपण्णत्ती के अनुवाद में किस प्रकार से गलतियाँ की गई हैं इसका एक नमूना और प्रस्तुत करते हैं :—

सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण सणक्कुमारजक्खाणं।
रूवाणि मणहराणि रेहंति जिणिंद पासेसु ॥४८॥
[अधि० ७]

अनुवाद—जिनेन्द्र प्रासादों में श्रीदेवी श्रुतदेवी और सब सनत्कुमार यक्षों की मनोहर मूर्तियां शोभायमान होती हैं।

समीक्षा—इस अनुवाद में-"जिनेन्द्र प्रासादों में" के स्थान में 'जिनेन्द्र के दोनों पार्श्वभागों में तथा "और सब" की जगह "सर्वाण्ह और" ये वाक्य होने चाहिये प्रमाण के लिये देखो

(१) **सिरिदेवी सुददेवी सव्वाण्ह**
सणक्कुमार जक्खाणं।
रूवाणि य जिण पासे मंगल
मटठ विह मवि होदि ॥९८८॥
तिलोयसार [नेमिचंद्राचार्य]

(पं० टोडरमलजी कृत अनुवाद :—तिन जिन-प्रतिमानि के पार्श्व विषै श्री देवी सरस्वती देवी अर सर्वाण्ह यक्ष अर सनत्कुमार यक्ष इनके प्रतिबिंब हो हैं :)

(२) सनत्कुमार सर्वाण्हयक्षयोः प्रतिबिंबके ।
श्री देवी श्रुतदेव्योश्च प्रतिबिंबे जिनपार्श्वयोः ॥२९८॥
[विभाग १ लोक विभाग (सिंहसूरषि)]

(अर्थ :—प्रत्येक जिनबिंब के दोनों पार्श्वभागों में सनत्कुमार और सर्वाण्ह यक्षों के तथा श्री देवी और श्रुतदेवी के प्रतिबिंब होते हैं) ।

(३) तिलोयपण्णत्ती अधिकार ४ गाथा १९३९ इसमें भी इसी प्रकार का कथन है इसमें आपने 'सव्वाण' का 'सर्वाण्हयक्ष' ऐसा ठीक अर्थ किया है । किन्तु उसके बाद के अधिकार ७ गाथा ४८ में गलत अर्थ कर गये हैं जैसा कि ऊपर प्रदर्शित किया है । तिलोयपण्णत्ती के माननीय अनुवादकजी सा० एक बहुश्रुत विद्वान् हैं । उन्होंने अनेक उच्चकोटि के जैन ग्रन्थों का हिन्दी अनुवाद संपादनादि अत्यंत परिश्रम से करके पाठकों का महान् उपकार किया है ।

यह लेख लिखने का हमारा शुद्धाशय यही है कि—महान् ग्रन्थों के अनुवादादि में कहीं-कहीं गलतियाँ हो जाना बहुत कुछ संभव है । अतः किसी के द्वारा उन गलतियों के बताये जाने पर अगर वे वास्तविक हैं तो विद्वान् को कभी नाराज नहीं होना चाहिए और सावधानी के साथ श्रुत सेवा में सदा प्रयत्नशील रहना चाहिए ।

शास्त्रों में उत्तरोत्तर लिपिकार-प्रतिलिपिकार-संपादक-

अनुवादक और मुद्रक★आदि के प्रमाद व दृष्टिदोषादि से अनेक भूलें हो जाती हैं, अतः ग्रन्थों को शुद्ध रूप से पठन-पाठन करना चाहिए तभी लाभ होगा।

★ मुद्रण में कैसी-२ गलतियाँ होती है इसका १ नमूना प्रस्तुत करते हैं :—

भारतीय ज्ञानपीठ, वाराणसी से प्रकाशित उत्तर पुराण पर्व ६८ श्लोक ३७८ में–'सप्नपच" शब्द छपा है और अनुवाद में इसका अर्थ "विस्तार के साथ" किया गया है किन्तु दोनों का सामंजस्य नहीं बैठता अनुवाद तो संगत मालूम होता है पर छपा हुआ मूल शब्द असंगत मालूम होता है। जब इस पर विचार किया गया तो यह निश्चय हुआ कि–यहां 'सप्रपंच' शुद्ध शब्द होना चाहिए। क्योंकि प्रपंच का अर्थ विस्तार होता है अतः सप्रपंच का अर्थ 'विस्तार के साथ' ठीक है।



४३

भगवान् की दिव्यध्वनि ।

अपनी वाक्य रूप अविरल जलधारा से समस्त भूमण्डल के कलंक को धो डालने वाली और जीवों के अज्ञान मुद्रित नेत्रों को ज्ञान की अंजन शलाका से खोल डालने वाली भगवती सरस्वती देवी का आविर्भाव पूज्य अर्हन्तदेव से होता है, जो निर्दोष, सर्वज्ञ और हितोपदेशी होते हैं, और आप्त कहलाते हैं। ऐसी आप्तता महावीर तीर्थंकर ने तीस वर्ष गृहस्थी के बाद दीक्षा लेकर बारह वर्ष की घोर तपस्या से प्राप्त की थी। भगवान् महावीर को वैशाख शुक्ला १० को सायंकाल में केवल ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। जिसके फल स्वरूप आप्त का महानपद आप को मिल चुका था। आप्त का जो हितोपदेशी गुण है उसके प्रस्फुटित होने में अभी देरी थी।

जिनसेन कृत हरिवंश पुराण में लिखा है कि—

षट्षष्टि दिवसान् भूयो, मौनेन विहरन् विभुः।
आजगाम जगत्ख्यातं जिनो राजगृहं पुरम् ॥६१॥
[दूसरा सर्ग]

अर्थ केवल ज्ञान के बाद वीर प्रभु ६६ दिन तक मौन से विहार करते हुये जगत् विख्यात राजगृह नगर को आये।

इन्द्रनंदि कृत श्रुतावतार कथा में भी ऐसा ही लिखा है—

सुर नर मुनि वृंदारक वृंदेष्वपि समुदितेषु तीर्थंकृतः ।
षटषष्टिरहानि न निर्जगाम दिव्यध्वनिस्तस्य ॥४२॥

अर्थ—देव-मनुष्य-मुनिगणों के इकट्ठे होते हुये भी उन वीर तीर्थंकर की दिव्यध्वनि ६६ दिन तक नहीं निकली ।

गुण भद्रकृत उत्तर पुराण में इस सम्बन्ध में यद्यपि दिनों की कोई संख्या नहीं लिखी है तथापि उसके निम्न पद्य से वाणी के न खिरने की बात जरूर मिलती है—

अथ दिव्यध्वनेर्हेतु, कोऽसावित्युपयोगवान् ।
तृतीयज्ञाननेत्रेण ज्ञात्वा, मां परितुष्टवान् ॥३५६॥
[सर्ग ४]

अर्थ—गौतमगणधर कह रहे हैं कि—केवल ज्ञान के बाद जब वीर जिनकी दिव्यध्वनि नहीं खिरने लगी । तब इन्द्र ने "दिव्यध्वनि का कारण क्या है ?" इस पर उपयोग लगाया तो अवधिज्ञान से मुझे (गौतम को) जान कर संतुष्ट हुआ ।

लेकिन मंडलाचार्य श्री धर्मचन्द्र रचित "गौतम चरित्र" में सिर्फ एक प्रहर तक वाणी के न खिरने की बात कही है । यथा—

याममात्रे व्यतिक्रांते, सिंहासन प्रसंस्थिते ।
अथ श्रीवीरनाथस्य, नाभवद् ध्वनिनिर्गमः ॥७२॥

अर्थ—वीरनाथ को प्रहर भर तक सिंहासन पर विराजे होगये (चतुर्थ अधिकार) तथापि ध्वनि नहीं निकली ।

फिर गौतम के आने से भगवान् का उपदेश होना शुरू हुआ था। उपदेश सुनने के लिये भगवान् के सब तरफ गोलाई में श्रोतागणों के बैठने के अलग-अलग वारह स्थान बने हुये रहते हैं। जिनमें देव मनुष्य और संज्ञी तिर्यञ्चों की अगणित संख्या रहती है। यह सभास्थान शास्त्रों में "श्री मंडप" के नाम से कहा गया है जो एक योजन लम्बा और एक योजन चौड़ा गोल होता है। वहां भगवान् बीचोंबीच एक ऊंचे सिंहासन पर उपदेश देने को विराजते हैं। भगवान् के विराजने का स्थान गंधकुटी कहलाता है भगवान् का उपदेश पूर्वाह्न, मध्याह्न, अपराह्न काल और अर्द्ध रात्रि इन चार वक्त छह-छह घड़ी तक नियम से होता रहा है। इन्द्र आदि के प्रश्न से इन से अतिरिक्त काल में भी उपदेश हो जाता है। जैसा कि शुभचन्द्र रचित 'अंग प्रज्ञप्ति' की इन गाथा से प्रकट है—

तित्थयरस्स तिसंञ्मे णाहस्स,
सुमज्झिमाय रत्तीए ।
बारह सहासु मज्झे छग्घडिया.
दिव्व झुणि कालो ॥४१॥
होदि गणि चक्किमहवथ ण्हादो,
अण्णदाबि दिव्वं झुणि ।
[प्रथम अधिकार]

अर्थ तीर्थंकर नाथ का बारह सभाओं मे दिव्यध्वनि काल तीनों संध्या और अर्द्ध रात्रि में छह २ घड़ी का है। तथा गणधर, चक्रवर्ति, इन्द्र, के प्रश्न से अन्य समय में भी दिव्यध्वनि हो जाती है।

विष्णुसेन रचित समवशरण स्तोत्र के अन्तर्गत उक्त ४ गाथा और अनागार धर्मामृत पृष्ठ ८ में भी ऐसा उल्लेख है ।

भगवान् की वाणी में ऐसा अतिशय पैदा हो जाता है कि उस के उच्चारण में भगवान् के तालु ओष्ठ आदि नहीं हिलते हैं। मुख पर कोई विकार (हरकत) नजर नहीं आता है। श्वास का निरोध भी नहीं होता है। भगवान् की बिना इच्छा के मेघ गर्जना की तरह निरक्षरी ध्वनि निकलती है जो एक योजन तक सबको एकसमान साफ सुनाई देती है। सुनाई देते वक्त वह साक्षरी हो कर श्रोताओं की अपनी २ भाषा में परिणत हो जाती है। इत्यादि गुणों के कारण ही वह "दिव्यध्वनि" इस नाम से कही जाती है। इस प्रकार का वर्णन अनेक जैन ग्रंथों में पाया जाता है उन में से कुछ मुख्य २ प्रमाण हम यहां दे देना उचित समझते हैं :—

आचार्य जिनसेन आदि पुराण में कहते हैं—

अपरिस्पन्द ताल्वा, देरस्पष्ट दशन द्युतेः।
स्वयंभुवो मुखां भोजा, ज्जाता, चित्रं सरस्वती ॥१८४॥
विवक्षया विनैवास्य दिव्यो,
वाक्प्रसरो ऽभवत् ॥१८५३॥
एक रूपापि तद्भाषा श्रोतृन, प्राप्य पृथग् विधान्।
भेजे नानात्मतां कुल्या जल, स्रुतिरिवांध्रिपान् ॥१८७॥
[पर्व १]

दिव्य महाध्वनिरस्य मुखाब्जा,
न्मेघरवानुकृति निरगच्छत् ॥६८-१।२॥ पर्व २३

अर्थ—तालवादि न हिले और दांतों की क्रांति प्रकट न

हुई तथापि आश्चर्य है कि स्वयंभू के मुख कमल से सरस्वती पैदा हुई। कहने की इच्छा बिना ही उनके दिव्यवाणी प्रकट हुई। वह वाणी एक रूप थी तो भी श्रोताओं को पाकर अलग अलग रूप हो जाती थी। जैसे कि नहर का बहता हुआ जल वृक्षों में जाकर अनेक रूप हो जाता है। उनके मुख कमल से दिव्यध्वनि मेघ शब्द की तरह निकलती थी।

भावा मेव स्फुरंत्या स्फुरण विरहित,
स्वाधरोद्भावयाच ॥११७॥
[सर्ग ५६]

सदिव्यध्वनिना विश्व संशयच्छेदिना जिनः।
दुंदुभिध्वनिधीरेण योजनांतर यायिना ॥९०॥
[सर्ग २ ' हरिवंश पुराणे जिन सेनः"]

इसमें दिव्य ध्वनि को अनेक भाषा रूप होने वाली, बगैर होठ हिले पैदा हुई। दुंदुभि की ध्वनि के समान गम्भीर और एक योजन तक सुनी जाने वाली बताई है।

ओष्ट तालु आदिके हिले बिना अक्षर पैदा नहीं हो सकते ऊपर के प्रमाणोंमें ओष्टताल्वादिका न हिलना भगवान के बताया ही है इसी से उनकी वाणी का निरक्षरीपणा अनायास सिद्ध हो जाता है। तथा उपर्युक्त प्रमाणों में उनकी ध्वनि को मेघ और दुंदभिकी ध्वनि वत् बतलाना भी वैसा सिद्ध करता है। तथापि हम यहां ऐसे प्रमाण भी दे देते हैं जिनमें स्पष्ट ही निरक्षरी वाणी लिखी है—

गंभीरं मधुरं मनोहरतरं, दोषैरपेतं हितं।
कंठौष्टादिवचो निमित्त, रहितं नो वात रोधोद्गतम्।

स्पष्टं तत्तदभीष्ट वस्तु, कथकं निः शेषभाषात्मकं ।
दूरासन्न समं समं निरूपमं जन वचः पातु नः ॥२८॥
यत् सर्वात्महितं न वर्ण, सहितं न स्पंदितोष्ठद्वयं ।
नो वांछा कलितं न दोष, मलिनं न श्वासरुद्ध क्रमम् ।
"विष्णुसेन कृत समवशरण स्तोत्रं"*

यहां वाणी को निरक्षरी बतलाते हुये उक्त पुराण द्वय से इतना और विशेष लिखा है कि वह वाणी दूर और नजदोक एकसी सुनाई देती है और उसके निकलते वक्त भगवान के हवा का रुकना और निकलना नहीं होता है और न श्वास का रुकना होता है।

पं. आशाधरजीने भी अपने अनगारधर्मामृत प्रथम अध्याय श्लोक २ की व्याख्या में ध्वनि को निरक्षरी बतलाते हुये प्रमाण मे इसी "समवशरणस्तोत्र" का उक्त श्लोक दिया है।

'नष्टो वर्णात्मको ध्वनिः' ॥८॥
'आप्तस्वरूप' नामकग्रंथ *
'ध्वनिर्ध्वनस्य क्रम वर्ण रूपो' ॥१८॥
वादिराज कृत 'ज्ञान लोचन स्तोत्र'*

इन दोनों ग्रंथों में भी निरक्षरी ध्वनि लिखी है।

कुछ लोग समझते हैं कि पुराण और स्तोत्र ग्रन्थों में इस प्रकार की बातें बढ़ा कर लिखी गई हैं। ऐसे लोगों की मनस्तुष्ठि के लिये हम यहां अन्य ग्रन्थों के प्रमाण रख देते हैं—

*ये तीनों ग्रंथ 'सिद्धांतसारादि संग्रह' में छप चुके हैं।

'अनक्षरात्मकस्तु द्विन्द्रियादि तियग्
जीवेषु सर्वज्ञदिव्यध्वनौ च'
[वृहद्द्रव्य संग्रह पृष्ठ ४५]

अर्थ—द्वीन्द्रीयादि तिर्यंच जीवों और सर्वज्ञ की दिव्य-ध्वनि में अनक्षरात्मक भाषा होती है।

अट्ठरस महाभासा खुल्लय, भासाहि सत्तसय संखा।
अक्खर अणक्खरप्पय सण्णी, जीवाण सयल भासाउ ॥६१॥
रार्दासि भाषाणं तालु, वदन्तोट्ठ कंठ वावारं।
परिहरिय एक्क कालं, भव्व जणाणं दकर भासो ॥६२॥
[त्रिलोक प्रज्ञप्ति प्रथमोधिकार]

अर्थ—अठारह महा भाषाये और सात सौ क्षुल्लक भाषायें ये सब अक्षर अनक्षरात्मक भाषायें संज्ञा जीवो की होती है। ये सब भाषायें तालुदन्त ओष्ठ कण्ठ के व्यापार बिना एक ही काल में दिव्यध्वनि मे प्रकट होती हैं।

कुछ लोगों का ऐसा खयाल है कि शास्त्रों में भगवान् की वाणी को अनेक भाषात्मक लिखा है उसका मतलब यह है कि भगवान् जुदे-२ समय में जुदी २ भाषाओं में उपदेश देकर सभी भाषा विज्ञों को अपना वक्तव्य समझा देते है। ऐसे खयाल का त्रिलोक प्रज्ञप्ति में "एक्क कालं" शब्द देकर खंडन कर दिया है। और यह जाहिर किया है कि भगवान की एक ही काल मे प्रकट हुई वाणी अनेक भाषा रूप हो जाती है। आदि पुराण पर्व २५ में भी 'चित्रं वाचां विचित्राणाम क्रम प्रभवः प्रभोः" ॥१२१॥ पद में प्रभु के विचित्र भाषाओं की उत्पत्ति एक ही साथ होना बताई है।

जयन्ति यस्याऽ वदतोऽपि भारती ।
विभूतय स्तीर्थंकृतोऽप्यनी हितुः ॥१३॥
[समाधिशत के पूज्यपादः]

अर्थ—तालु ओष्ठ से हम लोगों के समान न बोलते हुए भी व बिना किसी प्रकार की इच्छा रखते हुए भी जिस तीर्थंकर की वाणी रूप विभूतियें जयवन्त हैं।

"सयोग केवलि दिव्यध्वनेः कथं सत्यानुभयवाग्योगत्व मिति चेत तन्न तदुत्पत्तावनक्षरात्मकत्वेन श्रोतृ श्रोत्रप्रदेशप्राप्ति समय पर्यन्तमनुभय भाषात्वसिद्धेः। तदनतरंच श्रोतृजनाभि प्रेतार्थेषु संशयादिनिरा करणेन सम्यग्ज्ञान जनकत्वेन, सत्य-वाग्योगत्वसिद्धेश्च तस्यापि तदुभयत्व घटनात्।"

यह गद्य गोम्मटसार संस्कृत टीका योग मार्गणाधिकार में पाई जातीहै। इसमें 'सयोग केवली की दिव्यध्वनिके सत्य और अनुभय वाक योग कैसे हैं।" इस प्रश्न का उत्तर देते हुये बताया है कि वह वाणी अनक्षरात्मक उत्पन्न होती है और श्रोताओं के कान तक पहुँचने पर्यन्त अनक्षरात्मक ही रहती है। तब तक वह अनुभय भाषा कहलाती है। फिर श्रोताओं के कान में जाकर अक्षर हो जाती है जिस से श्रोताजनों के संशयादि दूर होकर सम्यग्ज्ञान पैदा हो जाता है, तब वह सत्य भाषा कहलाती है। इस तरह दिव्यध्वनि के सत्य और अनुभय दोनों वाग्योग घटित होते हैं।

ध्वनिरपि योजनमेकं प्रजायते, श्रोत्रहृदयहारि गम्भीरः।
ससलिल जलधर पटल ध्वनित, मिव प्रविततान्तरा शावलयम् ॥
[दश भक्ति पाठांतर्गत नंदीश्वर भक्ति]

इसमें दिव्यध्वनि को एक योजन तक फैलने वाली सजल बादलों की गर्जना के समान बताई है।

जैनधर्म के प्राणस्वरूप श्री समंत भद्राचार्य भी ध्वनि को बगैर इच्छा पैदा होने वाली और सब जीवों की भाषा बन जाने रूप स्वाभाव वाली द्योतित करते हैं :—

"काय वाक्य मनसां प्रवृत्तयो,
नाभवंस्तव मुनिश्चिकीर्षया" ॥७४॥
"तव वागमृतं श्रीमत्सर्व,
भाषा स्वभावकं" ॥८७॥*
[स्वयंभूस्तोत्र]

इस प्रकार एक नहीं सैकड़ों प्राचीन अर्वाचीन जैन शास्त्रों में दिव्यध्वनि का इसी तरह का वर्णन मिलता है। और तो क्या श्वेतांबरों के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र भी अपने अभिधान चिंतामणि कोश में ऐसा ही कथन करते हैं—

इसी कांड में आगे श्लोक ६५ से ७१ तक भगवान की वाणी के ५ अतिशय बतलाते हुये ३३ वां अतिशय "वर्ण पद वाक्य विविक्तता" नाम का कहा है। उसकी व्याख्या उन्होंने "वर्णादीनां विच्छिन्नत्वं" की है। जिसका साफ अर्थ यह होता

+"दुंदुभिरामन योजन घोषौ" शांति पाठ के इस वाक्य में भी ध्वनिका एक योजन तक जाना कहा है।

* प्रसिद्ध भक्तामर स्तोत्र में भी कहा है–' दिव्यध्वनिर्भवति ते विशदार्थसर्व भाषा स्वभाव परिणाम गुणै. प्रयोज्यः।" "वाणी नृतिर्यक्सुर लोक भाषा, संवादिनी योजनगामिनी च" ॥५६॥ "प्रथम कांड"

है कि भगवान की वाणी में अक्षरादि नहीं होते।

अष्ट सहस्त्री पृष्ठ ७३ में पर वादी ने शंका की है कि "बिना इच्छा के बोलना नहीं हो सकता" इसका उत्तर देते हुये निम्न कारिका वहां लिखा है—

"ततश्चैतन्य करण पाटव, योरेव साधक तमत्वम्।"

इस में बतलाया है कि बोलने में इच्छा कारण नहीं पड़ती किन्तु चैतन्य कहिए ज्ञान और करण पाटव कहिये इन्द्रियों की वह योग्यता जिससे ध्वनि पैदा हो सके, ये दो ही बोलने में कारण हो सकते हैं। यहां जो करण पाटव बोलने में कारण बतलाया है उसे लेकर कुछ महाशय कहते हैं कि अष्टसहस्री में सर्वज्ञ के भी बोलने में सहायक तालु ओष्ठ ही बतलाये हैं इसलिये उनकी वाणी भी साक्षरी ही होती है और वे हमारी तुम्हारी तरह से ही बोलते हैं। किन्तु उनका कहना ठीक नहीं है। क्योंकि यहां ग्रंथकार ने करण पाटव शब्द दिया है जो केवल तालु ओष्ट में ही सीमित नहीं है किन्तु उनसे शरीर के वे सभी अवयव लिये जा सकते हैं जिनसे ध्वनि पैदा हो सके। और वे अवयव हिले ही ऐसा भी करण पटव शब्द से सिद्ध नहीं हो सकता। किसी सातिशय पुरुष के उच्चारण स्थानों के बिना हिले ही ध्वनि पैदा हो सके तो वहां भी करण पाटव शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। क्योंकि करण पाटव का अर्थ ही यह है कि शब्द पैदा करने योग्य इन्द्रियें। भगवान की ध्वनि चाहे तालु ओष्टादि के परिस्पंद से पैदा नहीं होती है फिर भी वह निकलती शरीर ही से है★। और शरीर भी इन्द्रीय है

★ पं० मेधावीकृत संग्रह श्रावकाचार प्रथम परिच्छेद श्लोक१७

इसलिये उस में कुछ करण पाटव शब्द बाधा नहीं देता। अगर विद्या नन्द को करण पाटव शब्द से सर्वत्र के तालु ओष्ठादिका प्रयोग ही अभीष्ठ होता तो वे श्लोक बातिक में ऐसा नहीं लिखते—

"नहि सवज्ञस्य शब्दोच्चारणे रसन व्यापारोस्ति।
[द्वितीयोध्याय सूत्र १६ की व्याख्या]

इसमे स्पष्ट ही यह लिखा है कि सर्वज्ञ के शब्द उच्चारण करने में जिह्वा का प्रयोग नहीं होता है। अकलंक देव ने राज वार्तिक में भी इस स्थान में ऐसा ही ध्वनित किया है।

बहुत से लोगों की ऐसी धारणा है कि भगवान् की निरक्षरी ध्वनि का अनेक भाषा रूप साक्षरी होना देव कृत है। यह धारणा ठीक नहीं है। आदि पुराण में इसका निराकरण करते हुए आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि "भगवान की ध्वनि को देव कृत कहना मिथ्या है। देव कृत मानने से आप्त का कुछ भी गुण नहीं रहता। और जबकि अनेक भाषा रूप हो जाने का उसका स्वभाव है तो साक्षरी भी वह हो ही जावेगी तब देव कृत मानने की जरूरत ही क्या है ? और यदि साक्षरी वह नहीं मानी जावेगी तो बिना अक्षरों के संसार में अर्थ का बोध हो भी कैसे सकता है ? तथा बिना अर्थ बोध के देव भी

मे दिव्यध्वनि का वर्णन करते हुए उसे भगवान्के सब शरीरसे पैदा होने वाली लिखा है, किन्तु ऊपर दिये हुये आदि पुराण के उद्धरण में उसका मुख से निकलना बताया है इन दोनों कथनों से यह फलितार्थ निकलता है कि ध्वनि सब शरीर से पैदा होकर मुखमार्ग से बाहर निकलती है।

उसे कैसे साक्षरी बना सकेंगे ?" आदि पुराण का यह वक्तव्य उसके इस श्लोक में है—

> देव कृतोध्वनिरित्यसदेतद्देव,
> गुणस्य तथा विहृतिः स्यात् ।
> साक्षर एवच वर्ण समूहान्नेव,
> विनार्थ मतिर्जगति स्यात् ॥७२॥
> [पर्व २३]

अब रही यह बात कि देवकृत अतिशयोंमें जो 'अर्द्ध मागधी भाषा' का होना अतिशय है वह फिर क्या ? नीचे हम इसी पर विचार करते हैं ।

चौंतीस अतिशय और अष्टप्रातिहार्य में वाणी का प्रसंग तीन दफे आया है । एक जन्म कृत अतिशयों में, दूसरा देवकृत अतिशयों में और तीसरा अष्ट प्रातिहार्यों मे । ग्रहस्थावस्था में प्रिय हित-वचन का बोलना यह जन्म कृत अतिशयों में है । ऊपर अनेक ग्रन्थ प्रमाणों से जो दिव्य ध्वनि का विवेचन किया गया है वह प्राति हार्य में समझना चाहिये । देवकृत अतिशयों में जो 'अर्द्ध मागधी भाषा के 'है' उसका मतलब कुछ और है । और वह यह है कि देव प्रताप से समवशरणवर्ती जीवों की योग्यता मागधी भाषा को बोलने और समझने की हो जाती है । बस यही देवकृत अतिशय है । यह बात जिनसेन कृत आदिपुराण में निम्न पद्य में कही है—

> अर्द्ध मागधिकाकारभाषा परिणता खिलं ।
> त्रिजगज्जनता मैत्री संपावन गुणाद्भुतं ॥२५०॥
> [पर्व २५]

अर्थ—सब की भाषा अर्द्ध मागधी रूप होना और तीन जगत् की जनता में मित्रता का होना। (इस प्रकार इस श्लोक मे ये दो देवकृत अतिशय बतलाये हैं)

दश भक्ति पाठ में नंदीश्वर भक्ति के श्लोक "सार्वार्द्ध मागधीया....." की संस्कृत टीका में प्रभाचन्द्र भी कुछ ऐसा ही लिखते हैं। यथा—

"सर्वेभ्यो हिता सार्वा सा चासौ अर्धं मागधीया च। अर्द्धं भगवद्‌भाषाया मगध देश भाषात्मकं अर्द्धं च सर्व भाषात्मकं। कथमेव देवोपनीतत्वं तदतिशयस्येति चेत् मागध देव सन्निधाने तथा परिणतया भाषयां सकल जनानां भाषण सामर्थ्य संभवात्। अथवा समवसरण भूमौ योजन मात्र मेत्र भगवद्‌भाषयो व्याप्तं, परतो मगध देवै स्तद्‌भाषाया अर्द्धं मागध भाषया संस्कृत भाषया च प्रवर्त्यते। न केवलं भाषा मैत्री च प्रीतिश्च. कथंभूता सर्वं जनता विषया सर्वजनानां समूहः सर्वं जनता सा विषयो यस्या सा तादृशी भाषा मैत्र च भवति। सर्वेहि जनानां समूहाः मागध प्रीतिकर देवातिशयव शान्मागध भाषया भाषतेऽन्योन्य मित्रतया च वर्त्तते इति द्वावतिशयौ।"

अर्थ—सब जीवों की हितकारी, भगवान् की दिव्य ध्वनि का आधा भाग मगध देश की भाषा रूप होना और आधा भाग सब भाषा रूप होना यह "सर्वार्द्ध मागधी भाषा" का अक्षरार्थ हुआ। इस पर प्रश्न कि यह अतिशय देवोपनीत कैसे? उत्तर-मागध देव की निकटता से उस प्रकार परिणत हुई मागध भाषा में सब जनों के बोलने की सामर्थ्य हो जाती है जिससे वह देवोपनीत कहलाती है। अथवा समवसरण भूमि में भगवान की भाषा एक योजन मात्र ही रहती है। आगे मगध देव उस भाषा

के अर्द्ध भाग को मगध भाषा और संस्कृत भाषा (?) में प्रवर्ता देते हैं। न केवल भाषा ही बल्कि प्रीति भी वे सर्वजन समूह में पैदा कर देते हैं। अर्थात सब जनता मागध देव के प्रताप से मागध भाषा में बोलते हैं और प्रीतिकर देव के प्रताप से आपस में मित्रता से रहते हैं। ये तो देव कृत अतिशय हुये।

इन उद्धरणों से यह प्रकट है कि भगवान की ध्वनि का सर्व भाषा रूप होना देवकृत नहींहै किन्तु दिव्यध्वनिका वह खास स्वभाव है। जिसे समंतभद्र जैसे प्रभावशाली आचार्य भी स्वीकार करते हैं। जिसका उल्लेख इस लेख में ऊपर किया जा चुका है।

जैसे हम लोगों की अपेक्षा अर्हंत की ज्ञान आदि आंतरिक शक्तियां अलौकिक होती हैं। तैसे ही उनकी बाह्य अवस्था में भी हम से विशेषता होजाती है। भीतरी शक्तियां परिपूर्ण प्रकट होजाने के कारण अर्हंत का प्रभाव इतना लोकोत्तर बन जाता है कि उसे देखकर साधारण लोग आश्चर्य करने लग जाते हैं। गहन बात को समझने के लिये बुद्धि भी गहन चाहिये। यही कारण है जो समंतभद्रादि जैसे विशाल प्रतिमाधारी आचार्य अतिशयों को अक्षरशः मानते हैं किन्तु आज कल के ज्ञान लवदुर्विदग्ध पुरुष उनके मानने में हिचकिचाहट करते हैं। उन्हें समझना चाहिये कि योग की अचिंत्य महिमा है। फिर अर्हंत तो परम योगी हैं उनकी लोकोत्तर विभूति में तो संदेह क कोई स्थान ही नहीं रहता। आदि पुराण में भी कहा है कि—

महीयसामचिंत्या हि योगजाः शक्ति संपदः ।।८४।
[पर्व २४]

अर्थ - महा पुरुषों की योग से उत्पन्न शक्ति संपदायें अचिंत्य होती हैं।

सं० नोट—कटारियाजी के लेख विद्वत्ता पूर्ण एवं नई खोज को लिए हुये होते हैं। यह लेख भी बहुत ही परिश्रम के साथ लिखा गया है। पाठकों को इसमें कुछ नवीनता मालूम होगी। फिर भी अभी यह विषय विशेष स्पष्ट होना चाहिये, जिससे श्रद्धा के सिवाय सर्व साधारण विद्वानों की बुद्धि में भी यह बात आसके। विद्वान लेखक ने आदि पुराण पर्व २३ का ७३ वां श्लोक देकर जो शंका समाधान किया है वह बहुत अस्पष्ट प्रतीत होता है। आशा है कि कटारियाजी इस विषय को और भी अधिक विस्तार से लिखकर स्पष्ट करेंगे।



४४

जैन कर्म सिद्धांत

एक मुमुक्षु प्राणी के सामने ४ प्रश्न उपस्थित होते हैं—१. संसार क्या है? २. संसारके कारण क्या हैं? ३. मोक्ष क्या है? ४. मोक्ष के क्या कारण है? इन्हीं चारों प्रश्नों के समाधान में ७ तत्व छिपे हुए हैं और उन्हीं के साथ कर्म सिद्धांत भी। चेतन-अचेतन पदार्थों से भरा हुआ जो स्थान है वह संसार है। इस प्रथम प्रश्न के उत्तर में २ तत्व आते हैं—जीव और अजीव। चतुर्गतिरूप दुःखमय संसार में यह जीव कर्मो के फल से परिभ्रमण किया करता है और जब तक कर्म आ-आकार जीव के बंधते रहते हैं तब तक जीवका संसारसे छूटना नहीं हो सकता है। इस दूसरे प्रश्न के उत्तर में आस्रव और बंध ये दो तत्व आ जाते हैं। सब कर्मो के बन्धन से छूट जाना इसका नाम मोक्ष है। इस तीसरे प्रश्न के उत्तर में मोक्षतत्व आ जाता है। नवीन कर्मो का बन्ध नहीं होने देना और पुराने बंधे कर्मो को खिपा देना ये दो बातें मोक्ष की कारण हैं, इस चौथे प्रश्न के उत्तर में संवर और निर्जरा ये दो तत्व आ जाते हैं। इस प्रकार चारों प्रश्नों के समाधान में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन ७ तत्वों की उपलब्धि होती है। इन्हीं सत्यार्थ ७ तत्वों के श्रद्धान करने को जैनधर्म में सम्यग्दर्शन(यथार्थ दृष्टि) कहा है। यही मोक्ष महल की प्रथम सीढ़ी है।

उत्तर : उन्हीं आचार्य उमास्वामी ने "परं परं सूक्ष्मं" इस सूत्र द्वारा कार्मण शरीर को अन्य सब शरीरों से सूक्ष्म भी लिखा है। इस प्रकार आचार्य श्री ने दोनों कथन करके यह अभिप्राय प्रकट किया है कि कार्मण शरीर का गठन ऐसा ठोस है कि उसकी प्रदेश संख्या अन्य शरीरों से अनन्तगुणी होते भी वह अन्य शरीरों जैसा स्थूल नहीं है। जैसे रुई का ढेर और लोहे का गोला। लेकिन इसका अर्थ यह भी नहीं है कि कार्मण शरीर जब इतना ठोस है तो उसकी गति अन्य पौद्‌गलिक पदार्थों से रुक जाती होगी ? उसकी बनावट ही कुछ ऐसी जाति के परमाणुओं से होती है जिससे वह वज्रपटलादि में भी प्रवेश कर जाता है। जैसे अग्नि लोहे मे प्रवेश कर जाती है।

इन सभी शरीरों में से एक कार्मण शरीर ही ऐसा है जिसके सहयोग से यह जीव अनेक योनियों में जन्म ले-लेकर नाना प्रकार की चेष्टायें करता रहता है। यही वह कर्म पिण्ड है जो इस जीव के लिए ससार का बीज भूत है और विविध अनर्थ परम्पराओं का कारण बना हुआ है। जैसे रेशम का कीट अपने ही मुँह से रेशम के तार निकाल-निकाल कर आप ही उनसे लिपटता रहता है। इसी तरह यह जीव स्वयं ही राग-द्वेषादि कलुषित भाव कर-करके आप ही इन दुखदायी कर्मों से बन्धता रहता है। कर्मों का बंध इस जीव के किस तरह हो जाता है। इसके लिये शास्त्र वाक्य ऐसा है—

जीवकृतं परिणामं निमित्तमात्रं प्रपद्य पुनरन्ये।
स्वयमेव परिणमंतेऽत्र पुद्गलाः कर्मभावेन ॥

अर्थ : जीव के किये हुए परिणामों को निमित्त बना कर

पुद्गल की वर्गणायें स्वयं ही कर्मरूप से परिणम जाती हैं।

मतलब यह है कि कार्मण वर्गणा यह एक पुद्गल स्कन्ध की जाति विशेष है जो सारे लोक में व्याप्त है जहां भी जीव के राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ मोहादिभाव पैदा हुए कि वह कर्मरूप बनकर आत्मा के प्रदेशों के साथ मिल जाती है। इसे ही जैनधर्म में कर्मबन्ध होना बताया है। वे ही बंधे हुए कर्म अपने उदयकाल मे इस जीव को अच्छा-बुरा फल देते हैं और इसे संसार में रुलाते हैं। जैसे अग्नि से तप्त लोहे का गोला पानी मे डालने से पानी को अपनी तरफ खींचता है। उसी तरह कषाय भावों से ग्रसित आत्मा कर्म वर्गणाओं को अपनी ओर खींचकर उनसे आप चिपट जाताहै। जैसे पी हुई मदिरा कुछदेर बाद अपना असर पैदा करके पीने वाले को बावला बना देतीहै। उसी तरह बांधे हुए कर्म कालांतर में जब अपना फल देते हैं तो उससे जीव सुखी, दुखी, रोगी, निरोगी, सबल, निर्बल, धनी, निर्धन आदि अनेक अवस्थाओं को प्राप्त हो जाते हैं। इस प्रकार जैनधर्म में जीवों की विचित्रता के कारण उनके अपने बांधे हुए कर्म माने गये हैं। जैसे बीज के बिना धान्य नहीं होते, वैसे ही कर्मों के बिना जीवों की नाना प्रकार की अवस्थायें नहीं हो सकती हैं। कर्मों के अस्तित्व की सिद्धि के लिये यह एक हेतु है। अन्यथा कर्म इतने सूक्ष्म हैं कि हम छद्मस्थ उनका कदापि प्रत्यक्ष नही कर सकते है। जिस प्रकार पुद्गल के परमाणु हमारे इन्द्रियगोचर नहीं हैं परन्तु उनसे बने स्कन्ध को देखकर हमें परमाणु का अस्तित्व मानना पड़ता है। उसी तरह कर्मों के शुभाशुभ फल को प्रत्यक्ष देखकर परोक्षभूत कर्मों का अस्तित्व भी मानना होगा।

प्रश्न : पुष्पमाला, चन्दन, स्त्री आदि प्रत्यक्ष सुख के

कारण हैं और सर्प, कंटक, विषादि प्रत्यक्ष दुःख के कारण हैं। इन प्रत्यक्ष हेतुओं को छोड़कर सुख-दुःख के परोक्ष कारण कर्मों को क्यों माना जावे।

उत्तर : पुष्पमाला आदि एकांततः सभी जीवों को सुख के कारण नहीं होते हैं। शोकाकुलित जीवों को ये ही चीजें दुःख की कारण भी देखी जाती हैं। इसी तरह विषादि भी सभी को दुःख का कारण नहीं होते हैं। किन्हीं-किन्हीं रोगियों को विष का सेवन आरोग्यप्रद होकर सुख का कारण भी हो जाता है। खादी का बना मोटा चादर गरीब के वास्ते हर्ष का कारण होता है वही शालदुशाला ओढने वाले राजपुत्र के लिये विषाद का कारण बन जाता है। इस प्रकार समान सामग्री हो तो भी सबको समान सुख-दुःख नहीं होते हैं। इस तरतमता को देखने से यही निश्चय होता है कि सुख-दुःख के होने में पुष्पकटकादि से भिन्न कोई अन्य ही अदृष्ट कारण हैं और वे अदृष्ट कारण कर्म ही हो सकते हैं।

प्रश्न : कोई आदमी बुरा काम करता है उसका फल राजा देता है। इस प्रत्यक्ष फलदान को छोड़कर उसका फल परोक्ष कर्मों के द्वारा दिया जाना क्यों माना जावे ?

उत्तर : राजा अगर दण्ड देगा तो प्रगट पापों का देगा। गुप्त पापों का जिन्हें राजा जानता ही नहीं उनका फल कौन देगा ? और मानसिक पाप तो सदा ही अप्रगट हैं उनका फल भी जीव को कैसे मिलेगा ? तथा दया, दान, ध्यान आदि उत्तम कार्यों का फल भी जीव को कौन देगा ? एक मनुष्य अनेक हत्या करे तो राजा उसे प्राणदण्ड देता है, किन्तु इससे तो हत्या

करने वाले को एक ही हत्या का दण्ड मिलता है बाकी हत्याओं का दण्ड कैसे मिलेगा ? अतः मानना पड़ेगा कि बाकी का दण्ड नरकगति के रूप में कर्मों से ही मिलता है।

कर्मों की सिद्धि के लिये दूसरा हेतु यह है कि जैसे चेतन की की हुई कृषि आदि क्रियाओं का फल धान्यादि की प्राप्ति है। जो भी चेतन की की हुई क्रिया होगी उसका कोई-न-कोई फल जरूर होगा। उसी तरह चेतन द्वारा की हुई हिंसा आदि पाप क्रियाओं या दया, दान आदि क्रियाओं का फल भी जरूर होना चाहिये वह फल शुभाशुभ कर्मों का जीव के बन्ध मानने पर ही बन सकेगा।

प्रश्न : जैसे कृषि क्रिया का प्रत्यक्ष फल धान्य प्राप्ति है। उसी तरह हिंसा असत्य आदि का प्रत्यक्ष फल शत्रुता अविश्वास आदि है और दया, दान आदि का प्रत्यक्ष फल मन प्रसन्नता यश प्राप्ति आदि है। इस प्रकार क्रियाओं का फल हम भी मानते हैं। इन दृष्टफलों को छोड़कर अदृष्टफल कर्म बन्ध क्यों माना जावे ?

उत्तर : जीवकृत सभी क्रियाओं के दृष्टफल और अदृष्टफल दोनों फल होते हैं। कृषि आदि सावद्य क्रियाओं का धान्यादि यह दृष्टफल है और पापकर्म का बन्ध होना यह अदृष्टफल है। इसी तरह दानादि का यश प्राप्ति आदि दृष्टफल है और पुण्यकर्म का बन्ध होना अदृष्टफल है। यदि कृषि आदि सावद्य क्रियाओं का धान्य प्राप्ति आदि दृष्टफल ही माना जावे, अदृष्टफल पाप बन्ध नहीं माना जावे तो सावद्य आरम्भ करने वाले सभी जीवों को मोक्ष हो जायेगा और यह संसार जीवों से शून्य हो जायेगा।

अनन्त जीवों से व्याप्त यह संसार अनादि काल से चला आ रहा है और आगे अनन्तकाल तक चलता रहेगा। इस संसार में रहने वाले जीवों में कोई सुखी है, कोई दुःखी है, कोई नर है, कोई मादा है, कोई सबल है, कोई निर्बल है, कोई बुद्धिमान है, कोई मूर्ख है, कोई कुरूप है, कोई सुरूप है इत्यादि जीवों की नाना प्रकारकी अवस्थायें जो देखी जाती हैं उनका कारण जीव के किए हुए शुभाशुभ कर्मोंके सिवाय और कुछ नहींहै। जब यहप्राणी अपने मन वचन काय से अच्छे-बुरे काम करता है तब आत्मा में कुछ हरकत पैदा होती है उस हरकत से सूक्ष्म पुद्गल के अंश आत्मा से सम्बन्ध कर लेते हैं इनको ही जैनधर्म मे कर्म बताया है। इन्हीं शुभाशुभ कर्मों के फल से जीव की अच्छी-बुरी अनेक दशायें होती हैं। कुछ लोग इनका कारण ईश्वर को ठहराते हैं। पर यह ठीक नहीं है। अव्वल तो ईश्वर को सृष्टि रचने की जरूरत ही क्यों हुई? न रचने पर उसकी कौन सी हानि हुई थी? और रची भी तो किसी को सुखी, किसी को दुखी आदि क्यों बनाया? यदि कहो कि जीव जो अच्छे बुरे काम करता है उनका वैसा ही अच्छा-बुरा फल ईश्वर देता है। उसी से जीवों को ये विविध प्रकार की अवस्थायें देखने में आती हैं—तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं हैं। क्योंकि जब ईश्वर स्वयं बुद्ध, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान है तो जीवों को पहिले पापकर्म करने ही क्यों देता है। जिससे आगे चलकर उसे उन पापियों को फल देने की नौबत आवे। हाकिम के सामने अपराध करे तब तो उसे हाकिम मना करे नही और अपराध हो चुकने के बाद उसे दण्ड देवे, हाकिम का ऐसा करना योग्य नहीं है। इसके अलावा हम पूछते हैं कि—ईश्वर समस्त सृष्टि में व्यापक है तो व्यापक में क्रिया नहीं हो सकती है। देश से देशान्तर होने को क्रिया कहते

हैं। व्यापक में यह क्रिया असम्भव है। क्योंकि व्यापक सर्वक्षेत्र में व्याप्त है इसमें कोई भी क्षेत्र अवशेष नहीं रहता है जिसमे क्रिया हो सके। क्रिया के बिना सृष्टि की रचना नहीं हो सकती है। अव्यापक मानें तो सर्वक्षेत्र की क्रियायें नहीं हो सकेंगी। जो ईश्वर को अशरीरी मानें तो अमूर्तिक से मूर्तिमान कार्य नहीं हो सकते हैं वर्ना अमूर्त आकाश से मूर्त पदार्थ उत्पन्न होने लगेंगे। तब असत् से सत् पदार्थ की उत्पत्ति हो जायेगी। जो ईश्वर को शरीर सहित मान लिया जाये तो ईश्वर सब को दिखना चाहिए और उसे निरन्जन नहीं कहना चाहिए। जो ईश्वर को सर्वशक्तिमान मानें तो सबको सुखी व सुन्दर बनाना चाहिए। यदि कहोकि बुरे काम करने वालोंको बुरा बनाये तो कर्म बलवान हुए, ईश्वर को सर्व शक्तिमान मानना नहीं हो सकेगा। सर्व-शक्तिमान नहीं मानने से समस्त सृष्टि की रचना उससे नहीं हो सकती है और सब काम उसी के लिये होते हैं तो वेश्या चोर उसने क्यों बनाये जिससे पापाचरण करना पड़े ? सृष्टि बनाने के प्रथम संसार में कुछ पदार्थ थे या नहीं ? जो पदार्थ थे तो ईश्वर ने क्या बनाया? जो पदार्थ नहीं थे तो बिना पदार्थों के सृष्टि कैसे बनाई? बिना बनाये कुछ नहीं होता तो ईश्वर को स्वयं बना हुआ मानें तो सृष्टि को भी स्वयं बनी हुई क्यों न मानें ? सभी काम ईश्वरकृत मानें तो प्रत्यक्ष का लोप होगा क्योंकि प्रत्यक्ष मे घटपट गृहादिक मनुष्यकृत देखे जाते हैं। सभी काम ईश्वरकृत मानने से जीवों के पुण्यपाप सब निरर्थक हो जायेंगे। न तो किसी को हिंसा आदि पाप कार्यों का फल मिलेगा और न किसी को जप, तप, दया आदि पुण्य कार्यों का फल मिलेगा। क्योंकि ये तो जीवों ने किये ही नहीं, यदि ईश्वर ने किये हैं तो इनका फल जीवों को मिलना क्यों चाहिए ? तब

निशंक हो प्राणी पाप करेंगे और पुण्य कार्यों से विमुख रहेंगे।

इस प्रकार ईश्वर को कर्ता मानने में इस तरह के अन्य भी अनेक विवाद खड़े होते हैं। किसी कर्म का फल हमें तुरन्त मिल जाता है किसी का कुछ माह बाद मिलता है किसी का कुछ वर्ष बाद मिलता है और किसी का जन्मांतर मे मिलता है। इसका क्या कारण है ? कर्मों के फल के भोगने में समय की यह विषमता क्यों देखी जाती है ? ईश्वरवादियों की ओर से इसका ईश्वरेच्छा के सिवाय कोई सन्तोषकारक समाधान नहीं मिलता। किन्तु कर्मों में ही फलदान की शक्ति मानने वाला कर्मवादी जैनसिद्धांत उक्त प्रश्नों का बुद्धिगम्य समाधान करता है।

जैन शास्त्रों का कहना है कि बाईस भेद स्कन्ध के और एक भेद अणु का इस प्रकार पुद्गल के कुल २३ भेद होते हैं। इन्हीं को २३ वर्गणाये कहते है। इनमें से १८ वर्गणाओं का जीव से कुछ सम्बन्ध नहीं है और ५ वर्गणाओं को जीव ग्रहण करता है। उनके नामआहार वर्गणा, तैजस वर्गणा, भाषा मनोवर्गणा और कार्मणवर्गणा है। आहारवर्गणा से औदारिक, वैक्रियिक और आहारक य तीन शरीर और श्वासोच्छवास बनते हैं। तैजस वर्गणा से तैजस शरीर बनता है। भाषावर्गणा से शब्द बनते हैं मनोवर्गणा से द्रव्य मन बनता है जिसके द्वारा यह जीव हित-अहित का विचार करता है और कार्मणवर्गणा से ज्ञानावरणादिक अष्ट कर्म बनते है। जिन कर्मों के निमित्त से यह जीव चतुर्गतिरूप संसार मे भ्रमण करता हुआ नाना प्रकार के दु:ख उठाता है और जिनके क्षय होने से यह जीव संसार से छूटकर मोक्षपद को पाता है। इन ज्ञानावरणादि अष्टकर्मों के पिंड को ही कार्मण शरीर कहते हैं। इस प्रकार

इस जीव के औदारिक (मनुष्य तिर्यंचों का शरीर) वैक्रियिक (देव नारकियों का शरीर) आहारक तैजस (मृतक और जीवित शरीर में जो कांति का भेद है वह तैजस शरीरकृत है। मृत्यु होने पर तैजस शरीर जीव के साथ चला जाता है।) और कार्मण ये ५ शरीर हैं। इनमें से कार्मण शरीर को कम और शेष शरीरों को नो कर्म कहते हैं। जीव और कर्मों के बन्ध को कर्मबन्ध कहते हैं तथा जीव और अन्य शरीरों के बन्ध को नोकर्मबन्ध कहते हैं। भवांतर में जाने वाला जीव पूर्व शरीर को छोड़े बाद जब तक नया शरीर ग्रहण नहीं करता है तब तक के अन्तराल में उसके तैजस और कार्मण ये दो सूक्ष्म शरीर साथ में रहते हैं। इस अन्तराल का काल जैनागम में बहुत ही थोड़ा तीन समय मात्र अधिक से अधिक बताया है। अन्तराल में यह कार्मण शरीरही उसे किसी नियत स्थान पर ले जाकर नया शरीर ग्रहण कराता है। उक्त तैजस और कार्मण शरीर संसार दशा में सदा इस जीव के साथ रहते हैं। जब यह जीव भवांतर में जाकर नया शरीर ग्रहण करता है। तब सदा साथ रहने वाले दो शरीर और एक नया प्राप्त शरीर इस प्रकार जीव के कुल तीन शरीर हो जाते हैं। जिस प्रकार दूध में जल, मिश्री आदि घुल मिल जाते है। उसी प्रकार इन तीनों शरीरो का आत्मा के साथ मिश्रण हो जाता है। सदा साथ रहने वाले तैजस और कार्मण ये दो शरीर इतने सूक्ष्म हैं कि वे हमारे कभी इन्द्रियगोचर नहीं हो सकते है।

प्रश्नः "अनन्तगुणे परे" इस सूत्र के द्वारा सूत्रकार उमास्वामी ने औदारिकादि शरीरों से कार्मण शरीर के परमाणु अनन्तगुणे अधिक लिखे हैं। इससे तो कार्मण शरीर अन्य सब शरीरों से बड़ा होना चाहिये।

प्रश्न : कृषि आदि क्रियायें धान्यादि प्राप्ति की इच्छा से की जाती हैं। करने वाला पाप कमाने के अभिप्राय से उन्हें नहीं करता है। तब कर्ता को पाप का बन्ध भी क्यों माना जावे ?

उत्तर : जैसे किसान गेहूं का बीज बोता है। उनके साथ भूल से कोंदू का कोई बीज बोने में आ जाये तो उस कोंदू के बीज से कोंदू ही पैदा होगी। नहीं चाहने से उससे गेहूं पैदा नहीं हो सकते हैं। उसी तरह कृषि आदि क्रियाओं का अदृष्टफल पाप कर्मों का बंध नहीं चाहते भी पाप बंध होगा ही। जगत में दुःखी जीव बहुत हैं और सुखी जीव थोड़े हैं। इसका भी कारण यही है कि–जगत में पाप कार्यों के करने वाले बहुत जीव हैं और पुण्य कार्यों के करने वाले थोड़े जीव हैं अगर कृषि आदि सावद्यारंभ का अदृष्ट-फल पाप बंध नहीं होता तो जगत में प्रचुर मात्रा में दुःखी जीव दिखाई नहीं देते। दूसरी बात यह है कि—समान साधनों के होते हुए भी कृषि व्यापार आदि करने वालों में समान फल की प्राप्ति नहीं देखी जाती है। इसका कारण भी जीवों का अदृष्टफल पुण्य-पाप ही माना जावेगा। कारण के बिना कार्य नहीं होता है, यह नियम है। जैसे परमाणुओं से घट बनता है। यहां घट कार्य है, परमाणु कारण हैं। उसी तरह दृष्टफल में तरतमता देखी जाती है वह भी कार्य है उस का कारण भी पुण्य-पाप ही मानना पड़ेगा।

कर्मों की सिद्धि के लिये तीसरा हेतु यह है कि संसारी जीवों की गमनादि क्रियायें बिना शरीर के नहीं हो सकती हैं। जब कोई संसारी जीव पूर्व पर्याय को छोड़कर अगली पर्याय में जावेगा तब पहिले का स्थूल शरीर तो छूट जायेगा और अगला

स्थूल शरीर अभी प्राप्त नहीं हुआ। अन्तराल में (विग्रह गति में) उस जीव के अगर सूक्ष्म कार्मण शरीर भी नहीं माना जावेगा तो उसके गमन का अन्य क्या कारण होगा? विग्रहगति में यदि आत्मा को बिल्कुल अशरीरी मान लिया जावे और अशरीरी होकर भी किसी नये शरीर में जन्म लेना मान लिया जावे तब तो मुक्त जीवों का भी पुनः शरीर ग्रहण करने का प्रसंग आ उपस्थित होगा।

कर्मों की सिद्धि के लिए चौथा हेतु यह है कि—जीवों के जो राग द्वेषादि भाव पैदा होते हैं वे भाव आत्मा के निज भाव तो हैं नहीं क्योंकि उन्हें निज भाव मानने पर सिद्धों के भी उन्हें मानने पड़ेंगे। परन्तु सिद्धों के वे हैं नहीं और यदि इन भावों को जीव के न मानकर कर्मों के मानें तो कर्म पुद्गल हैं। अचेतन के द्वारा द्वेषादि भावों का होना सम्भव नहीं है। जैसे उत्पन्न हुई संतान न अकेली माता की है और न अकेले पिता की किन्तु दोनों ही के संयोग से उत्पन्न हुई मानी जानी चाहिए। जीव की इस वैभाविक परिणति से भी जीव के साथ होने वाला कर्म बंध होता है। जैसे हल्दी और चूने के मेल से एक तीसरा ही विलक्षण लाल रंग पैदा होता है। इस लाल रंग में न हल्दी का पता लगता है और न चूने का। किसी ने कहा है—

हरदी ने जरदी तजी चूना तज्यो सफेद।
दोऊ मिल एकहि भये रह्यो न काहू भेद॥

उसी तरह अरूपी जीव के साथ रूपी कर्म पुद्गलों का मेल होकर एक ऐसी तीसरी विलक्षण दशा पैदा हो जाती है जिसे हम जीव की वैभाविक अवस्था के नाम से पुकारते हैं।

इस अवस्था में न तो जीव के असली रूप का पता पड़ता है और न पुद्‌गल के असली रूप का।

कर्म और आत्मा का मेल कुछ ऐसे ढंग का समझना चाहिए कि—दोनों एक दूसरे में मिलकर एकस्थानीय बन जाते हैं। फिर भी दोनों का अपना-अपना स्वरूप अलग-अलग रहता है। न तो चेतन आत्मा पौद्‌गलिक कर्मों के मेल से अचेतन बनता है और न अचेतन कर्म चेतन बनता है। जैसे सुवर्ण और चाँदी को मिला देने से दोनों एकमेक हो जाते हैं। तथापि दोनों धातुओं का अपना-अपना गुण अपने ही साथ रहता है—गुण एक दूसरे में नहीं मिलते हैं। इसीलिए जब न्यारगर से उनका शोधन कराया जाता है तो वे दोनों धातुयें अलग-अलग हो जाती है। उसी तरह आत्मा का भी जब तपस्या के द्वारा शोधन होता है तब आत्मा और कर्म दोनों अलग-अलग हो जाते हैं। फर्क इतना ही है कि शोधे हुए सोने में कोई चाहे तो फिर भी चाँदी का मेल किया जा सकता है। किन्तु शुद्ध आत्मा में पुनः कर्मों का मेल नहीं हो सकता है। इस फर्क का भी कारण यह है कि—आत्मा के साथ कर्मों का मेल किसी वक्त मे किया हुआ नहीं है वह अनादि से चला आ रहा है इसलिए वह मेल एक बार पूर्णतया पृथक् हो जाने पर पुनः उनका मेल बनता नहीं है। यदि सुवर्ण और चाँदी का मेल भी इसी तरह अनादि का होता तो उस मेल के भी पूरे तौर पर फट जाने पर पुनः उनका मेल भी नहीं हो सकता था। दो विजातीय द्रव्य जब अनादि से मिले हुए चले आते हैं तो उनके पृथक हो जाने पर पुनः वे नहीं मिलते हैं। जैसे खान में से निकला हुआ सोना विजातीय द्रव्य से मिला हुआ रहता है। एक बार सोने में से उस विजातीय द्रव्य के पूर्णतया अलग हो जाने पर फिर सोना उस विजातीय

द्रव्य से नहीं मिल सकता है जैसे "तिल्ली में तेल" इत्यादि और भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

इसी दृष्टान्त के जरिए यह भी समझ लेना चाहिए कि अगर दस तोले सोने में एक तोला चाँदी मिलाई जावे तो इस मेल से सोना आसानी से पहिचानने में आ जाता है। किन्तु बीस तोले चाँदी में एक तोला सोना मिलाया जावे तो इस मेल में सोने की पहिचान बड़ी मुश्किल से होती है। तथापि उस मेल में भी सोना अपने गुण धर्म को नहीं छोड़कर अपने आपकी अलग सत्ता रखता है। उसी प्रकार जब आत्मा हल्के कर्मोदय से मनुष्य योनि में जाता है तो वहाँ आत्मा की पहिचान आसानी से हो जाती है। किन्तु जब घोर कर्मोदय से वह निगोद में पहुँच जाता है तो वहाँ उसको अक्षर के अनन्तवें भाग मात्र ज्ञान रहता है। वहाँ उसकी ऐसी दशा हो जाती है कि—यह जीव है कि नहीं यह पहिचानना भी कठिन हो जाता है। इतने पर भी आत्मा अपने गुण धर्म को नहीं छोड़कर वहाँ की अपनी अलग सत्ता बनाये रखता है।

जीव के होने वाले कर्म संयोग की चर्चा से जैन शास्त्रों का बहुतसा भाग भरा पड़ा है। जैनधर्म में जीव, अजीव, आस्रव, बंध, संवर, निर्जरा और मोक्ष ये सात तत्व माने हैं। तत्वों के ये भेद भी इसी विषय को लेकर हुए हैं। तमाम जैन शास्त्र प्रथमानुयोग, करणानुयोग और द्रव्यानुयोग इन चार अनुयोगों में बंटे हुए हैं। इन अनुयोगों का भी मुख्य आधार यही विषय है। प्रथमानुयोग में जो कथायें लिखी मिलती हैं उनका उद्देश्य ही यह बतलाता है कि उनमें से किन-किन ने क्या-क्या अच्छे-बुरे काम किये जिनसे कर्मबन्ध होकर उनको भवांतर में

क्या-क्या अच्छा या बुरा फल मिला। चरणानुयोग में जीवों के लिए वे आचार-विचार बताये गये हैं जिससे जीव कर्मों से छुटकारा पा सके। करणानुयोग में कर्मों के अनेक भेद-प्रभेद और उनके स्वरूप का विस्तार से वर्णन है। द्रव्यानुयोग में जीवादि द्रव्यों का वर्णन है। इस प्रकार यह कर्मसिद्धांत का विषय जैन साहित्य में सर्वत्र गर्भित है। यह नहीं तो जैनधर्म ही नहीं है और तो क्या मोक्ष मार्ग ही इसी विषय पर आधारित है।

प्रश्न : आत्मा के साथ बंधे हुए कर्मो को भी जैन शास्त्रों में कार्मण शरीर माना है और यह भी कहा है कि वह सदा संसारी जीवों के साथ रहता है। तो फिर अन्य औदारिकादि शरीरों के धारण करने की जीव को क्या आवश्यकता है ? एक कार्मण शरीर ही काफी है।

उत्तर : सूत्रकार उमास्वामी आचार्य ने "निरुपभोगमंत्यं" इस सूत्र के द्वारा बताया है कि : कार्मण शरीर उपभोग रहित है और बांधे हुए कर्मो का फल इस जीव को शरीर ग्रहण किये बिना नहीं मिल सकता है। क्योंकि इन्द्रियों के इष्ट-अनिष्ट विषयों की प्राप्ति से संसारी जीवों को सुख-दुःख का अनुभव होता है और इन्द्रियों का आधार शरीर है, इससे यह प्रकट होता है कि : शरीर होने पर ही जीव को कर्मों का फल मिल सकता है। माना कि कार्मण भी शरीर है परन्तु उसके अन्य शरीरों की तरह द्रव्येन्द्रियें नहीं हैं। इसलिये यह जीव उसके द्वारा इन्द्रिय विषय को ग्रहण नहीं कर सकता है। ऐसी हालत में आत्मा उस कार्मण शरीर के द्वारा तो कर्मों का फल भोग नहीं सकता है इसलिये आत्मा को चार गति के योग्य

अलग-अलग शरीर ग्रहण करके कर्मों का फल भोगना पड़ता है।

जैसे सीढ़ियों के बिना मकान के ऊपर की छत का उपभोग नहीं किया जा सकता उसी प्रकार कार्मण शरीर के द्रव्येन्द्रियाँ न होने से अकेले उसके द्वारा भी जीव उपभोग नहीं कर सकता।

प्रश्न : अगर ऐसी बात है तो कार्मण को जीव का शरीर ही क्यों माना जावे ?

उत्तर : उपभोग होना यह हेतु शरीर की सिद्धि के लिये नहीं है। अन्यथा तैजस भी शरीर नहीं रहेगा क्योंकि वह भी निरुपभोग है। बल्कि तैजस तो कार्मण की तरह आत्म परिस्पंदनरूप योग का निमित्त भी नहीं है तब भी वह शरीर माना गया है। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि—जो विजातीय द्रव्य आत्मा में मिलकर एकमेक (एक क्षेत्रावगाही) हो जाता है उसी की गणना यहाँ काय में की गई है। इस अपेक्षा कार्मण को भी जीव का काय कहा जा सकता है।

प्रश्न : जैन शास्त्रों में कर्म वर्गणाओं को पौद्गलिक माना है। उसी से कार्मण शरीर बनता है। इस मूर्त शरीर के साथ आत्मा का बन्ध नहीं हो सकता है।

उत्तर : स्थूल औदारिक शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध प्रयत्क्ष दिख रहा है तो सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ होना क्यों नहीं माना जावे ? और आत्मा का ज्ञानगुण अमूर्त है वह भी मदिरापान से विकृत हो जाता है। तथा ब्राह्मी आदि के सेवन से ज्ञानगुण का विकास होता है। इस तरह अमूर्त ज्ञान

पर मूर्त पदार्थों का असर होना भी प्रत्यक्ष है। जब अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध प्रत्यक्ष हमारे सामने है तब परोक्ष सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ आत्मा का सम्बन्ध भी क्यों नहीं माना जा सकता है? माना कि जीव और कर्म दोनों विजातीय हैं एक अमूर्त और चेतन है तो दूसरा मूर्त और अचेतन है। इस विजातीय सम्बन्ध से ही तो जीव की अशुद्ध दशा हुई है। ऐसी दशा जीव की कभी किसी की हुई नहीं है, वह अनादिकाल से चली आ रही है। जो दशा अनादि से चली आ रही है। उसमें तर्क नहीं किया जा सकता कि ऐसा विजातीय सम्बन्ध कैसे हुआ। जैसे पाषाण के साथ सुवर्ण का संयोग जिसे कनकोपल कहते हैं। संयोग भी तो विजातीय ही है। कहाँ सुवर्ण और कहाँ पाषाण? पर क्या किया जावे खान में से निकलते वक्त अनादि से दोनों का ऐसा ही संयोग है। अगर जैन धर्म ऐसा कहता होता कि—पहले आत्मा कर्म संयोग से रहित था बाद में उसके कर्मों का बंध हुआ है तब तो ऐसा तर्क करना भी वाजिब हो सकता है कि—अमूर्त का मूर्त के साथ बन्ध कैसे हुआ? परन्तु जैनधर्म तो जीव और कर्म के सम्बन्ध को अनादि कहता है। वस्तु की जो व्यवस्था बिना किसी के की हुई अनादि से चली आ रही है। उसमें तर्क की कोई गुंजाइश ही नहीं है। जैसे अनादि से चले आ रहे सुवर्ण और पाषाण के मेल में कोई तर्क करे कि यह विजातीय सम्बन्ध क्यों हुआ? कैसे हुआ? ऐसा तर्क निःसार है। उसी तरह जीव और कर्म के सम्बन्ध में तर्क करना निःसार है।

मूर्तिक औदारिकादि शरीरों का सम्बन्ध भी आत्मा के इसी कारण से होता है कि—मूर्त कार्मण शरीर का सम्बन्ध आत्मा के पहिले ही से हो रहा है। अगर कार्मण से सम्बन्धित

आत्मा पहले से न होता तो औदारिकादि शरीरों का सम्बन्ध भी आत्मा के नहीं हो सकता था। मतलब कि मूर्त कार्मण शरीर का सूक्ष्म मिश्रण आत्मा के साथ पहले ही से हो रहा था इसी से मूर्त औदारिकादि शरीरों का स्थूल मिश्रण भी उस मिश्रण में मिल जाता है। अगर पहले से सूक्ष्म मिश्रण न हुआ होता तो बाद में स्थूल मिश्रण भी नहीं हो सकता था। यह स्थूल मिश्रण भी सूक्ष्म कार्मण शरीर की सिद्धि में एक हेतु हो सकता है। पूर्व में बिना कार्मण शरीर के सम्बन्ध के अन्य औदारिक शरीरों का सम्बन्ध होना मानने पर मुक्त जीवों के भी पुनः शरीर ग्रहण करने का प्रसंग आवेगा। इत्यादि कथन आचार्य विद्यानंदि ने तत्वार्थसूत्र के दूसरे अध्याय के "सर्वस्य" सूत्र की व्याख्या करते हुए श्लोकवार्तिक में निम्न शब्दों में प्रकट किया है—

> सर्वस्यानादिसंबंधे चोक्ते तैजसकार्मणे।
> शरीरांतरसंबंधस्यान्यथानुपपत्तितः॥

तैजसकार्मणभ्यामन्यच्छरीरमौदारिकादि, तत्संबंधोऽस्मदादीना तावत् सुप्रसिद्ध एव स च तैजसकार्मणाभ्यां संबंधोऽनादि संबंधमंतरेण नोपपद्यते मुक्तस्यापि तत्संबंधप्रयोगात्।'

अर्थ—सभी जीवों के तैजसकार्मण शरीर अनादिकाल से सम्बन्ध रखनेवाले कहे गये हैं। यदि ऐसा न माना जायेगा तो अमूर्त जीव के अन्य मूर्त और औदारिकादि शरीरों के सम्बन्ध की संगति ही नहीं बन सकेगी। तैजस और कार्मण शरीर से जुदे औदारिकादि शरीर हैं। उनका सम्बन्ध हम संसारी जीवों के हो रहा है, यह प्रसिद्ध ही है। वह सम्बन्ध तैजसकार्मण के

साथ अनादि संबंध माने बिना नहीं बन सकता है। अन्यथा मुक्त जीव के भी उन शरीरों का सम्बन्ध प्रयोग होने लग जावेगा।

भावार्थ—अमूर्त आत्मा का मूर्त तैजसकार्मण शरीरों के साथ अनादि से सम्बन्ध चला आ रहा है। इसी से तो हमारी आत्मा के साथ औदारिक शरीर का सम्बन्ध प्रत्यक्ष दिख रहा है। अन्यथा अमूर्त का मूर्त के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता था। यह संसारी जीव औदारिकादि स्थूल शरीरों के साथ बहुत काल तक रहता है। अकेले सूक्ष्म कार्मण शरीर के साथ तो बहुत ही कम रहता है। वह भी हर विग्रहगति में अधिक-से-अधिक तीन समय मात्र ही।

जीव और कर्मोका सम्बन्ध जो अनादिकाल का कहा जाता है वह प्रवाह की अपेक्षा समझना चाहिये। जैसे मनुष्य लोक में मनुष्य जन्मते और मरते हैं परन्तु लोक कभी मनुष्यों से शून्य नहीं रहा है। यह प्रवाह सदा से चलता आ रहा है। उसी तरह आत्मा में पुराने कर्म झडते और नये कर्म बंधते रहते है। आत्मा कभी कर्म शून्य नहीं रहा है। यह प्रवाह अनादि से चला आ रहा है। जैसे बीजों से वृक्ष पैदा होते हैं और वृक्षों से बीज पैदा होते हैं यह परम्परा अनादि से चली आ रही है। न पहले बीज हुआ और न पहिले वृक्ष हुआ। बीज को पहले मानें तो वह बिना वृक्ष के कहां से आया और वृक्ष को पहले मानें तो वह भी बीज के बिना कैसे पैदा हुआ? इसलिये दोनों को अनादि मानने से ही वस्तु व्यवस्था बन सकती है। उसी तरह कर्मों के निमित्त से जीव के रागद्वेष भाव पैदा होते हैं और रागद्वेष से पुनः कर्मो का बन्ध होता है यह सिलसिला भी अनादि से चला आ रहा है। जीव के न पहले रागद्वेषादि भाव हुए और न

पहले कर्म हुए। रागद्वेष को पहले मानें तो बिना कर्मोदय के कैसे हुए ? और कर्मो को पहले मानें तो वे भी रागद्वेष के बिना जीव के कैसे बन्ध गये ? इसलिए यहां भी दोनों ही को अनादि मानने से वस्तु व्यवस्था बन सकेगी। पचास्तिकाय ग्रन्थ में कहा है कि—

जो पुण संसारत्थो जीवो
तत्तो दु होदि परिणामो।
परिणामादो कम्मं कम्मादो
होदि गदिसु गदी ॥१२८॥

गदिमधिगदस्स देहो देहादो
इन्दियाणी जायंते।
तेहिं दु विसयग्गहणं तत्तो
रागो य दोसो वा ॥१२९॥

जायदि जीवस्सेयं भावो
संसारचक्कवालम्मि।
इति-जिणवरेहिं भणिदो अणादि-
णिधणो सणिधणो वा ॥१३०॥

अर्थ—जो जीव संसार में स्थित है उसके रागद्वेष रूप परिणाम होते हैं। उन परिणामों से नये कर्म बंधते हैं। कर्मों से गतियो में जन्म लेना पड़ता है। जन्म लेने से शरीर मिलता है। शरीर मे इन्द्रियाँ होती है। इन्द्रियों से यह जीव विषयों को ग्रहण करता है। विषयों के ग्रहण करने से इष्ट विषयों में रागभाव व अनिष्ट विषयों में द्वेषभाव पैदा होता है। इस प्रकार संसार चक्र में पड़े हुए जीव के भावों से कर्मबन्ध और कर्मबन्ध

से रागद्वेष रूप भाव होते रहते हैं। यह चक्र अभव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि अनन्त है और भव्य जीवों की अपेक्षा से अनादि शांत है।

यह जीव स्थूल शरीरों को अनन्तवार ग्रहण कर-कर के छोड़ता आया है। परन्तु तब भी यह संसार से नहीं छूट सका है। जब तक इसके सूक्ष्म कार्मण शरीर लगा हुआ है तब तक यह संसार से नहीं छूट सकता है। जैसे जब तक चावल पर से छिलका दूर नहीं हो जाता तब तक उसमें अंकुरोत्पत्ति बनी ही रहेगी। उसी प्रकार जब तक कर्मरूप छिल्का आत्मा पर बना हुआ है तब तक संसाररूप अंकुर भी बना ही रहेगा। भावकर्म से द्रव्यकर्म और द्रव्यकर्म से भावकर्म होता रहता है। पूर्वकर्मों के उदयकाल में होने वाले रागद्वेष भावों को भावकर्म कहते हैं और रागद्वेष से होने वाला कर्मबन्ध द्रव्यकर्म कहलाता है।

प्रश्न : पूर्व संचित कर्मों के उदय से रागद्वेष भाव होते हैं और रागद्वेष से नये कर्म बंधते हैं यह क्रम बीज वृक्ष की तरह अगर अनादि से चला आ रहा है तो इसका उच्छेद तो कभी होने का नहीं है।

उत्तर : आगम वाक्य ऐसा है—

दग्धे बीजे यथात्ययं प्रादुर्भवति नांकुरः।
कर्म बीजे तथा दग्धे न रोहति भवांकुरः॥

अर्थ : जैसे चले हुए बीज में बिल्कुल भी अंकुर पैदा नहीं होता है। उसी प्रकार कर्मरूपी बीज के जला देने पर उससे भी भवांकुर उत्पन्न नहीं होता है। तात्पर्य इसका यह हुआ कि—

जैसे किसी एक बीज के किसी वक्त दग्ध कर देने पर उसकी आगामी काल में होने वाली बीज वृक्ष की श्रृंखला समाप्त हो जाती है। उसी प्रकार सम्यग्दृष्टि जीव कर्मों के उदयकाल अपने विवेक से इष्ट विषयों में आसक्ति भाव और अनिष्ट विषयों में विषाद भाव नही करता है तब उसके नये कर्मो का बन्ध नहीं होने और पुराने कर्मों का उदय हो निर्जर जाने से उसके भी फिर भाव कर्म-द्रव्यकर्म की श्रृंखला टूट जाती है। क्योंकि केवल पूर्व कर्म के फल का भोगना ही नये कर्मों का बंधक नहीं होना किन्तु कर्मो के भोगकाल में जो नूतन रागादि भाव उत्पन्न होते हैं, उनसे बन्ध होता है।

मन, वचन, काय इन तीनों की या इनमें से किसी एक की क्रिया से आत्मा में उत्पन्न होने वाली हरकत को जैन दर्शन में योग नाम से कहा है (जो ऐसी हरकत नहीं होने देता अर्थात जो तीन गुप्तियों का धारी है वह योगी कहलाता है)। इस योग के द्वारा कार्मण वर्गणाओं का आत्मा से सम्बन्ध होने के लिये आकर्षण होता है। जिस प्रकार चुम्बक में लोहे को अपनी तरफ खींचने का स्वभाव होता है उसी प्रकार संसारी जीव में योग के प्रभाव से कार्मण पुद्गलों को अपनी तरफ खेंचने की शक्ति होती है और कार्मण पुद्गलों में संसारी जीव की तरफ खिचने का स्वभाव होता है।

कर्म पुद्गलों का खिंच आकर आत्मा से सम्बन्ध करना और उनमें स्वभाव का पड़ना यह कार्य योग से होता है। यदि वे कर्म पुद्गल किसी के ज्ञान में बाधा डालने वाली क्रिया से खिचे हैं तो उनमें ज्ञान के आवरण करने का स्वभाव पड़ेगा और यदि रागादि कषायों से खिचे हैं तो चारित्र के नष्ट करने

का स्वभाव पड़ेगा। इसे ही प्रदेशबंध और प्रकृतिबंध कहते है। योग से सिर्फ इतना ही काम होता है। कर्मों का आत्मा के साथ अमुक काल तक टिके रहना और अपना फल आत्मा को पहुँचाना जिसे कि स्थिति बन्ध और अनुभाग बन्ध कहते हैं यह काम अकेले योग का नहीं है, योग के साथ होने वाली कषायों का है। कषायों के बिना कर्म परमाणु आत्मा में टिकते नहीं हैं। जैसे आते हैं वैसे ही चले जाते हैं। जैसे एक स्तम्भ पर यदि सच्चिकण वस्तु तैलादि लिपटे हुए हों तो वायु से उड़कर आई धूलि स्तम्भ पर चिपट जाती है। वरना चिपटती नहीं है— स्तम्भ का स्पर्शमात्र होकर वह गिर पड़ती है। स्तम्भ पर जितना हलका-गहरा चेप लगा होगा उसी माफक धूलि हलकी-गहरी चिपक सकेगी। उसी तरह यदि कषाय तीव्र होगी तो कर्म जीव के साथ बहुत समय तक बन्धे रहेंगे और फल भी तीव्र देंगे। यदि कषाय हलकी होगी तो कर्म कम समय तक बन्धे रहेंगे और फल भी कम देंगे।

कर्मों के स्वभाव आठ प्रकार के है, इस कारण उन-उन स्वभाव के रखने वाले कर्मो के नाम भी वैसे ही रख दिये गये हैं। वे नाम इस प्रकार हैं ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र और अंतराय।

(१) ज्ञानावरण कर्म—जीव के ज्ञानगुण को पूर्णतः प्रगट नहीं होने देता है। इसी की वजह से अलग-अलग जीवों में ज्ञान की होनाधिकता पाई जाती है।

(२) दर्शनावरण कर्म—जीव के दर्शनगुण को ढांकता है।

(३) वेदनीय कर्म—जीव को सुख-दुःख का अनुभवन कराता है।

(४) मोहनीय कर्म—मोहित कर देता है—मूढ़ बनाता है। इसके दो भेद हैं एक वह जो जीव को सच्चे मार्ग का भान नहीं होने देता, इसका नाम दर्शन-मोहनीय है। दूसरा वह जो सच्चे मार्ग का भान हो जाने पर भी उस पर चलने नहीं देता। इसे चारित्र मोहनीय कहते हैं।

(५) आयु कर्म—यह किसी अमुक समय तक जीव को किसी एक शरीर में रोके रखता है। इसके छिद जाने पर जीव की मृत्यु कही जाती है।

(६) नाम कर्म—इसकी वजह से शरीर और उसके अंगोपांग आदि की रचना होती है। चौरासी लाख योनियों में जो जीव की अनन्त आकृतियां हैं उनका निर्माता यही कर्म है।

(७) गोत्र कर्म—इसके कारण जीव ऊँच-नीच कुल का कहा जाता है।

(८) अन्तराय कर्म—इसकी वजह से इच्छित वस्तु की प्राप्ति में रुकावट पैदा होती है।

जैन सिद्धांत में कर्मों की १० मुख्य अवस्थायें या कर्मों में होने वाली दस मुख्य क्रियायें बतलाई हैं जिन्हें करण कहते है। उनके नाम-बन्ध, उत्कर्षण, अपकर्षण, सत्ता, उदय, उदीरणा, संक्रमण, उपशम, निधत्ति और निकाचना हैं।

बंध—कर्म पुद्गलों का जीव के साथ सम्बन्ध होने को बन्ध कहते हैं। यह सबसे पहली दशा है। इसके बिना अन्य कोई अवस्था नहीं हो सकती। इसके चार भेद हैं—प्रकृतिबन्ध, स्थितिबन्ध, अनुभागबन्ध और प्रदेश बन्ध। जब जीव के साथ कर्म पुद्गलों का बन्ध होता है तो उनमें जीव के योग और

कषाय के निमित्त से चार बातें होती हैं। प्रथम तुरन्त ही उनमें ज्ञानादिक के आवरण करने वगैरह का स्वभाव पड़ जाता है। दूसरे उनमें स्थिति पड जाती है कि—ये अमुक समय तक जीव के साथ बन्धे रहेंगे। तीसरे उनमें तीव्र या मन्द फल देने की शक्ति पड जाती है। चौथे वे नियत तादाद में ही जीव से सम्बद्ध होते है।

उत्कर्षण- स्थिति और अनुभाग के बढ़ने को उत्कर्षण कहते हैं।

अपकर्षण—स्थिति और अनुभाग के घटने को अपकर्षण कहते हैं।

बन्ध के बाद बन्धे हुए कर्मों में ये दोनों उत्कर्षण-अपकर्षण होते हैं। बुरे कर्मों का बन्ध करने के बाद यदि जीव अच्छे कर्म करता है तो उसके पहिले बांधे हुए बुरे कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति अच्छे भावों के प्रभाव से घट जाती है। इसे ही अपकर्षण कहते हैं और अगर बुरे कर्मों का बन्ध करके उसके भाव और भी अधिक कलुषित हो जाते हैं जिससे वह और भी अधिक बुरे काम करने पर उतारू हो जाता है तो बुरे भावों का असर पाकर पूर्व में बांधे हुए कर्मों की स्थिति और फलदान शक्ति और भी अधिक बढ़ जाती है, इसे ही उत्कर्षण कहते हैं। इन दोनों के कारण ही कोई कर्म जल्दी फल देता है और कोई देर में। तथा किसी कर्म का फल तीव्र होता है और किसी का मन्द।

सत्ता—बंधने के बाद तुरन्त ही कर्म अपना फल नहीं देता है। कुछ समय बाद उसका फल मिलना शुरू होता है। तब तक वह सत्ता में रहता है। जैसे शराब पीते ही तुरन्त

अपना असर नहीं देती किन्तु कुछ समय बाद अपना असर दिखलाती है। वैसे ही कर्म भी बधने के बाद तुरन्त अपना फल न देकर कुछ समय तक सत्ता में रहते हैं। इस काल को जैन परिभाषा में अबाधा काल कहते हैं।

उदय—कर्मों के फल देने को उदय कहते हैं। यह उदय दो तरह का होता है। फलोदय और प्रदेशोदय। जब कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाता है तो वह फलोदय कहा जाता है और जब कर्म बिना फल दिये ही अलग हो जाता है तो उसे प्रदेशोदय कहते हैं।

उदीरणा—जैसे आमों को पाल में देने से वे डाल की अपेक्षा जल्दी पक जाते हैं। उसी तरह कभी-कभी कर्मों का अपना स्थितिकाल पूरा किये बिना ही फल भुगता देना उदीरणा कहलाती है। उदीरणा के लिये पहिले अपकर्षणकरण के द्वारा कर्म की स्थिति को कम करना पड़ता है। जब कोई असमय में ही मर जाता है तो उसकी अकाल मृत्यु कही जाती है। इसका कारण आयु कर्म की उदीरणा ही है। स्थिति का घात हुए बिना उदीरणा नहीं होती।

संक्रमण—एक कर्म का दूसरे सजातीय कर्मरूप हो जाने को संक्रमणकरण कहते हैं। यह संक्रमण कर्मों के मूल भेदों में नहीं होता है न ज्ञानावरण दर्शनावरण रूप होता और न दर्शनावरण ज्ञानावरण रूप ही। किन्तु अपने ही अवांतर भेदों में होता है जैसे वेदनीय कर्म के दो भेदों से साता वेदनीय असाता वेदनीय रूप हो सकता है और असाता वेदनीय साता वेदनीय रूप हो सकता है। किन्तु कर्म के लिये अपवाद है। आयु कर्म के चार भेदों में परस्पर संक्रमण नहीं होता है। जिस गति की

आयु बांधी है नियमतः उसी गति में जाना पड़ता है। उसमें रद्दोबदल नहीं हो सकता।

उपशम—कर्म को उदय में आ सकने के अयोग्य कर देना उपशमकरण कहलाता है।

निधत्ति—जिस कर्म की उदीरणा हो सकती हो किन्तु उदय और संक्रमण न हो सके उसको निधत्ति कहते हैं।

निकाचना—जिस कर्म की उदीरणा, संक्रमण, उत्कर्षण और अपकर्षण ये चारों ही अवस्थायें न हो सके उसे निकाचना-करण कहते हैं।

और भी कर्म सिद्धांत की बहुत सी बातें हैं जो जैन कर्म साहित्य से जानी जा सकती हैं। यहां विस्तारभय से नहीं लिखा जाता।

शंका—कर्म जड़ (ज्ञान शून्य) होते हैं। उन्हें ऐसा बोध ही नहीं होता कि—अमुक जीवों को अमुक समय पर उनकी अमुक-अमुक करणी का अमुक-अमुक फल देना है, ऐसी सूरत में जैनों का कर्म सिद्धांत निरर्थक सा प्रतीत होता है।

समाधान—जड़ पदार्थ भी अपनी शक्ति और स्वभाव के अनुसार ठीक समय पर व्यवस्थित काम करते देखे जाते हैं। समुचित मात्रा में सर्दी गर्मी के मिलने पर बर्फ गिरना, बरसात होना, ठंडक-गर्मी का पड़ना, बादलों के आपस में टकराने पर विजली उत्पन्न होना, भूचाल-तूफान आना, ऋतुओं का पलटना आदि प्रायः सभी काम जड़ पदार्थों के अपने-अपने स्वभावानुसार ठीक समय पर अपने आप हो जाया करते हैं। कोई भी ज्ञान-धारी वहां कुछ करने धरने नहीं पहुंचता है। हम भोजन करते

हैं। हमारा काम सिर्फ आहार को पेट में पहुँचा देना होता है। आगे वह उदरस्थ आहार वगैर हमारे प्रयत्न के अपने आप अनेक क्रियायें करता है। यथायोग्य जठराग्नि के द्वारा यथायोग्य रस, रक्त, मांस, अस्थि, मज्जा, वीर्यादि बन जाते हैं। यह सब काम जड़ ही करता है कि यह प्रत्यक्ष है। यह बात निम्न गाथा में कही है –

जह पुरिसेणाहारो गहियो।
परिणमइ सो अणेयविहं।
मंसवसा रुहिरादी भावे।
उयरग्गिसंजुत्तो ॥१७९॥
[समयप्राभृत]

अर्थ—जिस प्रकार पुरुष के द्वारा खाया गया भोजन जठराग्नि के निमित्त से मांस, चरबी, रुधिरादि रूप परिणत हो जाता है उसी प्रकार यह जीव अपने भावों के द्वारा जिस कर्म पुंज को ग्रहण करता है। उसका तीव्र, मंद मध्यम कषाय के अनुसार विविध रूप परिणमन होकर वह अनेक प्रकार से फल देता है।

आये दिन अखबारों में पूर्व जन्म की घटनायें छपती रहती हैं जिनमें कर्मों की फल प्राप्ति का भी जिकर आ जाया करता है। ऐसी ही एक घटना का हाल हम यहां लिख देते हैं—

आयरलैंड में एक चार वर्ष के बालक ने अपनी पूर्व जन्म की कथा लोगों के सामने अपने माता-पिता को बार-बार सुनाई। प्रथम तो माता-पिता का उस कथा को सुनकर विश्वास ही नहीं हुआ और यह समझा कि बालक के मस्तक में बिगाड़

हो गया है या माइंड में गर्मी बढ़ गई दिखती है, इसलिये इसका अच्छा इलाज कराना चाहिये। अनेक अच्छे-अच्छे डाक्टरों ने उस बालक के मस्तिष्क को जांच करके कहा कि इसका मस्तिष्क पूर्णतः शुद्ध और निर्विकार है। जैसा उत्तम मस्तिष्क इसका है वैसा अन्य बालकों में मिलना कठिन है। तब लाचार होकर माता-पिता ने उस बालक के कथनानुसार उसके जन्मांतर के माता-पिता की खोज कराई। बालक ने जन्मांतर के अपने माता पिता का निवास काठियावाड में राजकोट के पास एक ग्राम में बताया था। भारत सरकार द्वारा शोध की गई तो उसके माता-पिता आदि के नाम, उस बालक की पूर्व जन्म में मरने की तारीख, उसके बताये घर के काम सब ज्यों के त्यों मिल गये। मरण के ८॥ मास बाद उस बालक ने आयरलेंड में जन्म लिया था। पूर्व जन्म में उस बालक के जीव ने एक पड़ोसी बुढ़िया की रुग्णावस्था मे सेवा की थी और गरीब लोगों को वस्त्र दान मे बांटे थे। जिन वस्त्रों को वह दान में देता था, एक दिन उनमें सर्प छिपकर बैठ गया और बालक के पूर्वभव के जीव को काट खाया उससे मरकर वह आयरलेंड में एक करोड़पति के यहाँ पैदा हुआ।

इस प्रकार कर्म सिद्धांतके विषयों में जितनी युक्तियुक्त और सूक्ष्म विवेचना जैनधर्म में की गई है वैसी अन्य धर्म में नहीं है। अनेकांतवाद, अहिंसावाद की तरह कर्मवाद भी जैनधर्म का एक खास सिद्धांत है। कर्म क्या है? क्यों बन्धते हैं? बन्धने के क्या-क्या कारण हैं? जीव के साथ वे कब तक रहते हैं? क्या-क्या फल देते हैं? उनसे छुटकारा कैसे हो सकता है? इत्यादि बातों का खुलासा केवल जैन-धर्म में ही मिलता है और बिल्कुल वैज्ञानिक ढंग से मिलता है।

४५

क्या कभी जैनी भाई भी विद्वानों का आदर करना सीखेंगे ?

"वीरवाणी" के हाल ही के अंक में बम्बई में इन बीस वर्षों में किसी जैन विद्वान् का स्थायी निवास न होने पर चिंता व्यक्त की गई है। अभी हुआ ही क्या है ? आगे २ देखना होता है क्या ? जैन विद्वानों के प्रति जैसा रवैय्या दि० जैन समाज अपना रही है, यदि यही हाल रहा तो थोड़ेही वर्षों में बम्बई ही नहीं अन्य शहरों के लिये भी यह चिंता उत्तरोत्तर बढ़ती ही जायेगी। हम देखते हैं कि जिस दि० जैन समाज में विद्वत्ता की प्राप्ति से न तो जीविका की समस्या हल होती है और न ही उसका विद्वता के लिहाज से सन्मान ही होता है। उस समाज में भला विद्वान् बनने की किसकी इच्छा होगी ? यहाँ तो सब धान २२ पंसेरी हैं, यह तो वणिक् समाज है। इस समाज में विद्वानों की कदर नहीं है। धनाढ्यों की कदर है। यहाँ विद्या से अधिक धन को महत्व दिया जाता है। एक विद्वान् शास्त्रोक्त बात कहे तो पंचायत में उसकी कोई नहीं सुनेगा। वहाँ श्रीमंतों का ही बोलबाला देखा जाता है उन्होंने जो कुछ कह दिया तो उनकी हाँ में हाँ सब मिला देंगे। ऐसा इस समाज का हाल है। "धनवान् बलवान् लोके धनाद्‌भवति पंडितः" की

उक्ति यहाँ चरितार्थ हो रही है। "विद्वान् सर्वत्र पूज्यते" का जमाना अब नहीं रहा। वह पुराना जमाना था जब राजा भोज जैसे विद्याप्रेमी नरपुंगव इस धरातल पर बसते थे। उनके लिये कहा जाता है कि एक महाविद्वान् ने जिस दम यह सुना कि राजाभोज का स्वर्गवास होगया तो उसके मुँह से एकदम निकल पड़ा कि—

अद्य धारा निराधारा निरालंबा सरस्वती।
पंडिताः खंडिताः सर्वे भोजराजे दिवंगते ॥

अर्थ—राजा भोज के स्वर्ग सिधारने पर आज धारा नगरी निराधार होगई। सरस्वती को अब आश्रय देने वाला कोई नहीं रहा। पंडित सब खंडित होगये—उनका मान सन्मान करने वाला उठ गया।

राजा भोज की यह घोषणा थी कि मेरी नगरी में संस्कृत का पाठी यदि कुम्हार भी है तो वह खुशी से रहो। पर यदि ब्राह्मण भी है और वह संस्कृत विद्या से हीन है तो वह मेरी नगरी में नहीं रह सकता है। कहते हैं कि उसकी इस नीति के फलस्वरूप उसकी पालकी को ढोने वाले कहार तक संस्कृत के ज्ञाता थे।

पं० आशाधरजी ने अनगारधर्मामृत की टीका में प्राचीन पद्य इस प्रकार उद्धृत किया है—

जैनश्रुततदाधारौ तीर्थं द्वावेव तत्त्वतः।
संसारस्तीर्यते ताभ्यां तत्सेवी तीर्थसेवकः ॥
[संस्कृत संस्करण पृ० १४०]

अर्थ—जिनवाणी और जिनवाणी के ज्ञाता पंडित ये दो ही वास्तव में तीर्थ हैं। क्योंकि ये दोनों ही इस जीवको संसार से तिरानेवाले हैं। जो इनको सेवा करते हैं वे ही सच्चे तीर्थ सेवक कहलाते हैं।

मानाकि हमारे प्रतिभाशाली आचार्यों ने हमारे कल्याण के वास्ते उच्चकोटि के शास्त्र रच कर भगवान की वाणी को हमारे तक पहुँचाई। किन्तु उन शास्त्रों को जानने पढ़ने वाले ये पंडित लोग ही जब नही रहेंगे तो उनका व्याख्यान कौन करेगा? शास्त्र ही सब बेकार हो जायेंगे। इसलिये उक्त प्राचीन पद्य में शास्त्र ही नहीं शास्त्रों के ज्ञाताओं को भी तीर्थतुल्य बताया है वह यथार्थ है। उसमें कुछ भी अत्युक्ति नहीं है। मुमुक्षुओं के लिये तो एक तरह से वे जैन पंडित ही चलते फिरते जगमतीर्थ हैं। इसमें कोई शक नही है। किन्तु ये बातें तो उस युग की थी, जब प्राणियों की वांछा संसार सागर से तिरने की रहा करती थी। उनके लिये तो सचमुच ही जैन पंडित तीर्थ-तुल्य ही थे। किन्तु वर्तमान का युग तो अर्थ युग है। इस युग के मनुष्य संसार से तिरना ही नहीं चाहते है उन्होंने तो अपना सबसे बड़ा कल्याण धन के संग्रह करने में समझ रक्खा है। जिस परिग्रह को जैनाचार्योंने पाप बता कर उसे त्यागने का उपदेश दिया—उसी परिग्रह के संचय में इन्होंने अपना उद्धार मान लिया है और कुछ तो धनमद से ऐसे उद्धत होगये हैं कि—ये जैन पंडितों को तीर्थतुल्य तो क्या मानेंगे उन्हें तृणतुल्य भी नहीं मानते। ऐसी स्थिति में इनसे यह आशा कभी नहीं की जा सकती कि ये जैन पंडितों को तीर्थतुल्य मानेंगे।

आचार्य श्री वीरनन्दि ने चंद्रप्रभ काव्य में लिखा है कि—

"न हारयष्टिः परमेव दुर्लभा
समतभद्रादिभवा च भारती ।"

बहुमूल्य हार की लड़ी इतनी दुर्लभ नहीं है जितनी कि समंतभद्रादि ऋषियों की वाणी दुर्लभ है।

यह प्रतिष्ठा की बात है कि आज के कुछ जैनधन कुबेर साहित्य की ओर आकर्षित हुये हैं। वे किसी विशिष्ट साहित्यिक रचना पर प्रति वर्ष लाख २ रुपयों का पुरस्कार देने में भी संकोच नहीं करते हैं। ये पुरस्कार अभी तक जैनेतरों को ही मिल पाये हैं। क्योंकि उसका कार्यक्षेत्र सार्वजनिक है। उसका उद्देश्य प्रधानतः जिनवाणी के ज्ञाता विद्वानों के प्रोत्साहन के लिये नहीं है। जिस जिनवाणी को कि हमारे आचार्यों ने अपार मूल्य की बताई है। पं० आशाधरजी ने कहा है—

"वरमेकोऽप्युपकृतो जैनो नान्ये सहस्रशः।"

"एक भी जैन का उपकार करना जितना श्रेष्ठ है उतना अन्य हजारों का उपकार करना नहीं है।" इस मर्म को समझने की जरूरत है।

जैन साहित्य और उसके ज्ञाताओं के बिना त्रिकाल में भी जैनधर्म का प्रकाश नहीं हो सकता है यह अटल सत्य है। एक कवि ने भी कहा है कि—

अंधकार है वहां, जहां आदित्य नहीं है।
है वह मुर्दा देश, जहां साहित्य नहीं है।।

आज के श्रीमानों को जैन पंडितों की जरूरत भी क्या है? इनके बिना उनका कौनसा काम बिगड़ रहा है? कभी २ उनको पूजा प्रतिष्ठा या जैन विवाहादि के अवसर में जैन

पंडितों की जरूरत पड़ जाती है तो थोड़ी बहुत उनकी खुशामदी करके अपना काम निकाल ही लेते हैं। काम निकले बाद कभी उनको फूटी आँख से भी वे नहीं देखते हैं। अहसान मानना तो दूर रहा। यही नही जैन लेखक जब समय लगा कर बड़े परिश्रम से लेख लिखकर अपना ही गांठ का डाक खर्च लगाकर उन्हें दि० जैन पत्रों में प्रकाशनार्थ भेजते हैं तो पत्रकार उन्हें किसी तरह छाप तो देते हैं। परन्तु जिस अंक में वह छापा जाता है वह अंक भी उन लेखकों को फ्री नहीं भेजा जाता है। इस अनुदारता का भी कोई ठिकाना है। ऐसी नीति जैनमित्र आदि कुछेक पत्रों को छोड़कर बाकी सब ही की है। श्वेताम्बर जैन पत्रकार तो अंक ही नहीं दि० जैन लेखकों को पुरस्कार तक भी देते हैं। गीता प्रेस गोरखपुर का विख्यात पत्र ' कल्याण" में भी किसी का लेख छपता है तो लेखक को साधारण अंक ही नहीं उसका बहुमूल्य विशेषांक भी भेट में मिलता है। परन्तु दि० जनपत्रों का अजब हाल है। उन्हें लेखकों की परवाह नहीं है। जिस समाज में पंडितों के प्रति ऐसा रूखा व्यवहार है उस समाज में पंडित नजर आरहे हैं यही आश्चर्य है। समाज की जैसी मनोवृत्ति है वैसी ही दशा उसकी होकर रहेगी। वह समय दूर नहीं जब सैकड़ों कोसों पर कोई विरला ही जैन पंडित सुनने को मिलेगा और तब पंडितों के लिये समाज तरसेगी। आये साल जैन पंडितों की कमी होती जा रही है। इस वर्ष ही तीन प्रसिद्ध पंडित—अजितकुमार जी, जुगलकिशोरजी और चैनसुखदासजी चल बसे। इसी तरह दस बीस वर्षों में पुराने पंडित सब दिवंगत हो जायेंगे। और समाज की पंडितों के प्रति वर्तमान में जो उपेक्षावृत्ति है उसे देखते हुये नये पंडित भी कोई क्यों बनेंगे ?

हमने भूमिका ही कुछ ऐसी बनादी है जिससे पण्डित होना एक अभिशापही समझा जावेगा (जैन पण्डितों की दो स्थानों के लिये मांग होती है—एक जैन विद्यालयों में अध्यापक के लिये और दूसरी शास्त्र सभा के लिये। सो शास्त्र सभा के लिये तो ऐसी कोई जरूरी नहीं है, पण्डित आसानी से मिल जाये तो ठीक है, नहीं तो न सही। क्योंकि धार्मिक रुचि लोगों में घटती जा रही है। रही अध्यापकी की बात सो जैन विद्यालय तो तेजी से उठते जा रहे हैं। क्योंकि आज के जैनी भाई प्रायः अपने लड़कों को सरकारी स्कूलों में ही पढाना ही अच्छा समझते हैं। कारण कि वहाँ की पढ़ाई से अच्छी तनखा पर सरकारी नौकरी मिल जाती है ऐसी उनकी धारणा है। जैन विद्यालय की पढाई से तो न समाज में पूछ है और न कोई नौकरी है। और जैन विद्यालयों में नौकरी भी कहीं मिल जाये तो बहुत कम वेतन पर, जिससे उसका गुजारा भी मुश्किल से चले। अतः उनका कहना है कि—इस पढ़ाई को पढ़ाना एक तरह से लड़कों का जीवन बिगाड़ना है इस प्रकार जिन कामों के लिये जैन पण्डितों की जरूरत पड़ती थी वे काम ही अब नहीं रह रहे हैं तो नये जैन पण्डित होने की आशा ही अब क्या की जावे ?) इतना सबकुछ होते हुए भी समाज जैन पण्डितों का बहु सन्मान करती होती, उनको अपनी पलकों पर बैठाती होती तबभी कुछ गनीमत थी, इससे यह क्रम किसी तरह चलता रहता, किन्तु आज तो स्थिति बडी भयंकर है। समाज हितैषी नेताओं का प्रमुख कर्त्तव्य है कि वे इस समस्या पर दूरदर्शिता से अविलम्ब विचार करें।

विद्वानों के प्रति ही नहीं, अधिकांश श्रीमंतों की अभिरुचि तो जैन साहित्य के प्रति भी नहीं है। प्रायः सभी जैन

मन्दिरों के प्रबंधक ये ही लोग होते हैं और जैन मन्दिरों में रुपये की कभी प्रायः होती नहीं उस रुपैये को ये लोग मन्दिर के अन्य कामों में तो अनाप-सनाप खर्च कर देते हैं, पर जब यह कहा जाता है कि—जो जैन शास्त्र नये प्रकाशित होते हैं उनकी एक २ प्रति जैन मन्दिर में अवश्य मंगानी चाहिए—तो उत्तर मिलता है "यह तो फिजूल खर्च है, कौन पढ़ने वाला है।" इन श्रीमंतों के लिये जिनवाणी आकर्षण की चीज नहीं है। क्योंकि ये लक्ष्मी के दास उसके स्वाद को नहीं जानते हैं।

किसी कवि के कहा है—

"यथा किराती करिकुम्भ जातां,
मुक्तां परित्यज्य बिभर्तिगुञ्जां।"

जैसे भीलणी के सामने गजमोती और चिरमियें रक्खी जायें तो वह चिरमियों को ग्रहण करेगी, गजमोतियों को नहीं। क्योंकि वह गजमोतियों के महत्व को नहीं जानती है। यही हालत समाज की प्रायः शास्त्र और शास्त्रज्ञों के साथ है, वह इनका कुछ भी महत्व नहीं समझती यह स्थिति बड़ी भयंकर है धर्म का मूल ही संकट में है।

(कुछ भी हो यदि धर्म की गाड़ी चलानी है तो वह सुचारु रूप से सरस्वती और लक्ष्मी इन दो पहियों से ही चल सकेगी, अकेली एक एक लक्ष्मी से नहीं।)

अन्तमें समाज से मेरा निवेदन है कि मैंने जो यह कटु-सत्य लिखा है उसके लिए मुझे क्षमा करेंगे और इस गम्भीर समस्या पर दूरदर्शिता से विचार कर समुचित समाधान सामने लायेंगे।



४६

वास्तुदेव

श्री पं० आशाधरजी ने अपने बनाये प्रतिष्ठा पाठ पत्र ४३ में और अभिषेक पाठ के श्लोक ४४ में वास्तुदेव का उल्लेख निम्न शब्दों में किया है—

श्री वास्तुदेव वास्तूनामधिष्ठातृतयानिशम् ।
कुर्वन्ननुग्रहं कस्य मान्यो नासीति मान्यसे ॥४४॥
ओं ह्रीं वास्तुदेवाय इदमर्घं पाद्य ....

अर्थ—हे श्री वास्तुदेव (गृह देव) तुम गृहों के अधिष्ठातापने से निरन्तर उपकार करते हुये किसके मान्य नहीं हो ? सभी के मान्य हो इसी से मैं भी आपको मानता हूं।

ऐसा कह कर वास्तुदेव के लिये अर्घ देवे।

श्रुतसागर ने वास्तुदेव की व्याख्या ऐसी की है— "वास्तुरेव देवो वास्तुदेवः।" घर ही को देव मानना वास्तुदेव है। जैसे लौकिक में अन्नदेव, जलदेव, अग्निदेव आदि माने जाते हैं। इससे मालूम होता है कि श्रुतसागर की दृष्टि में वह कोई देवगति का देव नहीं है। करणानुयोगी-लोकानुयोगी ग्रन्थों में भी वास्तु नाम के किसी देव का उल्लेख पढ़ने में नहीं आया है। आशाधर ने इस देव का नाम क्या है यह भी नहीं लिखा है। यहां तक कि इसका स्वरूप भी नहीं लिखा है।

प्रतिष्ठा तिलक के कर्ता नेमिचन्द्र के सामने भी आशाधर का उक्त श्लोक था। जिसके भावको लेकर उन्होंने जो श्लोक रचा है वह प्रतिष्ठातिलक के पृष्ठ ३४७ पर इस प्रकार है—

सर्वेषु वास्तुषु सदा निवसंत मेनं
श्री वास्तुदेवमखिलस्य कृतोपकारं ।
प्रागेव वास्तुविधि कल्पितयज्ञभागमी-
शानकोणदिशि पूजनया धिनोमि ।।

अर्थ—सब घरों में सदा निवास करने वाले और सबका जिसने उपकार किया है तथा पहिले से ही जिसका ईशान कोण की दिशा में वास्तुविधि से यज्ञ भाग कल्पित है ऐसे इस वास्तु-देव को पूजता हूं।

अभिषेक पाठ संग्रहके अन्य पाठों में वास्तुदेव का उल्लेख नहीं है। हाँ अगर जिनगृहदेव को वास्तुदेव मान लिया जाये तो कदाचित् जैनधर्म से उसकी संगति बैठाई जा सकती है। क्योंकि जैनागम में जिन मन्दिर की नवदेवो में गणना की है। पता नहीं आशाधर और नेमिचन्द्र का वास्तुदेव के विषय में यही अभिप्राय रहा है या और कोई ? फिरभी यह तो स्पष्ट ही है कि जैन कहे जाने वाले अन्य कितने ही क्रियाकांडी ग्रन्थों में वास्तुदेव को जिनगृहदेव के अर्थ में नहीं लिया है।

जैसे कि नेमिचन्द्र प्रतिष्ठापाठ के परिशिष्ट में वास्तु बलि विधान नामक एक प्रकरण छपा है वह न मालूम नेमिचन्द्र कृत है या अन्य कृत ? उसमें वास्तुदेवों के नाम इस प्रकार लिखे हैं—

"आर्य, विवस्वत्, मित्र, भूधर, सविंद्र, साविंद्र, इन्द्रराज, रुद्र, रुद्रराज, आप, आपवत्स, पर्जन्य, जयंत, भास्कर, सत्यक, भृशुदेव,अंतरिक्ष, पूषा, वितथ, राक्षस, गंधर्व, भृंगराज, मृषदेव, दौवारिक, सुग्रीव, पुष्पदंत, असुर, शोष, रोग, नाग, मुख्य, भल्लाट, मृग, आदिति, उदिति, विचारि, पूतना, पापराक्षसी और चरकी ये ४० नाम हैं।"

वास्तुदेवों के इसी तरह के नाम जैनेतर ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं (देखो सर्वदेव प्रतिष्ठा प्रकाश व वास्तु विद्या के अजैन ग्रन्थ) वही से हमारे यहाँ आये हैं। वे भी आशाधर के बाद के क्रिया-कांडी ग्रन्थों में-पुन्याहवाचन पाठों में। यह बलि विधान इसी रूप में आशाधर पूजा-पाठ नाम की पुस्तक मे भी छपा है। वहाँ दस दिग्पालों को भी वास्तुदेवोंमें गिना है। जैनेतर ग्रन्थों में ऐसा नहीं है।

एक संधि जिन संहिता में भी वास्तुदेव बलि विधान नामक २४ वां परिच्छेद है जिसमे भी उक्त ४० नामों के साथ दश दिग्पालों के नाम हैं, ऐसा मालूम होता है कि—वास्तुदेवों को बलि देने के पहिले दिग्पालों का बलिविधान लिखा हो और लगते ही वास्तुदेवों को बलि देने का कथन किया है इस तरह से भी वास्तुदेवों में दिग्पाल देव सामिल हो सकते हैं। अन्य मत में वास्तुदेवों को बलि देने की सामग्री में मधु-मांस आदि हैं। जैन मत में मांस को सामग्री में नहीं लिया है तथापि मधु को तो लिया ही है।

एक संधि संहिता के उक्त परिच्छेद के १७ वें श्लोक में मजेदार बात यह लिखी है-बलि देते वक्त बलि द्रव्यों को लिये

हुए आभूषणों से भूषित कोई कन्या या वेश्या अथवा कोई मदमाती स्त्री होनी चाहिये। यथा—

बलिप्रदानकाले तु योग्या स्याद् बलिधारणे।
भूषिता कन्यका वा स्याद् वेश्या वा मत्तकामिनी॥१७॥
[परिच्छेद २४]

ऐसा कथन नेमिचंद्र प्रतिष्ठा पाठ में छपे इस प्रकरण के पृष्ठ ४ के श्लोक ११ से भी प्रतिभासित होता है।

जिन शास्त्रोंमें साफ तौर पर अन्यमतके माने हुए देवोंकी आराधना का कथन किया है और उनकी आराधना विधि में ऐसी वाहियात बातें वेश्या आदि की लिखी है। उन शास्त्रों को हम केवल यह देखकर जिनवाणी मानते रहें कि वे संस्कृत प्राकृत में लिखे हैं और किन्हीं जैन नामधारी बड़े विद्वान् के रचे हुये हैं जब तक हमारे में यह आगममूढ़ता बनी रहेगी तब तक हम जैन धर्म का उज्ज्वल रूप नहीं पा सकेंगे। इन मिथ्या देवों का ऐसा कुछ जाल छाया हुआ ह कि पंडित लोग भी इनके दुर्मोह से ग्रसित हैं। शुद्धाम्नायी पं० शिवजीरामजी रांची वालों का लिखा एक प्रतिष्ठा ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है जिसमें इन सभी वास्तुदेवों की उपासना का वर्णन किया है। बलिहारी है उनके शुद्धाम्नाय की।

वास्तुदेवों के जो नाम जैन ग्रन्थों में लिखे मिलते हैं उनकी अन्यमत के नामों से कहीं २ भिन्नता भी है। जैसे अन्य-मत के नामअर्यमा, सवितृ सावित्र, शेष, दिति विदारि। इनके स्थान में जैनमत के नाम क्रम से ये हैं—आर्य, सविंद्र, साविंद्र, शोष, उदिति और विचारि। इन नामों में थोड़ासा ही अक्षर

भेद है। यह भेद लिखने-पढ़ने की गलती से भी हो सकता है। कुछ नामभेद शायद इस कारण से भी किये हों कि उनमें स्पष्टतः अजैनत्व झलकता है। जैसे अर्यमा का आर्य, शेष का शोष दिति का उदिति बनाया गया है। क्योंकि अन्यमत में आर्यमा का अर्थ पितरों का राजा, शेष का अर्थ शेष-नाग, दिति का अर्थ दैत्यों की माता होता है। सविंद्र और सावित्र शब्दों का कुछ अर्थ समझ नहीं पड़ता है, जरूर ये शुद्ध शब्द सवितृ और सावित्र का बिगड़ा रूप है। इसी तरह शुद्ध शब्द विदारि का गल्ती से विचारि लिखा पढ़ा गया है।

वास्तुदेवों के नामों में रुद्र, जयंत (यह नाम इन्द्र के पुत्र का है) और अदिति (यह देवों की माता का नाम है) ये नाम दोनों ही मतों के नामों में हैं। परन्तु मूल में ये नाम साफ तौर पर ब्राह्मणमत के मालूम देते हैं। जैन मान्यता के अनुसार इन्द्र का पुत्र और देवों की माता का कथन बनता नहीं है। जैनमत में देवों के माता पिता होते ही नही है, न रुद्र ही कोई उपास्य देव माना गया है।

भगवान् महावीर ने ब्राह्मणमत की फैली हुई जिन मिथ्या रूढियों का जबरदस्त भंडाफोड़ किया था खेद है उनके शासन में ही आगे चलकर वे रूढ़िये प्रवेश कर गई हैं।



४७

श्री सीमंधर स्वामी का समय

जिस क्षेत्र के बीच में मेरु पर्वत होता है उसको विदेह क्षेत्र बोलते हैं। इस क्षेत्र में देवकुरु -उत्तरकुरु को छोड़ कर शेष में सदा चतुर्थ काल रहता है। जहाँ कभी मोक्षमार्ग बंद नहीं होता है। और सदा ही जहाँ के मनुष्यों की काय प्रायः पानसो धनुष की ऊँची व आयु अधिक से अधिक एक करोड़ पूर्व वर्ष की होती है। मेरु से पूर्व दिशा की तरफ का भाग पूर्व विदेह और पश्चिम का भाग पश्चिम विदेह कहलाता है। अढाई द्वीप में पांच मेरु पर्वत होने के कारण पाँच विदेह क्षेत्र होते हैं। सभी विदेहों में उक्तप्रकार से पूर्व-पश्चिम भाग होते हैं। पूर्व-पश्चिम भागों में सोलह २ महादेश होते है। पाँच विदेहों के दश भागों में कुल महादेशों की संख्या १६० होती है। कभी २ एक ही समय में इन १६० देशों में १६० तीर्थंकरों का सद्भाव रहता है। कहते हैं श्री अजीत नाथ स्वामी के समय में पाँचों विदेहों में १६० तीर्थंकर विद्यमान थे। निश्चयतः प्रत्येक विदेह के पूर्व-पश्चिम भाग में कम से कम दो-दो तीर्थंकर तो हमेशा विद्यमान रहते ही हैं। तदनुसार पाँचों विदेहों में कम से कम २० तीर्थंकर नित्य पाये जाते हैं। इस वक्त भी पाँचों विदेहों में सीमंधरादि २० तीर्थंकर मौजूद हैं। जिस जंबूद्वीप में हम रहते हैं उसके विदेह क्षेत्र में भी पूर्व भागमें दो और पश्चिम भाग में दो कुल ४

तीर्थंकर इस वक्त मौजूद हैं। सीमंधर, युग्मंधर बाहु और सुबाहु ये उनके नाम हैं। उनमें से सीमंधर स्वामी की नगरी पूर्व विदेहस्थ पुष्कलावती देश की पुंडरीकिणी है। युग्मंधर की नगरी पश्चिम विदेहस्थ व प्रदेश की 'विजया' है। वाहु भगवान् की नगरी पूर्वविदेहस्थ वत्स की 'सुसीमा' है और सुबाहु की नगरी पश्चिमविदेहस्थ सरित् देश की 'वीतशोका' है। सीमंधरादि बीस तीर्थंकरों का चरित्र ग्रन्थ तो हमारे देखने में नहीं आया है। अलबत्ता बीस बिहरमान पूजापाटों में उनके माता-पिता चिह्न आदिकों के नाम जरूर पढ़े हैं।

अब हमें यह देखना है कि ये बीस तीर्थंकर जो इस समय विदेहों में विद्यमान हैं। इनका प्रादुर्भाव कब हुआ है ? भरतक्षेत्र के किस २ तीर्थंकर के तीर्थकाल में ये हुए हैं। शास्त्रों में इस विषय में सिर्फ एक सीमंधर स्वामी के बारे में कुछ जानकारी मिलती है। अन्य तीर्थंकरों के बाबत कथन हमारे देखने में नहीं आया है।

रविषेण कृत पद्मपुराण पर्व २३ श्लो०-७ आदि में लिखा है कि—एकबार नारदजी राजा दशरथ से मिलने गये। दशरथ ने उनसे देशांतरों का हाल पूछा। उस प्रसंग में उत्तर देते हुए नारदजी ने कहा कि—

"मैं पूर्व विदेह में गया था, वहाँ पुंडरीकिणी नगरी में सीमंधरस्वामी का दीक्षाकल्याणक का महोत्सव मैंने अपनी आँखों से देखा है। उनके उस उत्सव में इन्द्रादि देव भी विमानों पर चढ़कर आये थे। मैंने वहाँ यह भी सुना कि इनके जन्म समय में भी इन्द्रादिकों ने आकर इनका जन्माभिषेक मेरु पर्वत

पर किया था। जैसा कल्याणकों का उत्सव यहाँ भरत क्षेत्र में मुनिसुव्रतभगवान का हुआ है, वैसा ही विदेह में सीमंधर स्वामी का हुआ है।''

इस वृत्तांत से जाना जाता है कि—सीमंधर स्वामी का अस्तित्व मुनिसुव्रत और नमि तीर्थंकर के अंतराल समय में था।

जिनसेन कृत हरिवंश पुराण पर्व ४३ श्लो० ६० में लिखा है कि—प्रद्युम्न के हरे जाने के बाद उसका पता लगाने को नारदजी पूर्व विदेह में पुष्कलावती देश की पुंडरीकिणी नगरी में गये। वहाँ समवशरण में पहुँचकर भगवान सीमंधर से प्रद्युम्न का हाल मालूम किया।

पद्मपुराण के कथनानुसार तो सीमंधर ने मुनिसुव्रत और नमि के अंतराल समय में दीक्षा ली थी और हरिवंशपुराण के अनुसार नेमिनाथ के समय में वे केवल ज्ञानी हो गये थे यह तो स्पष्ट ही है कि—पद्मपुराणकार ने पउमचरिय नामक प्राकृत भाषा के पुराण का बहुत करके अनुसरण किया है। इसलिए सीमंधर स्वामी का उक्त दीक्षा वृत्तांत जैसा पउमचरिय मे लिखा था वैसा ही पद्मपुराण में लिखा गया है। ऐसा ही कथन हेमचन्द्र कृत जैनरामायण श्वेतांबर ग्रन्थ में भी है।

हरिवंशपुराणकार जिनसेन के समक्ष रविषेण का पद्मपुराण मौजूद था ही अतः जिनसेन ने भी रविषेण के कथन की संगति बैठाते हुये नेमिनाथ के समय में सीमंधर स्वामी को केवल ज्ञानी प्रगट किया और नारद जी ने उनसे प्रद्युम्न का हाल जाना ऐसा लिखा।

इन दोनों ग्रन्थों की इन कथाओं के आधार पर बहुत से

जैनी भाई यह समझे बैठे हैं कि— मुनिसुव्रत स्वामी के तीर्थकाल से ही सीमंधर भगवान् का अस्तित्व चला आ रहा है। महसेन-कृत—प्रद्युम्नचरित (११ वीं शती) पृष्ठ ५२-५३ में भी प्रद्युम्न का हाल सीमंधर स्वामी से ही जानना लिखा है।

किन्तु आचार्य श्री गुणभद्र प्रणीत उत्तर पुराण में इससे भिन्न कुछ और ही कथन मिलता है। विदेहक्षेत्र में जाकर नारद जी ने जिन तीर्थंकर केवली से प्रद्युम्न का पता लगाया था। वह कथन उत्तर पुराण में इस प्रकार है—

नारदस्तत्समाकर्ण्य श्रृणु पूर्व विदेहजे।
नगरे पुंडरीकिण्यां मया तीर्थकृतो गिरा ॥६८॥
स्वयं प्रभस्य ज्ञातानि वार्ता बालस्य पृच्छता।
भवांतराणि तद्वृद्धिस्थानं लाभो महानपि ॥६९॥
[पर्व ७२]

अर्थ—श्रीकृष्णकी बात सुनकर नारद कहने लगा–सुनो! पूर्व विदेह की पुंडरीकिणी नगरी में मैंने स्वयंप्रभ तीर्थंकर को बालक प्रद्युम्न की बात पूछी थी। उनकी वाणी से मैंने प्रद्युम्न के भवांतर जान लिये हैं। और वह इस वक्त किस स्थान में बढ रहा है तथा उसको क्या-२ महान् लाभ होने वाला है यह भी मैंने उन्हीं भगवान् की वाणी से जान लिया है।

उत्तर पुराण के इस उल्लेख से प्रगट होता है कि—नारद ने प्रद्युम्न का हाल विदेह क्षेत्र में स्वयंप्रभ तीर्थंकर से जाना था। न कि सीमंधर स्वामी से। वहाँ उस वक्त सीमंधर थे ही नहीं; बल्कि वे तो उस समय पैदा भी नहीं हुए थे। क्योंकि एक नगरी में ही नहीं विदेह के किसी एक महादेश में भी एक काल

में दो तीर्थंकरों का सद्भाव नहीं हो सकता है।

यहाँ यह भी ध्यान में रखने की बात है कि—ये स्वयंप्रभ तीर्थंकर वे नहीं हैं जिनका नाम बीस सीमंधरादि में ६ वें नम्बर पर आता है। वे तो धातकी खण्ड के विदेहक्षेत्र मे हुए हैं। इसलिये उत्तर पुराण में लिखे उक्त तीर्थंकर पुंडरीकिणी नगरी में उस वक्त कोई जुदे ही स्वयंप्रभ नाम के तीर्थंकर थे, जिनके पास में जाकर नारदजी ने प्रद्युम्न का हाल पूछा था। अगर उस वक्त वहाँ सीमंधर होते तो आचार्य गुणभद्र स्वयंप्रभ का नाम नहीं लिखते।

पुष्पदंत कवि का बनाया हुआ अपभ्रंश भाषा में एक महापुराण है जिसमें गुणभद्र कृत उत्तरपुराण की कथाओं का अनुसरण किया गया है। उसके तीसरे खण्ड के पृ० १६० पर भी यह कथन उत्तरपुराण के अनुसार ही लिखा है। अर्थात् वहाँ भी प्रद्युम्न का हाल स्वयंप्रभ तीर्थंकर ने बताया लिखा है।

इस प्रकार उत्तरपुराण जो कि मूलसंघ की परम्परा का ग्रन्थ माना जाता है उसके अनुसार तो नारद जी विदेह में प्रद्युम्न का हाल पूछने गये तब तक तो सीमंधर स्वामी वहाँ विद्यमान ही नहीं थे इसलिये यही मानना पड़ता है कि वे बाद में ही कभी हुए हैं।

जबकि उत्तर पुराण से डेढ़ सौ वर्ष करीब पहिले पद्मपुराण बन चुका था और हरिवंश पुराण भी उत्तर पुराण से पहिले का है फिर भी गुणभद्र ने उनके कथन को अपनाया नहीं, इससे यही फलितार्थ निकलता है कि रविषेण और जिनसेन (हरिवंश पुराणकार) की आम्नाय अलग थी एवं गुणभद्र की

अलग थी। भिन्न आम्नाय होने से ही यही नहीं अन्य भी कितना ही कथन आपस में मिलता नहीं है। यह समस्या श्रुतसागर सूरि के सामने भी आई दिखती है卐इसी से उन्होंने इसका समाधान करते हुए षट् प्राभृत की संस्कृत टीका के अन्त (पृष्ठ ३७९) में इस प्रकार लिखा है :—

"पूर्व विदेह पुण्डरीकिणी नगर वंदित सीमंधरा पर नाम स्वयं-प्रभ जिनेन ...."

अर्थ : पूर्व विदेह की पुण्डरीकिणी नगरी के जो सीमंधर है उन्हीं का दूसरा नाम स्वयंप्रभ है।)

यह समाधान कहाँ तक समुचित है इस पर विशेषज्ञ विद्वान् विचार करें। बृहज्जैन शब्दार्णव प्रथम भागमें, मोक्षमार्ग प्रकाशक के प्रारम्भ में, पुण्याह वाचन में, द्यानतराय जी जौहरीलाल जी थानसिंह जी कृत बीस विहरमान पूजाओं में, संस्कृत विद्यमान विंशति जिन पूजा आदि में बीस तीर्थंकरों के नाम इस प्रकार है :—

१. सीमंधर २. युग्मंधर ३. बाहु ४. सुबाहु
५. संजातक ६. स्वयंप्रभ ७. ऋषभानन ८. अनंतवीर्य

卐 विदेह में सीमंधर नाम के तीर्थंकर तो हमेशा ही रहते हैं कभी उनका अभाव नहीं होता। एक के बाद दूसरे इसी नाम से निरन्तर होते रहते हैं ऐसी ही मान्यता है (जैसे हिन्दुओं में शंकराचार्य और जैन भट्टारकों में चारु कीर्ति स्वामी आजतक होते आरहे हैं कभी भी इस नाम से पट्ट खाली नहीं रहता)—इसीसे श्रुतसागर सूरि ने ऐसा समाधान किया है इसके सिवा और कोई तरीका ही नहीं था।

९. सूर्यप्रभ १०. विशाल कीर्ति ११. वज्रधर १२. चन्द्रानन १३. चन्द्रबाहु (भद्र-बाहु) १४. भुजगम १५. ईश्वर १६. नेमप्रभु १७ वीरसेन १८. महासेन १९. देवयश (यशोधर) २०. अजितवीर्य ।

उपरोक्त कुछ ग्रन्थों में क्रमशः चार तीर्थंकरों को जंबूद्वीप विदेह में आठ को धात की खंड में और आठ को पुष्करार्ध द्वीप में बताया है तदनुसार यह बात इस लेख के शुरू में भी व्यक्त की गई है किन्तु प्राचीन महापुराण (भारतीय ज्ञान पीठ, दिल्ली से प्रकाशित) पुण्याश्रव कथा कोश (जीवराज ग्रन्थमाला शोलापुर से प्रकाशित) में इससे विपरीत कथन पाया जाता है जिनका विवरण मयपृष्ठ के इस प्रकार है :—

सीमंधर=धातकी खण्ड द्वीप पूर्व विदेह—आदिपुराण (जिनसेन कृत) प्रथम भाग पृष्ठ १४५ तथा पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ २४८ ।

युगंधर=पुष्करार्ध दीप पूर्व विदेह—आदिपुराण प्रथम भाग पृष्ठ १४६ तथा उत्तरपुराण (गुणभद्र कृत) पृष्ठ ८७ एवं पुण्याश्रव कथा कोश पृष्ठ २४५ व २४८ ।

स्वयंप्रभ=जम्बूद्वीप पूर्व विदेह—आदिपुराण प्रथम भाग पृष्ठ १९९ उत्तर पुराण पृष्ठ १४, १६६, १७३, ३४१, ४११ ।

स्वयंप्रभ—घातकी खण्ड द्वोप—उत्तर पुराण पृष्ठ ५०-५१ ।

इस विषय में एक विशेष बात और ज्ञातव्य है समाधि भक्ति के अन्तर्गत एक गाथा पाई जाती है :—

पंच अरिजयणामे पंच य मदिसायरे जिणे वंदे।
पंच जसोधरणामे पंच य सीमंदरे वंदे ॥८॥

इसमें बताया है कि—प्रत्येक विदेह क्षेत्र में अरिजय, मतिसागर, जसोधर, और सीमंधर ये चार-चार तीर्थंकर विशेष जुदा ही होते हैं।

इस सब से यह फलित होता है कि—कहीं एक रूपता एक नियम नहीं है एक सीमंधर स्वामी भी पाँचों मेरु सम्बन्धी पाँचों विदेहों में एक ही समय में पाये जाते हैं यह नाम सर्वत्र शाश्वत रूप है। इस विषय में और भी कोई मथितार्थ हो या कोई संशोधन की स्थिति हो तो विद्वानों से निवेदन है कि—वे उसे अवश्य प्रकट करें। शास्त्र-समुद्र अथाह है।

विशेष ज्ञातव्य

विदेह में ९-३-५ कल्याणको के धारी तीर्थंकर होते हैं।

भरत हैमवत हरि विदेह रम्यक हैरण्य वर्तरावत वर्षाः क्षेत्राणि ॥१०॥ (तत्त्वार्थसूत्र, अध्याय ३) जम्बूद्वीप के दक्षिणात मे भरतक्षेत्र और उत्तरान्त में ऐरावतक्षेत्र है (दक्षिण से उत्तर) भरतक्षेत्र के बाद हिमवंत, हरि वर्ष है फिर मेरु पर्वत है उसके आसपास विदेह क्षेत्र है वह दो विभाग मे है मेरु से पूर्व में पूर्व विदेह और पश्चिम में पश्चिम विदेह है। विदेह के पीछे मेरु के उत्तर में रम्यक वर्ष फिर हिरण्यवंत और अन्त में ऐरावत क्षेत्र है।

मेरु के दक्षिण और उत्तर में महाविदेह है जो देवकुरु और उत्तरकुरु के नाम से प्रसिद्ध है जहाँ सदा भोग-भूमि रहती है। अतः यहाँ सदा पहला (छठा) आरा वर्त्तता है। किन्तु अन्यत्र सर्वत्र विदेह में सदा कर्म-भूमि रहने से अवसर्पिणी का चौथा आरा और उत्सर्पिणी का तीसरा आरा क्रमशः होता रहता है।

सारा भरतक्षेत्र दक्षिण में होने से तथा प्रायः सब दि० आचार्य ठेठ दक्षिण में हुए अतः दक्षिण से उत्तर दिशा का क्रम मानकर वर्णन किया है इसी से लिखा है "उत्तराः दक्षिणतुल्याः" ('तत्वार्थसूत्र' अ० ३, २६) और इसी से उत्तरा प्रतिपत्रि के बजाय दक्षिणा प्रतिपत्रि को श्रेष्ठ बताया है। (देखो धवलाटीका)

आधुनिक विदेह क्षेत्र द्वारबंग (दरभंगा) का समीपवर्ती प्रदेश है। मिथिला या जनकपुरी इसी देश में है।

शास्त्रीय भूगोल और आधुनिक भूगोल का समीकरण होने की आवश्यकता है।



तत्वार्थ श्लोकवार्तिक की हिन्दी टीका का अवलोकन

श्री मदुमास्वामी विरचित तत्वार्थ सूत्र पर संस्कृत में रचे अनेक भाष्य और टीकायें हैं। उनमें से आचार्य श्री विद्यानंदिस्वामी विरचित श्लोकवार्तिक का भी एक विशिष्ट स्थानहै। इसी तत्वार्थसूत्र पर सर्वार्थसिद्धि और राजवार्तिक भाष्य भी बड़े महत्वके हैं। और वे श्लोकवार्तिक से भी पहिले के रचे हुये हैं। उनकी हिंदी टीकायें तो न केवल आधुनिक विद्वानों द्वारा किन्तु पुराने विद्वानों द्वारा पहिले ही बन चुकी थीं। लेकिन जहाँ तक मेरा ख्याल है श्लोकवार्तिक की हिंदी टीका का निर्माण अभी तक किसी भी विद्वान् ने नहीं किया था। इस कमी का हम बराबर अनुभव करते आ रहे थे। हर्ष की बात है कि वह कमी भी अब पूरी होगई है। इस ग्रन्थ की हिंदी टीका विद्वद्वर्य, न्यायाचार्य श्री पंडित माणिकचन्द्रजी कौंदेय ने की है। जैसा यह महत्वशाली ग्रन्थ है सौभाग्य से इसके हिन्दी टीकाकार भी तदनुरूप ही मिले हैं। इन न्यायाचार्यजी का विद्वद्मंडली में उच्चकोटि का स्थान है। दि० जैन समाज में आप एक आदरणीय, प्रतिमा सम्पन्न, प्रतिष्ठित विद्वान् माने जाते हैं। ऐसे ग्रन्थ की हिंदी टीका आप जैसे अधिकारी विद्वान् ही बना

सकते हैं। इस टीका में मूल ग्रन्थ का अर्थ तो स्पष्ट किया ही है किन्तु साथ-साथ आपने अपनी तरफ से भी विषय को समझाने के लिये यत्रतत्र काफी विवेचन किया है जिससे आपका प्रखर शास्त्र ज्ञान झलकता है और उसे पढ़कर पाठक आसानी से विषयका हृदयंगम कर लेते है। इस विशालकाय टीका के बनाने में काफी श्रम करके आपने वास्तव में ही जैन समाज का बड़ा उपकार किया है जो किसी तरह भुलाया नहीं जा सकता।

उक्त हिंदी टीका सहित यह श्लोकवार्तिक ग्रंथ आचार्य कुंथुसागर ग्रंथमाला सोलापुर से प्रगट हुआ है। उसके अब तक पाँच खण्ड प्रकाशित हो पाये हैं। इन खण्डों में तत्वार्थसूत्र के चौथे अध्याय तक का वर्णन आया है। शेष अध्याय अगले खण्डों में प्रकाशित होंगे।

इस ग्रंथ की हिंदी टीका के स्वाध्याय करने से इसमें दो स्थल हमारी नजर में ऐसे आये हैं जो चिंतनीय है। पहिला स्थल है दूसरे अध्याय का ४४ वा सूत्र—"निरुपभोगमंत्यं"। इसकी व्याख्या हिंदी टीका में न्यायाचार्यजी ने जैसी की है वह उन्हीं के शब्दों मे देखिये—"पूर्ववर्ती चारों शरीरों की अपेक्षा करके अंत में कहा गया पाँचवां कार्मण शरीर अन्त्य है। वह इन्द्रियों द्वारा उपभोग करने योग्य नहीं है। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, अथवा केवलज्ञानी महाराज यद्यपि कार्मण शरीर के रूप रस शब्द आदिकों का विशद प्रत्यक्ष कर लेते हैं, किन्तु वे भी बहिरंग इन्द्रियों द्वारा कार्मण शरीर के रूप रस आदि का सांव्यवहारिक प्रत्यक्ष या मतिज्ञान नहीं कर पाते हैं। शृंगार-रस में डूब रहा पुरुष स्त्री के औदारिक या वैक्रियिक शरीर में पाये जा रहे गंध स्पर्श रूप आदि का उपभोग कर सकता है,

दिनरात भोगों में लीन हो रहा देवेन्द्र भी देवियों के कार्मण शरीर का इन्द्रियों द्वारा परिभोग नही कर सकता है। अतः अंत का शरीर इन्द्रियों द्वारा उपभोग्य नहीं है।"

आपके इस लिखने का मतलब होता है कि—कार्मण-शरीर चक्षु आदि सभी इन्द्रियों के विषयभूत नहीं होने के कारण वह निरुपभोग है। किन्तु मूलग्रंथकार विद्यानंदी का ऐसा अभिप्राय उनके वाक्यों से निकलता नहीं है। इस सम्बन्ध में उनके वाक्य निम्न प्रकार हैं—

"कर्मादानसुखानुभवहेतुत्वात्सोपभोगं कार्मणमिति चेन्न, विवक्षितापरिज्ञानात्। इन्द्रयनिमित्ता हि शब्दाद्यु पलब्धिरुपभोग-स्तस्मा न्निष्क्रांतनिरुपभोगमिति विवक्षितं।" इसमें बताया है कि—शंकाकार ने शंका की है कि —"जब कार्मण शरीरसे जीवों के कर्मो का ग्रहण और सुखों का अनुभव होता है तो वह जीवों के उपभोगमें यानी काममें आता ही है। फिर सूत्रकारने उसको निरुपभोग क्यो कहा है?" इसका उत्तर आचार्य ने यह दिया है कि—उपभोग शब्द का जो अर्थ यहाँ विवक्षित है उसका परिज्ञान शंकाकार को नही है। उपभोग शब्द का यहाँ ऐसा अर्थ माना है कि—कर्ण आदि इन्द्रियों के निमित्त से जो शब्दादि की उपलब्धि होती है उसे यहाँ उपभोग माना है। उस उपभोग से जो रहित है वह निरुपभोग है ऐसा अर्थ यहाँ विवक्षित है। शब्द का कर्णमे टकराना इसे कहते है शब्द की उपलब्धि। इसी तरह अन्य इन्द्रियों में उनके अपने २ विषयों की उपलब्धि समझ लेना। इस उपलब्धि को ही उपभोग कहते हैं। ऐसा उपभोग कार्मणशरीर के नही है, क्योंकि कार्मण शरीर के इन्द्रियें नहीं होती हैं। मतलब यह है कि—जैसे औदारिकादि शरीरों में

द्रव्येन्द्रियों के होने से इन्द्रियों के विषय भूतपदार्थों का उन इन्द्रियों के साथ संपर्क (उपलब्धि) होता है। वैसी बात कार्मण शरीर के सम्बध में नहीं है। क्योंकि कार्मण शरीर के द्रव्येन्द्रियें नहीं होती हैं। इन्द्रियों के विषयभूत पदार्थों का सम्पर्क भी वहाँ नहीं होता है। इसे सम्पर्क कहो या शब्दादि की उपलब्धि कहो इसी का नाम उपभोग है। ऐसे उपभोग का कार्मण शरीर के अभाव होने से उसे शास्त्रों में निरुपभोग बताया है।

ऐसी ही पूज्यपाद ने सर्वार्थसिद्धि में और अकलंक ने राजवार्तिक में प्रतिपादन किया है। यथा—

"इन्द्रियप्रणालिकया शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोगः, तद्‌भावान्निरुपभोगम्। विग्रहगतौ सत्यामपि इन्द्रियलब्धौ द्रव्येन्द्रिय-निर्वृत्यभावा च्छाब्दाद्युपभोगाभाव इति।" अर्थ—इन्द्रियद्वार से शब्दादि की उपलब्धि होना उपभोग कहलाता है। उसके अभाव को निरुपभोग कहते हैं। विग्रहगति में जीव के लब्धिरूप भावेन्द्रियके होने पर भी कार्मणशरीर के द्रव्येन्द्रियों की रचना का अभाव होने से उसके शब्दादिकों की उपलब्धि का अभाव है।

भावार्थ—औदारिकादि शरीरों में द्रव्येन्द्रियों की रचना होने के कारण शब्दादि की उपलब्धि होती है उससे वे शरीर सोपभोग माने जाते हैं। किन्तु विग्रहगतिमें कार्मण शरीर के साथ रहने वाले जीव के लब्धिरूप भावेन्द्रिय के होते भी कार्मण शरीर निरुपभोग ही है। क्योंकि उसके द्रव्येन्द्रियों की रचना न होने से वहाँ शब्दादि की उपलब्धिका अभाव है। सीधीसी बात है कि—कार्मणशरीर के जब कर्णआदि इन्द्रियों का सद्‌भाव ही नहीं है तो शब्दादि विषय किसमें प्राप्त हों? विषयों का प्राप्त न होना ही कार्मण शरीर के लिये निरुपभोग कहा जाता है।

इसी सूत्र की व्याख्या भास्कर नंदी ने निम्न शब्दों में की है—

"इन्द्रियद्वारेण शब्दादीनामुपलब्धिरुपभोगः। उपभोगान्निष्क्रांतं निरुपभोगं कार्मण शरीरमुच्यते। तत् विग्रहगताविन्द्रिय लब्धौ सत्यामपि द्रव्येन्द्रितय निष्पत्यभावा च्चब्दाद्युपलंभनिमित्तं न भवति।"

अर्थ—इन्द्रियद्वार से शब्दादिकों की प्राप्ति उपभोग कहलाता है। उपभोग से रहित कार्मणशरीर निरुपभोग कहा जाता है। वह कार्मण शरीर विग्रहगति में जीव के लब्धिरूप भावेन्द्रिय के होते हुए भी द्रव्येन्द्रियों की रचन का अभाव होने से शब्दादिकी प्राप्ति में निमित्तभूत नहीं है।

इस प्रकार भाष्यकारों के इन उद्धरणों में जो कहा गया है उमसे आपके कथन की संगति नहीं बैठती है। "कार्मणशरीर किसी की भी इन्द्रियों का विषयभूत न होने से वह निरुपभोग है।" ऐसा जो अर्थ आपने प्रगट किया है वैसा अर्थ यदि भष्यकारों को इष्ट होता तो वे यह नहीं लिखते कि द्रव्येन्द्रियों की रचना का अभाव होने से शब्दादि का उपभोग नहीं है। आपके द्वारा किया हुआ अर्थ तो तब ठीक होता जब सूत्र में 'निरुपभोग्यं शब्द होता किन्तु सूत्रकार ने 'निरुपभोगं, शब्द रखा है जिसका अर्थ होता है "न उपभोगो विद्यते यस्य तत्" अर्थात् जिसके उपभोग क्रिया नहीं होती यानी जो स्वयं उपभोग नहीं करता, यही विवेचन सभी भाष्यकारों और टीकाकारों ने किया है। आशा है आप इस विषय पर पुनः विचार करेंगे।

दूसरा स्थल है इष्वाकार पर्वतों का स्थान बताते हुये

श्लोकवार्तिक के ५ वें खंड के पृष्ठ ३६४ पर अंतिम पंक्तियों में आपने ऐसा लिखा है—

"धातकीखंड में पूर्वमेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत अथवा पूर्वमेरु सम्बन्धी ऐरावत और पश्चिम मेरु सम्बन्धी भरत का विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत पड़े हुये हैं।"

आपका ऐसा लिखना भी हमारी तुच्छ बुद्धि में ठीक प्रतीत नहीं होता। धातकीखंड में भरत और एरावत क्षेत्र की स्थिति धनुषाकार रूप में है। जैसे धनुष के बीच में वाण होता है वैसे ही दोनों ओर दो इष्वाकार पर्वतों के बीच में पड़ जाने से दोनों ओर के भरत और ऐरावत के दो-दो विभाग हो गये हैं। दक्षिण की ओर जो भरतक्षेत्र धनुषाकार था उसके बीच में इष्वाकार पर्वत के पड़ने से उसी के दो भाग होकर पूर्वभाग पूर्वमेरु सम्बन्धी धातकी खंड का कहलाता है और पश्चिम भाग पश्चिममेरु सम्बन्धी धातकीखड का कहलाता है। उसी तरह धातकीखंड में उत्तर की तरफ के ऐरावत क्षेत्र के बाबत समझ लेना चाहिये। अतः धातकीखंड में पूर्वमेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिममेरु सम्बन्धी ऐरावत के बीच में जो आप इष्वाकार-पर्वत बताते हैं वह ठीक नहीं है। किन्तु पूर्वमेरु सम्बन्धी भरत और पश्चिममेरु सम्बन्धी भरत इन दोनो के बीच इष्वाकार-पर्वत स्थित है। इसी तरह पूर्व पश्चिम मेरु सम्बन्धी ऐरावत क्षेत्र के बीच में इष्वाकार पर्वत स्थित है।

आपकी मान्यतानुसार पश्चिम धातकी खंड में दक्षिणकी तरफ ऐरावत क्षेत्र और उत्तर की तरफ भरतक्षेत्र का होना व्यक्त होता है, वह उचित नहीं है।

इस प्रकार आपकी श्लोकवार्तिक की हिंदी टीका के दो स्थलों पर हमने जिज्ञासाभाव से अपने विचार आपके सामने रक्खे हैं। आशा है उन पर आप ध्यान देंगे और इसमें अगर हमारी ही भूल हो तो हमें समझाने की कृपा करेंगे, ऐसी हमारी आपसे सविनय विनती है। आप प्रतिभाशाली बहुश्रुती विद्वान् हैं आपसे चूक होना कम सम्भव है।

सं० नोट—तत्त्वार्थ राजवार्तिक में 'भरतै रावत विभाजिनाविष्वाकारगिरी वार्तिक है। इसका अर्थ स्वयं अकलंकदेव ने 'उत्तरदक्षिण भरत ऐरावत का विभाग करने वाले इष्वाकार पर्वत हैं, ऐसा किया है तत्वार्थ श्लोकवार्तिक मे आचार्य विद्यानन्द ने भी भरतैरावत विभाजिनौ' लिखकर इष्वाकारगिरि को भरत और ऐरावत का विभाजक कहा है। इससे पाठक को ऐसा बोध होता है कि भरत और ऐरावत के बीच में इष्वाकार पर्वत है। किन्तु यथार्थ ऐसा नहीं है। बल्कि भरत और ऐरावत क्षेत्रों का विभाग करने वाले अर्थात् भरत क्षेत्र के और ऐरावत क्षेत्र के बीच में इष्वाकार पर्वत है जिससे एक ओर इष्वाकार पर्वत के दोनों ओर भरत क्षेत्र है और दूसरी ओर इष्वाकार पर्वत के दोनों ओर ऐरावत क्षेत्र है। त्रिलोक प्रज्ञप्ति की गाथा २५५२ से यह बिल्कुल स्पष्ट हो जाता है—

दोपासेसु दक्खिणइसुगार गिरिस्स दो भारखेत्ता ।
उत्तर इसुगारस्स य भवंति ऐरावदा दोण्णि ।।

दक्षिण इष्वाकार पर्वत के दोनों पार्श्व भागों में दो भरत क्षेत्र हैं और उत्तर इष्वाकार पर्वत के दोनों पार्श्वभागों में दो ऐरावत क्षेत्र हैं।



४६

श्रावक की ११वीं प्रतिमा

जैनसन्देश के अभी हाल ही के (१३, २० मार्च ६६ के) अंकों में उसके आदरणीय संपादक पं० कैलाशचन्द जी शास्त्री ने स्वर्गीय पं० जुगलकिशोरजी मुख्तार के लेखानुसार (मुख्तार-सा० का यह लेख सन् २१ की जैन हितैषी भाग १५ में ही प्रकाशित नहीं हुआ है, किन्तु परिवर्द्धित-संशोधित रूप से अनेकान्त वर्ष १० की अन्तिम किरण (जून ५०) में भी प्रकाशित हुआ है) ग्यारहवीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक का स्वरूप लिखा है। उस सम्बन्धमें विद्वज्जनों के विचारणार्थ मैं भी यहां कुछ लिखने का उपक्रम करता हूं।

कुन्दकुन्द के सूत्र प्राभृत की २१वीं गाथा में इसका स्वरूप संक्षेप से इस प्रकार लिखा है—

> दुइयं च वुत्तलिंगं उक्किट्ठं अवरसावयाणं च।
> भिक्खं भमइ सपत्तो समिदोभासेण मोणेण ॥२१॥

इसमें लिखा है कि मुनि के बाद दूसरा लिंग गृहत्यागी उत्कृष्ट श्रावकों का है यानी ११वीं प्रतिमाधारी का है। वह पात्र को हाथ में लेकर भाषा समिति (धर्मलाभ शब्द) से या मौन से भिक्षा के लिये भ्रमण करता है।

स्वामी समन्त भद्र ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार में

"गृहतो मुनिवनमित्वा" पद्य में इसका संक्षिप्त स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

"घरको छोड़ मुनियों के आश्रम में जाकर गुरु के निकट व्रतों को ग्रहण करके जो तपस्या करता हुआ भिक्षा भोजन करता है और खण्डवस्त्र रखता है वह उत्कृष्ट श्रावक है।"

दिन में एक बार भोजन करना यह यहाँ के "तपस्यन्" शब्द से ध्वनित होता है। इसकी संस्कृत टीका में प्रभाचन्द्र ने इस उत्कृष्ट श्रावक को आर्य लिंग का धारी लिखा है और श्लोक में प्रयुक्त "भैक्ष्याशनः" वाक्य की व्याख्या भिक्षा समूह को खाने वाला किया है। जिसका मतलब होता है अनेक घरों से पात्र में भिक्षा लाकर किसी एक जगह बैठकर खाने वाला।

चारित्रसार में चामुण्डराय ने इसका स्वरूप ऐसा लिखा है—

"उद्दिष्टविनिवृत्तः स्वोद्दिष्टपिंडोपधिशयनवरास*नादे विरत- सन् एकशाटकधरो भिक्षाशनः पाणिपात्रपुटेनोपविश्यभोजी रात्रि प्रतिमादितपः समुद्यत आतापनादियोगरहितो भवति।" इसमें बताया है कि जो अपने निमित्त तैयार किये हुये भोजन, उपधि शय्या और उत्तम आसनादिक से विरक्त रहता है। एक धोती रखता है—नीचे से ऊपर तक उसी को ओढ़-पहिन लेता है, भिक्षा से भोजन लाकर करपात्रमें बैठकर जीमता है और

*मुद्रित चारित्रसार मे 'वसनादेः' पाठ है। किन्तु कार्तिकेयानुप्रेक्षा की टीका में यहाँ का उद्धरण दिया है उसमें 'वरासना देः' पाठ है। शायद यही पाठ आशाधर के सामने भी था। उन्होंने भी शयनासनादि लिखा है। वसन नहीं लिखा है।

आतापनादि योगों को छोड़कर रात्रि प्रतिमादि तपश्चरण में उद्यमी रहताहै वह उद्दिष्टविनिवृत्त नामका श्रावक कहलाता है।

भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण में क्षुल्लक को एक शाटक का धारी लिखा है। तदनुसारही यहाँ कहाहै। तथा यहां उसके लिये उद्दिष्ट आहारादि का त्याग बताया है। उससे वह किसी के घर आमन्त्रित होकर जीमने नहीं जा सकता है क्योंकि उससे उद्दिष्ट भोजन का ग्रहण होता है। अतः वह भिक्षा से भोजन करता है। यह बात उद्दिष्टत्याग के लिखने से ही प्रगट हो जाती है। फिर भी चामुण्डराय ने उसके लिये एक और विशेषण 'भिक्षाशनः' का प्रयोग किया है। उसका अभिप्राय उनका कुन्दकुन्द और समन्तभद्र के मतानुसार अनेक घरों से भिक्षा मंगाने का मालूम पड़ता है। अथवा सही पाठ "भैक्षाशनः" हो। इस प्रतिमा का उद्दिष्टविरत यह नाम चारित्रपाहुड़ की गाथा ९ में भी लिखा है और जो यहां इस प्रतिमाधारी के लिये बैठ कर पात्र में आहार लेने को कहा है सो बैठकर भोजन कराने की मान्यता तो समंतभद्र की भी हो सकती है क्योंकि ११वीं प्रतिमा में जो विशेष आचरण थे वे उन्होंने रत्नकरंड श्रावकाचारमें लिख दिये। बाकी आचरण बैठकर जीमना आदि नीचे की प्रतिमाओं जैसे हो इस प्रतिमामें समझ लिये जावें। हाँ चामुण्डराय ने यहां इस प्रतिमा वाले के लिये हाथ में आहार करने की बात जरूर कुछ विशेष लिखी है। सम्भव है उस वक्त उनके सामने ऐसी ही प्रवृत्ति चल रही हो। या उसका प्रतिपादक आगम उन्हें उपलब्ध हो। किन्तु यहाँ पाणिपात्र में आहार करने का अर्थ मुनि की तरह अंजुली जोड़कर करने का नहीं है। इसका निषेध सूत्र पाहुड़ में ३ जगह किया है—

खेडे वि ण कायव्वं पाणिप्पत्त सचेलस्स ।
निच्चेलपाणिपत्तं उवइट्ठं परमजिणवरिंदेहि ॥१०॥
बालग्गकोडिमत्तं परिगहगहणं ण होइ साहूणं ।
भुंजेइ पाणिपत्ते दिण्णण्णं इक्क ठाणम्मि ॥१७॥

यहाँ यह कहा है कि—वस्त्रधारी को खेल में भी पाणिपात्र में आहार नहीं करना चाहिये। परम जिनेंद्रों ने निर्वस्त्रों—नग्नसाधुओं के लिये ही हाथ में भोजन करने का उपदेश दिया है। साधुओं के बाल की अणीमात्र भी परिग्रह नहीं होना चाहिये। तदर्थ वे भोजन भी पात्रमें नहीं करते-हाथ में ही करते हैं। वह भी एक स्थान में और दूसरों का दिया हुआ।

इसलिये ११वीं प्रतिमाधारी के वास्ते जो यहां पाणिपात्र में आहार करना लिखा है। उसका मतलब यही हो सकता है कि—वह पात्र में से भोजन को अपने एक हाथ में लेकर उसे थाड़ा २ दूसरे हाथ से जीमे। जैसा कि भूधरदासजी ने पार्श्व-पुराण में लिखा है—

एक हाथ पे ग्रास धरि एक हाथ सों लेय ।
श्रावक के घर आयके ऐलक असन करेय ॥
[२०० अधि० ६]

किन्तु दुग्ध, तक्र, खीर, रसादि तरल खाद्य के साथ चूरकर रोटी आदि खाने के विशेष अवसर पर वह पात्रका भी उपयोग कर सकता है ऐसा अभिप्राय चामुण्डरायका ज्ञात होता है। क्योंकि उन्होंने 'पाणिपात्रपुटेन भोजी' लिखा है। जिससे उसका अर्थ हाथ और पात्र दोनों में भोजन करना हो सकता है।

इन चामुण्डराय के ही वक्त मे होने वाले अमितिगति ने इस प्रतिमाधारी के लिये सुभाषित रत्नसंदोह के श्लो० ८४३ में और उपासकाचार के परि० ७ के श्लोक ७७ में नवकोटिसे विशुद्ध आहार लेने का विधान करते हुये इस प्रतिमा का विशेष स्वरूप उपासकाचार के ८वें परिच्छेद में इस प्रकार किया है—

वैराग्यस्य परां भूमिं संयमस्य निकेतनम् ।
उत्कृष्टः कारयत्येष मुंडनं तुंडमुंडयोः ॥३७॥
केवलं वा सवस्त्रं वा कौपीनं स्वीकरोत्यसौ ।
एकस्थान्नपानीयो निंदागर्हापरायणः ॥७४॥
स धर्मलाभशब्देन प्रतिवेश्म सुधोपमाम् ।
सपात्रो याचते भिक्षां जरामरण सूदनीम् ॥७५॥

अर्थ— यह उत्कृष्ट श्रावक वैराग्य की परम भूमि और संयमका स्थान ऐसा दाढ़ी मूँछ-शिरके बालोंका मुण्डन(हजामत) कराता है। वह केवल लंगोट या वस्त्र (चादर) सहित लंगोट रखता है। अपनी निंदागर्हामें तत्पर रहता हुआ एक स्थान पर अन्न पानी जीमता है। यानी भिन्न २ घरों से पात्र में भोजन लाकर एक स्थान पर जीमता है। वह पात्र लेकर घर २ प्रति धर्मलाभ शब्द बोलता हुआ अमृततुल्य जरामरण नाशिनी भिक्षा को मांगता है।

कुन्दकुन्द ने भिक्षा के लिये भाषा समिति सहित सपात्र घूमने की कही है। व समन्तभद्र ने चेलखंड धारण करने की कही है। उसी का अमितगति ने यहाँ खुलासा किया है। ऊपर जिनसेन और चामुण्डराय ने एक वस्त्र धोतीमात्र रखने का आदेश दिया है। यहां अमितगति ने केवल कौपीन या कभी

कौपीन के साथ चादर ओढ़ने का भी उल्लेख करके दो वस्त्र रखने का विधान किया है। इससे कुछ मतभिन्नता जाहिर होती है। परन्तु अल्पवस्त्र रखने के उद्देश्य में कोई फर्क नहीं आया है। ओढ़ने पहनने को धोती लम्बी रखनी पड़ती है। लंगोट और चादर दो संख्या होकर भी वस्त्र का विस्तार (माप) यहाँ धोती से अधिक न हो कर कुछ कम ही हुआ है।

कुन्दकुन्द समन्तभद्र और चामुण्डराय ने ऊपर यह कहीं नहीं बताया कि इस प्रतिमावाला बालों का लोंच करे या क्षौर करावे ? किन्तु उनका कुछ नहीं लिखना ही यह बताता है कि उनको इसके लिये क्षौर कराना ही इष्ट था। क्योंकि जो नीचे की प्रतिमाओं में होता आ रहा है वही यहां भी है। इसी अभिप्राय से उन्होंने इस सम्बन्ध में कुछ नहीं लिखा है। इस तरह अमितगति ने केशो के मुंडन की बात भी अपनी ओर से नहीं लिखी है। जो पूर्वाचार्यों का अभिप्राय था उसे ही स्पष्ट किया है।

यहाँ अमितगति ने भिक्षा को अमृतवत् जरामरणनाशिनी लिखा है। वह खास ध्यान देने योग्य है। ऐसा इसलिये लिखा है कि—कोई यह न समझ ले कि एक उत्कृष्ट श्रावक भिक्षा के लिये पात्र हाथ में लेकर घर २ फिरता फिरे यह तो उसके पद के गौरव को घटाने वाला काम है। उसके समाधान के लिये उन्होंने उक्त कथन करके यह बताया है कि—वह भिक्षा नहीं वह तो अमृत है। जैसे अमृत के पीने से जरामरण का नाश होता है। उसी तरह उस भिक्षा को खाकर वह श्रावक भी देशव्रतों को पूर्णतया पालन करता हुआ आगे मुनि हो उस मोक्षस्थान को प्राप्त होगा जहाँ जानेवाला अजर-अमर हो जाता है।

इन अमितगति के कुछ थोड़े समय पूर्व ही अपभ्रंश कवि पुष्पदन्त हुए हैं। उन्होंने यशोधर चरित के पृ० ८५ में क्षुल्लक का स्वरूप इस प्रकार लिखा है —

ता अम्हहि लइयउ खुल्लयत्तु,
चत्तउ परिहणु आहरणु वित्तु।
पंगुत्तउ पंडुरचीरखंड,
मणमुंडिवि पुणु मुंडियउ मुंडु।
कोवीण कमण्डलु भिक्खपत्तु,
लइयउवउ भवजलजाणवत्तु।

इसमें क्षुल्लक के श्वेत रंग का वस्त्रखंड, मुण्डन, कोपीन, कमण्डलु और भिक्षापात्र लिखा है।

उपर्युक्त ग्रन्थकारों ने इस ११वीं प्रतिमाधारी का नाम उद्दिष्ट विरत, उत्कृष्ट श्रावक और क्षुल्लक लिखा है मेधावी ने धर्मसंग्रह श्रावकाचार में—अपवाद लिंगी और वानप्रस्थ भी लिखा है—

उत्कृष्टः श्रावको यः प्राक्क्षुल्लकोऽत्रैव सूचितः।
स चापवादलिंगी च वानप्रस्थोऽपिनामतः॥
[२८० अधि० ६]

प्रभाचन्द्र ने रत्नकरण्ड की टीका में इसका नाम आर्य भी लिखा है। तदनुसार आशाधर आदि ने भी आर्य नाम लिखा है। स्त्री जाति में उत्कृष्ट संयम की धारिका आर्यका होती है, उसी की तुलना में पुरुष जाति में श्रावक दशा में संयम के धारक के लिये आर्य संज्ञा दी गई प्रतीत होती है। यहाँ के

क्षुल्लक नाम में क्षुल्लक का अर्थ है निम्न श्रेणी में रहने वाला। अर्थात् यहाँ से ऊपर एक ही श्रेणी है, वह है मुनिपद उससे नीचे की श्रेणी में होने के कारण वह क्षुल्लक कहलाता है। ११वीं प्रतिमा के भेद करके पहिले भेद वाले को क्षुल्लक कहना यहाँ अभीष्ट नहीं है। उपर्युक्त ग्रन्थों में दो भेद किये ही नहीं हैं। वहाँ तो सारी ही ११वीं प्रतिमाधारी को क्षुल्लक कहा है।

उपर्युक्त ग्रंथकारों के मत से इस प्रतिमा का धारी न लौंच कर सकता है न अंजुली जोड़ कर आहार कर सकता है। मयूरपिच्छी का भी उसके लिये विधान नहीं है। किन्तु सोमदेव ने यशस्तिलक के प्रथम आश्वास में (हिंदी अनुवाद पृ० ७१) क्षुल्लक के मयूरपिच्छी लिखी है। वीरनन्दि ने भी चन्द्रप्रभ काव्य के सर्ग ६ श्लो० ७१ में क्षुल्लक के यति चिह्न लिखा है। वहाँ यति चिह्न का मतलब मयूरपिच्छी ही जान पड़ता है।

ऊपर लिखित ग्रन्थकारों के बाद विक्रम की १२वी शताब्दीमें वसुनन्दि हुये जिन्होंने स्वरचित श्रावकाचारकी गाथा ३०१ से ३११ तक में जो ग्यारहवीं प्रतिमा का स्वरूप लिखा है उसका हिन्दी अनुवाद निम्न प्रकार है—

११वीं प्रतिमाधारी उत्कृष्ट श्रावक के २ भेद हैं प्रथमभेद एक वस्त्र (शाटक) रखने वाला। दूसरा केवल कोपीन का धारी। प्रथम भेदवाला कैंची या उस्तरे से बाल कटवाता है। मृदुउपकरण कोमल-वस्त्रादि से स्थानादिकों के प्रतिलेखन करने में प्रयत्नशील रहता है। बैठकर स्वयं हाथ में या पात्र में भोजन करता है। (स्वयं कहने से वह खुद ही पात्र में या अपने हाथ में आहार करता है। मुनि की तरह बार २ दाता इसके हाथ में आहार रखता जाये और यह उसे खाता रहे ऐसी विधि इसको नहीं है।)

चारों पर्वों में चतुर्विध आहार का त्यागरूप उपवास नियम से करता है। भिक्षा प्राप्त करने की विधि इस प्रकार है–प्रथम ही पात्रको धोकर चर्या के लिये श्रावकके घर में प्रवेश करता है और उसके आंगन मे ठहर कर धर्मलाभ कह कर स्वयं ही (दूसरों को भेज कर भिक्षा नहीं मंगवाता) भिक्षा मांगता है। भिक्षा नहीं मिलने पर बिना दीनमुख हुए वहां से शीघ्र निकल दूसरे घर में जाता है। वहाँ भी (धर्म लाभ कह कर) अथवा मौन से काय को दिखाकर भिक्षा मांगता है। कहीं बीच में ही यदि कोई श्रावक कह दे कि यहाँ ही भोजन करिये तो पूर्व घरों से प्राप्त अपनी भिक्षा को पहिले खाकर शेष अन्न उसके यहाँ का खाता है। यदि ऐसा कोई न कहे तो घूम फिर कर अपने उदर भरने तक की भिक्षा अनेक घरों से प्राप्त कर पीछे किसी एक घरमें प्रासुकजल मांगकर जो कुछभी रस नीरस भिक्षा मिली है उसे यत्न से शोध कर खाता है। फिर पात्र को धोकर गुरु के समीप जाता है। यदि कोई अनेक घरों से भिक्षा लेने के इस कार्य को नहीं कर सकता हो तो वह चर्या के लिये मुनिचर्या के बाद श्रावक के किसी एक घर में ही आहार कर लेता है। एक घर आहार न मिलने पर उस दिन वह नियम से उपवास रखता है। फिर गुरु के समीप जा कर विधि के साथ चार प्रकार के आहार का प्रत्याख्यान ग्रहण करके गोचरी का सब वृत्तांत यत्न के साथ गुरु के आगे निवेदन कर देता है।

यह चर्या प्रथमोत्कृष्ट श्रावक की बताई है। वही चर्या द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की होती है। दोनों में फर्क इतना ही है कि–द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक नियम से लौंच करता है और हाथ में भोजन जीमता है। यह कौपीन मात्र वस्त्र का धारी होता है। (गाथा ३०१)

वसुनन्दि के इस कथन में देखेंगे कि—पूर्वग्रन्थों में इस प्रतिमाधारी के लिए जिस भिक्षा भोजन का कथन किया गया था उसका इन्होंने अच्छा स्पष्टीकरण किया है और इस प्रतिमा के २ भेद करके पूर्व ग्रंथों में जो चर्या समस्त ११वीं प्रतिमा की प्रतिपादन की थी उस सब का कौपीन के अतिरिक्त इन्होंने प्रथम भेद में समावेश कर दिया है। और दूसरे भेद की एक नई कल्पना करके उसके लिये लौंच करने और मुनि की तरह हाथ मे भोजन जीमने जैसे विधान कर दिये हैं, जिनका उल्लेख पूर्वग्रन्थों में कहीं नहीं है। बल्कि कुन्दकुन्द ने तो वस्त्र धारी को हाथ से भोजन करने का सख्त निषेध किया है जैसा कि हम ऊपर लिख आये हैं। करपात्र में आहार होने के दो तरीके होते हैं। पहिला तरीका तो यह कि भोजन को अपने एक हाथ में रखकर उसमें से थोडा-थोड़ा लेकर दूसरे हाथ से खाते रहना और असुविधा होने पर कभी-कभी पात्र का भी उपयोग कर लेना। ऐसा विधान तो वसुनन्दि ने प्रथमोत्कृष्ट के लिए किया है। और दूसरा तरीका मुनि की तरह आहार लेना अर्थात् दोनों हाथों की जुड़ी हुई अंजुली में दाता आहार रखता जाये और साधु उसे अगुलियों से उठा-उठा कर खाता रहे। यह विधान वसुनन्दि ने द्वितीयोत्कृष्ट के लिए विशेष चर्या बताकर किया है। वही आशय आशाधर ने सागार धर्मामृत अध्याय ७ के श्लोक ४६ में 'अन्येन योजित' वाक्य लिखकर प्रगट किया है। और वसुनन्दि ने प्रथमोत्कृष्ट का दूसरा विकल्प एक घर भिक्षा-वालालिखकर यह बतायाहै कि उसको चर्याके लिए भिक्षापात्रको लेकर निकलने को भी जरूरत नहीं है उसे एक घरमें तो आहार लेना है अतः वह दाता के घर के पात्रमें ही जीम लेवे। वसुनंदि का यह विधान नया है। पूर्व ग्रन्थोंसे उसका समर्थन नहीं होता।

वसुनन्दि ने इस प्रतिमा वालों के लिये पर्व में चार प्रकार के आहार का त्याग रूप उपवास रखने का भी नियम लिखा है जो पूर्व ग्रन्थों में नहीं है। ऐसा पूर्व ग्रन्थों मे क्यों नहीं ? और इन्होंने क्यों लिखा ? इसका भी एक कारण है और वह यह है कि—पूर्व ग्रन्थकारों ने तो वैसा उपवास का विधान चौथी प्रोषधप्रतिमा में ही कर दिया था। अतः उनको इस ११वी प्रतिमामे पुनः कहने की जरूरत ही नही थी। किन्तु वसुनन्दि ने चौथी प्रतिमा में प्रोषध का उत्तम मध्यमादि भेद करके पर्व में एकाशन तप करने को प्रोपध बता दिया है। ग्रन्थांतरों में ऐसा विधान प्रोषध शिक्षाव्रत में लिखा है। इसलिये वसुनन्दि को इस ११वी प्रतिमा मे पर्व के दिन नियम से उपवास करने को लिखना पड़ा है। वसुनन्दि ने चौथी प्रतिमा में प्रोषध का जो स्वरूप बतलाया है वह भी समतभद्रादि पूर्व ग्रन्थकारों के मत से भिन्न ही लिखा है।

इस प्रकार वसुनन्दि ने लोच करना (यह मुनियों का मूल गुण है) आदि जो मुनि की क्रियाये थी उन्हीं का श्रावक दशा मे विधान करके उसका नाम द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक रख दिया है। इस प्रकार का विधान वसुनन्दि से पूर्व के किसी ग्रथकार के द्वारा किया हुआ जब तक उपलब्ध न हो जाये तब तक यही कहा जायेगा कि—ऐसी प्ररूपणा सबसे प्रथम वसुनन्दि ने ही की है। इस विधान में सवस्त्र भट्टारकों का रूप छिपा हुआ है। आगे चल कर तो यह मार्ग इतना बिगड़ गया है कि—आजकल तो ११वीं प्रतिमा में पछेवड़ी रखने वाले तक आमतौर पर लोंच करते दिखाई देते है। उनके अन्धभक्त श्रावक उनके केशलुंचन का उच्छव करतेहैं। वे रेलमें सफर करते है। गुरु के

साथ नहीं रहते, न गुरु के आदेश का ही पालन करते हैं। अकेले स्वच्छन्द विचरते हैं। शास्त्राज्ञा को ताक में रखकर अपने भक्तों के बल पर मन आवे सो करते हैं। कहने को वे क्षुल्लक हैं पर लौंचादि करके एक तरह से वे वस्त्रधारी मुनि बन गये हैं। और उनके भक्तजन उनको मुनि की तरह ही मानते पूजते हैं। भिक्षा के लिये पात्र रखना तो आजकल कतई उठ ही गया है। इस प्रकार आज के ११वीं प्रतिमाधारी क्षुल्लक पूर्वाचार्यों के आदेश तो दूर रहे वसुनन्दी के मत को भी अवहेलना करते दिखाई दे रहे है।

इन सब अनर्थों की जड़ आज के अविवेकी श्रावक हैं और वे काफी संख्या में हैं। तथा इस काम में स्वार्थी, खुशामदी, मानबडाई के भूखे कुछ पण्डित भी साथ हो जाते हैं जिनकी वजह से प्रायः त्यागियों की चर्या दिनोंदिन बिगड़ती जा रही है और ताम पर भी समाज में उनका काफी बोलबाला है। और इसी से वे अपने सुधार का कोई प्रयत्न नहीं करते हैं।

जैसे किसी को भूत लग जाता है तो वह बावला होकर अपनी सब सुधबुध खो बैठता है। वही हालत प्रायः आज के श्रावकोंकी नजर आती है। उनके सामने भी कोई कैसा भी मुनि या क्षुल्लक,ऐलक का वेष नजर आताहै तो उसके शिर पर ऐसा भूत सवार हो जाता है कि – उस समय न ये शास्त्र की सुनते हैं और न किसी विद्वान् की। एक तरह से स्वच्छन्द निरंकुश होकर मनमानी करने लगते हैं और झगड़ने लगते हैं।

ऐसी ही स्थिति को परिलक्षित कर यशस्तिलक में सोमदेव ने कहा है—

प्रायः सम्प्रति कोपाय सन्मार्गस्योपदेशनम् ।
निर्लून नासिकस्येव विशुद्धादर्शदर्शनम् ॥

अर्थात्—इस कलिकाल में सन्मार्ग का उपदेश देना भी प्राय खतरे से खाली नहीं है लोग उल्टे कुपित हो जाते है। किन्तु जब ये अपना स्वभाव नहीं छोड़ते तो धर्म-सेवक भी अपने कर्त्तव्य (हितैषिता) से क्यों च्युत हो।

वसुनन्दि ने ११वीं प्रतिमा के जो दोभेद कियेहैं उन दोनों ही भेदों की संज्ञा गुरुदास कृत प्रायश्चित ग्रन्थ में क्षुल्लक बताते हुए वहाँ उसके लिये लौंच करनेका भी उल्लेख कियाहै। पर यह ग्रथ वसुनंदि से पूर्व काल का है या उत्तर काल का है ऐसा कोई पूर्ण निश्चय नहीं है। इस ग्रन्थ का चूलिका भाग नन्दीगुरु की टीका सहित माणिकचन्द ग्रन्थमाला से प्रायश्चित्त सग्रह मे प्रकाशित हुआ है। किन्तु इसकी चूलिका सहित शेष अंश मय हिन्दी टीका के अन्यत्र से भी छपा हैं। उसको पढने पर यह ग्रन्थ प्रामाणिक मालूम नहीं पड़ता है। जैसे इसके पृष्ठ ५५ में लिखा है कि–' व्याधि आदि कारणों के बिना मुनि वस्त्र ओढ लें तो वह प्रायश्चित का भागी है।" इसका अर्थ हुआ रोगी मुनि वस्त्र ओढ़ सकता है। पृ० ५६ में लिखा है—"व्याधि के वश से मुनि जूता पहिन ले तो दोष नहीं है।" इत्यादि। महावीर अतिशय क्षेत्र कमेटी से प्रकाशित आमेर शास्त्र भण्डार की सूची के पृ० १६४ में इसे श्वेतांबर ग्रन्थ बताया है। इसकी नन्दी गुरु कृत टीका है। इसके श्लो० १६१ की टीका में उक्तञ्च गाथा है वह इन्द्रनन्दि कृत छेदपिंड की है। इन्द्रनन्दी का समय विक्रम की १४वीं शताब्दि है। अतः नन्दीगुरु वि० १४वीं शताब्दि के बाद के सिद्ध होते हैं।

स्वामिकुमार कृत कार्तिकेयानुप्रेक्षा ग्रन्थ में भी जो कि प्राचीन माना जाता है सिर्फ एक गाथा में इस विषय का मामूली सा वर्णन है। परन्तु उसका रचनाकाल आशाधर से पहिले का होने में भी सन्देह है। क्योंकि उसकी एक भी गाथा आशाधर की रचनाओं में कहीं उद्धृत नहीं है। जबकि आशाधर ने अन्य अनेक प्राचीन ग्रंथों के उद्धरण दिये हैं तब यह हो नहीं सकता कि कातिकेयानुप्रेक्षा का वे एक भी उद्धरण नहीं देते। कम से कम सागारधर्मामृत में तो इसका उद्धरण देते ही, जबकि कार्तिकेयानुप्रेक्षा में श्रावक धर्म का ८८ गाथाओं में विवेचन पाया जाता है। अन्य प्राचीन ग्रन्थकारों के ग्रंथों मे भी कहीं इसका उद्धरण नहीं देखा जाता है। न इसके कर्ता स्वामिकुमार का ही किसी प्राचीन आचार्य ने कहीं स्मरण किया है। इसकी टीका भी बहुत बाद की १६वी शताब्दी में बनी है। कुन्दकुन्द समन्तभद्रादि सभी शास्त्र कारों ने जहाँ श्रावक की प्रतिमाओं के ११ भेद लिखे हैं वहाँ इस ग्रन्थकी गाथा ३०४-३०५ मे १२ भेद लिखे हैं। अगर यह ग्रन्थ अधिक प्राचीन होता तो अन्य ग्रंथकार इसका अनुसरण करके प्रतिमाओं के १२ भेद लिखते परन्तु १२ भेद किसी ने भी नहीं लिखे हैं। यह बात खास सोचने की है।

वसुनन्दि के बाद तो प्रायः सभी ग्रन्थकारों ने ११ वीं प्रतिमा का स्वरूप वसुनन्दि के अनुसार ही लिखा है। आशाधर ने भी इनका काफी अनुसरण किया है कुछ कथन आशाधर ने ऐसा भी लिखा है जो वसुनन्दी के द्वारा लिखने में रह गया है। जैसे इस प्रतिमाधारी के वस्त्र सफेद रंग के होना चाहिए। ऐसा ही पुष्पदन्त ने यशोधर चरित मे लिखा है। वह है भी

ठीक, क्योंकि जब महिला वर्ग जो कि अधिकतर रंगीन-वस्त्र पहनती है उस वर्ग की आर्यिका के लिए ही जब सफेद साड़ी का विधान है तो पुरुषवर्ग के उत्कृष्ट श्रावक के वस्त्र का रंग सफेद होना योग्य ही दे। यह कहना कि–मेधावी ने रक्त-कौपीन संग्राही' लिखकर उत्कृष्ट श्रावक की लंगोट लाल रंग की बताई है। किन्तु यह पाठ अशुद्ध है। शुद्ध पाठ 'रिक्त कौपीन संग्राही' होना चाहिए। जिसका अर्थ होता है बिना चादर के खाली (केवल मात्र) लंगोट का धारी। वास्तव में यही पाठ मेधावी ने लिखा है। क्योंकि इन्होंने इस प्रतिमा का सारा वर्णन आशाधर के अनुसार किया है तब वे लंगोट के रंग के विषय में ही भिन्न कथन कैसे कर सकते हैं। इन मेधावी ने प्रथमोत्कृष्ट की चादर लंगोट भी तो सफेद रंग की लिखी है तब वे द्वितीयोत्कृष्ट के लिए लालरंग की लगोट कैसे लिख सकते है ?

आशाधर ने प्रथमोत्कृष्ट श्रावक (आज के क्षुल्लक) के लिए कौपीन और उत्तरीय वस्त्र ऐसे दो वस्त्रों का विधान किया है जबकि वसुनन्दि ने प्रथमोत्कृष्ट के लिए सिर्फ एक वस्त्र (शाटक) का ही विधान किया है।

जब उत्कृष्ट श्रावक अनेक घरों से भिक्षा प्राप्त करता है तो उसको नवधा भक्ति की जाने का तो सवाल ही नहीं रहता है। फिर आशाधर जी ने तो ११ वीं प्रतिमा के स्वरूप के वर्णन में ही इस बात का खुलासा कर दिया कि सभी श्रावक परस्पर में इच्छाकार करें। देखो सागारधर्मामृत के अ० ७ का श्लोक ४९ वां। यही नहीं आ० श्री कुन्दकुन्द ने भी सूत्र-

पाहुड़ की गाथा १३ में लिखा है कि जो वस्त्रधारी क्षुल्लकादि श्रावक हैं वे सब इच्छाकार के योग्य हैं। यहाँ आचार्य का यह आशय है कि जो वस्त्र रखते हैं वे नवधा भक्ति के योग्य नहीं हैं।

पं० भावदेव नहीं, वामदेव का बनाया हुआ संस्कृत में एक भाव संग्रह नामक ग्रन्थ है जो छप चुका है। उसमें भी ११ वीं प्रतिमा का वर्णन है। वह वर्णन प्रायः वसुनन्दी की तरह का ही है। उसमें जो 'पञ्चभिक्षाशनं भुंक्ते' पाठ लिखा है वह हमें अशुद्ध मालूम पड़ता है। उसके स्थान में शुद्ध पाठ 'पात्रे भिक्षाशनं भुंक्ते' होना चाहिए। जिसका अर्थ होता है प्रथम भेदका धारी भिक्षा भोजनको पात्रमे जीमता है। इन प० वामदेव का बनाया एक त्रैलोक्य दीपक ग्रन्थ भी है, जिसकी वि० सं० १४३६ की लिपि की हुई प्रति मिलती है। इससे इनका समय वि० सं० १४३६ से पूर्व का सिद्ध होता है।

लाटीसंहिता में क्षुल्लक के लिए पाँच घरों से भिक्षा लाने की लिखी है वह काष्ठासंघी ग्रन्थ है। अन्य ग्रन्थों में गृह-संख्या का उल्लेख नहीं है।

पं० मेधावी ने धर्मसंग्रह श्रावकाचार की प्रशस्ति में एक 'दीपद' नाम के श्रावक को आशीर्वाद देते हुए जो उसका स्वरूप लिखा है वह ११ वीं प्रतिमा वाले द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के स्वरूप से मिलता हुआ है उसको मेधावी ने क्षुल्लक नहीं लिखा है किन्तु 'सत्क्षुल्लक' (उत्कृष्ट क्षुल्लक) और 'आर्य' लिखा है। तथा उनके लघु पिच्छी बताई है धत्ते च पिच्छं लघुः'। (मुनि की तरह बड़ी पिच्छी नहीं)।

चारित्रसार में ५ प्रकार के ब्रह्मचारी बताये हैं उनमें दूसरा भेद अवलम्ब ब्रह्मचारी है उसका स्वरूप इस प्रकार लिखा है अवलंब ब्रह्म चारिणः क्षुल्लकरूपेणागममभ्यस्य परिगृहीत गृहावासाभवंति अर्थात् अवलंब ब्रह्मचारी वे हैं जो क्षुल्लक का वेष धरकर आगम का अभ्यास करते हैं फिर गृहस्थ हो जाते है। यही कथन सागारधर्मामृत अ० ७ श्लोक १६ की टीका में तथा कार्तिकेयानुप्रेक्षा की शुभचन्द्र कृत टीका पृ. २८६ में उद्धृत है। धर्म संग्रह श्रावकाचार अ. ६ श्लोक २१ में तथा लाटी संहिता सर्ग ७ श्लोक ७३ में भी यही वर्णन है। ऐसे क्षुल्लकों की कथा हरिषेण कथाकोष नं० ६४ में है।

द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक की 'ऐलक' संज्ञा लाटी संहिताकार पं० रायमल जी द्वारा बताना सही नहीं है, क्योंकि लाटी संहिता सर्ग ७ श्लोक ६५ में 'तत्रैलकः' पद है वह गलत प्रतीत होता है कारण कि वहीं श्लोक ५५ 'क्षुल्लकश्चैलकस्तथा' और श्लोक ५८ 'विद्यते चेलकस्यास्य' में स्पष्टतया 'चैलक' पाठ दिया है अतः श्लोक ५६ में भी 'तत्रैलकः' की जगह 'तच्चैलकः' शुद्ध पाठ होना चाहिए। इस तरह लाटी संहिताकार ने 'चैलक' नाम द्वितीयोत्कृष्ट के लिए दिया है। संस्कृत भाषा की दृष्टि से भी 'चैलक' पाठ शुद्ध सार्थक है; 'ऐलक' नहीं। चैलक संज्ञा लाटी संहिताकार की निजी कल्पना नहीं है किन्तु इसके रूप पूर्व साहित्य में सन्निहित पाये जाते हैं। रत्नकरण्ड में 'चैल खंडधरः' पद इसी अर्थ में प्रयुक्त है। पउम चरिय (विमलसूरि कृत) प्राकृत ग्रन्थ के सर्ग ८७ वें में 'चेल्लअ' और 'चेल्लसामी' (चेल—स्वामी शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त हैं। दशवै कालिक की हरिभद्र सूरि कृत टीका में भी 'चेल्लय रूवं काऊणं' वाक्य में

चेल्लय (चेलक) शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में दिया है卐 चेल और चैल द्विरूप है इसीसे चेलक और चैलक बने हैं। देशी भाषा में चेला (शिष्य) शब्द भी इससे निष्पन्न हुआ है क्योंकि क्षुल्लकादि, साधुओं के शिष्य होते हैं। साधु अचेलक कहलाते हैं क्योंकि वे निर्ग्रंथ नग्न होते हैं अतः उनसे नीचे दर्जे के क्षुल्लक (११ वीं प्रतिमाधारी) चेलक कहलाने ही चाहिये क्योंकि ये वस्त्रधारी होते हैं। इसी चैलक (चेला) शब्द के आदि अक्षर 'च' का लोप होकर देशी भाषा में ऐलक (एलक) शब्द का प्रचार हुआ है। जैसे बच्चे के अर्थ में संस्कृत 'बाल' शब्द है और उसीके 'क' प्रत्यय लगाकर उसी अर्थ में 'बालक' शब्द बना है उसी तरह चेल और चेलक समझना चाहिए।

अर्श आदि गण (आकृतिगण) के अनुसार मत्वर्थीय (मत्=वाला) 'अ' प्रत्यय लगने पर चेल (चैल) का अर्थ चेल वाला=वस्त्रधारी भी हो जाता है जैसे शुक्ल का अर्थ शुक्लवर्ण वाला भी होता है ('गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणि लिंगास्तु तद्वति'–इत्यमरः)। अतः चैल और चैलक का 'वस्त्रधारी' के अर्थ में प्रयोग समुचित है इसी चैलक से देशी भाषा में ऐलक शब्द प्रचलित हुआ है। पं० चैनसुखदास जी न्यायतीर्थ को 'लाटी संहिता' का यह प्रकरण हस्तलिखित प्रति में देखकर लिखने को एक बार हमने निवेदन किया था उत्तर में उन्होंने लिखा था कि—'चैलक' की जगह 'चैलिक' पाठ भी पाया जाता है संस्कृत कोशों में 'चैलिक' का अर्थ खंडवस्त्र दिया हुआ है इससे इस

卐 आहार क्षेत्र के प्राचीन शिलालेखों में "चेल्लिका रत्नश्री" का उल्लेख है। स्थानीय मुनिसुव्रतनाथ भगवान् की १२२५ सं० की १ मूर्ति पर चेल्लिका गणधरश्री का उल्लेख है। परमात्मप्रकाश....

पाठ की भी संगति बैठती है। दौलतरामजी ने अपने क्रिया कोष में ऐसे ही किसी आधार से द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के लिए जगह-जगह 'ऐलि' शब्द का प्रयोग किया है जो चैलि (चैलिक) का ही अपभ्रष्ट ज्ञात होता है।

यह ऐलक शब्द का सुसंगत इतिहास है। किन्तु मुख्तार सा० और पं० हीरालाल जो सिद्धांत शास्त्री ने (वसुनन्दि श्रावकाचार की प्रस्तावना के अन्त मे) 'अचेलक' शब्द से ऐलक शब्द की निष्पत्ति बताई है जो संगत मालूम नहीं पडती क्योंकि किसी भी ग्रन्थकार ने द्वितीयोत्कृष्ट श्रावक के लिए 'अकेलक' शब्द का प्रयोग नहीं किया है अचेलक शब्द का प्रयोग श्रमण-निर्ग्रन्थ साधुओ के लिए ही एक मात्र प्रयुक्त पाया जाता है उत्कृष्ट श्रावको के लिए नही। दोनों के लिये इसे प्रयुक्त बताना एक तरह से गुड़ गोबर एक करना है।

गवेषक विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इस विषय पर विचार कर अपनी सम्मति प्रकट करने की कृपा करें।

अन्त में १३ मार्च ६९ के जैनसन्देश में जो माननीय ब्रह्मचारी हीरालाल खुशालचन्द जी दोशी ने क्षुल्लकचर्या पर ८ प्रश्न विद्वानों से पूछे हैं क्रमणः उनका संक्षिप्त उत्तर नीचे प्रस्तुत करते हैं:—

(१) वसुनन्दि श्रावकाचार में प्रथम उत्कृष्ट श्रावक (क्षुल्लक) के लिए जो एक वस्त्र का विधान है तथा सागार धर्मामृत में जो प्रथमोत्कृष्ट के लिए उत्तरीय और कोपीन ऐसे दो वस्त्रों का विधान है इन दोनों में वसुनन्दिका कथन पूर्वाचार्यानु संमत ओर उपादेय है।

आपने लिखा —"एक वस्त्र धारण करने का मतलब यह दिखता है कि एक बार उपयोग में लाने के लिए एक ही वस्त्र लेना दूसरा नहीं परन्तु दूसरे दिन बदलने के लिए दूसरा वस्त्र पास में रखने का निषेध नही है दो वस्त्र एक साथ धारण करने मे निषेध (दोष) है।"

समीक्षा – प्राचीन साहित्यकारों ने जो क्षुल्लक के लिए एक ही वस्त्र धारण करना बताया है उसका तात्पर्य ही यह है कि दूसरा वस्त्र न तो अपने पास रखे और न धारण ही करे। परिग्रह की दृष्टि से पास रखने और धारण करने में कोई अन्तर नहीं है क्योंकि लखपति करोड़पतिकी जेबमें लाख करोड़ रुपये पड़े नहीं रहते फिर भी वे उन रुपयों के मालिक अधिकारी होने से लखपति करोड़पति कहलाते हैं। अतः दूसरे वस्त्र का पास में रखना एक तरह से उस दूसरे वस्त्र का धारी-परिग्रही होता ही है। अगर ऐसा नहीं माना जायेगा तो कोई भी एक वस्त्रधारी अपने पास अनेक वस्त्र भी रख सकेगा ऐसी हालत में गृहस्थी में और इसमें कोई विशेष और नहीं बन सकेगा।

परिग्रह का सम्बन्ध किसी वस्तु के धारण करने या पास में रखने से ही नही किन्तु उसके ममत्वभाव से है इसीलिए सूत्रकार ने परिग्रह का लक्षण "मूर्च्छा परिग्रहः" बताया है।

विहार के वक्त इस दूसरे वस्त्र को हाथ आदि में रखना लेना ही पड़ेगा। तब दूसरे वस्त्र का धारण करना हो जायेगा तथा इस दूसरे वस्त्र की सार संभाल की चिन्ता रखने से स्वतन्त्रता निराकुलता में भी काफी बाधा उत्पन्न होगी अतः दूसरा वस्त्र पास में रखना किसी तरह विधेय नहीं है। यह तो

स्पष्ट परिग्रह पंक में फँसना है जिस परिग्रह पंक का ६वीं प्रतिमा में ही सर्वथा त्याग कर चुके पुनः उसका ग्रहण करना पीछे लौटना या नीचे गिरना है।

(२) सर्वप्रथम वसुनन्दि ने दो भेद ११वीं प्रतिमा के किये हैं किन्तु उन्होने दो और एक वस्त्र की दृष्टि से ये भेद नहीं किये हैं। उन्होंने प्रथमोत्कृष्ट के लिए भी एक वस्त्र (शाटक=धोती रूप) ही बताया है और द्वितीयोत्कृष्ट के लिए भी एक कौपीन मात्र ही।

पूर्व शास्त्रों में जो ११वीं प्रतिमा में एक शाटक व कौपीन दोनों प्रकार के विकल्प चलते थे उसी के वसुनन्दि ने पृथक्-पृथक् रूप में दो स्वतन्त्र भेद कर किये हैं। पर बाद में तो अनेक ग्रन्थकारों ने एक प्रथमोत्कृष्ट के ही दो वस्त्र का विधान कर इस मार्ग को जघन्य कर दिया है।

(३) पद्मपुराण पर्व १०० श्लोक ३६–'अशुकेनोपबीतेन सितेन प्रचलात्मना" में क्षुल्लक के सफेद वस्त्र ही बताया है ऐसा ही पुष्पदन्त कृत यशोधर चरित और आशाधर कृत सागार धर्मामृत में है। किसी भी दि० ग्रन्थ में क्षुल्लक के लिए रंगीन वस्त्र नही बताया है। श्वे० जैनों के साधु साध्वी के भी सफेद वस्त्र ही है। इस तरह समग्र जैनसाधु समाज में श्वेत वस्त्र ही प्रचलित हैं। श्वेत रंग वैराग्य का द्योतक है जबकि अन्य सब रंग राग भाव के द्योतक और हिंसा जन्य हैं। अतः दि० क्षुल्लकों को श्वेत परिधान ही ग्रहण करने चाहिए।

बहुत से क्षुल्लकादि अपने कमण्डलु के गोपाल वारनिस या रंगीन पेंट लगे हुए रखते हैं किन्तु ये वारनिस-पेन्ट नितांत

अशुद्ध वस्तुओं से निर्मित होते हैं अतः ऐसे कमण्डलु ग्रहण नहीं करने चाहिये। लकड़ी के स्वाभाविक वा उन पर तेल लगे हुए ही ग्रहण करना योग्य है (मुनियों के भी वारनिशपेन्ट के कमण्डलु ठीक नहीं)

(४) प्राचीनसमय में तो क्षुल्लक (समग्र ११वीं प्रतिमा) के लिए पात्र में ही आहार करना विहित था किन्तु बाद में किसी-किसी ग्रन्थकार ने कर में भी आहार करने को लिख दी फिरभी मुनि की तरह अंजुलि जोड़कर नहीं इस सबका विस्तृत विवेचन पूर्व में कर चुके है।

कर पात्र अर्थ—कर रूपी पात्र (कर ही) तथा कर में रखा हुआ पात्र दोनों बन सकते हैं। व्याकरण शास्त्र के अनुसार प्रथम अर्थ बहुव्रीहि समास से तथा दूसरा अर्थ सप्तमी तत्पुरुष समास से निष्पन्न होता है। जैसे—'लोकनाथ' शब्द के लोक ही है नाथ जिसका अर्थात् दीन अनाथ मनुष्य तथा लोक का नाथ अर्थात् राजा दोनों बनते हैं।

फिर भी आशाधर ने प्रथम अर्थ के लिए पाणिपात्र शब्द का प्रयोग किया है और दूसरे अर्थ के लिए पात्र-पाणि शब्द का देखो सागार धर्मामृत अ० ७ श्लोक ४० "पात्र पाणिस्तदंगणे।"

(५) पूर्वाचार्यों ने तो ११वीं प्रतिमा में पिच्छी रखना बताया ही नही है बाद में किसी-किसी ने बताया है तो द्वितीयोत्कृष्ट जिसे आज ऐलक कहते हैं उसी के लिये बताया है। प्रथमोत्कृष्ट क्षुल्लक के लिए तो वस्त्र का मृदूपकरण रखना बताया है।

दो वस्त्र रखने वाले आजकल के क्षुल्लक के लिए तो प्राचीन अर्वाचीन किसी भी आचार्य ने पिच्छी रखना नहीं बताया है।

(६) इसी तरह आजकल के (दो वस्त्रधारी) क्षुल्लक के लिए किसी भी शास्त्र में लोंच करने का विधान नहीं है फिर गुप्तस्थान या जाहिर में करने का तो प्रश्न ही नहीं उठता।

आजकल के जो कोई क्षुल्लक दाढ़ी-मूँछ के बालों को तो रेजर या बाल-मफा लोशनों से साफ कर डालते हैं और शिर के बालों के लिए केशलोंच महोत्सव कराते हैं या परचे छपवाते हैं वह सब ढोंग और महान् विडम्बना है धर्म का अपवाद है—कदाचार है।

क्रियाकलाप के अन्त में (पृ० ३३८ पर) क्षुल्लक दीक्षा विधि संग्रहीत है जो न जाने किसकी बनाई हुई है उसमें गोबर आदि को क्षुल्लक के मस्तक पर रखने का भी कथन है और दीक्षा के वक्त क्षुल्लक का लोंच करना बताया है इससे कोई कोई आज के क्षुल्लक के लिए लोंच करना विधेयक बताते हैं किन्तु वह ठीक नहीं क्योंकि पूर्वकाल में क्षुल्लक एक वस्त्रधारी की ही संज्ञा थी (जो आज ऐलक कहलाते हैं) अतः दो वस्त्रधारी आजकल के क्षुल्लकों के लिए इस दीक्षा विधि से भी केशलोंच का विधान सिद्ध नहीं होता। क्षुल्लक शब्द से भ्रम में नहीं पड़ना चाहिये। इस दीक्षा विधि में क्षुल्लक शब्द के आगे ब्रेकेट में 'आर्य-ऐलक" ऐसा स्पष्ट लिखा है इससे यह ऐलकों की ही दीक्षा विधि सिद्ध है आज के दो वस्त्र धारी क्षुल्लकों से उसका कोई सम्बन्ध नहीं।

बहुत से क्षुल्लक महाराज कहते हैं कि अगर हम केश लौंच की उच्च क्रिया करते हैं तो इसमें क्या हानि है ? यह तो अच्छी ही बात है इसका उत्तर यह है कि—फिर तो मुनियों की तरह खड़े-खड़े आहार भी कर लिया जाय इसमें भी क्या हानि है ? यह भी उच्चक्रिया ही है। किन्तु क्षुल्लकों के लिए यह सब शास्त्र विरुद्ध है शास्त्र में जिस पद के लिए जो मर्यादा कायम की है तदनुसार ही आचरण करना चाहिये अगर ऐसा नहीं किया जायेगा तो फिर ब्रह्मचारी भी कहने लगेंगे कि—हम भी यह केशलौंच की उच्च क्रिया करेंगे (पर्चे छपवाकर महोत्सव करेंगे) तब उन्हें कैसे रोका जायगा ? इस तरह सारा ही मार्ग बिगड़ जायगा। अगर क्षुल्लकों को उच्च क्रिया का ही शौक है तो पछेवड़ी आदि वस्त्रों का मोह छोडिये और फिर खूब केश-लौंच करिये कोई रोकने टोकने वाला नहीं। किन्तु उच्चक्रिया का तो क्षुल्लकों के बहाना मात्र है अन्तरंग में तो महोत्सव, भोज पर्चे छपवाना, जय-जयकार आदि के रूप में अपनी नामवरी की भूख है जो वैरागी के लिए कोई शोभा की चीज नहीं। प्रस्तुतः उसे हीन मार्ग की ओर ले जाने वाली है।

(७)(८) जो क्षुल्लक कपडे की पगरखी, छतरी, दतौन-टूथब्रुश, साबुन, घड़ी, फाउन्टेन पेन, पंखा, चश्मा, बिजली, तेल, खसखस की टाटी होटर, रेल मोटर, आदि सवारी वगरह का उपयोग करते है वे पदविरुद्ध क्रिया करते है क्योंकि इन सब वस्तुओं का तो ६वीं परिग्रहत्याग प्रतिमा में ही सर्व प्रकारेण त्याग हो जाता है पुनः उसका ग्रहण करना उच्छिष्ट-सेवी बनना है यह तो आगे की कक्षा में आकर पीछे का पाठ भूलने के समान है गृहत्यागी वैरागीके लिये ये सब आरम्भ परिग्रह किसी तरह शोभास्पद नहीं ये तो उसकी स्वतन्त्रता निराकुलता का

हनन करने वाले और धर्म की निंदा स्वरूप हैं ये महान दोष-अनाचार हैं क्षुल्लकों को इनसे बचना चाहिये।

रेल मोटरादि की सवारी में ईर्या समिति का पालन भी पालन भी नहीं है टिकिट के लिए भी याचना करनी पड़ती है अतः क्षुल्लक को तीर्थयात्रा के निमित्त भी सवारी का उपयोग मन में नहीं लाना चाहिये।

जो कोई क्षुल्लक-क्षुल्लिका शीतकाल में ओढ़ने के लिए विशेष चद्दर या रजाई आदि का उपयोग करते हैं वह भी शास्त्र विरुद्ध और अनाचार है। उन्हें अपने पद का ध्यान रखकर शीत परिषह को सहना चाहिये—किसी भी प्रकार के शिथिलाचार को प्रश्रय नहीं देना चाहिये।

आजकल के क्षुल्लकों के लिये एक बात की तरफ हम और संकेत करना चाहते हैं—

बहुत से क्षुल्लक आहारचर्या पर जाते वक्त अपनी पछेवड़ी (चद्दर) अपने आवास परही रख जातेहैं यह दोषास्पद है क्योंकि इस तरह आहारदाता गृहस्थको यह पहचानने में नहीं आता कि ये क्षुल्लक हैं या ऐलक वे भ्रममें पड़ जातेहैं इसके सिवा आवास पर चद्दर रखकर आने से उस चद्दर के चोरी चले जाने या किसी प्रकार से उसकी बरबादी-हानि भी संभव है अतः क्षुल्लकों को आहारचर्या के वक्त अपनी पछेवड़ी अपने साथ ही रखना चाहिये।

श्रावक, त्यागी सभी का कर्तव्य है कि वे सदा जिनेन्द्र के पवित्र मार्ग को अक्षुण्ण बनाने रखने में प्रयत्नशील रहें—किसी भी तरह मार्ग को भ्रष्ट-पतित नहीं होने दें। यही सच्ची जिनभक्ति है।



५०

साधुओं की आहारचर्या का समय

जो भिक्षा प्रासुक हो, यथाकाल प्राप्त की हो और जिसके सम्पादन में साधु का कृत-कारित-अनुमोदना का कुछ भी संपर्क न हो, ऐसी भिक्षा आगम मे साधु के लिए ग्रहण योग्य मानी है। इस प्रकार की भिक्षाचर्या को साधु के मूल गुणों और उत्तर-गुणों में प्रधान व्रत कहा है। ऐसी भिक्षाशुद्धि को त्यागकर जो साधुजन अन्य योगउपवास व आतापनादि त्रिकालयोगों को करते हैं, तो उनके किये वे अन्य योग सब चारित्रहीनों के किए जैसे हैं। उन्होंने परमार्थ को नहीं जाना है। भिक्षाशुद्धि के साथ यदि थोड़ा भी तप किया जाय तो वह शोभनीय व सराहने योग्य है।

ऊपर का सब कथन मूलाचार के समयसाराधिकार में बताया है। यथा—

> जोगेसु मूलजोगं भिक्खाचरियं चः वाण्णियं सुत्ते।
> अण्णं य पुणो जोगा विण्णाणविहीणएहिं कया।४६।

टीका—सर्वेषु मूलगुणेषूत्तरगुणेषु मध्ये प्रधानव्रतं भिक्षा-चर्या। कृतकारितानुमतिरहितं प्रासुकं काले प्राप्तं वर्णिता प्रवचने। तस्मात्तां भिक्षाशुद्धिं परित्यज्य अन्यान् योगान् उपवास-त्रिकाल योगादिकान् ये कुर्वंति, तैस्तेऽन्ये योगा विज्ञानविरहि-

तैश्चाग्निग्रहीनैः पुनः कृताः । न परमार्थं जानद्भिर्रिति । चर्याशुद्धया स्तोकमपि क्रियते यत्तपस्तच्छोभनमिति ।

फिर इसके आगे की गाथा में लिखा है कि—

कल्लं कल्लं पि वरं आहारो परिमिदो पसत्थो य ।
ण य खमण पारणाओ बहवो बहुसो बहुविहो य ॥४९॥

अर्थ—भिक्षाशुद्धि के बिना जो बहुत से बहुत प्रकार के बहुत बार उपवास पारणे करता है वह अच्छा नहीं है । इससे तो वह अच्छा है जो रोज-रोज आहार करता है किन्तु परिमित और अधः कर्मादिदोष रहित आहार लेता है ।

ऊपर भिक्षाशुद्धि का कथन करते हुए भिक्षा काल में भोजन लेना भी भिक्षा-शुद्धि में शुमार किया है । आगम मे साधुओं के भिक्षा लेने का समय कौनसा बताया है ? इस लेख में नीचे हम इसी की चर्चा करते हैं ।

मुनियों का आचारविषयक प्रधान ग्रंथ मूलाचार है । उसके पंचाचाराधिकार की गाथा १२१ की वसुनन्दिकृत संस्कृत टीका में यह कथन इस प्रकार लिखा है—

"सवितुरुदये देववंदनां कृत्वा घटिकाद्वयेऽतिक्रांते श्रुतभक्तिगुरुभक्तिपूर्वकं स्वाध्यायं गृहीत्वा ..... घटिकाद्वयम प्राप्तमध्याह्नादरात् स्वाध्यायं श्रुतभक्तिपूर्वकमुपसंहृत्या-वसथाद्दूरतो मूत्रपुरीषादीन् कृत्वा पूर्वापरकाय विभागमवलोक्य हस्तपादादि प्रक्षालनं विधाय कुण्डिकां पिच्छिकां गृहीत्वा मध्याह्नदेववन्दनां कृत्वा पूर्णोदरबालकान् भिक्षाहारान् काकादिबलीनन्यानपि लिंगिनो भिक्षावेलायां ज्ञात्वा प्रशांते धूममुशलादिशब्दे गोचरं प्रविशेन् मुनिः ।"

अर्थ—सूर्योदय में देववन्दना करके, २ घड़ी दिन चढ़ने पर श्रुतभक्ति व गुरुभक्ति का पाठ पढ़कर स्वाध्याय का प्रारम्भ करे और मध्याह्न के होने में जब दो घड़ी का समय बाकी रहे तब ही यानी मध्याह्न के समीप काल में श्रुतिभक्ति के पाठ पूर्वक स्वाध्याय का विसर्जन करदे। फिर वसतिका से दूर जाकर मलमूत्र करके (यहाँ ऐसा कुछ आभास होता है कि आम तौर पर मुनियों के मलोत्सर्ग का भी यही समय है, न कि प्रभात काल)। अपने शरीर के अगले पिछले भाग की प्रतिलेखना कर, हाथ पैर धोकर कमण्डलु पीछी लेकर मध्याह्न की देववन्दना किये बाद यह देखे कि बालकों ने पेटभर भोजन कर लिया है, भिखारी भीख मांगते फिर रहे हैं, काकादिकों को खाना डाला जा रहा है, (इस आर्यावर्त देश की यह प्राचीन प्रथा थी कि मध्याह्न के वक्त काक, श्वान आदि को खाना डाला जाता था) और अन्य मत के साधु भी भिक्षार्थ विचर रहे हैं। इत्यादि लक्षणों से भिक्षा लेने का समय जानकर जिस वक्त कि रसोई का धुआँ और मुशलादि का शब्द भी न हो रहा हो, जैनमुनि गोचरी के लिए निकले।★

भिक्षावेला का यह विवरण जिस क्रम के साथ यहाँ दिया गया है उससे बिलकुल स्पष्ट हो जाता है कि—जैनमुनि के भोजन का काल दिन के मध्याह्न में है। मध्याह्न से दो घड़ी

★ श्वे० विशेषावश्यक ग्रंथ में भी ऐसा ही लिखा है देखिये—
निद्धमगं च गाम महिला थूभ च सुण्णयं देद्ध्। नीय च कागा बोलें ति जाया भिक्खस्स हरहरा।।२०६४।। ७२७-१८६ (अर्थात्—धूम्ररहित गांव और स्त्रियों रहित पनघट को लक्षितकर और कौवों को नीचे आते देख कर भिक्षाकाल का निश्चय करना चाहिये)

पहिले स्वाध्याय को समाप्त करना और मल मूत्रादि क्रिया से निवृत्त हो मध्याह्न की देववन्दना किये बाद गोचरी पर उतरना इत्यादि उल्लेखों से मध्याह्न के समय में फेरफार होने की तनिक भी गुंजाइश नहीं है। अन्यमत के सन्यासियों के भोजन के बाबत जो टीकाकर ने लिखा है सो मनुस्मृति में इस विषय में निम्न कथन मिलता है—

एककालं चरेद्भैक्ष्यं न प्रसज्जेत विस्तरे।
भैक्षे प्रसक्तो हि यतिर्विषयेष्वपि सज्जति ॥५५॥
विधूमे सन्नमुशले व्यंगारे भुक्तवज्जने।
वृत्ते शरावसंपाते भिक्षां नित्यं यतिश्चरेत् ॥५६॥
अलाभे न विषादी स्याल्लाभे चैव न हर्षयेत् ॥अ०६॥

अर्थ--सन्यासी दिन में एकबार भिक्षा करे। अधिक बार न खावे। क्योंकि अधिक बार खाने से कामादि विषयों में मन जाता है। रसोई का धुवां निकल गया हो, मुशल के कूटने का शब्द बन्द हो चुका हो। आग बुझ गई हो, सब भोजन कर चुके हों, झूंठी पत्तलें मिट्टी के सकोरे आदि फेंक दिये हों ऐसे समय में सदा यति को भिक्षा के लिये जाना चाहिये। भिक्षा न मिलने पर खेद और मिलने पर हर्ष न करे। *

मनुस्मृति के इस कथन से ऐसा ध्वनित होता है कि—गृहस्थी के सब लोग भोजन कर चुकने के बाद अगर भोजन बच जाये तो वह सन्यासियों के लेने योग्य होता है।

---

* यही बात कण्व (वैदिक ऋषि) ने लिखी है :—
विधूमे सन्नमुशले, व्यंगारे भुक्तवज्जने।
कालेऽपराण्हे भूयिष्ठे भिक्षाटन मथा चरेत् ॥
(इसमें स्पष्ट तया अपरान्ह काल लगने पर भिक्षाटन बताया है।)

अब हमें यह देखना है कि—मूलाचार की टीका में जो मुनियों का भिक्षा का काल मध्याह्न में बताया है उसका समर्थन अन्य जैन ग्रन्थों से भी होता है या नहीं। सबसे प्रथम हम सोमदेव कृत यशस्तिलक चंपू का प्रमाण पेश करते हैं। उसके प्रथम आश्वास के पृष्ठ १३४ (तुकारामजावजी द्वारा प्रकाशित) पर लिखा है कि—

'तमुपसद्य निषद्य च निर्वर्तितमार्गमध्याह्नक्रियः समाकलय्य च परिणतकालमहर्दलमखिलं श्रमणसंघं लोचनगोचरारामेषु ग्रामेषु विश्वाणार्थमादिदेश।"

उस पर्वत पर सुदत्ताचार्य संघ सहित जाकर स्थित हुये। उन्होंने ईर्यापथशुद्धि और माध्याह्निकक्रिया-देववन्दनादि से निवृत्त हो, अहर्दल कहिये दिन के अर्द्ध भाग को मुनियों का भोजन काल ज्ञात करके सब मुनिसंघ को आहार के लिये आसपास के ग्रामों में जहां के कि बगीचे दिखाई दे रहे थे, जाने का आदेश दिया।

यहां भी दिन का अर्द्ध भाग और मध्याह्न की देववंदना के बाद का समय लिखकर सोमदेव ने इस विषय को अच्छा स्पष्ट कर दिया है।

पद्मपुराण पर्व ४ में लिखा है कि—

अन्यदा हास्तिनपुरं विहरन् स समागतः।
अविशच्च दिनस्यार्द्धे गते मेरुरिव श्रिया ॥६॥

अर्थ—जो शोभा से मेरुपर्वत के समान जान पड़ते थे ऐसे भगवान् श्री ऋषभदेव विचरते हुए किसी दिन आहार के अर्थ मध्याह्न के समय हस्तिनापुर में आये। यहां भी दिनार्द्ध का

समय लिखा है। □

हरिवंश पुराण सर्ग ६ में लिखा है कि—श्री ऋषभदेव भगवान के दर्शन प्रजा को उस वक्त होते थे जब वे मध्याह्न के समय आहार के अर्थ पुरों व ग्रामों में आते थे। यथा—

मध्यान्हेषु पुरग्रामगृहपंक्तिषु दर्शनम् ।
प्रशस्तासु प्रजाभ्योऽदात्स्वांह्रीचर्या चरन क्षितौ ॥१४४॥

यहां भी मध्याह्न का समय लिखा है। 卐

सकलकीर्तिकृत प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के २४वें सर्ग में ११वीं प्रतिमा का स्वरूप वर्णन करते हुए लिखा है कि—

योग्यकाले तदादाय मुहूर्ते सप्त संगते ।
दिने परिग्रहे योग्ये भिक्षार्थं संभ्रमेत् व्रती ॥४५।

अर्थ—उस पात्र को लेकर सात मुहूर्त दिन के चढ़ जाने पर जो कि भिक्षा का योग्य काल है, उसमें योग्य दिन में क्षुल्लक व्रती को भिक्षा के लिए घूमना चाहिए।

□ पर्व ६२ श्लोक १५-१६ में लिखा है :— नभोमध्य गते भानावदरादा ते महाशमाः (वे मुनीश्वर आकाश के मध्य में सूर्य के आने पर अर्थात् ठीक मध्यान्ह में भिक्षार्थ नगर में आये)

卐 हरिवंशपुराण के सर्ग ६ श्लोक १६६ से भी मध्यान्ह—ही भिक्षाकाल प्रकट होता है—तावदभ्मात माध्यान्हे शंखनादः समुच्छ्रितः।

यहां सूर्योदय से ७ मुहूर्त बाद भिक्षा लेने को जाना लिखा है। ७ मुहूर्त के ५॥ घण्टे होते हैं। अतः यह समय भी लगभग मध्यांह्न का ही पड़ता है।

इत्यादि आगम प्रमाणों से जैनमुनियों का भिक्षा काल मध्याह्न समय का सिद्ध होता है। [शास्त्रकारों ने जो भिक्षा का समय मध्याह्न काल बताया है उससे मुनि को आहार उद्दिष्टादि दोषों से रहित प्राप्त होता है यह ज्ञातव्य है।]

इस पर जैन गजट के सम्पादक पं अजित कुमार जी शास्त्री और ब्र० चांदमल जी चूड़ीवाल के विचार जैनगजट के ता० ६-२३-३० मई सन् ६८ के अंक में प्रकाशित हुए हैं। उन्हें मैं समीचीन नहीं समझता। उनकी समीक्षा के साथ नीचे इस विषय पर और भी काफी प्रकाश डाला जाता है ताकि पाठक इस विषय को और भी स्पष्टतया हृदयंगम कर सकें :—

मूलाचार के बाद मुनियों के आचार को लेकर पं आशाधर जी ने भी अनगारधर्मामृत नाम का एक बड़ा ग्रंथ स्वोपज्ञ संस्कृत टीका सहित रचा है। जिसमें मुनिधर्म का विस्तार से खुलासा किया है। इस ग्रन्थ में भी मुनि के भिक्षाकाल के विषय में लिखा है। उसे भी देखिये—

प्रवृत्त्यैवं दिनादौ द्वे नाड्यौ यावद्यथाबलम् ।
नाडीद्वयोनमध्यान्हं यावत्स्वाध्यायमावहेत् ॥३५॥
[अध्याय ६]

(नोट:—श्रावक धर्म सग्रह पृ २२५-२२६ में सोधियाजी ने इस ७ मुहूर्त को ७ घड़ी बना दिया है जो गलत है इससे आधा ही होगया है क्योंकि १ मुहूर्त में २ घड़ी होती है)

अर्थ– इस प्रकार दिन की आदि (प्रभात) में दो घड़ी तक देववन्दनादि किये बाद साधुओं को स्वाध्याय करना चाहिए। स्वाध्याय का समय सूर्योदय से २ घड़ी बाद से लेकर मध्यान्ह से २ घड़ी पहिले तक का है। इस समय के भीतर साधुओं को स्वाध्याय करनी चाहिये।

मध्याह्न से पूर्वोत्तर की दो दो घड़ी स्वाध्याय के लिये वर्जित है। इन चार घड़ियों के अस्वाध्यायकाल में मुनि क्या करे? इसके लिये आगे लिखा है कि जिसने स्वाध्याय समाप्त किया है ऐसा वह मुनि यदि उपवास रखना चाहता हो तो उसे क्या करना चाहिए यह बताते हैं —

ततो देवगुरू स्तुत्वा ध्यानं वाराधनादि वा।
शास्त्रं जपं वाऽस्वाध्यायकालेऽभ्यसेदु पोषितः ॥३५॥
[अध्याय ९]

अर्थ उपवास युक्त साधु को पूर्वान्हिकाल का स्वाध्याय समाप्त होने पर मध्यान्ह की आगे पीछे की दो-दो घड़ियों में जो कि अस्वाध्याय काला है उनमें अरहन्त और गुरु धर्माचार्य की स्तुति वन्दना करके ध्यान करना चाहिए अथवा आराधनादि शास्त्रों का अभ्यास करना चाहिए, यद्वा पञ्चनमस्कारादि का जप करना चाहिए।

"अप्रतिपन्नोपवासस्य भिक्षोर्मध्याह्नकृत्य माह।" अर्थ– आगे उपवास न रखने वाले साधु को मध्यान्ह में क्या करना चाहिए सो बताते हैं—

प्राणयात्राचिकीर्षायां प्रत्याख्यानमुपोषितम्।
न वा निष्ठाप्य विधिवद् भुक्त्वा भुयः प्रतिष्ठयेत् ॥३६॥
[अ० ९]

अर्थ—यदि मुनि को उस दिन भोजन करना हो तो पूर्व दिन जो प्रत्याख्यान अथवा उपवास ग्रहण किया था, उसका विधिपूर्वक निष्ठापन कर देना चाहिए और निष्ठापन के अनन्तर मध्यान्ह मे शास्त्रोक्त विधि के अनुसार भोजन करके अपनी शक्ति के अनुसार प्रत्याख्यान अथवा उपवास की प्रतिष्ठापना करनी चाहिए। उसके बाद क्या करना चाहिए सो बताते हैं—

प्रतिक्रम्याथ गोचारदोषं नाडीद्वयाधिके ।
मध्याह्ने प्राह्णवत् वृत्ते स्वाध्यायं विधिवद्भजेत् ॥३९॥
[अ० ९]

अर्थ—प्रत्याख्यानादि को अपने में स्थापित करने के बाद साधुओं को गोचरी सम्बन्धी दोषों का प्रतिक्रमण करना चाहिए। तदनन्तर पूर्वान्हि की तरह अपरान्हकाल में भी मध्याह्न से २ घड़ी अधिक समय व्यतीत होने पर विधिपूर्वक स्वाध्याय का प्रारम्भ करना चाहिए।

इस प्रकार मूलाचार और अनगार धर्मामृत इन दोनों ही ग्रन्थों में स्पष्टतौर पर मध्याह्न से दो घड़ी पूर्व स्वाध्याय की समाप्ति किये बाद गोचरी का समय लिखा है। जो लोग दस बजे करीब गोचरी का जनरल टाइम मानते हैं उन्हें जानना चाहिये कि आशाधर जी ने साफ लिखा है कि मध्यान्ह से दो घडी पहिले जिस मुनि को उपवास रखना है वह अमुक काम करे और जिसे भोजन करना है वह गोचरी पर जावे। इससे साफ प्रगट होता है कि दो घडी कम मध्यान्ह से पहिले मुनि की गोचरी का कोई टाइम नही है। मध्यान्ह से २ घड़ी पहिले का अर्थ होता है दिन के १२ बजे से ४८ मि० पहिले अर्थात् ११। बजे। इसका तात्पर्य यही हुआ कि मुनिका कोई भी भिक्षाकाल दिनके सवाग्यारह बजे से पहिले नही है, बाद में है।

मूलाचार के ऊपर लिखे उद्धरण में लिखा है कि रसोई में से धुआं निकलना बंद होने आदि कारणों से मध्याह्नका समय जानकर मुनि गोचरी पर उतरे। इसका मतलब यह है कि १०-१०॥ बजे तक तो बहुत से गृहस्थों के रसोई बनती रहती है, अतः वह समय गोचरी का नहीं हो सकता है। मध्याह्न में रसोई से सब निमट जाते हैं, अतः धुआं निकलने का भी तब अवसर नहीं रहता है।

आशाधर जी ने अन्य प्रसङ्गों पर भी मुनि का भिक्षाकाल मध्याह्न में लिखा है। जैसे सागार धर्मामृत अ० ५ श्लोक १५ में लिखा है कि-"श्रावक माध्याह्निक देवपूजा किये बाद अतिथि को आहारदान देने के लिए प्रतिक्षा करे।"

इसी तरह सागार धर्मामृत के ६ वें अ० में श्रावक की दिनचर्या बताते हुए आशाधर जी लिखते हैं कि-

प्रथम ही ब्राह्ममुहूर्त में उठकर णमोकार मंत्र पढ़े। फिर शौचादि से निवृत्त हो घरके चैत्यालय में पूजा करे व कृतिकर्म करे फिर कुछ नियम विशेष धारण कर पूजा की सामग्री लेकर गांव के मन्दिर में जावे। वहाँ भगवान की पूजा किये बाद आचार्य के पास जाकर जो पहिले घरके चैत्यालय में नियम विशेष ग्रहण किये थे, उन्हें उनको सुनादे। फिर स्वाध्याय करे। इस प्रकार प्रातःकाल सम्बन्धी धार्मिक कृत्यों को करके वह श्रावक अर्थोपार्जन के लिए दूकान आदि स्थानों पर जाकर व्यवसाय करे। फिर भोजन के अर्थ घर पर आवे। उस वक्त मध्याह्न में मुनि की गोचरी का समय समीप जानकर (श्लोक २१) स्नान कर अपने घरके चैत्यालय में ही माध्याह्निक देवपूजा करे। तदनन्तर अतिथि को आहार देकर भोजन करे।"

यह वर्णन सागारधर्मामृत के ६ वें अ० में श्लोक १ से २४ तक किया है। (लाटी संहिता अ० ६ श्लोक १८०-१८१ आदि में भी लगभग ऐसा ही कथन है।)

अनगार धर्मामृत अ० ८ श्लोक ६६ में प्रत्याख्यान के अनागत आदि १० भेदों में से कोटियुत नामक प्रत्याख्यान का स्वरूप इस प्रकार लिखा है—

"कलको दिन की स्वाध्याय का समय बीत जाने पर यदि शक्ति होगी तो उपवास करूंगा, वर्ना नहीं करूंगा, ऐसा सङ्कल्प करके प्रत्याख्यान करने को कोटियुत प्रत्याख्यान कहते हैं।"

मध्याह्न से २ घड़ी पहिले तक का स्वाध्यायकाल माना जाता है जैसा कि ऊपर बताया गया है। इसके आगे मुनियों का भिक्षाकाल आ जाता है। इस बात को लेकर यहाँ कहा है कि उस वक्त शक्ति होगी तो उपवास करूंगा नहीं तो नहीं करूंगा, ऐसे सङ्कल्प से पूर्व दिन में नियम लेना। ऐसा ही कथन मूलाचार अ० ७ गाथा ५४० में किया है तथा मूलाचार अ० ४ गाथा १८० की टीका में भिक्षा की व्याख्या ऐसी की है—

"मध्याह्नकाले भिक्षार्थं पर्यटनं भिक्षा।" अर्थ—मध्याह्न में मुनि का भिक्षा के लिए घूमना भिक्षा कही जाती है।

तथा इसी मूलाचार के अ० ७ श्लोक ८४ में लिखा है कि –

"मध्याह्नकाल में आये साधु का बहुमान करना लोकानुवृत्ति विनय है।"

आमतौर पर मुनियों का भिक्षाकाल मध्याह्न नियत होने से ही इस प्रकार के उल्लेख किये गये हैं।

आशाधर और मूलाचार के इन सब उल्लेखों से मुनियों का भिक्षाकाल का दिनार्द्ध का आसपास का समय सिद्ध होता है। जिसे शास्त्रों में मध्याह्न नाम से लिखा है। ★

इस विषय में और भी ग्रन्थोंके प्रमाण देखिये- पं० मेधावीकृत श्रावकाचार में लिखा है कि -

गृही देवार्चनं कृत्वा मध्याह्ने सांबुभाजनः।
पात्रावलोकनं द्वास्थः कुर्याद्भक्त्या सुधोतभ्रत् ॥८५॥

अर्थ—स्नानादि से पवित्र हो गृहस्थ, देवपूजा किये बाद मध्याह्न में जलपात्र हाथ में लेकर अपने घरके द्वार पर स्थित होकर भक्तिपूर्वक पात्र की प्रतीक्षा करे।

इसी ७ वें अधिकार के श्लोक ६१ में भी प्रोषधोपवास का वर्णन करते हुए लिखा है कि—

"सप्तमी और त्रयोदशी को दिन के मध्याह्न में अतिथियों को आहार देना चाहिये।"

कार्तिकेयानुप्रेक्षा में लिखा है कि—

सत्तमि तेरस दिवसे अवरण्हे जाइऊण जिणभवणे।
किच्चा किरिया कम्म-उववासं चउविहं गहियं ॥३७३॥

★ आशाधर ने सागार धर्मामृत अ० ४ श्लोक २८ में लिखा है—उत्तमपुरुष (मुनि आदि) एक बार भोजन करते हैं और वह भोजन दिन के मध्य में करते हैं। इससे भी साधु के आहार का समय मध्याह्न ही सिद्ध होता है।

टीका—"सः प्रोषधोपवासी भवति यः सप्तम्यास्त्रयोदश्याश्च दिवसे अतिथि जनाय भोजनं दत्वा पश्चात् स्वयं भुक्त्वा ततः अपराह्णे जिनभवने गत्वा तत्र कृतिकर्म-देववन्दनां कृत्वा उपवासं गृह्लाति।"

अर्थ—सप्तमी और त्रयोदशीके दिन अतिथि को भोजन जिमाकर और पीछे स्वयं भोजन जीमकर फिर अपरान्हकाल में जिन मन्दिर में जाकर वहाँ सामायिक आदि क्रियाकर्म करके उपवास ग्रहण करे।

मध्याह्न में मुनि को जिमाने और बाद में खुद के जीमकर निमटने से अपराह्न काल आ जाता है। इसीसे यहाँ अपराह्न में सामायिक करने व उपवास ग्रहण करने को कहा है। अपराह्न का उल्लेख खास गाथा में भी किया है।

सोमसेन त्रिवर्णाचार में लिखा है—

यथालब्धं तु मध्याह्ने प्रासुकं निर्मलं परम्।
भोक्तव्यं भोजनं देहधारणाय न मुक्तये ॥६७॥
मध्याह्नसमये योगे कृत्वा सामायिकंमुदा।
पूर्वस्यां तु जिनं नत्वा ह्याहारार्थं व्रजेच्छनैः ॥६८॥
पिच्छं कमंडलुं वाम हस्ते स्कन्धे तु दक्षिणम्।
हस्तं निधाय संदृष्ट्या स व्रजेच्छ्रावकालयम् ॥७०॥
[अध्याय १२]

अर्थ—मुनि को मध्याह्न के समय यथाप्राप्त प्रासुक और निर्दोष भोजन देहस्थिति के लिये जीमना चाहिये, स्वाद के लिये नहीं।

मध्याह्न समय की सामायिक करके आहार के लिये मन्द गतिसे गमन करना चाहिए, उस वक्त वाम हाथमें पीछी कमंडलु और दक्षिण हाथ कन्धे पर रहना चाहिये। इस तरह से ईर्यापथशुद्धिपूर्वक श्रावक के घर पर जावे।

आजकल जिस मुद्रा में मुनिलोग गोचरी पर फिरते हैं वह मुद्रा यहाँ लिखी है। शायद इसीके आधार पर यह मुद्रा चली हो। मूलाचार, अनगार धर्मामृत, आचारसार, भगवती आराधना मे ऐसी मुद्रा का उल्लेख देखने में ही नहीं आया।

लाटी संहिता में अतिथि संविभाग व्रत के व्याख्यान में ऐसा कहा है—

ईषन्म्यूने च मध्याह्ने कुर्याद् द्वारावलोकनम्।
दातुकामः सुपात्राय दानोयाय महात्मने ॥२२१॥
[अ० ६]

अर्थ—सुपात्र को दान देने की इच्छा रखने वाला श्रावक किञ्चित् न्यून मध्याह्न में द्वारप्रेक्षण करे। यहाँ किञ्चित् न्यून मध्याह्न का अर्थ है १२ बजे से कुछ पहिले का समय ११॥ बजे करीब।

इन्द्रनन्दि कृत नीतिसार के श्लोक ४१ में भी मध्याह्न लिखा है।

पं भूधरमिश्र कृत चर्चा समाधान में चर्चा ५३ वीं में मुनि की आहारचर्या सम्बन्धी चर्चा का समाधान इस प्रकार किया है—

"प्रथम सूर्योदयविषै साधु प्रातःकाल की सामायिक

समाप्त करै तिस पीछे दोय घड़ी दिन चढ़े श्रुतभक्ति-गुरुभक्ति पूर्वक स्वाध्याय ग्रहैसिद्धांत सम्बन्धी वाचना पृच्छनादि करै। मध्याह्नविषै दोय घड़ी बाकी रहै तब श्रुतभक्ति पूर्वक स्वाध्याय समाप्त करै। यथावसर मलमूत्र का त्याग करि आवै। शुद्ध होय मध्याह्न की देव वन्दना करै। आहार के निमित्त नगरादिविषै च्यारि हाथ धरती शोधता गमन करै।"

इस प्रकार शास्त्र में जहाँ भी गोचरी का वर्णन आया है वहाँ मध्याह्नका ही समय लिखा है, किसी भी शास्त्र में पूर्वाह्न नहीं लिखा है। इसके विरुद्ध श्री चड़ीवालजी ने आदिपुराण का श्लोक देकर गोचार बेला का अर्थ प्रातःकाल बताया वह मिथ्या है, उसका प्रातःकाल अर्थ होता ही नहीं है। यथा—

> सती गोचार बेलेयं दानयोग्या मुनीशिनाम्।
> तेन भर्त्रे ददे दानमिति निश्चित्य पुण्यधीः ॥७॥
> [पर्व २०]

इसका सही अर्थ ऐसा होता है—

"यह दान देने योग्य मुनियों की गोचरी का उत्तम समय है। ऐसा निश्चय कर पवित्र बुद्धि वाले श्रेयांस कुमार ने भगवान को दान दिया।"

इस श्लोक में आये गोचारबेला का अर्थ हिन्दी अनुवादक पं० पन्नालालजी साहित्याचार्य ने प्रातःकाल किया है। आपके अनुकूल होने से ही शायद आपने भी उस अर्थ को मान लिया है। परन्तु गोचार का प्रातःकाल अर्थ करना गलत है। टिप्पणीकार ने अशनबेला अर्थ किया है वह ठीक है। आपको

मालूम होना चाहिये कि साधुओं की भिक्षावृत्ति के भ्रामरी, गर्तपूरण आदि नामों में एक नाम गोचरवृत्ति (गाय के समान आहारचर्या) भी आता है । इसे ही गोचरी नाम से भी बोलते हैं। गोचरी का अर्थ है साधु की भिक्षा । यह अर्थ आम जनता में भी प्रसिद्ध है। आदिपुराणकार ने भी यहाँ इसी अर्थ में गोचर शब्द का प्रयोग किया है। अनगार धर्मामृत संस्कृत के पृष्ठ ५३६,४०६,६५०,५७९ में भी गोचार शब्द भिक्षा अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । गोचार शब्द का प्रयोग प्रभात अर्थ में कहीं भी किसीने नहीं किया है। शायद अनुवादक पं० पन्नालाल जी ने प्रभात में जङ्गल मे चरने को गायें उछेरी जाती हैं इस अभिप्राय से गोचार का प्रभात अर्थ किया हो तो इसके लिए गोसर्ग शब्द आता है, न कि गोचार । और गायें उछेरने के समय तो गृहस्थ के यहाँ रसोई भी तैयार नहीं होती है। वह समय तो श्रावकों के पूजापाठ दर्शनादि का होता है एवं मुनियों के भी वन्दनादि कृतिकर्म का होता है। उस वक्त मुनि की आहारचर्या कैसी ? इसलिए आदिपुराण के उक्त श्लोक में प्रयुक्त गोचार शब्द का प्रभात अर्थ करना बिल्कुल गलत है । पं० लालारामजी ने भी गोचार का भिक्षा अर्थ किया है। वचनिकाकार पं० दौलतराम जी ने भी इसका प्रभात अर्थ नहीं किया है ।

मूलाचार पिण्डशुद्धि अधिकार में एक गाथा निम्न प्रकार से लिखी मिलती है—

> सूरुदयत्थमणादो णालीतियवज्जिदे असणकाले ।
> तिगदुगएगमुहुत्ते जहण्णमज्झिम्म मुक्कस्से ॥७३॥

अर्थ—सूर्योदय बाद से ३ घड़ी तक का और सूर्यास्त से

३ घड़ी पहिले का काल छोड़कर मध्य काल भोजनकाल माना जाता है। उसमें तीन, दो और एक मुहूर्त का काल क्रमशः जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट है卐

इन सब में समुच्चय सामान्य कथन किया है। मुनि श्रावक का भेद न करके जो भी रात्रि भोजन के त्यागी हैं उन सबके लिए कहा है कि उनका भोजनकाल सूर्य के उदयास्त की तीन-तीन घड़ी छोड़कर मध्य में है। इस सामान्य कथन से यह पता नहीं पड़ता कि मुनि का खास भिक्षा समय कौनसा है? तदर्थ ग्रन्थकार ने खास मुनियों के लिये अलग से कथन किया कि उनकी भिक्षा-बेला मध्याह्न में है, जैसा कि पहिले मूलाचार का प्रमाण देकर बताया गया है □अगर उदयास्त की तीन-तीन घड़ी के अलावा शेष सारा ही दिन मुनियों के भिक्षाकाल का शास्त्रकारों को अभीष्ट होता तो उनको विशेष या अलग कथन

卐 यही कथन और भी स्पष्टता के साथ मूलाचार अ० १ गाथा ३५ में बताया है, देखो "उदयत्थमणे काले णालीतिय वज्जियम्हि मज्झम्हि"॥ इसी के अनुसार अनगार धर्मामृत अ० ६ श्लोक ६२ में लिखा है।

□ अथवा एक समाधान यह भी है कि—यहाँ "मज्झम्हि" (मध्ये) पद का अर्थ दिन का मध्य=दोपहर (मध्याह्न) लेना चाहिये। संस्कृत टीकाकार ने भी सर्वत्र 'मध्य' पद देकर दिन के मध्य (मध्याह्न) को ही सूचित किया है। दिन के आदि अन्त की तीन-तीन घड़ी छोड़ना यह सामान्य कथन है तथा शेषकाल का मध्य यानि दोपहर यह विशेष कथन है। सामान्य से विशेष कथन बलवान् होता है (यदा सामान्यतो नूनं विशेषो बलवान् भवेत्) अतः

करके भिक्षाकाल का मध्याह्न समय बताने की जरूरत ही नहीं थी। और यह भी सोचने की बात है कि सूर्योदय से ३ घड़ी बाद यानी सवा घण्टे बाद तो श्रावक लोग जिनदर्शन पूजा स्वाध्यायादि से निमटते ही नहीं तो उस वक्त मुनि का आहार के लिए उतरना कैसे माना जा सकता है। कुछ श्रावक तो प्रभात में सामायिक भी करते हैं तदनन्तर पूजा स्वाध्यायादि करते हैं उनके लिये तो और भी मुश्किल पड़ती है। इसलिए सूर्योदय के तीन घड़ी बाद में मुनि का आहार समय मानना योग्य नहीं है।

यदि कहो कि "मुनियों का भिक्षाकाल जो मध्याह्न बताया गया है वह तो दूसरी दफे का काल है। इसके पहिले प्रथम दफे का काल एक और है। क्योंकि भोजन बेला एक दिन में दो बार मानी है।"

ऐसा कहना भी ठीक नहीं है। हम पूछते हैं कि मुनियों की उस प्रथम बेला का समय कौनसा है ? यदि कहो कि दिनके १० बजे करीब, तो वह दूसरी बेला दो घण्टे बाद ही कैसे आ गई ? कम से कम दोनो बेलाओं में ६ घण्टो का तो अन्तर होना चाहिए। भिक्षाकाल बजाय मध्याह्न के अपराह्न लिखा होता तो दूसरी बेला की भी सभावना की जा सकती थी, सो तो लिखा नहीं है। तथा मूलाचार और अनगार धर्मामृत में सूर्योदय से दो घड़ी बाद से लेकर मध्याह्न से दो घड़ी पहिले तक के समय में किये जाने वाले कार्यक्रम की जो तफसील दी है उसमें भी प्रथम आहारबेला का कहीं जिकर नहीं है। एवं आशाधर ने भी सागारधर्मामृत में श्रावक की दिनचर्या का वर्णन करते हुए सूर्योदय से लेकर मध्याह्न के समय तक व आगे भी सूर्यास्त

तक अतिथि दान को एक दिन में दो बार देने का कहीं उल्लेख नहीं किया है। इससे सिद्ध होता है कि मुनि की गोचरी का टाइम एक दिन में दो बार मानना शास्त्र सम्मत नहीं है। लोगों ने मनघढ़न्त मार्ग निकाल लिया है। एक दिन में दो भोजन बेला कहना यह लौकिक जन साधारण की दृष्टि से है न कि मुनियों की अपेक्षा। क्योंकि मूलाचार प्रथम अधिकार गाथा ३५ में जहाँ यह वर्णन किया है वहाँ टीकाकार ने लिखा है कि "अहोरात्रमध्ये द्वे भक्तबेले तत्र एकस्यां भक्त बेलायां आहारग्रहणमेकभक्तमिति।" यहाँ टीकाकार ने दिन-रात में दो भोजन बेला बताई हैं। मुनि दो बार आहार लेते नहीं। अतः टीकाकार ने यहाँ आम जनता को लक्ष्य कर (न कि मुनियों को लक्ष्य कर) दो भोजन बेला बताई हैं। तात्पर्य यह है कि आमतौर पर लोग दिन रात में दो बार भोजन करते हैं। उनमें से मध्याह्न में एक बार भोजन करना एक भक्त कहलाता है। ऐसा करने से एक अहोरात्र में दो बार की जगह एक बार ही भोजन होता है और एक बार का त्याग हो जाता है। इसेही एक बेला का यानी एक टाइम का त्याग कहते हैं। इसी दृष्टि से मुनियों का एक उपवास चतुर्थ नाम से कहा जाता है। उसमें चार बार के भोजनों का त्याग हो जाता है। वह ऐसे कि— धारणे पारणे के दिन का एक-एक बार और उपवास के दिन का दो बार इस प्रकार कुल चार बार का भोजन छूट जाता है। और बेला में ६ बार का, तेला में ८ बार का भोजन छूट जाता है जिससे वे षष्टोपवास, अष्टोपवास कहलाते हैं। पं अजित कुमार जी और ब्र० चूड़ीवालजी का यह लिखना कि—"मध्याह्न से पहिले भिक्षाकाल न मानने पर मुनियों के बेला-तेला की षष्ठोपवास अष्टोपवास संज्ञा ही नहीं बन सकतीहै।" इन लोगों

का ऐसा भाव मालूम होता है कि— साधु की भी २ भोजन बेला मानने से ही एक दिन की २ भोजन बेला के त्याग के हिसाब से चतुर्थ ६३ षष्ठअनु बनेगा अन्यथा नहीं। किन्तु यह ठीक नहीं। क्योंकि गृहस्थको तो दोनों बेलाका उपवासके रोज त्याग तथा आदि क्षेत्र में १-१ बेला का त्याग नया ही करना पडता है किन्तु साधु के तो प्रतिदिन १ बेला का तो त्याग आजन्म ही है फिर भी उसे गिनना पड़ता है और इस तरह चतुर्थ षष्ठ अष्टम भी संज्ञी उनके भी सुसंगत हो जाती है। ऐसा लिखना गलत और व्यर्थ है। हमने वहाँ विधि बताई है, उससे बराबर संज्ञाएं बनती हैं। न मालूम आप लोगों ने इसको कैसे समझ रक्खा है ? शायद आप लोगों को ऐसी समझ हो कि ' एक बार भोजन किये बाद आगे चार टाइम तक भोजन न करना 'चतुर्थभुक्ति त्याग' कहलाता है।" तो यह समझ भी ठीक नहीं है। ऐसा तो दस बजे भोजन करने से भी नहीं बनता है। जैसे आपकी दृष्टि से किसीने धारणा के दिन प्रथम टाइम १० बजे भोजन किया तो उसके दिन की एक दूसरी भोजन बेला छूटी, आगे उपवास के दिन की दो बेला छूटी और पारणा के दिन प्रथम बेला में ही आहार कर लिया तो तीन बेलाओं का ही त्याग हुआ, चार बेलाओं का त्याग कहाँ हुआ ? अतः जो रीति हम ऊपर बता आये हैं वही समीचीन और शास्त्रोक्त है।

शास्त्रों में एकाशन (व्रत) और प्रोषधोपवासादि के धारणे-पारणे का एकाशन सब मध्याह्न (दो पहर) में ही करना बताया है और प्रायः प्रचार में भी ऐसा ही है सभी श्रावक एकाशन दोपहर में ही करते हैं तब मुनि जिन्होंने इस एकाशन को सदा के लिए अपना मूलगुण बना लिया है उन्हें तो आहार मध्याह्न में करना ही लाजिमी है और इसी लिए सभी शास्त्रों

में मुनि का भोजनकाल एक स्वर से मध्याह्न ही लिखा है। श्रावक को १० वीं अनुमति त्याग प्रतिमा और ११ वीं उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा दोनों में भी आहार का समय मध्याह्न ही शास्त्रों में बताया है। देखो सागार धर्मामृत और धर्मसंग्रह श्रावकाचार लाटी संहिता आदि। ऐसी हालत में मुनि का आहार समय मध्याह्न बाजिब ही है इसमें विवाद और शंका की कोई जरूरत ही नहीं卐

इस विषय में मध्याह्न का समय कहाँ से कहाँ तक का माना जाये, यह एक समझने की चीज है। ऊपर हमने अनगार धर्मामृत के उदाहरण दिये हैं उनमें मध्य दिन से दो घड़ी पूर्व

卐 प्रायश्चितसंग्रह में छेदपिण्ड (इन्द्रनन्दि संहिता का चौथा अध्याय) गाथा ७४ में बताया है कि दिन के आदि अंत की तीन-तीन घड़ी के बीच और पूर्वाह्न व अपराह्न में अगर निर्ग्रन्थ साधु आहार करे तो उसका प्रायश्चित पंचक(५ उपवास)है देखो—नाली तिगस्स मज्झे जदि भुंजदि संजदो अणाचिण्ण। पुव्वण्हे अवरण्हे व तस्स पणत्रं हवे छेदो ॥ इससे स्पष्ट सिद्ध है कि पूर्वाण्ह और अपराण्ह का समय साधु के आहार का नहीं है। इसीसे सभी ग्रन्थों मे साधु का आहार समय एकमात्र मध्यान्ह ही बताया है। नीतिसार समुच्चय में भी इन्द्रनन्दि ने मध्यान्ह ही भिक्षाकाल बताया है देखो श्लोक ४१। इसके साथ ही आगे श्लोक ५२ व ५३ में इन्द्रनन्दि ने लिखा है कि भोजनादि क्रियाओं में पूर्वाचार्यों का मत ही प्रमाण होता है जो कोई सेउ उल्लंघन करता है वह मिथ्यादृष्टि है और अवन्दनीय है। यथा—"भोजन गमनेऽन्यत्र कार्ये वा यत्रकुत्रचित्। पूर्वाचार्यमतं नूनं प्रमाणं जिनशासने ॥५२॥ पूर्वाचार्यमतिक्रम्य यः कुर्यात् किंचिदप्यसौ। मिथ्यादृष्टिरिति ज्ञेयो, न वंदयश्च महात्मभिः ॥५३॥

स्वाध्याय समाप्त किये बाद मुनिको भोजन करने की लिखी है और मध्य दिन से २ घड़ी बाद गोचरी सम्बन्ध दोषों का प्रतिक्रमण कर आपराह्निक स्वाध्याय प्रारम्भ करने की लिखी है। आशाधर जी के इस कथन से ऐसा ही प्रतिभासित होता है कि उन्होंने इन चार घड़ियों को ही प्रायः मुनियों का भिक्षाकाल माना है। और इन चार घड़ियों के काल को ही उन्होंने प्रायः मध्याह्न काल गिना है मूलाचार में देववन्दना करके गोचरी पर जाने को लिखा है। अतः यह देव वन्दना भी उक्त ४ घड़ियों के अन्दर ही की जाती है। इन चार घड़ियों का भिक्षाकाल ही उत्सर्ग मार्ग समझना चाहिये। किसी कारणवश यदि अधिक समय लग जाये तो वह कादाचित्क है उसे अपवादमार्ग कहना चाहिए। इस प्रकार यह मध्याह्नकाल दिन के ११। बजे से पौण १बजे तक का समझना चाहिए।

यहाँ एक सवाल पैदा होता है कि सामायिक का काल छह घड़ी का है और वह मध्याह्न में भी की जाती है तब मध्याह्न की ४ घड़ियो मे भिक्षाकाल कैसे माना जा सकता है? एक काल में दो काम कैसे बनेगे? जो समय भिक्षा का है वही सामायिक का है तो दोनों मे से एकही कार्य हो सकेगा।

इसका उत्तर नीचे दिया जाता है, वह गम्भीरता से समझने का है—

मूलाचार के प्रथम अधिकार में मूलगुणों का वर्णन करते हुए छह आवश्यकों का विवेचन किया है, परन्तु वहाँ सामायिक के काल का परिमाण नहीं बताया है। फिर उसी मूलाचारमें आवश्यक निर्युक्ति नाम के अधिकार में नाम स्थापना आदि छह निक्षेपों के द्वारा आवश्यकों का विस्तार से वर्णन किया है

वहाँ भी सामायिक के काल का परिमाण नहीं बताया है। मूलाचार में अन्यत्र भी कहीं सामायिक के काल परिमाण का कथन नहीं है। इस तरह मूलाचार तो इस विषय में मौन है। हाँ उसके प्रकारांतर के कथन से हम सामायिक का काल लाना चाहें तो इस तरह ला सकते हैं कि मूलाचार की पञ्चाचाराधिकार की गाथा ७३ में तीनों संध्याओं की आगे-पीछे की २-२ घड़ियों को अस्वाध्याय काल माना है। इन अस्वाध्याय कालों में ही सामायिक की जा सकती है, सामायिक के अलावा वह मुनियों के आहार-नीहार का भी ये ही तीनों काल हैं। इनमें से प्रातः सायं इन दो कालों में तो आहार का निषेध किया है। अतः मध्याह्नकी आगे-पीछे की २-२ घड़ियोंका कालही भिक्षाकाल रह जाता है उसीमें देववन्दना का भी कुछ काल शामिल है। शास्त्रों में देववन्दना, कृतिकर्म और सामायिक शब्द प्रायः एक ही अर्थ में भी प्रयुक्त किये हैं। क्योंकि सामायिक शब्द व्यापक होने से उसमें साम्य भाव के साथ व्यवहार दृष्टि से देव वन्दना, पूजा, कृतिकर्म भी शामिल कर लिये हैं। देखो—सागार धर्मामृत अ० ५ श्लोक २८, ३१ (स्वोपज्ञ टी० संयुक्त) अमितगति श्रावकाचार परि० ६ श्लोक ८७। धर्मसंग्रह श्रावकाचार अ० ६ श्लोक २६। अ० ७ श्लोक ४३, ५७। स्वामीकार्तिकेयानुप्रेक्षा ३७३-७५। वसुनन्दि श्रावकाचारे—

जिणवयणधम्म चेइय परमेट्ठि जिणालयाणं णिच्चंपि।
जं वंदणं तियालं कीरइ सामाइयं तं खु ॥२७५॥

इन चार घड़ियों के कथन से सामायिक का छह घड़ी का काल तो वैसे ही मूलाचार के मत से बनता नहीं है। इस प्रकार मूलाचार में देववन्दना का कोई निश्चित काल परिमाण नहीं

लिखनेसे यही फलितार्थ निकलता है कि त्रिकाल में उक्त चार घड़ियों के अन्दर २ जहाँ जैसा भी सुभीता दीखे उतना ही टाइम देव वन्दना में लगाया जावे। इसलिये मध्याह्न में आहार लेने वाले मुनि को भी माध्याह्निक देव वन्दना में उतना ही टाइम लगाना चाहिए, जिस से ऊपर बताये भिक्षाकाल का उल्लङ्घन न होने पावे।

मूलाचार की तरह आशाधर ने भी अनगार धर्मामृत के ८वें अ० मे छह् निक्षेपोंके द्वारा छह् आवश्यकोंका वर्णन विस्तार से किया है। फिर बाद में श्लोक ७६ में वन्दना का उत्कृष्ट काल ६ घड़ी का लिखा है। किन्तु उन्होंने जघन्य काल का कोई परिमाण नहीं लिखा है। इससे यही तात्पर्य निकलता है कि मुनि को जैसा भी अवसर दीखे उसी माफक वह छह् घड़ी के नीचे वन्दना में कितना भी काल लगा सकता है। जिस मुनि को आहार करना है और शास्त्रोक्त भिक्षाकाल का उल्लङ्घन भी नहीं करना है ऐसे अवसर में वह बहुत थोड़ा समय ही देव वन्दना में लगाकर इस काम से फारिग हो सकता है। मतलब यह है कि देववन्दना में कम से कम इतना समय तो निश्चित लगावेही ऐसा न तो मूलाचार में लिखा है और न अनगार-धर्मामृत में। आशाधर ने इतना ही लिखा है कि छह् घड़ी से अधिक न लगावे। कम से कम कितना काल लगावे यह नहीं लिखा। बल्कि पूर्व लिखे उद्धरण में तो आशाधरजी ने आहार करने वाले साधु के लिए माध्याह्निक क्रियाकर्म का उल्लेख ही नहीं किया है।

पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय श्लोक १४६ में अमृतचन्द्राचार्य ने तो स्पष्ट से प्रातः सायं दो वक्त ही सामायिक आवश्यक बताई है।

मध्याह्न में आवश्यक नहीं बताई। सागार धर्मामृत अ० ५ श्लोक २६ में भी यही कथन है।

और देखिये, अमितगति श्रावकाचार के ८ वें अध्याय में लिखा है कि—

घटिकानां मतं षट्कं संध्यानां त्रितये जिनैः।
कार्यस्यापेक्षया कालः पुनरन्यो निगद्यते ॥५१॥

अर्थ –जिन देव ने आवश्यकों का काल तीनों सन्ध्याओं में छह घड़ी का माना है। किन्तु कार्य की अपेक्षा से अन्य काल भी होता है।

अमित गति के इस कथन से बहुत छूट मिलती है卐

आचार्य समंतभद्र ने भी रत्नकरण्डश्रावकाचार में सामायिक का काल किन्ही निश्चित घड़ियों में नहीं बताकर "मूर्धरुहमुष्टिबासोबंध" कहकर चोटी या वस्त्र में गांठ रहेगी तब तक का सामायिक का काल बताया है। और इससे यह आशय प्रगट किया है कि वह अपने सुभीते के अनुसार जितना

卐 इन्द्रनन्दि कृत नीतिसार समुच्चय में मध्याह्न सामायिक [वन्दना] का काल मात्र दो घड़ी बताया है देखो :—घटी चतुष्टयं रात्रे कुर्यात्पूर्वाह्ने वंदनां मध्याह्न वंदना कालो नाडीद्वयमुदाहृत ॥१०६॥ अपराह्ने तु नाडीनां चतुष्टय समर्गहृतः नक्षत्रदर्शनात्मु चेत्सामायिक परिग्रहं ॥१०७॥ यही बात प्रायश्चित्तसंग्रह में छेदशास्त्र गाथा ४७ की टीका में इस प्रकार दी है–पूर्वाह्ने देववंदनात्रीणि घटिकायावान् युक्तं। अपराह्ने घटिकां चत्वारियावान् वंदना। मध्याह्ने घटिकाद्वयं वंदना। [चर्चासमाधान चर्चा ने ११४ में भी प० भूधरदासजी ने यही लिखा है।]

चाहे उतने समय तक सामायिक करे। प्राचीन ग्रन्थों में सामायिक का कोई एक निश्चितकाल का परिमाण लिखा ही नहीं है। वैसे मुनियों के तो हमेशा ही साम्यभाव के होने से सामायिक है। इसी से उनके सामायिक चारित्र माना है।

शास्त्रों में कायोत्सर्ग का उत्कृष्ट काल १ वर्ष और जघन्यकाल अन्तर्मुहूर्त लिखा है उसी के आधार से सामायिक का जघन्यकाल भी अन्तर्मुहूर्त हो सकता है। कोई कुतर्क और दुराग्रह करे कि—हम तो उत्कृष्ट काल को ही ग्रहण करेंगे तो उन्हें चाहिये कि—पहिले कायोत्सर्ग के उत्कृष्ट काल १ वर्ष को अपनावे अगर यह सम्भव नहीं है तो फिर बंदना—सामायिक के उत्कृष्ट काल पर ही जोर क्यों दिया जाता है। जिस प्रकार दूसरी क्रियाओं में कोई बाधा नहीं पहुंचे उस तरह सामंजस्य करना चाहिए यही शास्त्र-विवेक है। इन कथनों से मध्याह्न की भिक्षा में जो आपत्ति सामायिक के न बनने की उठाई जाती है वह दूर हो जाती है।

चूड़ीवालजी कहते हैं कि—"मुनियों का गोचरी पर उतरने का काल दिन में २ बार है। एक तो मध्याह्न की सामायिक करने के पहिले दस बजे करीब का और दूसरा मध्याह्न की सामायिक के बाद चार बजे करीब का।" मगर ऐसा कहना शास्त्रानुकूल नहीं है। मूलाचार में जिसका कि उद्धरण ऊपर दिया जा चुका है। उसमें सूर्योदय से लेकर मध्याह्न दो घड़ी पहिले तक यानी ११। बजे तक का मुनियों का कार्यक्रम लिखा है उस कार्यक्रम में तो कहीं भी मुनियों के गोचरी पर उतरने का जिक्र नहीं है। अतः १० बजे के करीब गोचरी पर उतरने का प्रथम समय मूलाचार से कतई सिद्ध नहीं

होता है । और अनगार धर्मामृत में मुनियों की पूरे एक दिन की दिनचर्या बताते हुये (अध्या० ६ श्लोक ३४ से ३६ तक उनमें के ३ श्लोक ऊपर उद्धृत हैं) सूर्योदय से सूर्यास्त तक का जो कार्यक्रम दिया गया है उसमें भी सिर्फ मध्याह्न की (१२ बजे की) आगे पीछे की दो-दो घड़ी कुल ४ घड़ियों में ही भिक्षा लेने का कथन किया है । दिन के शेष समयों में भिक्षा लेने का कहीं जिक्र ही नहीं है । इससे स्पष्ट सिद्ध होता है कि मुनियों को न तो दिन में २ बार गोचरी के लिये उतरने की शास्त्राज्ञा है । और न लगभग मध्याह्न काल के अतिरिक्त अन्य काल में भिक्षा लेने की शास्त्राज्ञा है । यह कथन इतना स्पष्ट लिखा हुआ है कि उसमें तर्क वितर्क करने की कोई गुंजाइश हो नहीं है । नहीं मानने वालों का तो कोई इलाज नहीं ।

जैसे अनगार धर्मामृत में मध्याह्न की पूर्वोत्तर की दो-दो घड़ियों में भिक्षा लेने का कथन है, वैसा ही मूलाचार में भी है । जैसा कि ऊपर उद्धरण दिया गया है । वहां लिखाहै कि—मध्याह्न की देव-वंदना करके मुनि गोचरी पर उतरे । इसका मतलब चूड़ीवालजी यह निकालते हैं कि "मध्याह्न की देव-वन्दना किये बाद ४ बजे गोचरी पर उतरे । यह गोचरी का दूसरा टाइम है ।"

इस सम्बन्ध में हम आपसे पूछते हैं कि—मूलाचार के टीकाकार का अगर यही अभिप्राय होता तो वे मध्याह्न से आगे ४ बजे तक का कार्यक्रम बतलाते सो उन्होंने बतलाया नहीं । इससे तो यही प्रगट होता है कि टीकाकार का आशय यहां देव वन्दना करने के अनन्तर लगते ही गोचरी पर गमन कराने का है । और आपने इसे गोचरी का दूसरा टाइम बताया सो इस

बाबत भी हम आपसे पूछते हैं कि— यहां जो सूर्योदय से लेकर मध्याह्न से दो घड़ी पूर्व तक का कार्यक्रम टीकाकार ने लिखा है उसमें कहीं भी गोचरी का प्रथम टाइम का उल्लेख नहीं है तो यह कैसे माना जावे कि यह गोचरी का दूसरा टाइम है। यहां यह भी समझना कि—टीकाकार ने यहां मध्याह्न तक का ही कार्यक्रम क्यों लिखा ? आगे का क्यों नहीं लिखा ? इस का कारण यह है कि यह प्रकरण एषणासमिति के वर्णन का है। मुनि का भिक्षा काल मध्याह्न होने से यहां तक का कार्यक्रम बताना ही उन्होंने आवश्यक समझा इसलिये आगे का कार्यक्रम उन्होंने नहीं लिखा। अगर चार बजे भोजन का टाइम होता तो वे वहां तक का कार्यक्रम लिखते।

मुनिधर्म प्रदीप (कुन्थुसागर-कृत) की संस्कृत भावार्थ मे पृ० १२० पर वर्धमान-शास्त्री ने लिखा है "मुनियों के आहार का समय प्रातःकाल नौ बजे से ११ बजे तक है तथा दोपहर के अनन्तर डेढ़ बजे से साढे तीन बजे या चार बजे तक है इनमें से किसी एक समय में मुनि को आहार लेना चाहिए।"

जैनधर्म मीमांसा भाग ३ पृ० २३४ पर सत्यमजु ने लिखा है– ११-१२ बजे साधु के सामायिक का समय होने से भिक्षाकाल पोरसी बताया है यह १० बजे के पूर्व ही और गर्मी में ६ बजे करीब होता है। (श्वे० मतानुसार ही पौरुषी = एक प्रहर दिन= यानि ३ घण्टा दिन चढ़े जबकि शरीर की छाया अपने शरीर के बराबर हो)

चूड़ीवाल जी की कुछ ऐसी विलक्षण प्रतिभा है जिसके बल से वे शास्त्रों के आशय को उलट-पलट कर देने में बड़े ही

सिद्धहस्त मालूम पड़ते है। जिसका एक उदाहरण तो यह मूलाचार का प्रमाण हम बता चुके हैं। दूसरा और बताते हैं। हमने जैन-गजट में प्रकाशित पूर्वलेख में प्रश्नोत्तर श्रावकाचार का प्रमाण देकर यह बताया था कि इसमें भी सूर्योदय से ७ मुहूर्त बाद क्षुल्लक का भिक्षाकाल लिखा है जो करीब मध्याह्न का समय पड़ता है। इस प्रमाण का आशय आपने यह निकाला है कि—क्षुल्लक के पहिले मुनि आहार लेते हैं, अतः इससे मुनि का भिक्षाकाल मध्याह्न से पूर्व सिद्ध होता है।" उत्तर में निवेदन है कि सामान्यतया जो भिक्षाकाल मुनियों का होता है वही क्षुल्लकों का होता है। शिष्टाचार के नाते साथ में मुनि हों तो क्षुल्लक गोचरी के लिए मुनि से कुछ बाद में उतरते हैं। दोनों के उतरने में समय का कोई विशेष अन्तर नहीं होता है।

इस सम्बन्ध में वसुनन्दि श्रावकाचार गाथा ३०९ में "गोहणम्मि" शब्द आया है। (यह शब्द टिप्पणी में लिखा है) जिसका अर्थ होता है समीप में-निकट में। यानी मुनि के गोचरी पर उतरने के निकट ही तदनन्तर क्षुल्लक का गोचरी का काल है। यह इसका मतलब हुआ। अगर दोनो के गोचरी काल के बीच समय का ज्यादा अन्तर माना जायेगा तो "गोहणम्मि" शब्द का प्रयोग निरर्थक होगा।

आप जो मुनिका भिक्षाकाल मानते हैं उसमें और मध्याह्न में तो २ घण्टे का अन्तर पड़ता है। इतना अन्तर आपके इस लिखने से दूर नहीं हो सकता है।

दूसरी बात यह है कि—यह जो क्षुल्लक को गोचरी पर उतरने का कथन है वह भी वसुनन्दि श्रावकाचार आदि ग्रन्थों

में एक भिक्षा नियम वाले क्षुल्लक के लिए है, सभी क्षुल्लकों के लिए नहीं है। अतः कहना होगा कि यहाँ भी आपने अपनी विलक्षण प्रतिभा का ही चमत्कार दिखाया है।

मूलाचार के ऊपर लिखे प्रमाण में बताया है कि— "मध्याह्न में खाना खाकर पेट भरे बालकों के दिखाई देने आदि से भिक्षा वेला जानकर मुनि गोचरी पर उतरे।" इस कथन को लेकर आप लिखते हैं कि—"बालक ८-९ बजे पहिले ही भोजन कर लेते हैं, अत मूलाचार के इस कथन से मध्याह्न अर्थ निकालना असङ्गत है।" इसका उत्तर यह है कि जब स्वयं टीकाकार उस समय को मध्याह्न का बता रहे हैं तो उसमें तर्क का अवसर ही कहाँ है ? और उसे असङ्गत भी नहीं कह सकते। क्योंकि बालक दोपहरी को भी भोजन करते है। उसीको लेकर टीकाकार ने पेटभरे बालक की बात लिखी है। इससे तो वह मध्याह्नका ही समय है यह अच्छी तरह पुष्ट होता है।

आपने अपने मन्तव्य की पुष्टि में सागार धर्मामृत अ० ५ के श्लोक ३६, ३७, ३८ पेश किये हैं। किन्तु वे श्लोक तो उल्टे हमारे पक्ष का समर्थन करते हैं, जिसका आपको ध्यान नहीं है। उनमें लिखा है कि—

"प्रोषधोपवास करने वाला श्रावक पर्व दिन के पूर्व दिन में यानी सप्तमी, त्रयोदशी को दिन के अर्द्ध भाग में या उसके थोड़े आगे-पीछे के समय में अतिथिको भोजन जिमाये बाद आप भोजन करे। तदनन्तर दिनका शेष भाग और रात्रिकाल कुल ६ पहर बिताये बाद पर्व दिनका अहोरात्र और पारणे का आधा दिन कुल १० पहर बीतने पर अतिथि को आहार देकर आप भोजन करे।"

यहाँ आशाधर जी ने धारणे-पारणे के दिन दिनार्द्ध यानी दिन के ठीक मध्य भाग में या उसके थोड़े आगे-पीछे के समय में अतिथि को दान देवे और उसके बाद प्रोषधोपवासी को आहार करने का आदेश दिया है। 'पर्व दिन के प्रभात से लेकर आगे १० पहर बाद प्रोषधोपवासी अतिथि को दान देवे और तदनन्तर आप भोजन करे।" ऐसा लिखकर तो आशाधरजी ने इस मामले को बहुत ही खुलासा कर दिया है कि अतिथि का भोजनकाल मध्याह्न है और उसके बाद आहार-दाता का भोजन काल है।

यहाँ कोई प्रश्न करे कि—"आशाधरजी ने धारणे की रात्रि के अन्त तक प्रोषधोपवास का काल ६ पहर का लिखा है। जब वह धारणे के दिन में दिनार्द्ध के बाद भोजन करेगा तो उक्त ६ पहर की संख्या कैसे बनेगी ?" इसका समाधान आशाधरजी ने दिनार्द्ध शब्द की व्याख्या देकर किया है। व्याख्या इस प्रकार है—'दिनार्द्ध दिवसस्य अर्धे प्रहरद्वये वा किञ्चिन्यूनेऽधिकेऽपि वा।' अर्थ—दिन का अध भाग यानी २ पहर का काल दिनार्ध कहलाता है। दिनार्थ से कुछ कम या कुछ अधिक काल भी दिनार्ध कहलाता है। इस व्याख्या से यही सिद्ध होता है कि धारणा के दिन की रात्रि के अन्त तक जो छह पहर लिखे हैं वे पूरे पूरे न होकर हीन भी हो सकते है और उसके आगे के १० पहर पारणा दिनार्द्ध से उत्तरकाल में भी पहुँच सकते हैं। हाँ, इतना खयाल आवश्यक है कि आगे-पीछे होकर भी निराहार रहने का समय १६ पहर से कम नहीं होना चाहिए।

यहाँ अगर चूड़ीवाल जी यह कहें कि—"यहाँ आशाधर

जो ने जो मध्याह्न या उसके कुछ आगे-पीछे का समय लिखा है वह प्रोषधोपवासी के आहार का लिखा है, अतिथि के आहार का नहीं लिखा है।" तो इसका उत्तर जरा तटस्थ होकर यह समझिये कि आप मुनि का भोजनकाल दस बजे करीब का मानते हैं, उसमें और मध्याह्न काल में दो घण्टे का अन्तर पड़ता है और प्रोषधोपवासी का धारणे-पारणे के दिन भोजन काल मध्याह्न का है, इसमें तो किसीको विवाद नहीं है। अब जरा सोचने की बात है कि मुनि का १० बजे का भोजनकाल शास्त्रकारों को मान्य होता तो वे प्रोषधोपवासी के भोजन के अवसर में अतिथि दानका कथन ही नहीं करते। क्योंकि दो घण्टा पहिले के कार्य को यहाँ बताने की आवश्यकता ही क्या है? इससे भली-भाँति यही सिद्ध होता है कि प्रोषधोपवासी और मुनि दोनों का भोजन काल मध्याह्न होने से ही यह लिखा जाता है कि—प्रोषधोपवासी अतिथि को दान देकर फिर आप भोजन करे।

आपका प्रश्न—मध्याह्न में आहार देने का मतलब है मुनि को बचाखुचा आहार देना। इससे यही समझा जावेगा कि दाता की पात्र में भक्ति नहीं है।

उत्तर—जैन मुनि भोजन के लिए चाहे जब बुलाये आते होते और दाता उन्हें मध्याह्न में बुलाकर जिमाता तब तो वैसा समझा जा सकता था। परन्तु जब शास्त्राज्ञा के अनुसार उनका भोजनकाल ही मध्याह्न है तो इसमें दाता का क्या वश है? कभी आप तो ऐसे भी कहने लग जावो कि - दाता आप तो बैठकर आराम से भोजन करे और मुनिको खड़ा रखकर आहार देवे, इससे दाता की पात्र में भक्ति नहीं है। यह सब आपकी

विलक्षण प्रतिभाके नमूने हैं। जब दाता इतने वक्त तक आप खुद भूखा रहकर मुनि को जिमाता है और फिर आप जीमता है तो क्या यह आपके दिमाग में भक्ति नहीं है। उत्तम भक्ति वह कहलाती है जो कष्ट सहकर भी की जावे। आराम की भक्ति तो कोई भी कर सकता है। और दाता जब अपने खुद के अर्थ बने आहार में से अच्छा से अच्छा प्रासुक आहार पात्र को दिये बाद आप भोजन करता है तो ऐसी हालात में यह सवाल ही पैदा नहीं होता कि बचाखुचा आहार मुनिको दिया जाता है। बचेखुचे को तो खुद दाता जीमता है।

आपने लिखा कि—"मध्याह्न तो आराम करने का समय है। उस समय की प्रचंड गर्मी में तो सभी छाया ढूंढते हैं, वह वक्त भिक्षा का कैसा ?

उत्तर में निवेदन है कि जैनमुनि होकर भी आराम और छाया ढूंढने का पयत्न करते हैं, तो होचुकी मुनिवृत्ति ? छाया ढूंढना तो दर किनारे रहा जैनमुनि तो दोपहरी की प्रचण्ड गर्मी मे आतापन योग धारणा करते है। उनकी सिंहवृत्ति होती है, अधिक से अधिक कष्ट सहने में सिंह की तरह शूरवीर रहते हैं कभी कायरता नही लाते। (देखो आदिपुराण पर्व ३८ श्लोक १६० वां)

पूर्व लेख में मैंने मनुस्मृति का प्रमाण दिया था। उसपर चूडीवाल जी पूछते हैं कि—"यहां मनुस्मृति के प्रमाण देने की क्यों आवश्यकता हुई ?" इसका कारण वहीं पर बता दिया था। फिर भी यहां बताता हूं कि मूलाचार टीका में लिखा (यह उद्धरण ऊपर दिया हुआ है) है कि—

"अन्यमत के साधु भिक्षार्थ विचर रहे हैं यह देखकर और यह जानकर कि यह साधुओं की भिक्षा का काल है उस समय जैनमुनि गोचरी पर जावे।" इसलिए मैंने मनुस्मृति का प्रमाण देकर यह बताया था कि- (अ० ६ श्लोक ५५ आदि) देखो। मनुस्मृति में भी ऐसा लिखा है कि—"जब रसोई का धुआँ निकल गया हो, मुशलके कूटने का शब्द बन्द होगया हो, आग बुझ गई हो, घर वाले भोजन कर चुके हों, झूंठी पत्तलें फैंकदी हों, ऐसे समय में सदा यति को भिक्षा के लिए जाना चाहिए।"

यहाँ मनुस्मृतिकार ने साधु-भिक्षा का यह समय बताया है कि जब गृहस्थ लोग चोके-चूल्हे से निमट जाय। अनुमानतः यह समय मध्याह्न के आस-पास का ही हो सकता है।

हमने मनुस्मृति का प्रमाण "अन्य मत के साधु" इस टीकोक्त बात पर दिया था और इस दृष्टि से दिया था कि— अन्य मत के साधुओं की भी ऐसी चर्या है तो हमारे साधुओं की तो उनसे ऊँची ही होनी चाहिए, उनसे नीची कैसे हो सकती है। आशाधर जी ने भी अपनी टीकाओं में अनेक जगह मनुस्मृति के प्रमाण दिये हैं। अतः मनुस्मृति के प्रमाण पर आपत्ति करना गलत है।

प्रश्न—कोशग्रन्थों में दिनमान के ३ भागों में बीच का १ भाग अथवा ५ भागों में बीच का १ भाग मध्याह्नकाल माना है। कुतप शब्द से दिनमान के १५ भागों में बीच का १ भाग भी मध्याह्न माना है। इनमें से जैनमुनिकी भिक्षा का मध्याह्न काल कौनसा लिया जाय ? उत्तर :-दिन के ३ भाग करो चाहे ५ या

१५ सब का मध्यभाग मध्याह्न हो जायेगा यह स्पष्ट है अतः इसके लिए कोशग्रंथ के आधार की जरूरत नहीं है। क्योंकि मूलाचार और अनगार धर्मामृत में मुनि की दिनचर्या का विवरण देते हुए साफतौर पर दिनके मध्यभाग से आगे-पीछे की दो-दो घड़ियें भिक्षाकलाल को बताई हैं। (इस काल में माध्याह्निक देववन्दना का काल भी शामिल है) मूलाचार, यशस्तिलकचम्पू और सोमसेन त्रिवर्णाचार मे लिखा है कि मध्याह्नकी देववन्दना करके गोचरी पर उतरे * इससे यह विषय और भी स्पष्ट हो जाता है। प्रश्नोत्तर श्रावकाचार में ७ मुहूर्त यानी १४ घड़ी दिन चढने पर गोचरीकाल लिखा है। अर्थात् १५ घड़ी का आधा दिन होता है, उससे १ घड़ी पूर्व में गोचरीकाल है। यहाँ प्रश्नोत्तर श्रावकाचार के कर्ता सकलकीर्ति ने मध्याह्न से पूर्व की २ घड़ी में शायद १ घड़ी देववन्दना की काटकर १ घडी पूर्व का गोचरी काल लिखा है। यहाँ यह ध्यान में रहे कि समरात्रि दिनका अहोरात्र मानकर यहाँ ७ मुहूर्त दिन चढ़ना समझना।

इस विषय में हमको और भी शास्त्र प्रमाण मिले हैं जो

---

* साधु नगर मे आहारार्थ जावे न जाने किस संकट में—उपसर्ग में पड जावे और मध्याह्न की सामायिक से वंचित रह जावे अतः मध्याह्न की सामायिक किये बाद आहार पर उतरना बताया है—ऐसा ज्ञात होता है। पं० पन्नालालजी सोनी ने भी "क्रियाकलाप" की प्रस्तावना पृष्ठ ८ पर लिखा है—वर्तमान के साधु आगम विपरीत देव वन्दना करते हुए देखे जाते है। जैसे—मध्याह्न वन्दना भी आहारोपरांत करते हैं।

नीचे दिये जाते हैं। इनमें मुनिका भोजनकाल मध्याह्न लिखा हुआ है—

(१) अशगकवि कृत महावीर-चरित्र सर्ग १७ श्लोक ११६ वां।

(२) हरिषेण कथाकोश संस्कृत के पृष्ठ २१७ श्लोक ११४ वां, पृष्ठ २७३ श्लोक १८७ वां, पृष्ठ ३०७ श्लोक ५५ वां, पृष्ठ ३५४ श्लोक १३४ वां (अथ मध्याह्न वेलायां भिक्षार्थं तं महामुनिं)

(३) मूलाचार अधिकार ४ गाथा १८० की टीका। अधिकार ६ गाथा ३२ की टीका।

(४) पं० मेधावी कृत श्रावकाचार अधिकार ५ श्लोक ६३ वां। अधिकार ८ श्लोक ५१ / अ० ६ श्लोक ३१ (मध्याह्ने ऋषि पुंगवैः)

(५) ब्र० नेमिदत्त कृत कथाकोश में उद्दायन राजा की कथा

(६) सूत्र प्राभृत की गाथा २२ की श्रुतसागरी टीका। दिवसमध्यें एक वारं।

(७) लाटी संहिता अ० ६, अ० ६ श्लोक २३१।

(८) पं० आशाधर विरचित अभिषेक पाठ के श्लोक १६ की श्रुतसागरी टीका।

(९) जम्बू स्वामी चरित (पं० रायमल्ल कृत) परिच्छेद ४ श्लोक १०१

(१०) जम्बू सामिचरिउ (वीर कवि कृत) पृ० ४९ मज्झण्ण हो चरियाए पई सइ।

(११) पउमचरिय (गाथा ११ पर्व ८९) अह अन्नया कमाई साहू मज्झण्ह देसयालम्मि। पउमचरिय (गाथा ३ पर्व ४) मज्झण्ह देसयाले गोयर चारेयणअभिगओनयरं। घर पतिण्भमता दिट्ठो लोगेण तित्थयरो।

(१२) "पुण्याश्रवकथाकोष" (पृ० २६९) मध्याह्ने चर्यार्थं पुण्याश्रवकथाकोष (पृ० १२) यामद्वयं तथा प्रवृत्य। पउमचरिय (गाथा १ पर्व २२) मज्झण्ह देसयाले नयरं पविसरइ भिक्खट्ठं।

(१३) पद्म चरित पर्व ९२ नभोमध्यगते भातावन्यदाते महाशयाः १५ शुद्धभिक्षै षणाकुलाः प्रसंयितमहायुज्ञाः १६।

(१४) वसुविन्दु प्रतिष्ठापाठ श्लोक ८१८-१९-विदध्युरुध्वें विधिनाहि मध्यं-दिने जिनाग्रे चरु पूजनानि।

(१५) रामचरित (भट्टारक सोमसेन पृ० ७६ मुनिसुव्रत भगवान् पारणे के लिए मध्याह्न में राजग्रह नगरमें पहुँचे।

(१६) धन्यकुमार चरित्र (भ० सकलकीर्तिकृत) अधिकार ४—मध्याह्न होते-होते अकृतपुण्य घर आया इतने में ही वहाँ सुव्रत मुनिराज आहारार्थ आये।

इस प्रकार ऊहापोह और प्राचीन-अर्वाचीन शास्त्रीय प्रमाणों के द्वारा एक स्वर से यही सिद्ध होता है कि जैन मुनियों का भिक्षाटन दिन में एक ही बार होता है और वह मध्याह्न में ही इससे अलावा किसी भी ग्रन्थ में पूर्वाह्न या अपराह्न मुनि का भिक्षाकाल नहीं बताया है। इसके विरुद्ध जब तक कोई सबल

प्रमाण सामने न आजाये तब तक यही कहा जायगा कि वर्तमान में जो दिनके १० बजे करीब मुनि लोग गोचरी पर उतरते हैं वह शास्त्रीय मार्ग नहीं है, स्वेच्छाचार है। इसी तरह जो कभी परिस्थितिवश कोई साधु (पूर्वाह्न के बजाय) चार बजे करीब, अपराह्न में गोचरी पर उतरते है वह भी शास्त्र सम्मत नहीं है।

सामान्यतः किसीभी गृहस्थके यहाँ दूसरीबेला का भोजन ४ बजे तक तैयार भी नहीं होता है, किसी के निमित्त स्पेशल बनाने पर ही ऐसा सम्भव हो सकता है, ऐसी हालत में ४ बजे मुनिका गोचरी पर उतरना शास्त्र विरुद्ध तो है ही, किन्तु स्पष्टतः उद्दिष्ट दोष को लिये हुए भी है।

इसतरह केवल किन्ही के सुभीते और अपने आराम के लिए शास्त्र विरुद्ध प्रवृत्ति करना कम से कम महाव्रतियों के लिये योग्य नहीं है।

(१७) सकलकीर्ति आ० कृत–सुकुमार चरित्र सर्ग ७–

मध्याह्नेऽभ्यर्च्य तीर्थेश मूर्त्तीः सौधे जिनालये।
पात्रदानाय पश्यंति गृह द्वारं मुहुर्बुधाः ॥३०॥

(१८) आ० सकलकीर्ति कृत–सुदर्शन चरित्र सर्ग १—

मध्याह्ने जिन मूर्त्तीश्च प्रपूज्य जिन भाक्तिकाः।
पश्यंति स्वगृह द्वारं पात्रदानाय दानिनः ॥३६॥

(१९) सोमदेवकृत यशस्तिलक चम्पू (कल्प ३६ अ०६)

प्रात विधिस्तव पदाम्बुज पूजनेन,
मध्याह्न सान्निधिरमं मुनि मातनेन ॥५६२॥

(मध्याह्न काल मुनियों के आतिथ्य सत्कार में बीते)

(२०) इन्द्र वामदेव रचित पंचसंग्रह दीपक (अनेकांतवर्ष २३ पृ० १४८)

प्रातः श्रीजिनपूजनेन विधिना मध्याह्न कालेऽप्ययं ।
दानेनाद्भुत कीर्तिनो मुनिजनाशीर्वाद……… ॥२२३॥

(२१) प्राचीन काल में सभी लोग प्रायः मध्याह्न में भोजन करते थे यही समय मुनियों के आहार का है क्योंकि श्रावक द्वारापेक्षण करके ही भोजन करते थे। श्रावकों के मध्याह्न भोजन के प्रमाण निम्नांकित हैं

(अ) आदिपुराण पर्व ४१

ततो मध्यदिनेऽभ्यर्णे कृत मज्जन सं विधिः ।
तनुस्थितिं स निर्वर्त्य निर विक्षत् प्रसाधनं ॥१२८॥

अर्थ—तत्पश्चात् दोपहर का समय निकट आनेपर स्नान आदि करके भोजन करते उससे निवृत्त होकर अलंकार धारण करते थे।

(ब) जम्बू सामि चरिउ (वीर कविकृत) ज्ञानपीठ, काशी से प्रकाशित पृ० १६० से १६२ में बताया है कि—जम्बू ने विवाह के वक्त मध्याह्न में भोजन किया।

(स) सागार धर्मामृत अ० ६ श्लोक २१ तथा इससे पूर्व एवं पश्चात्।

(२२) सकलकीर्तिकृत—श्रीपाल चरित परिच्छेद १—

मध्याह्ने स्वगृहे चैत्यालयेषु च जिनार्चनं ।
कृत्वा दानाय वै गेह द्वारं पश्यंति दानिनः ॥३२॥

(इसमें श्रावक को भी देववन्दना (सामायिक) करके ही आहारदान और भोजन बताया है)

(२३) मूलाचार अ० १ गाथा ३५—

उदयत्थमणे काले णालीतिय व ज्जियम्हि मज्झम्हि ।
एकम्हि दुअ तिएवा मुहुत्त कालेयभत्तं तु ॥

मूलाचार प्रदीपक में—

विज्ञेयोऽशन कालोऽत्र संत्यज्य घटिकात्रयं ।
मध्ये च योगिनां भानूदयास्तमन कालयोः ॥
तस्यैवा शनकालस्य मध्ये प्रोत्कृष्टतो जिनैः ।
भिक्षाकाले मतो योग्यो मुहुर्तैक प्रमाणकः ॥३७॥
योगिनां द्वि मुहूर्त्तं प्रमाणो मध्यमो बुधः ।
जघन्योस्त्रि मुहूर्त्तनमो भिक्षाकाल उदाहृतः ॥

अर्थ सूर्योदय और सूर्यास्त की तीन-तीन घड़ी छोड़कर मध्य=दोपहर मे जो एक या दो या तीन मुहूर्त तक एक यजु है वह भिक्षाकाल है। इसका तात्पर्य यह है कि तीन-तीन घड़ी छोडने का काल सामान्य रूप से गृहस्थादि सभी के लिए है यह अशनकाल है इसी में भोजनादि निर्माण का सभी आरम्भ होता है इस अशनकाल के ठीक मध्य में=दोपहर में योगियों का भिक्षा काल है यही एक भक्त काल है इस भिक्षाकाल में एक मुहूर्त लगाली उत्कृष्ट भिक्षाकाल, दोमुहूर्त मध्यम, तीन मुहूर्त जघन्य भिक्षाकाल है इसमें गमनागमन भोजन सभी आगया है।

इनका चर्चा सागर पृ० ५८-५९ में गलत अर्थ किया है नालिका=घड़ी का अर्थ मूहूर्त किया है और भी गलतियाँ हैं।

(२४) प्रवचनसार की हिन्दी टीका में आ० ज्ञानसागर जी ने पृ० १४१ पर लिखा है–दिगम्बर शास्त्रों के अतिरिक्त श्वे० मान्य उत्तराध्ययन के २६ वें अध्याय में लिखा हुआ है,

पढमं पोर सिसमज्झायं वीयं झाणं झियायई ।
तइयाये भिक्खायरि यं पुणो चउत्थी ये सज्झायं ।।

अर्थात्— ज्ञानीमुनी दिन के चार भाग करके पहिले भाग को स्वाध्याय करने में दूसरे को ध्यान करने में तीसरे को भिक्षा वृति में और चौथे भाग को फिर स्वाध्याय करने में व्यतीत करे।

दिन-रात के आठ पहरों में मुनिके लिए केवल दिन का तीसरा पहर भिक्षा के लिए बताया है उसी में वह शहर में भ्रमण करके एक पहर काल के समाप्त होने से पहिले भोजन कर चुके और पुनः आकर अपने स्वाध्याय करने लग जावे। अर्थात् मध्याह्न (दोपहर) बीतने पर फिर आहार बताया है।

(२५) ब्र० गुणदासकृत—श्रेणिक चरित्र (मराठी) पृ० १७ अ० १ (वि० सं० १५०८ की रचना) (सकलकीर्ति के शिष्य ब्रह्म जिनदास उनके शिष्य ब्र० गुणदास थे)

आइ कोति निधने जाले द्वार पेरवणी ऊझे ढाले ।
मगवाट पाहुति भले । सत्पस्त्राचि ।।१३८।।
चौदा घड़ियां अनंतरी ।मुनीश्वर येति भांवरी ।
भव्य श्रावकाच्या घरो । अतिथें देखा ।।१३६।।

इसमें भी सूर्योदय से १४ घडी के बाद (यानि १२ बजे मध्याह्न) मुनीश्वर आहारचर्या-भ्रामरी करने का कथन किया है।

(२६) तिलोयपण्णत्ती अ० ४ गाथा १५२४-२५

सचिवा चवन्ति सामिय सयल अहिंसा वदाण आधारो
संतो विमुक्क संगो तणुट्ठाण कारणेण मुणी ।

पर घर दुवाररासुं मज्झण्हे कामवरिसणं किच्चा ।
पासुयमसण भुंजदि पाणिपुडे विग्य परिहीणं ॥

मंत्री बोले—स्वामी! सकल अहिंसा व्रतों के आधार होते हुए परिग्रह रहित मुनि आहार के कारण दूसरों के घर द्वार पर अपना शरीर दिखाकर मध्याह्न में प्रासुक भोजन आरामरहित हाथ में खाते हैं। २ १

(२७) मेधावीकृत धर्मसंग्रह श्रावकाचार अ० ७—

गृही देवार्चनं कृत्वा मध्याह्ने सांबुभाजनः ।
पात्रावलोकनं द्वास्थः कुर्याद् भक्त्या सुधौतभृ त ॥८५॥

इसी का श्लोक ६१-६२ भी देखिये।

(२८) लाटी संहिता—सर्ग ६ श्लोक २२१ और २३१ में भी "मध्याह्न" ही आहार चर्या बताई है।

(२९) सोमसेन कृत त्रिवर्णाचार पृ० ३५४

(३०) कार्तिकेयानुप्रेक्षा (शुभचन्द्रकृतटीका) पृ०२७५-२७६

(३१) वाक्यजाल (ब्र० मूलशंकरजी देशाई) पृ० १९८, २९९ पर गलत निरूपण।

(३२) **भोजने गमनेऽन्यत्र कार्ये वा यत्र कुत्र चित् ।**
पूर्वाचार्य मतं नूनं प्रमाणं जिन शासने ॥५२॥
पूर्वाचार्य मति क्रम्य, यः कुर्याद् किंचिदप्यसौ ।
मिथ्यादृष्टि रीति ज्ञेयो, न वंदयश्च महात्मभिः॥५३॥

(आहार विहारादि कोई भी कार्य हो सर्वत्र पूर्वाचार्यों का मत ही प्रमाण है। उसका कुछ भी उल्लङ्घन करने वाला मिथ्यात्वी है। ज्ञानियों द्वारा वह मान्य नहीं है।) 

५१

दयामय जैन धर्म और उसकी देव पूजा

"अहिंसा परमो धर्मः" ऐसा सब कहते हैं मगर इस तत्व की जितनी गहनता, जितनी महत्वता और जितनी विशालता जैन धर्म में है उतनी अन्य जगह नहीं मिलेगी। लोक में जैनियों की दया बड़ी मशहूर है। और तो क्या भारत के अजैन विद्वान् भी मुक्त कंठ से कहते है कि अन्य धर्मों में अहिंसा का जो भी रूप नजर आता है वह श्रेय जैन धर्म को ही है जैन धर्म की अहिंसा की सृष्टि बिल्कुल लोकहित की दृष्टि से है, उसमें स्वार्थपरता का दोष ढूंढने से भी नहीं मिलता। जबकि अन्य धर्मों में कहीं मनुष्यों तक कहीं पशुओं तक और अधिक गये तो कहीं-कहीं दृष्टि गोचर जीवों तक अहिंसा पहुंचाई है, किन्तु जैन धर्म की अहिंसा का क्षेत्र तो इतना लम्बा चौड़ा विराट है कि उसमें नजर में भी न आने वाले सर्वज्ञगम्य सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों से लेकर महाकायधारी बड़े से बड़े सम्पूर्ण जीव चले आते हैं। देवता, मंत्र, धर्म औषधादि किसी निमित्त से भी हिंसा क्यों न हो, जैन धर्म की दृष्टि में उसे धर्म कोटि में कोई स्थान नहीं दिया जा सकता, जैसा कि निम्न लिखित श्लोक से प्रगट है—

देवतातिथि मंत्रौषध पित्रादि निमित्ततोऽपि संपन्ना।
हिंसा धत्ते नरके किं पुनरिह नान्यथा विहिता ॥२९॥

["अमितगति"]

देखिये अहिंसा के विषय में जैनाचार्यों की क्या आज्ञा है—

जीवत्राणेन विना व्रतानि कर्माणि नो निरस्यंति।
चंद्रेण विना नक्षैर्हन्यन्ते तिमिर जालानि।
["अमितगति"]

धर्ममहिंसा रूपं संशृण्वंतोऽपि ये परित्यक्तुम्।
स्थावरहिंसामसहास्त्रसहिंसां तेऽपि मुंचंतु॥
सूक्ष्मं भगवद्धर्मो धर्मार्थं हिंसने न दोषोऽस्ति।
इतिधर्ममुग्धहृदयैर्न जातु मूत्वा शरीरिणो हिंस्याः॥
[अमृतचन्द्राचार्य]

अर्थ—जीवरक्षा के बिना व्रतधारण कर्मों को नष्ट नहीं कर सकते जैसे चन्द्रमा के बिना नक्षत्र अंधकार को दूर नहीं कर सकते। अहिंसा रूप धर्म को सुनकर भी जो स्थावर हिंसा को त्यागने के लिए असमर्थ हैं वे भी त्रस हिंसा को तो छोड़ें। भगवान् का धर्म बड़ा सूक्ष्म है, धर्म के अर्थ हिंसा होने में कोई दोष नहीं है इस प्रकार धर्म में मुग्ध चित्त वालों को आचार्य कहते है कि धर्म के अर्थ भी प्राणी नहीं मारने चाहिये।

इन सब विवेचनों से आप ही सिद्ध हो जाता है कि हमारी तमाम क्रियायें क्या जप, क्या तप, क्या व्रत सब यदि अहिंसा की उन्नति करने में सहायक हों तो उपादेय हैं नहीं तो व्यर्थ हैं।

आज हम यदि जैनियों की कृति देखते हैं तो बिल्कुल इससे उल्टी पाते हैं। यद्यपि जैनियों को अपने व्यापारादि कार्य या भोगोपभोगों के जुटाने में भी अहिंसा का कुछ न कुछ ख्याल जरूर रखना चाहिये मगर इससे भी ज्यादा धार्मिक कार्यों में

तो उसे कोई ऐसा काम कदापि न करना चाहिये जो (विशेष)-हिंसाजनक हो। हमारे कई दिगम्बरी भाई जिनपूजा में हरित पुष्प काम में लाते हैं। क्या उन्हें मालूम नही है कि भगवान् ने एक पुष्प में भी अनंत निगोद जीव बतलाये है इसके अलावा पुष्पों में त्रस जीव चलते-फिरते नजर आते हैं वे तो सर्वसाधारण के प्रगट ही हैं ये सब देखते हुए भी वे इस प्रथा को छोड़ते क्यों नहीं हैं ? उनके इस महाहिंसा मे इतना मोह क्यों है ? जैनाचार्य तो साफ कहते है। देखिये वसुनन्दि आचार्य क्या फरमाते हैं—'सम्मत्तरसपहाणो अणुकंवा वण्णिऊ जह्या' सम्यक्त्व का प्रधान कारण अनुकम्पा है। फिर देखिये—

> उंबरवडपीपलवि य पायर संधाग तरु पसूणाइं ।
> णिच्चं तस संसिद्धाइं ताइं परिवज्जिय व्वाइम् ॥५८॥
> [वसुनन्दि श्रावकाचार]

अर्थ—गूलर, वड, पीपल, पीलखन और अन्जीर ये पांच फल तथा संधाणा और वृक्षों के फूल इन सबमें त्रस जीवों की निरन्तर उत्पत्ति होती है इस वास्ते ये सब त्यागने योग्य है। देखा पाठक फूलो में स्थावर ही नहीं किन्तु त्रस जीवों की निरन्तर उत्पत्ति आचार्य बतलाते है। समवशरण में भगवान् की अहिंसा रूप दिव्य शक्ति से और वनों मे अहिंसा मूर्ति मुनीश्वरों के माहात्म्य से जाति विरोधी जीव भी अपनी हिंसक प्रकृति को छोड़कर शांति से परस्पर प्रेम से विचरने लगते हैं उन्हीं परमपूज्य महात्माओं की प्रतिमा के सामने आज हम पूजा के रूप में अनंत निगोद जीवों अनेक त्रस जीवों की विराधना करते नहीं हिचकिचाते। इस जगह शायद कोई कहे कि—तो फिर पुष्प चढ़ाने की आज्ञा आचार्यों ने दी ही क्यों? उत्तर में

हमारा कहना अव्वल तो यह है कि उन्होंने अचित प्राशुक द्रव्यों से पूजा करनी भी तो लिखीहै। उन्होंने ऐसा तो कहीं नहीं कहा की प्राशुक द्रव्यों से पूजा नही करना चाहिये। देखिये-मूलाचार की टीका मे चतुर्विशति स्तवन स्वरूप की गाथा में 'अच्चिदूणय' पद की व्याख्या मे संस्कृत टीकाकार क्या कहते हैं—"अर्चित्वा च गंधपुष्पधूपदीपादिभिः प्रासुकैरानीतैर्द्रव्यरूपं भावरूपैश्च" यहाँ साफ लिखा है कि प्राशुक लाये गंध पुष्पादि द्रव्यों से और भावों से पूजकर"-यदि कहा जाय कि मूलाचार में तो मुनीश्वरों के लिए विधान है सो ठीक है मगर इस स्थान में चतुर्विशति स्तवन का स्वरूप कहने का प्रकरण है इसलिए मुनि और श्रावक दोनों के लिए यह कथन लागू हो जाता है, फिर यहाँ तो गध पुष्प धूपादि से द्रव्यपूजा करना लिखा है सो क्या मुनीश्वर भी द्रव्यपूजा करते है अतः यह विधान श्रावक के लिए ही उपयुक्त जान पड़ता है। दूसरी बात यह भी है कि यदि सचित्त पूजा का विधान कतई उठा दिया होता तो बहुत से प्राणी जिनपूजा से वंचित रहकर श्रावक कोटि में ही गिने नहीं जाते क्योंकि जिनपूजा का करना सब कालों और सब स्थिति के जीवधारियों के लिए अपनी-अपनी शक्ति अनुसार मुख्य बताया गया है जैसाकि स्वामी कुन्दकुन्दाचार्य के "दाणं पूजा मुक्ख सावय धम्मो ण सावगो तेण विणा" अर्थात् दान देना और पूजन करना यह श्रावक का मुख्य धर्म है इसके बिना कोई श्रावक नही कहला सकता" इस कथन से स्पष्ट है। इससे यही सिद्ध होता है कि क्या देव, क्या पशु, और क्या मनुष्य, सब ही को पूजा करना चाहिये अब आप ही सोचे कि अगर अचित्त द्रव्यों से ही पूजा करने की आज्ञा देते तो जिन प्राणियों की अचित्त द्रव्य प्राप्त करने की परिस्थिति न होती तो वे पूजा

कैसे करते, क्योंकि ग्रंथों में जिनेन्द्र भक्तिसे प्रेरित होकर पशुओं तक ने भी तो पूजा की है जिसमें मेंढक सूवा और हाथी की पूजा की कथा तो प्राय: बहुतों ने सुनी होगी, सूवे ने तुम्हें आनि के फल आम चढ़ाया, मेढक ले चला फूल कमल भक्ति का भाया ॥२२॥ इन सबका जब शांति के साथ गहरा विचार किया जाता है तो यही ध्यान में आता है। कई भाई ऐसा भी कहते हैं कि अचित्त पूजा सचित त्याग प्रतिमा वाले को करनी चाहिये यह भी बात विचार करने पर ठीक नहीं बैठती, क्योंकि ऊपर मूलाचार की कारिका में ऐसा कोई विधान नहीं पाया जाता कि जो कोई खास व्यक्ति के ही लिए नियत हो। दूसरे ग्रन्थों में भी नहीं पाया जाता कि पांचवी प्रतिमा से नीचे वालों को अचित्त पूजा करने का विरोध किया हो। इस तरह जब सचित्त-अचित्त दोनों पूजाओं की स्पष्ट आज्ञा है।

तो फिर इससे यही फलितार्थ निकलेगा कि जिसको जैसा सुभीता हो, देश काल के अनुसार जैसा ठीक बैठता हो, साथ ही हिंसा का भी बचाव बिना किसी कठिनता के हो जाता हो उसी विधि से हठ छोड़कर जिनपूजा मे प्रवर्तना चाहिये। दोनों पूजाओं की उपयोगिता में जब हम विचार करते हैं तो हमारी बुद्धि में बनिस्पत सचित्त पूजा के अचित्त पूजा ही इस समय सर्वश्रेष्ठ जंचती है पूजा से सम्बन्ध रखने वाले पूज्य,पूजक पूजा और पूजाफल पर यदि विचार किया जाये तो सर्व प्रकारेण इस समय अचित्त पूजा ही उत्तम है। (सचित्त पूजा तो पशु-पक्षी मूर्खों के लिए है—मनुष्यों के लिए नहीं)।

(१) पूज्य का विचार करें तो वे तो रागद्वेष रहित है उन्हें हमारे सचित्त अचित द्रव्यों से कोई सरोकार ही नहीं,

जैसा कि श्री समन्तभद्र स्वामी ने कहा है—

'न पूजयार्थस्त्वयि वीतरागे, न निंदया नाथ विवांत वैरे' जब हमारे वीतराग भगवान् जीवों के पुंज रूप पुष्पों से खुश नहीं और प्राशुक केसर रंजित चांवल रूप संकल्पित पुष्पो से नाराज नहीं तो क्यो महान् पातक किया जाये" रस से काम चले तो विष क्यो दें"। पवित्र प्रभु को प्राशुक वस्तु ही चढ़ाई जा सकती है अप्रासुक नहीं। धर्म स्थान मे तो इसका खास खयाल रखना चाहिये।

(२) पूजक पर विचार करते हैं तो हमारे जैनी भाइयों में ऐसा कोई नहीं होगा जो अहिंसा से हिंसा को श्रेष्ठ समझता हो। हिंसा के बचाव के लिए कोई रात्रि में भोजन नहीं करते, कोई रात्रि में जल नहीं पीते, दिसावरी मैदा जो लटों का पुंज है नहीं खाते, अशुद्ध विदेशी खांड नहीं खाते, कईयों के हरियों का त्याग है या प्रमाण है इत्यादि रूप नियम अपने अहिंसा धर्म के पालन के लिए करते है तो कैसे कहा जाये कि उनके हिंसा का पक्ष है। सागार धर्मामृत की टीका में लिखा है कि— यतिधर्मानुराग रहितानामगारिणां देश विरतेरप्य सम्यक्त्व-रूपत्वात्। 'सर्व विरतिलालसः खलु देशविरति परिणामः' अर्थात् यति धर्म में अनुराग रहित गृहस्थियों का देशव्रत भी मिथ्या है। 'सकल विरति मे जिसको लालसा है वही देशविरतिके परिणाम का धारकहो सकताहै' इससे क्या यह नही सिद्ध होताहै कि हमारा उद्देश्य कितना ऊंचा रहता है। हम उस उच्च कार्य को धारण करने के लिए असमर्थ हों तो भी उसकी भावना हृदय से चली नही जाती, हर क्रियायों से हम उस तक पहुँचने का अभ्यास करेंगे अन्यथा हमारे नियम व्रतादि सब ही मिथ्या हो जाते हैं।

क्या यह उचित है कि—हम जब अपने खानपान, देनलेन, व्यापार आदि घर के कामों में हिंसा अहिंसा का इतना खयाल रक्खें और धार्मिक पूजादि कार्यों में उसे बिल्कुल स्थान न दें ? ऐसा कभी उचित नहीं।

(३) पूजा पर विचार करते हैं तो अष्टद्रव्यों की आवश्यकता ही हमारे परिणामों को स्थिर करने के लिये होती है जैसा कि नित्य पूजन में श्लोक है—

द्रव्यस्य शुद्धिमधिगम्य यथानुरूपं
भावस्य शुद्धिमधिकामधिगंतु काम।
आलंबनानि विविधान्यवलंब्य वल्गन्
भूतार्थ यज्ञपुरुषस्य करोमि यज्ञम् ॥

अर्थात् यथानुकूल द्रव्य की शुद्धि प्राप्तकर भावों की अधिक शुद्धि को प्राप्त करने की इच्छावाला मैं नाना प्रकार आलंबन को आश्रय करके सत्यार्थ पूज्य पुरुष का पूजन करता हूं।

मतलब इसका यही है कि हमारे परिणाम सराग रूप हैं, अनेक भोगोपभोग वस्तुओं में फसे रहते हैं, चिरंतन का अभ्यास छूट नहीं सकता इसलिये यदि द्रव्यों का अवलंबन न ले तो परिणाम भगवत्पूजा में स्थिर नहीं रहते, लीन नहीं होते। इस प्रकार जब द्रव्यालंबन ही मात्र परिणामों के स्थिर करने के उद्देश्य से ग्रहण किया जाता है तो उसके लिए "सचित्त ही द्रव्य चढ़ाये जायें" ऐसा आग्रह क्यों किया जा रहा है। सचित्त अचित्त दोनों में से जो ज्यादा सुगम, पवित्र, सुलभ और अहिंसक हों वे ही बेखटके लेने योग्य हैं। यही विवेक है।

सूक्ष्म बुद्धया सदा ज्ञेयो धर्मो धर्माथिभिर्नरैः। अन्यथा धर्मबुद्धयैव तद्विघात प्रसज्यते। (कल्याणार्थी को सदा सूक्ष्म-बुद्धि से ही धर्म का अनुशीलन करना चाहिये। अन्यथा धर्म बुद्धि से ही धर्म और धर्मी दोनों का बिगाड़ हो सकता है।

(४) अब चौथा भेद पूजाफल रहा, इस पर भी ऊहापोह करने से सचित्त पूजा जरूरी नहीं समझी जा सकती सो ऐसे– आज प्रायः हम लोग जिनेंद्र की पूजा करते हैं सो केवल एक रश्म पूरी करते हैं। परिणामों की स्वच्छता, भावों की वीतरागता व भक्ति की वास्तविकता के अश कितने होते हैं सो सब जानते हैं। ऐसी हालत मे जितना पुण्य जिनपूजा से उपार्जन किया जायेगा उससे ज्यादा पाप सचित्त पुष्पों की हिंसा से रहेगा तो लाभ के स्थान में हमारी हानि ही विशेष रहेगी, सौ रुपैयों के लाभ के वास्ते पानसौ रुपैयों का नुकसान उठाना तो किसी तरह योग्य नहीं है।

इस प्रकार इस विषय में हम जब किसी भी पहलू से शांति के साथ गहरा अनुशीलन करते है तो किसी रीति से भी सचित्त पुष्पों से जिनपूजा करना कम से कम इस समय मनुष्यों के लिये तो उचित नहीं बैठता। हम कहते है कि अगर अचित्त द्रव्यों से पूजा किया करें तो इसमें कौनसा अनर्थ हो जाता है और जैन धर्म के किस सिद्धांत का विघात होता है? शास्त्राज्ञा भी तो नहीं रोकती और जब जैनधर्म का उद्देश्य ही ऊंचा उठाने का–अहिंसा की ओर ले जाने का–है तो फिर ऐसा करने में उलझन है ही क्या। धर्म का स्वरूप बाह्य में जीय दया व अंतरंग में रागद्वेष का अभाव ही है या और है, इसमें अचित्त पूजा करने से कोई हानि नहीं दीखती तो फिर क्यों नहीं यह

प्रवृत्ति स्वीकार की जाती और जहां सौभाग्य से ऐसी पवित्र अहिंसक प्रवृत्ति चली आरही हो वहां कोई दुराग्रही इसे छोड़ना चाहे या कोई छुड़ाना चाहे तो इससे बढ़कर अफसोस और विवेक शून्यता क्या होगी ?

इस लेख में सचित्त द्रव्य से मतलब लेखक का विशेषकर हरितपुष्पादि से ही है क्योंकि अन्य सचित्त द्रव्य न इतने महा-हिंसाजनक हैं और न उनका विशेष आग्रह ही किया जाता है। विस्तार भय से बहुत सी बातों का हम उल्लेख नहीं कर पाये अगर पाठकों को मेरा यह प्रयास समयानुकूल हितावह रुचिकर जंचा तो फिर सेवा में उपस्थित हो सकूंगा। अन्त में एक बात और ध्यान देने योग्य है कि सचित्त पुष्पादि का चढ़ाना ही आपत्तिजनक नहीं है बल्कि उन्हें प्रतिमा के अंक में रखना और भी ज्यादा गलत है। यह सब श्वेतांबरीयता है दिगंबरीयता नहीं। कोई अपने कपड़े कुल्हाड़ी से ही कूट कर धोये इसके लिए वह स्वतन्त्र है चाहे फिर वे कटे-फटें किन्तु रुचिके नाम पर जैसे यह मूर्खता है वैसे ही प्रत्यक्ष हिंसा लक्षित कर भी जो सचित्त पूजा का पक्ष करते है वे जैन धर्म को नहीं समझते है। अहिंसादि की दृष्टि से ही आचार्यों ने यहाँ स्थापना निक्षेप रखा है फिर भी हम उसे न समझे यह अविवेक है। आशाधरादि सभी ने केशर चंदन रंगे अक्षतों की पुष्प संज्ञा दी है। इसी दृष्टि से हिंसाजन्य असली चमर की जगह हम गोटे आदि के नकली चमर ही ढोरते हैं जो सही है। यस्य नास्ति विवेकस्तु केवलं यो बहुश्रुतः। न स जानाति शास्त्रार्थान् दर्वीपाकरसानिब ॥ (जिसके विवेक नहीं केवल बहुश्रुती है वह शास्त्रों के अर्थ को नहीं जानता जैसे चम्मच भोजन के स्वाद को नहीं जानता।) 卐

★

卐 जिन–पूजा में पूजक (इन्द्र) पूज्य (जिनेन्द्र) और पूजाद्रव्य (८) सब में स्थापना निक्षेप का प्रयोग किया जाता है ताकि सरलता विशेषता प्राशुकता अहिंसकता पवित्रता अपरिग्रहता निरारंभता रहे।

"घेवर गिदोड़ा बरफी जु पेड़ा" बोलकर भी एक चिटक मात्र चढ़ाना इसी का रूप है। जैन संस्कृति की यही शालीनता सूक्ष्मता है।

बोलते हम–"द्रौपदी का चीर बढ़ाया, सीता प्रति कमल रचाया" जैसी ईश्वर कर्तृत्व रूपी वाणी किन्तु मानते कभी ऐसा नहीं अर्थात् जिनेन्द्र को अन्य धर्मियों के ईश्वर की तरह कर्त्ता नहीं मानते। यह विसंगति या झूठ नहीं है यह खूबी है भक्ति पूजा में यही जैनों की विशेषता है।

अजैर्यष्टव्यं (*अज से यज्ञ=पूजा करना चाहिये*) में *'अज'* का अर्थ न तो बकरा है और न तीन वर्ष पुराना धान्य किन्तु जैन संस्कृति में जो नहीं उगता ऐसा तुष=गरड़ी रहित चावल लिया गया है जो इसकी प्रांजलता सूक्ष्मता मौलिकता का द्योतक है। इसी तरह पूजा में असली द्रव्य बोलते भी— नकली चढ़ाते हैं। असली सुबोधता की दृष्टि से बोलते हैं और नकली अहिंसकतादि की दृष्टि से चढ़ाते हैं। जैसे— रामलीला में रावण-वध के दृश्य में रावण-राक्षसादि पात्रों को साक्षात् (असल) नहीं मारते हैं क्योंकि ऐसा करना महान् हिंसा जनक है। इसी तरह राक्षसों का मद्य मांस सेवन, लंकादहन आदि भी साक्षात् (असली) नहीं बताये जाते क्योंकि ऐसा करना भी महान् आपत्तिजनक है। यहाँ नकली काम तो श्रेयस्कर होता है और असली अनुचित। भक्ति की परिभाषायें ही जुदी होती हैं अतः बोलना क्या मानना क्या और करना क्या इसमें असामंजस्य या असत्य ढूंढना ही स्वयं में असत्य है।

जिनपूजा भी एक तरह की तीर्थंकर लीला है इसमें पंचकल्याणक के रूप में सारा तीर्थंकर-जीवन प्रतिदिन स्मरण कराया जाता है। अष्ट

द्रव्यों के माध्यम से बिना पढ़ा-लिखा भी यह सब हृदयंगम कर सकता है। इसी से पूजा के प्रारम्भ में पंचकल्याणकों का सर्वप्रथम अर्घ चढ़ाया जाता है। २४ तीर्थंकर पूजा मे भी प्रत्येक तीर्थंकर की पांचों कल्याणकों की तिथियों का अलग-अलग अर्घ चढ़ाया जाता है। प्रत्येक जिनपूजा में भी अष्ट द्रव्यों द्वारा पचकल्याणक को ही प्रदर्शित किया जाता है।

देखो—गर्भ कल्याणक–अत्र अवतर-अवतर संवौषट् आह्वाननेम् अत्र तिष्ठ तिष्ठ ठः ठः स्थापनम्

जन्मकल्याणक—अत्र मम सन्निहितो भव, सन्निधि करण जल, चदन, अक्षत, पुष्प

दीक्षा कल्याणक—नैवेद्य (आहार दान का प्रतीक)

ज्ञान कल्याणक—दीप (केवल ज्ञान का प्रतीक)

मोक्ष कल्याणक—धूप, फल अष्ट कर्म नष्टकर मोक्षफल प्राप्ति)

इसतरह इन्द्रिय विषय कषायों से रहित वीतराग भगवान् के साथ अष्ट द्रव्यों की संगति सार्थकता बैठ जाती है और व्यास माली के पारिश्रमिक रूप में *अष्टद्रव्यों की उपयोगिता भी बन जाती है।*

इन ८ द्रव्यों को चढ़ाते वक्त पूजक को सदा ऊपर लिखे अनुसार पंचकल्याणक रूप में तीर्थंकर लीला [जिन-जीवन चरित] को अच्छी तरह हृदय में बिठा लेना चाहिये।

यही अष्टद्रव्य-पूजन रहस्य है। अष्टद्रव्यों को जिनेन्द्र के आगे ही चढ़ाना किसी भी द्रव्य को जिनेन्द्र के ऊपर नही क्योंकि वे वीतराग हैं [देखो—मोक्षमार्गप्रकाशक पृ०] यही शालीनता और विवेक है।

ооо

५२

क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र

अद्यावधि माधवचन्द्र त्रैविद्यदेव की दो कृतियाँ उपलब्ध है। उनमें से एक त्रिलोकसार ग्रन्थ की संस्कृत टीका है जो छप चुकी है। और दूसरा संस्कृत में बना क्षपणासार ग्रन्थ है जो अभी तक छपा नहीं है। उक्त त्रिलोकसार ग्रन्थ प्राकृत में गाथा-बद्ध आचार्य नेमिचन्द्र का बनाया हुआ है। उसी की संस्कृत टीका माधवचन्द्र ने लिखी है। इस टीका की प्रशस्ति में माधवचन्द्र ने इतना ही लिखा है कि—"मेरे गुरु नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्री के अभिप्रायानुसार इसमें कुछ गाथाएँ कहीं-कहीं मेरी रची हुई हैं वे भी आचार्यों द्वारा अनुसरणीय हैं।" इसके सिवा माधवचन्द्र ने यहाँ अपने विषय में और कुछ अपना विशेष परिचय नहीं दिया है किन्तु क्षपणासार की प्रशस्ति में उन्होंने अपना परिचय कुछ विशेष तौर पर दिया है। वह प्रशस्ति वीर सेवामन्दिर देहली से प्रकाशित "जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह" के प्रथम भाग के पृ० १६६ पर छपी है। इस प्रशस्ति में प्रथम से लेकर पांचवें पद्य तक क्रमशः यति वृषभ, वीरसेन, जिनसेन, मुनि चन्द्रसूरि, नेमिचन्द्र और सकलचन्द्र भट्टारक को नमस्कार करने के बाद दो पद्य निम्न प्रकार हैं—

तपोनिधि महायशस्सकलचन्द्र भट्टारक—
प्रसारित तपोबलाद् विपुलबोधसच्चक्रतः ।

श्रुतांबुनिधि नेमिचन्द्र मुनिपप्रसादा गतात्,
प्रसाधितमविघ्नतः सपदि येन षट्खंडकम् ॥
अमुना माधवचन्द्र दिव्यगणिना त्रैविद्यचक्रेशिना,
क्षपणासारमकारि बाहुबलिसन्मन्त्रीशसंज्ञप्तये ।
शककाले शरसूर्यचन्द्रगणिते जाते पुरे क्षुल्लके,
शुभदे दुन्दुभिवत्सरे विजयतामाचन्द्रतारं भुवि ॥

इन पद्यों में कहा है कि– जिसने तपोनिधि, महायशस्वी सकलचन्द्र भट्टारक से दीक्षा लेकर तपस्या की उसके बल से तथा श्रुतसमुद्र पारगामी नेमिचन्द्र मुनि के प्रसाद से जिसे विशाल ज्ञानरूपी उत्तम चक्र मिला, उस चक्र से जिसने षट्खण्डमय सिद्धांत को जल्दी ही निर्विघ्नता से साध लिया ऐसे त्रैविद्य, दिव्यगणि और सिद्धांतचक्री इस माधवचन्द्र ने क्षुल्लकपुर मे शक सं० ११२५ में दुन्दुभि नाम के शुभ संवत्सर मे बाहुबलि मन्त्री की ज्ञप्ति के लिए यह क्षपणासार ग्रन्थ बनाया है वह पृथ्वी में चन्द्र तारे रहें तब तक जयवन्त रहे।

इस प्रशस्ति के साथ यहीं पर क्षपणासार का आद्य भाग मंगलाचरण या मय टीका के एक श्लोक भी छपा है। उसमें भी नेमिचन्द्र और चन्द्र (सकलचन्द्र) का उल्लेख करते हुए उन्हें माधवचन्द्र और भोजराज के मन्त्री बाहुबलि द्वारा स्तुत बताए गये हैं।

इन उल्लेखों से पता लगता है कि ये माधवचन्द्र त्रिलोकसार की टीका की तरह क्षपणासार में भी अपने को त्रैविद्य और नेमिचन्द्र का शिष्य लिखते हैं अतः दोनों अभिन्न हैं। हाँ, क्षपणासार में उन्होंने सकलचन्द्र को भी अपना गुरु लिखते हुए यह स्पष्ट कर दिया है कि सकलचन्द्र उनके दीक्षा-

गुरु थे और नेमिचन्द्र उनके विद्या-गुरु थे। किन्तु इसमें बड़ी बाधा यह आती है कि उक्त प्रशस्ति में क्षपणासार का रचना काल शक सं० ११२५ दिया है जिसमें १३५ जोड़ने से विक्रम सं० १२६० होता है। समय की यह संगति त्रिलोकसार के कर्ता नेमिचन्द्र के समय के साथ नहीं बैठती है। नेमिचन्द्र का समय विक्रम संवत् १०५० के लगभग माना जा रहा है। इसीलिए प्रेमीजी आदि इतिहासज्ञ विद्वानों ने उक्त क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र को त्रिलोकसार की टीका कर्ता माधवचन्द्र से भिन्न प्रतिपादन किया है।

किन्तु हमारी समझ इस विषय में कुछ और है। हम दोनों माधवचन्द्र को अभिन्न समझते हैं और दोनों के समय की संगति इस तरह बैठाते हैं कि क्षपणासार का जो समय शक सं० ११२५ दिया है उसे शालिवाहन संवत् न मानकर विक्रम सं० ११२५ मानना चाहिए। चूंकि माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार गाथा ८५० की टीका में शकराज का अर्थ विक्रम किया है। इसलिए उनके मत के अनुसार क्षपणासार में दिये गए शक संवत् को भी विक्रम संवत् ही मानना चाहिए। सही भी यही है कि किसी भी ग्रंथकार के कथन को उसी के मत के अनुसार माना जावे। इस तरह मानने से दोनों समय में जो भारी अन्तर पड़ता है वह हलका-सा रह जाता है। इस हलके अन्तर को तो हम किसी तरह बैठा सकते हैं। इसके लिए हमें नेमिचन्द्र और चामुण्डराय के समय को कुछ आगे की ओर लाना पड़ेगा अर्थात् ये दोनों विक्रम की ११वीं शताब्दी के चौथे चरण में भी मौजूद थे ऐसा समझना होगा। वह इस तरह कि बाहुबलि चरित्र में गोम्मटेश्वर की प्रतिष्ठा का समय कल्कि सं० ६०० लिखा है।

प्रोफेसर पं० हीरालाल जी ने जैन-शिलालेख संग्रह भाग १ की प्रस्तावना में इस कल्कि संवत् को विक्रम सं० १०८६ सिद्ध किया है। यह तो निश्चित ही है कि बाहुबलि मूर्ति की स्थापना चामुण्डराय ने की थी। इसके अलावा चामुण्डराय कृत चारित्र-सार खुले पत्र पृ० २२ में "उपेत्याक्षाणि सर्वाणि....." यह श्लोक उक्तं च रूप से उद्धृत हुआ है। यह श्लोक अमितगति श्रावकाचार परिच्छेद १२ का ११९वाँ है। इसमें उपवास का लक्षण बताया गया है। अमितगति का समय विक्रम की ११वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध तक है। इत्यादि हेतुओं से चामुण्डराय का समय संभवतः विक्रम की ११वीं शताब्दी के चौथे चरण तक पहुँच जाता है। और नेमिचन्द्र भी श्री बाहुबलि स्वामी की प्रतिष्ठा के वक्त मौजूद होंगे ही। इसके अतिरिक्त नेमिचन्द्र कृत द्रव्य संग्रह की ब्रह्मदेव कृत टीका के प्रारम्भ में लिखा है कि "यह ग्रन्थ पहिले नेमिचन्द्र ने राजा भोज से सम्बन्धित श्रीपाल मण्डलेश्वर के राजसेठ सोम के निमित्त २६ गाथा प्रमाण लघु द्रव्यसंग्रह बनाया था। फिर विशेष तत्वज्ञान के लिए बड़ा द्रव्यसंग्रह बनाया।" इस कथन से भी सिद्ध होता है कि राजा भोज के समय श्री नेमिचन्द्र हुए हैं। राजा भोज का समय विक्रम की ११वीं सदी का चौथा चरण इतिहास से सिद्ध है। जो प्रमाण द्रव्य-संग्रह और गोम्मटसार के कर्ता को भिन्न सिद्ध करने के लिए दिए जाते है वे भी कुछ विशेष दृढ़ नहीं है जैसे कि "गोम्मटसार के कर्ता नेमिचन्द्र तो सिद्धांत चक्रवर्ति थे और द्रव्यसंग्रह के खासतौर से कर्ता नेमिचन्द्र सिद्धांतदेव थे।" यह हेतु ऐसा कोई भिन्नता का द्योतक नही है। क्योकि त्रिलोकसार की टीका में स्वयं माधवचन्द्र ने ग्रंथ के प्रारम्भ और अन्त में अपने गुरु नेमिचन्द्र का 'सैद्धांतदेव' नाम से उल्लेख किया है।

और दूसरा हेतु भिन्नता के लिए यह दिया जाता है कि "द्रव्य संग्रह में आश्रव के भेदों में प्रमाद को गिना है। जब कि गोम्मटसार में प्रमाद को नहीं लिया है।" यह हेतु भी जोरदार नहीं है। क्योंकि इस विषय में शास्त्रकारों की दो विवक्षा रही हैं। तत्वार्थ सूत्र और उनके भाष्यकार आदिकों ने आश्रव के भेदों में प्रमाद को लिया है, मूलाचार आदि में प्रमाद को नहीं लिया है। ये दोनों ही विवक्षाएँ नेमिचन्द्र के सामने थीं और दोनों ही उन्हें मान्य भी थीं इसीलिए उन्होंने जहाँ बृह० द्रव्य संग्रह में आश्रव-भेदों में प्रमाद को लिया है वहाँ लघु द्रव्यसंग्रह की १६वीं गाथा में प्रमाद को नहीं भी लिया है। (देखो अनेकांत वर्ष १२ किरण ५)

अलावा इसके उन्होंने द्रव्यसंग्रह को समाप्त करते हुए जिस ढंग से अपनी लघुता प्रदर्शित की है। वही ढंग उन्होने त्रिलोकसार को समाप्ति के समय में भी अपनाया है। दोनो के वाक्यों को देखिए—

इदि णेमिचन्द मुणिणा अप्पसुदेणाभयणंदिवच्छेण।
रइयो तिलोयसारो खमंतु तं बहुसुदाइरिया॥
[त्रिलोकसारे]

दव्वसंगहमिणं मुणिणाहा, दोससंचयचुदा सुदपुण्णा।
सोधयंतु तणुसुत्तधरेण णेमिचंद मुणिणा भणियं जं॥
[द्रव्यसंग्रह]

इनमें अप्पसुद-तणुसुत्तधर, सुदपुण्णा-बहुसुदा ये वाक्य अर्थ-साम्य को लिए हुए हैं। इससे दोनों को अभिन्न मानने की ओर हमारा मन जाता है। इस प्रकार जबकि नेमिचन्द्र का समय विक्रम की

११वीं शताब्दी के तीसरे चरण तक पहुँच जाता है तो उनके शिष्य माधवचन्द्र का भी विक्रम सं० ११२५ में जीवित रहना संभव हो सकता है। माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार की टीका गोम्मटसार की रचना के बाद बनाई है। क्योंकि त्रिलोकसार गाथा २५० की टीका में एक गाथा "तिण्णसय जोयणाणं...." उद्धृत हुई है वह गोम्मटसार जीवकांड की है।

त्रिलोकसार टीका और क्षपणासार की शैली एवं तत्त्व विवेचन का तुलनात्मक अध्ययन करने पर भी दोनों के एक कर्तृत्व का निश्चय किया जा सकता है इस ओर साहित्यिक विद्वानों को ध्यान देना चाहिए।

क्षपणासार की प्रशस्ति में माधवचन्द्र ने अपना दीक्षागुरु सकलचन्द्र को बताया है। इस पर विचार उठता है कि उनके विद्यागुरु नेमिचन्द्र के होते हुए उन्होंने सकलचन्द्र से दीक्षा क्यों ली ? ऐसा लगता है कि दीक्षा के वक्त शायद नेमिचन्द्र दिवंगत हो गए हों। इसी से उनको सकलचन्द्र के पास से दीक्षा लेनी पड़ी हो। साथ ही ऐसा भी मालूम पड़ता है कि त्रिलोकसार की टीका की समाप्ति के समय तक वे दीक्षित ही नहीं हुए थे। क्योंकि टीका की प्रशस्ति या टीका में यत्र-तत्र ऐसा कोई उल्लेख नहीं पाया जाता है जिससे उनका मुनि होना प्रगट होता हो। क्षपणासार में तो शुरू में ही वे अपने को मुनि लिखते हैं। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि नेमिचन्द्र स्वामी की जब वृद्धावस्था थी तब उनके शिष्य माधवचन्द्र युवा थे और इससे माधवचन्द्र का अस्तित्व वि० सं० ११२५ में माना जा सकता है। इस समय के साथ एक बाधा अगर यह उपस्थित की जावे कि क्षपणासार की प्रशस्ति में

उसकी रचना राजा भोज के मन्त्री बाहुबलि के निमित्त बताई है और इतिहास में राजा भोज का समय वि० सं० ११२५ से पहिले का है। इसका समाधान यह हो सकता है कि क्षपणासार की समाप्ति के समय तक राजा भोज नहीं भी रहे हों तब भी बाहुबलि भूतपूर्व की अपेक्षा मन्त्री तो उसी का कहला सकता है।

इस लेख में मैंने जो विचार प्रगट किए हैं वे कहाँ तक ठीक हैं ? इसका निर्णय मैं इतिहास के खोजी विद्वानों पर छोड़ते हुए उनसे निवेदन करता हूं कि उन्होंने इस सम्बन्ध में अब तक जो निर्णय दिया है उस पर वे पुन. विचार करने की कृपा करें।

इस लेख में मैंने कुछ दलीलों से क्षपणासार के कर्ता और त्रिलोकसार की टीका के कर्ता माधवचन्द्र के अभिन्न होने की संभावना व्यक्त की थी। और उन ऐतिहासिक विद्वानों से जिन्होंने कि दोनों को भिन्न-भिन्न मान रक्खे हैं इस सम्बन्ध मे पुनः विचार करने की प्रेरणा की थी। क्षपणासार की प्रशस्ति में उसकी समाप्ति का समय शक सं० ११२५ दिया है। इसे हमने ग्रन्थकार के मतानुसार विक्रम सं० मानकर इसी आधार पर हमने वह लेख लिखा था।

इसपर भाई परमानन्दजी ने अनेकांत के उसी अंक में दोनों माधवचन्द्र को भिन्न-भिन्न बतलाने का प्रयास किया है। उनके मंतव्य की पुष्टि के लिये उनके लेख से ४ दलीलें सामने आई हैं। नीचे हम उन्हीं पर विचार करते हैं—

(१) प्रथम दलील उनकी यह है कि—"नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्री का समय विक्रम की ११वीं सदी के पूर्वार्द्ध के बाद का नहीं हो सकता है। क्योंकि नेमिचन्द्र और चामुण्डराय समकाल

के हैं और चामुण्डराय राचमल्ल के मंत्री रहे है। राचमल्ल का समय वि० सं० १०४१ तक का है। अत: इन नेमिचन्द्र के शिष्य माधवचन्द्र का समय वि० सं० ११२५ मानना असंगत है।"

इस संबंधमें हमारा कहना यह है कि– बाहुवलि चरित्रमें गोम्मटेश की स्थापना का समय कल्कि सं० ६०० लिखा है। जिसे प्रो० पं० हीरालाल जी ने जैनशिलालेख संग्रह प्र० भाग की प्रस्तावना में विक्रम सं० १०८६ माना है। और गोम्मटेश्वर की स्थापना के समय चामुण्डराय और नेमिचन्द्राचार्य दोनों मौजूद थे ही। तथा द्रव्यसंग्रह की टीका में ब्रह्मदेव ने नेमिचन्द्र को धाराधीश राजा भोज के समय का लिखा है। यह राजाभोज विक्रम की ११वी सदी के चौथे चरण में मौजूद थे ऐसा इतिहास से सिद्ध है। एवं चामुण्डराय ने स्वरचित चारित्रसार में अमितगति का पद्य उद्धृत किया है। इत्यादि हेतुओं से चामुण्डराय और नेमिचन्द्र का अस्तित्व विक्रम की ११वीं सदी का चौथा चरण तक पाया जा सकता है। रही राचमल्ल की बात सो इस विषय में प्रो० हीरालालजी ने उक्त शिलालेखसंग्रह की प्रस्तावना में जो लिखा है वह उन्ही के शब्दों में पढ़ियेगा—

"गोम्मटेश की प्रतिष्ठा राजा राचमल्ल के समय में ही हुई ऐसा कोई शिलालेखीय प्रमाण नहीं है। केवल भुजबलिशतक में ही ऐसा कथन है किन्तु उसका रचना समय ईसा की सोलहवीं शताब्दी अनुमान किया जाता है। जिन अन्यग्रन्थों मे गोम्मटेश की प्रतिष्ठा का कथन है उनमें यह कहीं नहीं कहा गया कि यह कार्य राचमल्ल के जीते ही हुआ था। सन् १०२८ से पहिले के किसी भी शिलालेख मे इस प्रतिष्ठा का समाचार नहीं पाया जाता है।"

(२) दूसरी दलील आप की यह है कि—"शिलाहारवंश के राजाभोज और सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र शक सं० ११२५ (विक्रम सं० १२६०) के लगभग हुये है अतः यही समय माधवचन्द्र कृत क्षपणासार की समाप्ति का हो सकता है।"

इसका उत्तर यह है कि-एक सकलचन्द्र विक्रमसं० ११२५ के करीब भी हुए हैं देखो शिलालेख नं० ५० (जैनशिलालेखसंग्रह प्र० भाग पृ० ७४) इसी तरह एक मुनिचन्द्र भी विक्रम सं० ११२५ में हुये है। देखो शिलालेख नं० २०४ (जैनशिलालेखसंग्रह द्वि० भाग पृ० २४६) सम्भव है क्षपणासार के कर्ता माधवचन्द्र के द्वारा स्मृत सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र भी ये ही हो हों। यह संभावना इसलिये भी ज्यादह ठीक प्रतीत होती है कि- माधवचन्द्र ने क्षपणासार की प्रशस्ति में सकलचन्द्र के साथ नेमिचन्द्र सिद्धांत चक्रवर्ती का भी स्मरण किया है। और नेमिचन्द्र के समय की संगति भी इन्हीं सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र के साथ बैठती है। आपके कथनानुसार विक्रम सं० १२६० में होने वाले सकलचन्द्र-मुनिचन्द्र के वक्त तो कोई नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्रवर्ती हुये ही नहीं। जैन इतिहास में गोम्मटसार के कर्ता के अलावा उनके बाद अन्य भी कोई नेमिचन्द्र सिद्धांतचक्री हुये हों ऐसा कोई उल्लेख देखने में आया नहीं है। यह भी सोचने की चीज है कि—विक्रम सं० १२६० के लगभग पं० आशाधरजी हुये हैं तो क्या उनके वक्त नेमिचन्द्र-माधवचन्द्र आदि सिद्धांत चक्रियों का अस्तित्व था? एवं शब्दार्णव-चन्द्रिका वृत्ति की प्रशस्ति में सोमदेव ने भोजदेव का उल्लेख करते हुये शिलाहारवंशी लिखकर यह व्यक्त किया है कि वह परमारवंशी प्रसिद्ध राजा भोज से भिन्न है। उस तरह माधवचन्द्र ने क्षपणासार में भोजराजा को शिलाहार

वंशी नहीं लिखा है इससे यही अनुमान करना पड़ता है कि— इन माधवचन्द्र के वक्त तक शिलाहारवंशी कोई राजा भोज हुआ ही न था। हुआ होता तो ये भी उसे शिलाहारवंशी लिखे बिना नहीं रहते।

(३) तीसरी दलील आपकी यह है कि– "शक सं० को विक्रम स० मानने से इतिहास में बड़ी गड़बड़ी पैदा होती है।" इसका उत्तर यह है कि गड़बड़ी तो उस हालत में पैदा हो सकतीहै जबकि किसी उल्लेखमें शकसं० का प्रयोग विक्रम संवत् में हुआ हो उसे हम शालिवाहन संवत् मानकर चलें। माधवचन्द्र ने त्रिलोकसार गाथा ८५० की टीकामें शकराज का अर्थ विक्रम किया है। इस लिये उनके मत के अनुसार क्षपणासार में दिये हुये शक सं को हमें विक्रम सं० मानना चाहिये। ऐसा न मानने से ही इनके इतिहास में गड़बड़ी पड़ती है और इतिहास की कड़ी बैठाने को ऊटपटांग कल्पना करनी पड़ती है। अगर हस्तलिखित प्रतियों में उक्त गाथा ८५० की टीका का प्रचलित पाठ सही रूप में है और निश्चियतः वह माधवचन्द्र की कलम से लिखे अनुसार ही है तो उस समय में होने वाले अभयनन्दि-वीरनन्दि-इंद्रनन्दि-कनकनन्दि-नेमिचन्द्र आदि उद्भट आचार्यों का भी यही मत रहा होगा क्योंकि अकेले माधवचन्द्र इन मान्य आचार्यों के मत से भिन्न कथन नहीं कर सकते हैं। और श्री माधवचन्द्रने कई गाथायें रचकर अपने गुरु नेमिचंद्रकी सम्मति से त्रिलोकसार में सामिल की है तो त्रिलोकसार की गाथा ८५० की टीका में शक का अर्थ विक्रम भी माधवचंद्र ने अपने गुरु की सम्मति या उनकी आम्नाय के अनुसार ही किया होगा। साथ ही माधवचंद्र भी तो स्वयं सिद्धांतचक्रवर्ती थे। ऐसी अवस्था में

संवत् की समस्या बहुत गम्भीर बन जाती है। इस सम्बन्ध में और भी बातें विचारने की हैं। जैसे कि विक्रम संवत् का प्रारंभ चैत्रशुक्ला एकम् को हुआ वही मिती शक सवत् के प्रारम्भ की कैसे हुई ? तथा धवलादि प्राचीन ग्रंथों मे वीरनिर्वाण की काल गणना शक संवत् तक क्यों बताई ? उससे भी १३५ वर्ष पूर्व से चल रहे विक्रम संवत् तक क्यों नहीं बताई ? इत्यादि बातो को देखते हुये यही आभास होता है कि कही प्राचीन आचार्यों की दृष्टि में शक संवत् ही विक्रम सवत् तो नहीं था ? क्या बाहुबली ही चामुण्डराय मंत्री नहीं थे ?

(४) चौथी दलील आपकी यह है कि—"परमारवंशी राजा भोज उत्तरप्रांत में हुआ है और गोम्मटसार के कर्ता नेमिचंद्राचार्य दक्षिणप्रांत मे। इसलिये इन नेमिचंद्र के शिष्य माधवचंद्र की संगति परमारवंशी राजा भोज के साथ नहीं बैठाई जा सकती।" इसका उत्तर यह है कि—दक्षिणप्रांत के मुनि उत्तरप्रांतमे और उत्तरप्रांतके मुनि दक्षिणप्रांतमे पहिले भी आते जाते रहे हैं और अब भी आते जाते हैं। दक्षिणप्रांत के मुनि श्री शांतिसागर जी महाराज तो अभी २ बहुत अरसे तक उत्तरप्रांत में रहे हैं यह सर्वविदित है। और ऐसा कोई आचारशास्त्र का नियम भी नहीं है जिससे किसी एक प्रांत के मुनि दूसरे प्रांत में न जा सकें।

मैं आशा करता हूं कि मेरे भाई पं० परमानन्दजी साहब तटस्थ होकर इसपर पुनः गम्भीरता से विचार करने की कृपा करेंगे।

५३

उद्दिष्ट दोष मीमांसा

आज से करीब ६ मास पहिले मेरा एक लेख "साधुओं की आहारचर्या का समय" शीर्षक से जैनगजट के गत पर्यूषणांक मे निकला था। उसे मैंने "आगमानुसार मुनियों का भोजन काल क्या होना चाहिये ?" इस ध्येय को लेकर लिखा था। और विद्वानों के विचारार्थ उसे जैन गजट मे प्रकाशित कराया था। मैं प्रतीक्षा में था कि—कोई विद्वान् उस विषय में लिखे। जैनगजटके ता० ६ और १६ मई के अङ्कमें ब्र०चांदमलजीचूड़ीवाल ने "कटारियाजी का एक लेख" इस शीर्षक से लेख छपाया है। उसमें उन्होंने इस विषय की चर्चा करने के पूर्व उद्दिष्ट दोष की विवेचना की है। इसका कारण यह है कि—हमने अपने लेख की आदि में उत्थानिका के तौर पर मूलाचार का प्रमाण देकर यह दर्शाने का उद्यम किया था कि मुनियों की भिक्षा शुद्धि में अन्य २ विधियों के साथ एक विधि यह भी है कि—भिक्षा यथाकाल प्राप्त की जावे। मूलाचार का जो प्रमाण हमने दिया था उसमे भिक्षा यथाकाल लेने के साथ २ अन्य बातें भी लिखी थी जैसे "भिक्षा प्रासुक हो। जिसके सम्पादन में साधु का मन, वचन, काय और इन सम्बन्धी कृत-कारित-अनुमोदना का कुछ भी सम्पर्क न हो आदि। हमारे इस लिखने का चूड़ीवालजी ने यह फलितार्थ निकाला कि - मैंने (मिलापचन्दने) ऐसा लिखकर

यह अभिप्राय प्रगट किया है कि "वर्तमान के साधु सब उद्दिष्टादि दोषों से युक्त आहार ग्रहण करते हैं अतः उन्हें चेतावनी दी है अथवा जैनसमाज को यह चेतावनी दीहै कि–जो साधु उद्दिष्टादि दोष युक्त आहार ग्रहण करते है उन्हें साधु नही मानना चाहिये।"

यद्यपि उस वक्त उद्दिष्ट के विषय में लिखने का मेरा रंच मात्र भी विचार नहीं था। क्योंकि वर्तमान के कतिपय जैनसाधुओं की आहारचर्या और उनको दिये जानेवाले आहारके तैयार करने में होने वाले गृहस्थों के कारनामे प्रायः सभी विचारवानों को खटकने जैसे है। अब आपने जो उद्दिष्ट के विषय में अपने विचार प्रगट किये है वे भी मुझे आगमानुकूल नजर नही आते है। आपने जितना भी लिखा उसे देखने पर हमको यही आभास हुआ कि वर्तमान में मुनियों की जैसी कुछ प्रवृत्ति चल रही है उसे ही श्रेष्ठ और शास्त्रोक्त सिद्ध करना। यही आप का ध्येय है। किन्तु आप इसमे पद-पद पर स्खलित होते चले गये हैं। यों तो आपने अनर्गल ढंग से बहुत सारा लिखा है। नीचे हम उसका सारांश देते हुये समीक्षा लिखतेहैं–

(१) आपने लिखा उद्दिष्टादि दोष सूक्ष्म दोष हैं। प्रायश्चित्त के योग्य नहीं हैं।

समीक्षा

आपने आदि शब्द देकर उद्दिष्ट ही नहीं अन्य उद्गमादि सभी दोषों को सूक्ष्म दोष बता दिया है। और ये प्रायश्चित्त के योग्य नहीं ऐसा लिखकर तो बड़ा ही गजब किया है। इसके लिये आपने मूलाचार का प्रमाण दिया परन्तु ग्रंथकार का

आशय सूक्ष्म दोष बताने का क्या है ? इसके समझने में आपने भूल की है। मूलाचार में अधःकर्म नामक महादोष जिससे मुनित्व ही नहीं रहता उसका वर्णन करने के बाद उद्दिष्ट दोष का वर्णन करते हुये टीकाकार ने उसे सूक्ष्म दोष बताया है सूक्ष्म दोष बतानेका कारण स्वयं टीकाकारने यह लिखा है कि–"अधःकर्मः पार्श्वात् औद्देशिकं सूक्ष्म दोषंपरिहर्त्तुं कामः प्राह"

अर्थात् अधःकर्म नामक महादोष के पास में औद्देशिक दोष सूक्ष्म है ? यानी अधःकर्म जैसे महादोष के सामने यह दोष हलका है ऐसा इसका तात्पर्य है। इसका मतलब यह नहीं है कि वह मुनियों के लिये उपेक्षणीय समझकर प्रायश्चित्त के अयोग्य ही मान लिया जाय। आशीविष सर्प से अन्य सर्प कम विषैले होते हैं ऐसा कहने का यह मतलब नहीं है कि—उन अन्य सर्पों से न बचा जाये। जब ११वीं प्रतिमाधारी श्रावक के लिये ही उद्दिष्ट दोष का टालना जरूरी बताया है तो इसी से समझ लीजिये कि वह मुनियों के लिये कितना बड़ा दोष हो सकता है और इसीलिए टीकाकार ने 'परिहर्त्तु कामः' पद देकर इसे टालने के लिये स्पष्ट निर्देश किया है। उद्दिष्टदोष १६ उद्गमादि दोषों में आद्य और प्रमुख है क्योंकि बाकी के १५ दोष भी मुनि के उद्देश्य से ही बनते हैं अतः वे सब भी एक तरह से उद्दिष्ट दोष के ही अङ्ग है ऐसी हालत में उद्दिष्ट दोष को मामूली-उपेक्षणीय दोष बताना अयुक्त है卐मुनियों के २८

卐 मूलाचार अ० ६ गाथा ४२ की टीका में लिखा है कि— उद्गमोत्पादनादि अधःकर्म के अंश = हिस्से होने से परित्याज्य हैं। इन दोनों को अधःकर्म (मुनित्व नाशक) के ही भाग बताये हैं अतः ये सब

मूलगुणों के अन्तर्गत ५ समितियों के नाम आते हैं। उद्दिष्टादि दोष सहित आहार लेने वाले साधु के एषणा समिति का पालन नहीं होने से मूलगुण का घात होता है। मूलाचार के प्रथम अधिकार में एषणा समिति का स्वरूप इसप्रकार बताया है—

छादाल दोससुद्धं कारणजुत्तं बिसुद्धणवकोडी।
सीदावीसमभुत्ती परिसुद्धा एसणा समिदी ॥१३॥

अर्थ—जो आहार ४६ दोषों से रहित हो, और मन, वचन, काय, कृत कारित आदि नवकोटि से शुद्ध हो ऐसे आहार को कारणवश से लेना। तथा वह ठण्डा, गरम, रस, नीरस, रुक्ष कैसा भी हो उसके लेने में समभाव रखना रागद्वेष नहीं करना इसे निर्मल एषणा समिति कहते हैं—

इसलिये भोजन में उद्दिष्टादि दोषोंका टालना मुनियोंके लिये अत्यन्त आवश्यक है। आपके कथनानुसार ये नगण्य होते तो एषणासमिति नामक मूलगुण में इनको टालने का आदेश

भी अधःकर्म के ही उत्पादक हैं अतः प्रखर दोष हैं इन दोषों से बचकर नहीं चलने वाला सीधा अधःकर्म रूपी महागर्त में गिरता है। उद्दिष्ट दोष से त्रस स्थावरों के पाप की अनुमोदना होती है अतः यह त्याज्य ही है। महापुराण पर्व ३४ श्लोक १९९ में बताया है कि उद्दिष्टादि दोष दूषित आहार को चाहे प्राण चले जायें वे मुनि ग्रहण नहीं करते थे।

शंकिताभिहृत दिद्दष्ट क्रयक्रीतादि लक्षणं।
सूत्रे निषिद्ध माहार नैच्छन्प्राणात्ययेऽपि ते ॥१९९॥

नहीं दिया जाता। इन दोषों की अवहेलना करने का अर्थ है **एषणा समिति** का पालन नहीं करना। अर्थात् मूलगुण का घात **करना**। "नष्टे मूले कुतः शाखा" जब मूलगुण ही नहीं तो साधु **का** अन्य आचार सब निरर्थक है। जैसा कि मूलाचार के समयसाराधिकार में कहा है—

मूलं छित्ता समणो जो गिण्हादी य बाहिरं जोगं।
बाहिर जोगा सव्वे मूलविहूणस्स किं करिस्संति ॥२७॥

अर्थ—जो साधु मूलगुणों का विघात करके वृक्षमूलादि अन्य बाह्य योगों को साधता है। उस मूलघाती के वे बाह्ययोग किसी काम के नहीं हैं।

पुनः कहा है—

वदसीलगुणा जम्हा भिक्खा चरिया विशुद्धिएठति।
तम्हा भिक्खाचरियं सोहिय साहू सदा विहारिज्जा ॥११२॥
भिक्खं वक्कं हृदयं सोधिय जो चरदि णिच्चसो साहू।
एसो सुटिठसाद्ध भणिओ जिणसासणे भयवं ॥११३॥

अर्थ—भिक्षा शुद्धि के होने पर ही व्रत शीलादि गुण तिष्ठते हैं। इसलिये साधु को सदा भिक्षाचर्या को शोधकर चलना चाहिये। टीकामें लिखा है कि "भिक्षाचर्या शुद्धिश्च प्रधानं चारित्रं सर्वशास्त्रसारभूतमिति।" भिक्षा की शुद्धि यह एक प्रधान चारित्र है और सकल शास्त्रों की सारभूत है ॥११२॥

जो साधु नित्य भिक्षा, वचन, और हृदय को शोधकर विचरता है। उसी को भगवान् ने जिन शासन में श्रेष्ठ साधु माना है ॥११३॥

इन उद्धरणोंसे सहज ही जाना जा सकताहै कि–जैन धर्मके आचार शास्त्रों में भिक्षा शुद्धि के लिये उद्दिष्टादि दोषों के टालने को कितना महत्व दिया गया है। जिसे कि आप मामूली समझते हैं। भिक्षा शुद्धि को अचौर्य व्रत की भावनाओं में भी गिनाया है। अतः उसकी अवहेलना से महाव्रत के घात का भी प्रसंग आता है। इसके सिवा मूलाचार अधिकार १० गाथा १८ में अचेलकादि दस प्रकार का श्रमणकल्प बताया है उसमें दूसरे नम्बर पर अनौद्देशिक भेद भी बताया है ये श्रमणों के लिंग= चिह्न बतायेहै इससे सिद्धहै कि–बिना उद्दिष्टादि त्यागके मुनित्व ही नहीं और इसीलिये उद्दिष्ट दोष को ४६ दोषों में प्रथम स्थान दिया है। आचार्य ने जगह-जगह इन दोषो से बचते रहने का निर्देश किया है देखो मूलाचार अ० ६ गाथा ४६। अध्याय १० गाथा १३, २५, २६, ४०, ५२, ६३, ११२, १२२। अध्याय ५ गाथा २१०-२१८। अध्याय ६ गाथा ७-८ आदि। इस तरह जब ये दोष ही नहीं, किन्तु महाव्रतादि मूल गुणों के घातक प्रखर दोष सिद्ध होते हैं तब ये अवश्य प्रायश्चित के योग्य हैं क्योंकि प्रायश्चित्त शब्द का अर्थ ही यह है कि—प्रायः यानी दोषों का चित्त यानी शुद्धीकरण। एक तरफ तो इन्हें दोष भी मानना और दूसरी तरफ प्रायश्चित्त के अयोग्य भी कहना यह परस्पर विरुद्धता है। किसी भी आचार्य ने इन्हें प्रायश्चित्त के अयोग्य नहीं बताया है क्या कोई दोष भी अङ्गीकार के लिए होते हैं? जब अङ्गीकार के लिए नहीं होते तो स्वतः ही ये दोष प्रायश्चित्त के योग्य सिद्ध होते हैं। जितने असंख्य विकृत परिणाम हैं, उतने ही प्रायश्चित्त भी होते हैं।

आपने जो उद्दिष्टादि दोषों को जान लेने पर भी उसकी शुद्धि प्रतिक्रमण से ही होजाना लिखा है वह भी मन कल्पित है,

प्रतिक्रमण कोई जादू का डण्डा नहीं है जो जानबूझकर निर्भय **हो रोज दोष** करते जायें, फिर भी उसके (मिच्छामि दुक्कडं) **पाठ मात्र से** दोष दूर हो जायें। प्रतिक्रमण तो दोष लगो चाहे न लगो करना ही पड़ता है वह तो नित्यनैमित्तिक क्रिया है **(देखो** मूलाचार अ० ६ गाथा ६१)। दोषों का प्रायश्चित्त आलोचन करके भी पुनः उन्हें करने वाले साधु के अधःकर्म वताया है और इहलोक परलोक की हानि बताई गई है (देखो मूलाचार अ० १० गाथा ३६)।

(२) आपने लिखा—वसतिका, पीछी, कमण्डलु आदि मुनियों के उद्देश्य से ही बनते है अतः मुनियों के उद्देश्य से आहारादि के बनने में कोई उद्दिष्ट दोष नही है। उद्दिष्ट का त्यागी मुनि होता है, श्रावक नहीं।

समीक्षा

आहारादि के बनाने मे मुनि का कोई योगदान हो इसे शायद आप उद्दिष्ट समझते हैं और इसी अभिप्राय से आप लिखते हैं कि—"उद्दिष्ट का त्यागी मुनि होता है श्रावक नही।" परन्तु उद्दिष्ट का यह लक्षण नहीं है। आहारादि के बननेमें मुनिका अनुमति आदि कोई भी सम्पर्क हो तो वह अधः कर्म दोष कहलाता है। यह दोष उद्दिष्टादि ४६ दोषों से अलग है। और वह मुनित्व का घातक महान् दोष है। आहारादि के बनाने में पंचसूना के द्वारा छह काय के जीवो की विराधना होना अधः कर्म कहलाता है।* ऐसा कार्य गृहस्थ ही करता है।

---

* जिस रसोई के बनाने मे त्रस जीवो का घात हो उसे आपने अधःकर्म कहा है। यह परिभाषा आपकी मनघढ़न्त है।

अगर ऐसा कार्य मन, वचन, काय, कारित, कृत, अनुमोदना से मुनि करे तो उसके अधः कर्म दोष लगता है। इसको ही नवकोटि दोष कहते हैं। (देखो आचारसार अ० ८, श्लोक १६) उद्दिष्ट दोष इससे जुदा है। उसकी गणना ४६ उद्गम दोषों में की है। उद्गमादि मिला कर कुल ४६ दोष होते हैं। नवकोटि की अशुद्धि यह ४६ दोषों से अलग है। मूलाचार में एषणा समिति का स्वरूप बताते हुए गाथा में ४६ दोष और नवकोटि की अशुद्धि दोनों टालने का उपदेश दिया है। (यह गाथा प्रस्तुत लेख में ऊपर उद्धृत की जा चुकी है) इससे सिद्ध होता है कि ४६ दोषों में वर्णित उद्दिष्ट दोष और नवकोटि दोनों भिन्न २ हैं। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि आहारादि के बनाने में मुनि का अनुमति आदि कुछ भी सम्पर्क होना उद्दिष्ट दोष नहीं है। वैसा करना तो अधः कर्म दोष होता है। तो फिर उद्दिष्ट दोष कौनसा है ? उसका स्वरूप निम्न प्रकार से बताया गया है :—

मूलाचार पिण्ड शुद्धि अधिकार गाथा ६-७ में जैन निर्ग्रंथ मुनियों को उद्देश्यकर यानी उनके निमित्त से बनाये गये आहार को उद्दिष्ट आहार माना है। उसको ग्रहण करने वाले मुनि के उद्दिष्ट दोष लगता है। कार्तिकेयानुप्रेक्षा संस्कृत टीका के पृष्ठ २८५ में उद्दिष्ट की व्याख्या ऐसी की है—"पात्र-मुद्दिश्य निर्मापितः उद्दिष्टः।" पात्र के उद्देश्य से बनाया उद्दिष्ट है।

इसका मतलब यह हुआ कि जिस आहार के बनाने में मुनि का मन, वचन, काय, कृत, कारित अनुमोदना सम्बन्धी चाहे कुछ भी लगाव न हो, उसको श्रावक ने अपनी ही इच्छा

से मुनियों के निमित्त बनाया है तो ऐसा आहार भी उद्दिष्ट दोष से दूषित माना जाता है और वह मुनियों के लिए त्याज्य होता है। कोई कहे—सभी मुनि मनः पर्यय ज्ञानी तो होते नहीं, उनको क्या मालूम कि दाता ने हमारे निमित्त से आहार बनाया है या नहीं बनाया है ? इसका उत्तर यह है कि एक यही नहीं दोष तो सभी प्रायः मालूम होने पर ही लगते हैं। मालूम होने पर भी आहार को न त्यागे तभी दोष लगता है। यह नहीं कि आम लोगों के सामने यह स्पष्ट होते हुए भी कि–अमुक चौके मुनियों के निमित्त से ही बनते और खुद मुनि भी अपने मनमें ऐसा ही जान रहे है फिर भी वे मुनि उसमें जीमते रहें और ऊपर से यह कहते रहे कि हमको क्या पता कि ये हमारे लिए बनाने है तो यह तो अपने को निर्दोषी बताने का ढोंग है। फल तो भावों का लगेगा। तथा अन्य निर्बाध हेतुओं से भोजन की उद्दिष्टता आदि स्पष्ट होते हुए भी नवधाभक्ति में दाता के यह कह देने मात्र से कि—"भोजन शुद्ध है।" उसे शुद्ध मान लेना यह भी दोषों के परिहार का मार्ग नहीं है।

मूलाचार पिण्ड शुद्धि अधिकार की गाथा ८ में लिखा है कि—"कोई श्रावक मुनि को देख कर उन्हें आहार देने के लिए अपने बनते हुए आहार में और भी जल तन्दुल आदि डालकर आहार को बढालें तो वह अध्यधि नामक दोष होता है।

इस कथन से और भी स्पष्ट हो जाता है कि श्रावक मुनियों के उद्देश्य से आहारादि बनावे तो वह सदोष आहार है। जिसका परित्याग मुनियों को करना पड़ता है कोई कहे—दोष तो यहाँ श्रावक ने किया, मुनि ने तो किया नहीं। इसका उत्तर यह है कि कोई भी करो आहार तो सदोष हो

गया। सदोष आहार को लेना मुनि के लिये निषिद्ध है। यदि ये दोष गृहस्थों तक ही सीमित होते तो एषणा समिति में इन को टालने का उपदेश मुनियों को क्यों दिया जाता? एक उद्दिष्ट ही नहीं बाकी के १५ उद्गम दोष भी तो श्रावक द्वारा लगते हैं तो क्या वे भी मुनियों के त्यागने योग्य नहो हैं? अन्तराय भी तो परकृत होते है फिर उन्हें भी नहीं टालना चाहिए? किन्तु ऐसी बात नहीं, परकृत होने पर भी दोष तो उन्हें ही लगता है जो इनका उपभोग करते हैं। जिस तरह विष का उपभोग करने वाले को ही मरण-दुख उठाना पड़ता है उसके बनाने वाले को नहीं। दोषों का करना गृहस्थ के ऊपर है तो उन्हे टालकर चलना तो साधु के हाथ में है अगर अपने अधिकार की बात में भी साधु प्रमाद करता है तो उसका दण्ड साधु को ही भुगतना पड़ेगा। ★ पद्मपुराण पर्व ४ श्लोक ६१ आदि में लिखा है कि—

भरतजी मुनि के अर्थ बताया भोजन लेकर समवशरण में गये और वहाँ मुनियों को जीमने के लिये प्रार्थना करने लगे।

★ मुनिधर्म प्रदीप (कुन्थुसागर कृत संस्कृत ग्रथ) पृ० ४४-४५ में एषणा समिति के वर्णन मे प० वर्धमानजी शास्त्री ने भावार्थ मे अधः कर्म और औद्देशिक दोष के लिए इस प्रकार लिखा है जो गृहस्थ अनेक जीवों की विराधना करने वाली जीविका करते हैं उनके यहाँ आहार लेना अधः कर्म दोष है। यह दोष पिण्ड शुद्धि को सबसे अधिक नाश करने वाला है॥ किसी देवता वा किसी दीन-दरिद्री के लिए बनाया हुआ आहार ग्रहण करना वा देना औद्देशिक दोष है। (मूलाचार से बिल्कुल विरुद्ध कथन हैं और आपत्तिजनक हैं)

तब भ० ऋषभदेव ने कहा "भरत ! मुनि उनके लिये बनाया उद्दिष्ट भोजन कभी ग्रहण नहीं करते और न यह आहार-दान की रीति है कि तुम भोजन यहाँ लेकर आगये"

इससे भी स्पष्ट है कि—मुनि के निमित्त बनाया भोजन उद्दिष्ट है ।
मूलाचार के उसी अधिकार में लिखा और भी देखिये—

जह मच्छयाण पयदे मदणुदये मच्छया हि मज्जंति ।
णहि मंडूगा एवं परट्ठकदे जदि विसुद्धो ॥६७॥

अर्थ—जिस प्रकार कोई मच्छियों को पकड़ने के लिये जल में ऐसी चीज डाल देता है जिससे मच्छियाँ गाफिल हो जावे तो उस मद-जल से मच्छियाँ ही गाफिल होंगी वहां रहने वाले मेंढक नही । उसी तरह जो भोजन जिन गृहस्थ कुटुम्बियों के निमित्त से बना है उससे उन्हीं को दोष लगता है । मुनि के निमित्त नही बनने से उसका लेने में मुनि को कोई दोष नहीं लगता है ।

इस उदाहरण से भी ग्रन्थकार का आशय यही प्रगट होता है कि—मुनियों के निमित्त से आहार नहीं बनना चाहिये । अगर उनके निमित्त से बनेगा तो उसका दोष भी वह आहार ग्रहण करने पर इन मुनियों को ही लगेगा ।

जो आपतियाँ मुनियों के उद्देश्य को लेकर बनने वाले आहार में उठती हैं वे ही सब आपत्तियाँ मुनियों के उद्देश्य से बनने वाले वसतिका-उपकरणादि में भी उठती हैं इसलिये मुनियों के लिये वसतिकादि भी उद्गमादि ४६ दोषों से रहित

ही ग्रहण योग्य मानी हैं। प्रमाण के लिये देखिये—

मूलाचार समयसाराधिकार में लिखा है कि—

पिंडं सेज्जं उवधिं उग्गम उप्पायणे सणादीहिं।
चारित्तरक्खणट्ठं सोधणयं होदि सुचरितं ॥१६॥

अर्थ—जो मुनि चारित्र रक्षा के लिये भिक्षा, वसतिका, उपकरणादि को उद्‌गम-उत्पादन-एषणादि दोषों से शोधता हुआ उपभोग करता है वह उत्तम चरित्रवान् होता है।

पिंडो वधि सेज्जाओ, अविसाधिय जो य भुंजदे समणो।
मूलट्ठाणं पत्तो, भुवणेसु हवे समण पोल्लो ॥२५॥
तस्स न सुज्झइ चरियं, तव संजम णिच्चकाल परिहीणं।
आवासयं ण सुज्झइ चिरपव्वइयो वि जइ होइ ॥२६॥

(**अर्थ**—जो श्रमण, भिक्षा उपकरण वसतिकादि को बिना परिशुद्ध किये उपभोग करता है वह गार्हस्थ्य को प्राप्त होता है, और तुच्छ निंदित श्रमण कहलाता है। उसके सब तप संयम आवश्यक कर्मादि सदा अशुद्ध ही रहते हैं चाहे चिर दीक्षित साधु ही क्यों न हो)

ऐसा ही भगवती आराधना की गाथा ११६७ में लिखा है। १६ उद्‌गम, १६ उत्पादन, और १४ एषणा ये ४६ दोष हैं जो आहार सम्बन्धी माने जाते हैं। ये ही ४६ दोष वसतिका सम्बन्धी भी होते हैं। वे वसतिका में किस तरह घटित होते हैं ऐसा विवेचन भगवती आराधना की गाथा २३० की विजयोदया टीका और आशाधरजी कृत मूलाराधना टीका इनदोनों टीकाओं

में किया है। भट्टारक शुभचन्द्र ने भी कार्तिकेयानुप्रेक्षा की गाथा ४४९ की टीका में वह प्रकरण विजयोदया टीका से उद्धृत किया है। उसका कुछ नमूना हम यहां हिन्दी में लिख देते हैं—

"जो मुनि छह काय के जीवों की विराधना करके कारीगर से खुद वसतिका बनाता है या दूसरों के मारफत कारीगर से बनवाता है। वह अधःकर्म से दूषित वसतिका समझनी चाहिये। जितने दीन अनाथ व अन्य तापसी आयेंगे अथवा निर्ग्रंथ मुनि आयेंगे उन सब के लिये यह वसतिका होगी इस उद्देश्य से श्रावक द्वारा बनाई गई वसतिका उद्दिष्ट दोष युक्त होती है। अपने लिये घर बनाते समय "यह कोठरी साधुओं के लिये होगी ऐसे खयाल से श्रावक द्वारा बनवाई गई वसतिका अध्यधि दोषयुक्त होती है।" इत्यादि

पं० आशाधरजी ने भी सागारधर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ४३ में अतिथि के लिये आहार, औषध, आवास-पुस्तक-पीछी आदि को ४६ दोषों से रहित देने को कहा है।

आपने लिखा 'पीछी, कमंडलु गरम पानी आदि वस्तुयें गृहस्थों के उपयोग में नहीं आतीं वे तो मुनियों के निमित्त ही तैयार करनी पड़ती हैं।" इसका उत्तर यह है कि— पीछी कमंडलु का उपयोग व्रती श्रावक प्रोषधोपवास मे करता है। और सचित्त त्यागी श्रावक गरम पानी को काम मे लेता है। गरम पानी तो गृहस्थ के यहां अन्य भी कई काम के वास्ते बनता रहता है। अतः ये लोग इन वस्तुओं को अपने लिये या अन्य साधर्मी व्रती श्रावको के काम मे आने के लिए तैयार रखते हैं उन्हीं में से मुनियों को दे देते हैं। सर्दी, गरमी, बरसात

में प्रोषधोपवास और सामायिक करने वाले श्रावक आराम से व्रत पाल सकें इस खयाल से गृहस्थ निर्जन एकांत स्थान में वसतिकायें भी बनवाते थे। उनमे मुनियों को ठहराते थे। वैसे मुनि तो शून्यागार, विमोचितावास, स्मशान गिरिकंदरादि में भी निवास करते हैं। इस तरह इन सब के ग्रहण करने में भी मुनियों के उद्दिष्ट दोष आने की सम्भावना नहीं रहती है।

आपने लिखा—"कोनूर में एक समय ७०० मुनि आये उन्हें बाधा होने पर राजा ने उसी समय ७०० गुफायें बनवाकर मुनियों की बाधा दूर की"। इस पर हम पूछना चाहते हैं कि–राजा भोज के पास क्या कोई जादू था जो उसने तत्काल एक दो नहीं किन्तु सात सौ गुफायें बनवा दीं और अगर जादू नहीं था तो जब तक गुफायें बनने में वर्ष महीने लगे तब तक क्या मुनि खड़े ही रहे? । इस तरह आपने अपने इस कथन से दि० मुनिचर्या (सिंह वृत्ति) का एक तरह से उपहास ही किया है।

आगे आप फिर इसी तरह लिखते हैं कि - तेरदालग्राम में हजारों मुनियों के निमित्त तत्काल हजारों वसतिकायें बनवाई गई थी आदि" उत्तर में निवेदन है कि हमें यह नहीं देखना है कि अमुक ने यह किया, वह किया। हमको तो मुख्यतः यह देखना है कि "शास्त्राज्ञा क्या है?" क्योंकि अविवेक-अज्ञान और शिथिलाचार कोई आज ही नया पैदा नहीं हुआ है यह तो अनादि से चल रहा है अतः किसी हीन उदाहरण (नजीर) को विधेय नहीं माना जा सकता विधेय तो शास्त्र-संमत क्रिया को ही माना जायगा।

(३) आपने लिखा— श्रावक अपने लिये आहार बनाकर उसमें से मुनि को देवे यह भी उद्दिष्ट ही है। उद्दिष्ट का

अर्थ ही यह है कि जो किसी के भी उद्देश्य से बनाया जावे।

समीक्षा

धन्य है महाराज आपकी अद्भुत सूझ को। खेद है कि शास्त्रों में आपकी सूझ से प्रतिकूल लिखा मिलता है। देखिये—अमितगति श्रावकाचार का यह पद्य—

परिकल्प्य संविभागं स्व निमित्त कृताशनौषधादीनाम्।
भोक्तव्यं सागारैरतिथिव्रत पालिभि नित्यम् ॥८४॥
[अध्या० ६]

अर्थ—अतिथि संविभाग व्रत के पालन करने वाले गृहस्थ श्रावकोंको अपने खुद के निमित्त बनाये हुये भोजन औषधादि में से सम्यक् विभाग को अतिथि के लिये देकर नित्य भोजन करना चाहिये। स्पष्टतः ऐसी ही पुरुषार्थ सिद्धयुपाय श्लो० १७४ में है। एवं इसी तरह का कथन पं० आशाधरजी ने भी सागारधर्मामृत अध्याय ५ श्लोक ४१—५१ में किया है। श्लोक-४१ की टीका में "अतिथि संविभाग" वाक्य की व्याख्या करते हुये वे लिखते हैं कि—

"अतिथेः सम्यक् निर्दोषो विभागः
स्वार्थ कृत भक्ताद्यंश दानरूपः।"

इसमें भी "दाता अपने खुद के लिये बनाये आहारादि में से शुद्ध अंश अतिथि को देवे।" ऐसा लिखा है।

अब चूड़ीवालजी बतावें कि हम आपकी बात मानें या शास्त्रकारों की ? आपने अपने कथन की पुष्टि में वीरनन्दि कृत आचारसार का यह प्रमाण दिया है —

यत्स्वमुद्दिश्य निष्पन्नमन्नमुद्दिष्ट मुच्यते ।
अथवा यान पाखंड दुबलानखिलानपि ॥२१॥
[अध्या० ८]

अर्थ—यह खास मेरे ही लिये बनाया है ऐसा मुनि को मालूम हो जाये तो वह अन्न उद्दिष्ट कहलाता है। अथवा सभी जैन साधु अन्य साधु व गरीबों के लिये बनाया अन्न भी उद्दिष्ट कहलाता है।

इस श्लोक में आये "यत्स्वमुद्दिश्य" का अर्थ आपने गृहस्थ के खुद के अर्थ बना आहार उद्दिष्ट है ऐसा किया है। ऐसा उत्सूत्र अर्थ करने वालो को हम क्या कहें? हम तो इसे कलिकाल का ही प्रभाव समझते हैं। आपका किया अर्थ अन्य किसी भी शास्त्र से मिलता नहीं है और न किसी प्राचीन या अर्वाचीन ग्रन्थकार ने ही ऐसा अर्थ किया है क्योंकि आचारसार ग्रन्थ मुनियों का है अतः वहाँ 'स्व' का अर्थ मुनि से ही है। वही आगे के श्लोक न० २२ में तो इसे बिल्कुल स्पष्ट ही कर दिया है देखिये—

" शुद्धमप्यन्न मात्मार्थ कृतं सेव्यं न संयतैः "

(शुद्ध भोजन भी अगर वह अपने लिए बनाया गया है तो मुनि उसका सेवन नहीं करे) हमारे इसी अर्थ का समर्थन ऊपर लिखे अमितगति और आशाधर के उद्धरणों से भी होता है आप तो कहते हैं गृहस्थ अपने निमित्त बना आहार मुनि को दे तो वह उद्दिष्ट दोष है। उधर शुभचन्द्र कार्तिकेयानुप्रेक्षा की संस्कृत टीका (पृ० २८५) में लिखते हैं कि—'पात्रमुद्देश्य निर्मापितः उद्दिष्टः।" पात्र के निमित्त से बना आहार

उद्दिष्ट है। इसका मतलब हुआ गृहस्थ अपने निमित्त बना आहार मुनि को दे तो उसमें उद्दिष्ट दोष नहीं है। कहिये चूड़ीवालजी आपका कथन प्रमाण माना जाये या शुभचन्द्र आदिका। राजा श्रेयांस ने भगवान् को आहार दिया था उस वक्त मुनिदान की प्रवृति न हुई थी। वह आहार श्रेयांस के कुटुम्ब के लिए ही बना बनाया तैयार रखा था उसे भगवान् ने लिया तो आपके सिद्धांतानुसार क्या भगवान् ने उद्दिष्ट आहार लिया ?

आपने लिखा—"कुन्दकुन्द स्वामी की गिरनारजी की यात्रा में सहस्रों श्रावक गाड़ी घोड़े डेरा तम्बू सहित साथ में गये थे रास्ते में साधुओं को दान देने के लिए चौके भी बनते थे। उन चौकों में साधु आहार भी लेते थे।" ऐसा लिखकर आपने यह अभिप्राय प्रगट किया है कि यह सब आडम्बर मुनियों के निमित्त से ही हुआ था। उत्तर में हमारा लिखना है कि–इस प्रकार का वर्णन कहां किसने कैसा लिखा है ? सो तो आपने बताया नहीं बताते तो हम उसकी प्रामाणिकता पर विचार करते। ऐसा सुनते हैं कि–कुन्दकुन्दाचार्य संघ सहित गिरनारजी गए थे वहां श्वेतांबरों से विवाद हुआ (देखो वृन्दावनजी कृत-गुरुदेवस्तुतिः संघ सहित श्रीकुन्दकुन्दगुरु, वंदन हेत गए गिरनार।) उस विवाद में उन्होंने पाषाण की बनी सरस्वती की मूर्ति में से ये शब्द बुलवाए कि—"सत्यमार्ग दिगम्बरों का है।" इस घटना का उल्लेख शुभचन्द्र ने भी पांडव पुराण में इस प्रकार किया है—

कुन्दकुन्दो गणी येनोर्जयंत गिरिमस्तके ।
सोऽवताद् वादिता ब्राह्मी पाषाण घटिता कलौ ॥१४॥

[प्रथमपर्व]

अर्थ – जिन्होंने इस पंचमकाल में गिरनारपर्वत के शिखर पर पाषाण निर्मित सरस्वती देवी को बुलवाया वे कुन्दकुन्दाचार्य मेरी रक्षा करें।

शास्त्रों में "चतुर्विधानां श्रमणानां गणः संघः" ऋषि,— मुनि यति अनगार ऐसे चार प्रकार के मुनियों का समुदाय संघ कहलाता है – ऐसी संघ शब्द की व्याख्या मिलती है। आचार्य कुन्दकुन्द भी इन चार प्रकार के मुनि संघ के साथ गिरनारजी गए होंगे। विष्णु कुमार मुनि की कथा में भी अकंपनाचार्य सात सौ मुनियों के संघ सहित उज्जयिनी मे आए थे ऐसा तो लिखा है पर यह नहीं लिखा कि— हजारों श्रावक गाड़ी घोडे डेरा तम्बू उनके साथ थे। अन्य भी मुनिसंघ की कथाओं में ऐसा वर्णन नहीं आता है।

हां अलबत्ता ऐसा हो सकता है कि नन्दिसंघ की गुर्वावली में कुन्दकुन्द की उपर्युक्त घटना का सम्बन्ध भट्टारक पद्मनन्दि के साथ लिखा है। कुन्दकुन्द का अपर नाम पद्मनन्दि भी है। अतः भ्रम से पद्मनन्दि की घटना को कुन्दकुन्द के साथ लगादी है। पाषाण की बनी सरस्वती को बलात् बुलाने से ही वे भट्टारक पद्मनन्दी शायद सरस्वती गच्छ के कहलाते हैं। इस नामका गच्छ कुन्दकुन्द के वक्त नहीं था। इन पद्मनन्दी का समय उक्त गुर्वावली में विक्रम सं० १३८५ से १४५० लिखा है। चूंकि ये भट्टारक थे इसलिए गाड़ी घोड़े डेरा तम्बू आदि की सम्भावना भी इनके साथ तो हो सकती है। परन्तु कुन्दकुन्द के साथ नहीं। *

---

* कुन्दकुन्दाचार्य के तो चारणऋद्धि थी जिससे वे विदेह क्षेत्र में सीमंधरस्वामी के समवशरण मे गये थे। अतः ऋद्धि के बल से ही वे

और यह कुन्दकुन्द का उदाहरण जो आपने दिया वह तो आपके मंतव्य के विरुद्ध पड़ता है। वह इस तरह कि वे श्रावक अपने किसी काम के निमित्त साथ में गए थे या मुनियों के काम के निमित्त ? दोनों ही हालतों में उद्दिष्ट होता है। क्योंकि आपने उद्दिष्टका लक्षण ही यह माना है कि–जो किसी के भी उद्देश्य से हो। अर्थात् आप एक तरफ तो यह कहते हैं कि –श्रावक अपने खुद के निमित्त बनावे तो वह भी उद्दिष्ट और मुनियों के निमित्त बनावे तो वह भी उद्दिष्ट। दूसरी तरफ कहते हैं—गरम पानी, वसतिका, पीछी, कमण्डलु आदि तो मुनियों के उद्देश्य से ही बनते हैं। आपके इन परस्पर विरोधी वचनों से आप डांवाडोल से नजर आते हैं।

(शास्त्र-विरुद्ध और मनःकल्पित अर्थ करने वालों की यही स्थिति होती है)

जब श्रावक अपने निमित्त भी नहीं बनायेगा और मुनियों के निमित्त भी नहीं बनायेगा तो उसके यहां आहारादि सब बिना उद्देश्य के ही बनते रहेंगे क्या। "प्रयोजनमनुद्दिश्य मदो पि न प्रवर्तते।" बिना प्रयोजन के तो मूर्ख भी काम नहीं करता है। श्रावक के घर मे कोई सचित्त त्यागी होगा तो उसके उद्देश्य से उसके लायक आहार नहीं बनेगा क्या ? और वह उसमें से मुनि को दान नहीं दे सकता है क्या ?

आपने लिखा "आर्यिका के लिए साड़ी, क्षुल्लकों के लिये लंगी आदि वस्त्रों की व्यवस्था श्रावक खास पात्रों के लिए

क्षणभर में गिरनारजी गये होंगे। उन जैसे महर्षि के लिए यह कहनाकि–गिरनार यात्रा में गाड़ी घोडे तम्बू डेरे आदि लेकर उनके साथ श्रावक गए थे, यह उन महर्षि का अवर्णवाद है।

ही करता है।" उत्तर—

तो हम क्या करें ? यह सब दूषित मार्ग है। शास्त्रों में तो इसे भी उद्दिष्ट दोष ही माना है। प्रमाण के लिये चारित्र-सार का यह उल्लेख देखिये—

"उद्दिष्ट विनिवृत्तः स्वोद्दिष्ट पिंडोपधिशयन-
—वसनादेर्विरतः।"

अर्थ—अपने निमित्त (पात्र के निमित्त) बनाए हुए भोजन, उपधि, शय्या वस्त्रादि का त्याग उद्दिष्ट त्याग प्रतिमा है।

इसका अर्थ यह नहीं कि इस काम में तो उद्दिष्ट दोष निश्चयत; आवेगा ही। यह काम भी उद्दिष्ट दोष से बचकर किया जा सकता है। गृहस्थ के यहां अपने खुद के उपभोग के लिए कपड़ों के थान पड़े रहते हैं उनमें से फाडकर साड़ी लंगोट चादर दिये जाने में कोई उद्दिष्ट दोष नहीं आता है। ये तो सिले हुए भी नहीं होते हैं जिससे कि उद्दिष्टकी सम्भावना की जा सके। मतलब कि जो कोई उद्दिष्ट को दोष माने और उस दोष को बचाकर पात्र दान करना चाहे तो उसके लिए कई रास्ते निकल सकते हैं। इसमें असम्भव कुछ भी नही है। पात्रदान के अभिलाषी श्रावकों को निर्दोष दान करने के साधन जुटाने में कोई मुश्किल नहीं है। बशर्ते कि वे दोषों को टालना अनिवार्य समझ लें तो।

प्रश्न—आज के वक्त में कोई मुनि तीर्थयात्रा करने को निकलें और रास्ते में श्रावक लोग उनके साथ चलकर उनकी आहार की व्यवस्था न करें तो मुनियों की तीर्थयात्रा ही नहीं

हो सकती है। क्योंकि रास्ते में ऐसे भी स्थान आते हैं जहाँ दूर-दूर तक जैनियों की बस्ती ही नहीं है ऐसे स्थानों में साथ में श्रावकों के चौके न हों तो कैसे काम चल सकता है ?

उत्तर—श्रावक लोग साथ में जावें और मुनियों को आहार दान भी देवें तब भी उद्दिष्ट दोष से बचा जा सकता है। सिर्फ परिणामों के बदलने की जरूरत है। बंध मोक्ष की आधारशिला परिणाम ही तो हैं। श्रावाक लोग इस खयाल को लेकर साथ में क्यों जावें कि "मुनियों को तीर्थ तक सकुशल पहुँचाने के लिए रास्ते में उनके वास्ते आहार बनाकर उनको देते जायेंगे।" किन्तु इस खयाल को लेकर साथ में जाना चाहिए कि—हमको भी तीर्थ यात्रा करना है। यह अच्छा हुआ जो मुनियों का साथ मिला। मुनियों का धर्मोपदेश सुनने का यह एक उत्तम अवसर प्राप्त हुआ है। इन मुनियो के प्रसग से तीर्थयात्रा का सब समय धर्म ध्यान में व्यतीत होगा। इस प्रकार के खयाल रखकर साथ जाने वाले श्रावकों की अगर उत्कट इच्छा पात्रदान देने की भी हो तो उन्हें भी नित्य शुद्ध भोजन करने का नियम ले लेना चाहिये卐 इससे उन श्रावकों को अपने खुद के लिए शुद्ध भोजन बनाना जरूरी हो जायेगा।

卐 वीरनन्दिआचार्यकृत "आचारसार" ग्रन्थ के अ० ५ श्लोक १०५ में—अव्रती के यहाँ आहार के लिए मुनि न जावे (व्रती के यहाँ ही जावे) ऐसा बताया है ऐसा ही अन्य अनेक शास्त्रों मे (मूलाचार प्रदीपादि मे) बताया है। व्रती के यहाँ आहारादि लेने पर अनेक उद्दिष्टादि दोषों से बचा जा सकता है। किन्तु आज प्रायः अव्रती के यहाँ ही आहार होने से अनेक दोष उत्पन्न हो रहे है।

और वही भोजन मुनियों को भी दिया जा सकेगा। इस रीति से मुनियों के साथ जाने और उन्हें आहारदान देने में कोई उद्दिष्ट दोष नहीं आ सकता है। जैन मुनियों को भक्ति पूर्वक निर्दोष दान देने से उत्तम भोग भूमि मिलती है। यह भोग भूमि इतनी सस्ती नहीं है जो किसी मनचले ने मुनि को कैसे भी आहार दे दिया और चट से भोग भूमि का टिकट मिल गया। इसके लिये भी दाता को त्याग और विवेक की बड़ी जरूरत है। आज तो इस दिशा मे गृहस्थों ने बड़ी उच्छृङ्खलता धारण कर रक्खी है। आज तो बिना तीर्थयात्रा के ही मुनियों के साथ रसोई का सामान लिए मोटरें घूमती हैं। और धनी लोग ऐसो मे पैसा लगाने को ही बड़ा पुण्य समझ रहे हैं। बलिहारी है कलिकाल की। अब तो मुनि के निमित्त आरंभ सारम्भ करना एक आम रिवाज सा हो गया है। मुनि भी उसका प्रतिवाद करते नहीं दिखाई देते हैं।

(४) आपने लिखा—किन्हीं खास मुनियों के उद्देश्य से न बनाकर मुनि सामान्य के उद्देश्य से बनाने में उद्दिष्ट दोष नहीं आता।

समीक्षा

ऐसा कहना भी उचित नही है। क्योंकि ऐसा कथन किसी आचार शास्त्र में कहीं देखने में नहीं आया है। बल्कि इसके विपरीत मूलाचार-पिण्ड शुद्धि अधिकार की गाथा ७ और उसकी टीका में स्पष्ट ऐसा लिखा है—

"ये केवल निर्ग्रंथाः साधवः आगच्छंति तेभ्यो सर्वेभ्यो दास्यामीत्युद्देश्य कृतमन्नं औद्देशिकं भवेत्।"

इसमें लिखा है कि—

"जो केवल निर्ग्रंथ जैनसाधु आयेंगे उन सबों के लिए देऊंगा ऐसा उद्देश्य करके बनाया भोजन औद्देशिक कहलाता है।"

यहां किसी व्यक्ति मुनि के लिए नहीं लिखा है। किन्तु सभी मुनि मात्र के लिए बनाए भोजन को उद्दिष्ट बताया है। ऐसा ही उद्दिष्ट का लक्षण भगवती आराधना में भी लिखा है। वह उद्धरण ऊपर हम वसतिका की चर्चा मे लिख आए है। इसी तरह हमने ऊपर आचारसार का पद्य उद्धृत किया है उसमें किसी एक खास मुनि के लिए और सभी मुनि मात्र के लिये दोनों ही के अर्थ बनाने को उद्दिष्ट बताया है। यदि मुनि सामान्य के निमित्त बनाये भोजनादि को अतिथि के लिए देना विधि मार्ग होता तो अमितगति और आशाधर यह नही लिखते कि—"दाता अपने लिए बनाए गए भोजनादि मे से अतिथि को दे।" ये उद्धरण भी ऊपर लिखे जा चुके हैं। इससे यही फलितार्थ निकलता है कि—दाता चाहे किसी खास मुनि के निमित्त से बनावे या मुनि समुदाय के निमित्त से बनावे दोनों ही हालतो में वह उद्दिष्ट है।

एक बात यही भी समझने की है कि—जैन मुनियों की सिहवृत्ति होती है। (देखो मूलाचार अ० ९ गा० २६ सिंहा इव नर सिंहाः) उनको आहार की उतनी परवाह नहीं रहती है। जितनी कि अपने आचार नियमों की रक्षा की रहती है। इसलिए कोई श्रावक यह समझकर मुनियों को आहार देता हो कि—आहार सदोष हो तो हो हमारे दिये आहार से मुनि भूखे तो नहीं रहेंगे। और उससे हम को भी पुण्यबन्ध होगा ही।

ऐसी समझ से जो सदोष आहार देते हैं वे परमार्थतः मुनियों का अहित तो करते ही हैं साथ ही दानविधि की परिपाटी भी बिगाड़ते हैं। इस से पुण्यबन्ध भी उनको कैसे हो सकता है ? अगर आचार नियमों का उल्लङ्घन करके भी मुनियों की बाधा मेट देने में ही पुण्योत्पादन होता हो तब तो शीतकाल में शीत की बाधा मेटने के लिये उन्हें कम्बल भी ओढा देना चाहिए।

यह ठीक है कि–मुनियों को आहारादि देना उनकी वैय्यावृत्य करना उनकी बाधा मेटना यह सब गृहस्थों का कर्तव्य है, गृहस्थों को करना चाहिए किन्तु करना चाहिए आचार शास्त्रों में लिखे दोषों को बचाकर।

अन्त में हमारा कहना है कि—उद्दिष्ट के विषय में शास्त्रकारोंका जो अभिमत है वह हमने इस लेखमें दिखाया है। उस अभिमत पर आप आपत्ति करते हैं कि—उद्दिष्ट का ऐसा स्वरूप मानने से तो आहार-औषध-वसतिका आदि दानों की व्यवस्था ही नहीं बन सकेगी। दान देना श्रावक का कर्तव्य है यह कहना ही निरर्थक हो जायेगा, मोक्षमार्ग ही बन्द हो जायगा।" आपकी इन आपत्तियों से यही समझा जायेगा कि आप शास्त्रकारों का खण्डन कर रहे है। खण्डन करते हुए आपने यही भी लिखा है कि–"उद्दिष्ट की ऐसी व्याख्या करना भारी अन्याय है, यह व्याख्या अनर्थकारी है। ऐसी व्याख्या करने वाले मोक्षमार्ग में रोड़ा अटकाते हैं वे मोक्षमार्ग के घातक मिथ्या दृष्टि हैं।" आपके ये प्रहार भी सीधे शास्त्रकारों के ऊपर ही पड़ते हैं। जिनका आपको खयाल होना चाहिये।

(१) शास्त्रों में पांच प्रकार के भ्रष्ट मुनि बताये हैं—

१ अवसन्न, २ पार्श्वस्थ, ३ कुशील, ४ संयुक्त और स्वच्छंद (यथाछंद)। देखो भगवती आराधना गाथा १९४९-५० इसकी विजयोदया टीका में स्वच्छंद मुनि के वर्णन में लिखा है :— उद्देशिकादि भोजनेऽदोष इत्यादि निरूपणापराः स्वच्छन्दा इत्युच्यते। अर्थात्—जो मुनि ऐसा कहते हैं कि—उद्दिष्टादि भोजन में कोई दोष नहीं है वे भ्रष्ट स्वच्छन्द मुनि हैं।

इस प्रमाण से उन सज्जनों को शिक्षा लेनी चाहिये जो उद्दिष्ट को कोई दोष ही नहीं बताने की स्वच्छन्दता करते हैं।

(२) पुरुषार्थ सिद्युपाय में अमृतचन्द्र सूरि ने भी अतिथि सविभाग के वर्णन में स्पष्ट लिखा है—कृतमात्मार्थं मुनये ददाति भक्त मिति भावितस्त्यागः ॥१०४॥

अर्थात्—श्रावक मुनि के लिये भोजन नहीं बनावे किन्तु अपने लिए बनाये गये भोजन में से ही मुनि को आहार दान दें।

(३) श्री चूडीवालजी ने जो यह लिखा कि—"गिरनार यात्रा मे कुन्दकुन्दाचार्य के साथ गाडी घोडे डेरे तम्बू आदि लेकर श्रावकगण गये थे, जो मुनियों के निमित्त आहारादि बनाते थे।

सो कुन्दकुन्दाचार्य के तो चारण ऋद्धि थी जिसके बल से वे विदेह क्षेत्र में सीमंधर स्वामी के समवशरण में गये थे ऐसा शिलालेखादि मे लिखा है अतः ऋद्धि के बल से ही वे क्षणभर में गिरनारजी गये होंगे। उनके निमित्त गाड़ी घोड़े लेकर श्रावक संघ के उनके साथ जाने की बात लिखना उन महर्षि का अवर्णवाद है।

(४) दोष के होने में उतनी हानि नहीं है जितनी दोष को दोष ही नहीं मानने में है। इससे भी ज्यादा हानि दोष को निर्दोष बताने के लिये शास्त्र विपर्यास करने में है किन्तु परिताप की बात है कि—यही सब कुप्रयास आज कुछ पंडित आदि कर रहे हैं। ●

लवण रहित–अलूणा आहार ही आजकल साधु लेते हैं यह भी स्पष्ट उद्दिष्ट दोष को लिए हुए है क्योंकि ऐसा आहार श्रावक मुनि के लिए ही बनाते हैं श्रावक कोई लवणरहित आहार खाते नहीं। शास्त्रों में तो अनेक जगह लवणयुक्त आहार करना ही साधुओं के लिए बताया है लिखा है कि– लवणादि छहों रसों से युक्त आहार कर सकते हैं, तृष्णा परिषह में बताया है कि–अधिक लवण आहार में हो जाने से अगर प्यास भी बढ़े तो साधु को उसे सहन करना चाहिए यह तृष्णा परिषह जय है ।। अठपहूस्या घी भी उद्दिष्ट दोष का उत्पादक होगया है। उसीतरह शहरों सर्वत्र नल का पानी है, कुए असुविधा कठिनता लभ्य हैं अतः यह भी समस्याजनक होगया है। मर्यादित शुद्ध दूध दही भी इसी स्थिति को लिए हैं। (अठपहस्या घी, कुए का जल, शुद्ध दूध दही आदि का अगर श्रावक भी उपयोग करे तो फिर भी कुछ उद्दिष्ट दोष से बचना हो सकता है सिर्फ मुनि जिनना ही प्रबंध करना तो मुनि निमित्त ही होने से उद्दिष्ट-दूषित है।



५४

पूज्यापूज्य-विवेक और प्रतिष्ठापाठ

जैन संदेश अंक (१ फरवरी ६८) में हमारा लेख नं० २ "सम्पादक जैन-दर्शन और प्रतिष्ठापाठ" शीर्षक से प्रकाशित हुआ था उसका सम्पादक— जैन दर्शन ने फिर कोई जवाब नहीं दिया किन्तु अभी १३-५-६८ के जैन दर्शन में एक लेख "क्या नमस्कार पूजा समान है" प्रकाशित हुआ है, जिस पर किसी का नाम नहीं दिया हुआ है फिर भी प्रकारान्तर से वह चांदमल जी चूड़ीवाल का सिद्ध है, लेख चाहे किसी का हो नीचे उस पर समीक्षा पूर्वक विचार किया जाता है :—

(१) लेख के प्रारम्भ में व्यर्थ की भूमिका बांधते हुए लिखा है —

"नमस्कार पूजा में बड़ा अन्तर है, नमस्कार पूज्य पुरुषों को ही किया जाता है किन्तु पूजा यथा योग्य हर एक की जड़ पदार्थ तक की भी की जा सकती है इसी से शास्त्रों में यथायोग्य देवादिकों की पूजा (सत्कार) करने का उल्लेख है। यथायोग्य सबका आदर सत्कार किये बिना लोक व्यवहार ही नष्ट हो जाता है। पूजा शब्द का अर्थ सत्कार करना है, सो सत्कार, नमस्कार पूर्वक तो पूज्य-पुरुषों का ही किया जाता है, अन्य का नमस्कार पूर्वक सत्कार नहीं किया जाता किन्तु बिना नमस्कार

के यथायोग्य सम्मान सबका किया जाता है यदि आज कोई वैद्य, डाक्टर, साधु सन्यासी, मुसलमान आदि है तो उनके पास हम जायेंगे या उनको घर पर बुलायेंगे तो उनका यथा योग्य सन्मान भेंट पूजा करनी पड़ेगी। यह लौकिक व्यवहार-शिष्टाचार है। ऐसा नहीं करने से व्रतों में और सम्यक्त्व में अवश्य हानि हो जाती है इसका कारण यह है कि– लौकिक व्यवहार का भी सम्बन्ध धर्म के साथ है।"

समीक्षा

नमस्कार भी पूजा—सत्कार की तरह सभी के लिये किया जाता है इसी से लोक में नमस्ते, ढोक (पावाढोक प्रणाम बोलते और लिखते हैं: अतः आपने जो नमस्कार केवल पूज्य (धार्मिक) पुरुषों के लिये ही बताया है वह गलत है। इसी तरह सत्कार (पूजा) पूर्वक नमस्कार भी लौकिक और धार्मिक (पूज्य) दोनों का होता है जैसे–डाक्टर साहिब को बैठने को कुर्सी देते हैं फीस भी देते हैं और साथ में हाथ भी जोड़ते हैं फिर आप लौकिक में नमस्कार पूर्वक सत्कार का निषेध कैसे करते हैं ? जिस तरह पूजा को लौकिक और धार्मिक दोनों में ग्रहण किया है उसी तरह नमस्कार तथा सत्कार पूर्वक नमस्कार भी लौकिक और पूज्य (धार्मिक) दोनों में होता है। इससे सिद्ध होता है कि आपकी परिभाषायें सब अधूरी और व्यर्थ हैं।

रागी द्वेषी देवों की पूजा करना आप लौकिक सत्कार बताते हैं तो फिर जैसा वैद्यादिक सत्कार में आपने लिखा है उसी तरह इन रागी द्वेषी देवों के यहाँ जाकर अथवा उन्हें अपने घरपर बुलाकर पूजा-सत्कार करिये किसी को कोई विशेष

आपत्ति नहीं किन्तु आप तो जिन मन्दिर में और जिन बिम्ब प्रतिष्ठादि धर्मकार्यों में इनकी पूजा करते हैं और वह भी अष्ट द्रव्यों से यह सब गलत पद्धति है और इसी से हमें विरोध है। देखिये स्वामी समन्तभद्र तो सम्यग्दृष्टि के लिये लौकिक धार्मिक सभी दृष्टि से कुदेव कुशास्त्र कुगुरु को नमस्कार और सत्कार तक का निषेध करते हैं।

भयाशास्नेहलोभाच्च कुदेवागम लिंगिनां।
प्रणामं विनयं चैव न कुर्युः शुद्ध दृष्टयः ॥

(अर्थ—भय, आशा, प्रेम, लाभ से भी कुदेव कुशास्त्र-कुगुरु को नमस्कार-सत्कार सम्यग्दृष्टि न करें।)

लौकिक सत्कार-व्यवहार नहीं करने से लौकिक कार्यों में हानि सम्भव है किन्तु आप व्रत और सम्यक्त्व में भी अवश्य हानि होना लिखते हैं. यह अत्यन्त गलत है धार्मिक मर्यादा और लौकिक मर्यादा अलग-अलग है और इसी को लेकर आपने पूज्य और अपूज्य की भेदरेखा खींची है, किन्तु आपने फिर वापिस दोनों को एक कर गुड़-गोबर कर दिया है। इतना ही नहीं, आपने लौकिक मर्यादा को धार्मिक मर्यादा से भी श्रेष्ठ बता दिया है इस तरह आपने धर्म पुरुषार्थ से काम पुरुषार्थ को श्रेष्ठ बताकर सारे जैन सिद्धांत को ही उलट कर रख दिया है। संसार को बढाना ही आपकी दृष्टि में सब कुछ है जबकि जैनाचार्य संसार से छुड़ाने का उपदेश करते है।

लौकिक सत्कार-व्यवहार के बिना आप व्रत और सम्यक्त्व में अवश्य हानि बताते है तो फिर लौकिक व्यवहार को ही पूर्णतया पालन करते रहना चाहिए इसी से निश्रेयस की

प्राप्ति हो जायगी, धर्माचरण की क्या जरूरत ? फिर तो क्षुल्लकादिक और महाव्रती मुनियों को भी आपके इस लोक-व्यवहार-सत्कार का पालन करना चाहिए अन्यथा उनके व्रत और सम्यक्त्व में अवश्य हानि हो जायगी। इस तरह गृहत्यागियों को भी आपने पुनः संसार में घसीटने का प्रयत्न किया है। आपके इस अपसिद्धांत ने तीर्थंकरों तक को अपने लपेटे में ले लिया है, क्योंकि तीर्थंकर गृहस्थावस्था में भी किसी को नमस्कार पूजा रूप लौकिक शिष्टाचार नहीं करते हैं। ऐसी हालत में क्या उनके सम्यक्त्व और व्रत में हानि हो जायगी ? कदापि नहीं। इस तरह आपका कथन अत्यन्त अविचारित रम्य सिद्ध होता है।

आपके महामान्य पं० आशाधरजी ने व्रती की बात तो जुदा दार्शनिक श्रावक तक के लिये रागीद्वेषी शासनदेवादि की पूजा का सर्वथा निषेध किया है और आप इस शासन देव पूजा-लौकिक सत्कार के बिना श्रावक के व्रत व सम्यक्त्व में ही अवश्य हानि होना बताते हैं। किस का कथन ठीक है आप ही बतायें ?

शासन देव पूजा की धुन में आपने कितना शास्त्र विरुद्ध लिख दिया है, इसका आपको कुछ ध्यान ही नहीं रहा है।

आपने किसी भी साधु-सन्यासी का सत्कार करना लौकिक-व्यवहार में लिखा है यह भी गलत और आपत्तिजनक है, क्योंकि वे साधु सन्यासी किसी (अजैन धर्म-सम्प्रदाय के प्रतिनिधि होते हैं) उनका पूजा-सत्कार गुरुमूढता में गर्भित होगा। आपने इस तरह लौकिक व्यवहार की धुन में गुरुमूढता का भी पोषण कर दिया है।

और इस गुरुमूढता को जो नहीं करता उसके व्रत और सम्यक्त्व में अवश्य हानि भी आपने बता दी हैं इससे "एक तो करेला कड़वा और फिर नीम चढ़ा" कहावत चरितार्थ हो गई है। इस तरह आपने देवमूढता (कुदेव पूजा) के साथ-साथ गुरुमूढता (कुगुरु पूजा) रूप मिथ्यात्व को भी विधेय बता दिया है इसमें क्या हित है? यह आपकी अद्भुत बुद्धि ही समझ सकती है हम तो इसे कलिकाल का प्रभाव ही समझते हैं। इस तरह सिद्ध होता है कि—पूजा का अर्थ सत्कार कर देने मात्र से रागी द्वेषी देवों और गुरुओं की पूजा विधेय नहीं हो सकती, क्योंकि एक तो अर्थ बदला नहीं है सिर्फ उसमें लघुता हुई है दूसरा क्षेत्र और पूजा-पद्धति वहीं धार्मिक है उसमे किंचित भी अन्तर नहीं है पूज्यत्व बुद्धि उसी तरह है। अतः जब तक धार्मिक मर्यादा रहेगी तब तक आपत्ति भी बनी रहेगी।

(२) आगे आप लिखते हैं "पं० आशाधरजी आदि का प्रतिष्ठापाठ प्रमाणी भूत नहीं है तो उन पाठों से प्रतिष्ठा कराई हुई प्रतिमा प्रमाणिक (पूज्य) है या नहीं?"

समीक्षा

किसी भी प्रतिमा पर यह नही लिखा रहता कि—यह प्रतिमा अमुक प्रतिष्ठा-पाट से प्रतिष्ठित है। अतः दि० वीतराग मूर्ति प्रमाणिक और पूज्य है। कुछ मूर्तियों पर तो साल सम्वत् कुछ भी नहीं लिखा रहता, फिर भी वे दि० वीतराग होने से पूज्य हैं। जो कुछ गलत-अशुद्ध क्रियाये और कुविधियाँ होती है उसका दोष प्रतिमा पर नही है। यह तो उन प्रतिष्ठाचार्यो और यजमान पर है और उसका कुफल भी उन्हें ही भोगना पड़ता है।

चतुः संघः-संहितया, जैनं बिम्बं प्रतिष्ठितम् ।
न पूज्यः परसंघस्य, यतो न्यास-विपर्ययः ॥१४॥

आपने परम मान्य इंद्रनन्दि के नीतिसार समुच्चय का जो यह श्लोक आपने अपने लेख में दिया है, उस पर से हम पूंछना चाहते हैं कि जिन मूर्तियों पर काष्ठासंघ, माथुर संघ स्पष्ट लिखा है [देखो भट्टारक सम्प्रदाय ग्रन्थ] वे मूर्तियां आपके लिये पूज्य और प्रमाणिक हैं या नहीं ? और माथुर संघादि के शास्त्र भी मान्य है या नही ? इंद्रनन्दि के अनुसार तो ये अपूज्य और अमान्य ठहरते हैं, किन्तु काष्ठा संघादि की मूर्तियाँ और माथुर संघी (नि.पिच्छक) अमितगति आचार्य के ग्रंथ सभी जैन जनता पूजती और मानती आ रही है। अतः अब आप ही बतायें कौन ठीक है ? और क्यों ?

(३) आगे आप फिर लिखते हैं—"रागी द्वेपियों की पूजा मुख की होती है अर्थात् तिलक कर देना, गले में पुष्पमाला पहना देना, पान-सुपारी नारियल आदि से सत्कार कर देना। यह तो सरागियों की पूजा हैं, किन्तु वीतरागियों की पूजा मुख की नहीं होती, उनकी पूजा चरणों की ही होती है। उनके मुख का तो केवल दर्शन होना है। अतः पूजा पूजा में बड़ा अन्तर है। जिनके चरणों की पूजा नहीं होती केवल मुख की पूजा होती है, उनमे पूज्यत्व बुद्धि नही रहती, क्योंकि वे सरागी हैं। इसलिए प्रतिष्ठा पाठों में जहाँ रागीद्वेषी देवों की पूजा का विधान है वहाँ पर उनको सन्तुष्ट रखने का ही अभिप्राय है। इसलिए कि वे प्रतिष्ठा महोत्सव मे स्वयम् उत्पात न करें और दूसरे करते हों तो उन्हें रोक दें। ऐसा न करने पर विघ्न उपस्थित हो सकते हैं। अतः आशाधरजी ने भी नवग्रहादि की

पूजा का विधान सन्मान की दृष्टि से ही किया है, नमस्कार-पूज्यत्व बुद्धि से नहीं। यदि उनका ऐसा उद्देश्य नहीं होता, वे उन देवों और सन्यासियों का सन्मान करने को क्यों लिखते? क्या वे उनको पूज्य समझते थे ? कदापि नहीं। सागार धर्मामृत में उन्होंने साफ लिखा है कि दार्शनिक श्रावक आपत्काल में भी शासन देवों की आराधना नहीं करता।"

समीक्षा

व्रत कथा कोश में मुकुट सप्तमी व्रत की विधि में श्रुतसागर ने और व्रत तिथि निर्णय ग्रन्थ [पृ० १६०-२३१] में सिंहनन्दि ने जिनप्रतिमा के गले में फूलों की माला पहिनाना और प्रतिमा के सिर पर फूलों का मुकुट बांधना लिखा है। आप बतायें यह सरागियों की पूजा है या वीतरागियों की ? और इनमें आपकी पूज्यत्व बुद्धि है या नहीं ? आपके कथन से श्रुतसागर-सिंहनन्दि का कथन विरुद्ध है अतः बतायें किनका कथन ठीक है ? और क्यों ?

दिग्पाल, नवग्रह, यक्षयक्षिणियाँ आदि जब आपके मत से भी सरागी है तो फिर इनकी मूर्तियाँ क्यों बनाई (प्रतिष्ठित कराई) जाती हैं और क्यों उनकी अष्ट द्रव्यों से पूजा की जाती है ? क्या यह सरागी पूजा नहीं है ? और जब यह सरागी है तो अष्ट द्रव्यों से उनकी चरण पूजा भी क्यों की जाती है ? आप तो सरागियों की चरण-पूजा नहीं बताते मुख-पूजा बताते हैं तो फिर अष्ट द्रव्यों से इनकी मुख-पूजा क्यों नहीं करते ? क्यों चरण पूजा करते हैं ? इस तरह आपके कथन और क्रिया में परस्पर विरोध है आपने जो यह लिखा कि—"वीतरागियों

की मुखकी पूजा नहीं होती सिर्फ चरणों की ही होती है" यह भी गलत है, क्योंकि भगवान् का सर्वांग ही पूज्य होता है। इसी से उनके सर्वांग का अभिषेक होता है [सिर्फ चरणों का ही नहीं] तथा उनके मस्तक पर तीनछत्र और मस्तक के पीछे भामण्डल लगाये जाते हैं और उन पर चमर ढोले जाते हैं और उनके मुख से निकली वाणी जिन वाणी के रूप से पूजी जाती है अतः वीतरागियों की सिर्फ चरण पूजा ही बताना अयुक्त है। इससे आपकी परिभाषायें सब बड़ी बेतुकी हैं यह सिद्ध होता है।

आप विघ्न निवारणार्थ प्रतिष्ठा में रागी द्वेषी देवों की स्थापना करना बताते हैं, तो फिर पुलिस चौकीदारों आदि का इन्तजाम क्यों किया जाता है ? शायद इसलिए कि पुलिस आदि से होने वाली सुरक्षा जहाँ प्रत्यक्ष है, वहाँ शासन देवों की तो कोरी कल्पना है। कल्पना के पीछे कौन अपना घर लुटाये, इससे जाना जा सकताहै कि-शासनदेवों में उनके भक्तों तक को कितना विश्वास है। किसी ने पूंछ पकडा दी सिर्फ इसीलिए अब उसे छोड़ना नहीं चाहते अथवा अविवेक के प्रकट होने का डर हो, बाकी निस्सारता तो सबके हृदय में स्पष्ट अंकित है। शासनदेव आते हुए दिखते नहीं, आह्वानन पूजन करने पर भी उन्होंने किसी प्रतिष्ठा में आकर विघ्न निवारण किया हो, ऐसा कहीं देखा नहीं गया। कुछ वर्षों पहिले धुआं [राजस्थान] ग्राम में पंचकल्याणक प्रतिष्ठा में ऐसा अग्निकांड हुआ कि देखते-देखते हजारों रुपयों के चन्दवे, डेरे तम्बू आदि जलकर राख हो गये किसी शासनदेव ने आकर कोई सहायता नहीं की जबकि वहाँ इन देवों की पूजा आराधना की गई थी। अतः सब प्रपंचों को छोड़कर एकमात्र पंच परमेष्ठी का ही आराधन करना चाहिये

जिनके स्मरण मात्र से सभी विघ्न और संकट नष्ट हो जाते हैं। कहा भी है—

> विघ्नौघा: प्रलयं यांति शाकिनी भूत पन्नगाः।
> विषं निर्विषतां याति स्तूयमाने जिनेश्वरे॥

आशाधरजी ने भी अनगार धर्मामृत में ऐसा ही कहा है, देखो अ०९ श्लोक २६।

अब रही शासनदेवों के स्वयं विघ्न करने की बात, सो वे तो जिनधर्मी होते हैं, वे स्वयं कैसे विघ्न कर सकते हैं? अतः आपका ऐसा लिखना भी गलत ही है!

आपने जो यह लिखा कि—"आशाधरजी ने रागी-द्वेषी देवों और सन्यासियों (कुदेव कुगुरुओं) की पूजा सन्मानकी दृष्टि से बताईहै नमस्कार पूज्य दृष्टिसे नहीं तो फिर आप प्रतिष्ठादि में नवग्रहादि अरिष्ट निवारणार्थ सभी अजैन सम्प्रदायों के साधुओं को बुलाकर उनकी पूजा क्यों नहीं करते? बतायें।

आशाधर जी ने रागी-द्वेषी देवों की पूजा के साथ उनके लिए नमस्कार भी लिखा है। देखो—प्रतिष्ठा सारोद्धार अध्याय ३ श्लोक ५९ और १९२ में क्रमशः अच्युता देवी और वायु (दिग्पाल) को 'प्रणौमि' शब्द से नमस्कार करना लिखा है। अध्याय ४ श्लोक २१६ में यक्षिणी को 'दुरित निवारिणी' लिखा है। अ० ६ श्लोक २५ के मन्त्र में नन्दा रोहिणी देवियों के लिए 'नमः' (नमस्कार करना) लिखा है। इसी तरह अधो और उर्ध्व दिशा के दिग्पाल नाग एवं ब्रह्म के लिए भी 'नमः' लिखा है।

अतः इससे इन रागी-द्वेषी देवों के लिए स्पष्टतः पूज्यत्व बुद्धि सिद्ध होती है और आपने जो वकालत की है, वह व्यर्थ है।

सचाई छिप नहीं सकती,
बनावट के उसूलों से ।
कि खुशबू आ नहीं सकती,
कभी कागज के फूलों से ।।

आशाधर जी ने अपने प्रतिष्ठा पाठ में—नवग्रहों की पूजा का फल जैनेतर विविध साधुओं की पूजा के माध्यम से बताया है, सो नवग्रह और जैनेतर साधुओं में परस्पर क्या तुक है ? नवग्रह संज्ञा भी जैनधर्म की नहीं । इस तरह आशाधर जी का यह सब कथन अजैन सम्प्रदाय का पोषक और कुगुरु पूजा रूप मिथ्यात्व को लिए हुए हैं । शायद आशाधरजी के ऐसे ही अयुक्त कथनों से ऊबकर नरेन्द्रसेन देव ने उन्हें अपने गच्छ से निकला था, जिसका उल्लेख 'भट्टारक सम्प्रदाय' में दिया हुआ है उसका पृष्ठ २५२ तथा प्रस्तावना पृष्ठ २१ देखो ।

ऐसी हालत में हमने जो एक प्रामाणिक प्रतिष्ठापाठ की आवश्यकता प्रकट की थी, वह समुचित है ।

आप लिखते हैं—आशाधरजी ने दार्शनिक श्रावक के लिए शासन देव पूजा का सर्वथा निषेध किया है, तो फिर जो प्रतिष्ठाचार्य प्रतिष्ठा कराते हैं उन्हें व्रत तो क्या अपने सम्यक्त्व तक को तिलांजलि देकर फिर प्रतिष्ठा करानी चाहिए क्या इसके लिए कोई तैयार है ? अगर किसी तरह कोई तैयार भी हो जाये तो ऐसे व्रत और सम्यक्त्व से हीन की प्रतिष्ठा कैसे मान्य होगी ? स्वयं आशाधरजी ने प्रतिष्ठाचार्य के लिए शुद्ध सम्यक्त्वी होना आवश्यक बताया है और वे ही प्रतिष्ठा में रागी-द्वेषी देवों की पूजा भी लिखते जाते हैं और ऐसी पूजा अव्युत्पन्न दृष्टि करता है, ऐसा भी लिखते जाते हैं(देखो प्रतिष्ठा

सारोद्धार अ० ३ श्लोक १२७, अ० ६ श्लोक ४३) इस प्रकार उनके कथन परस्पर विरुद्ध होगये हैं। शासन देव पूजा के उनके कथन की अयुक्तता निम्न प्रकार से भी सिद्ध होती है :—

(१) उनसे पूर्व वसुनन्दि श्रावकाचार के प्रतिष्ठा प्रकरण में पञ्चपरमेष्ठी के सिवा किसी भी रागी-द्वेषी देवों और कुगुरुओं का पूजा विधान नहीं है, अतः आशाधर का कथन पूर्वाचार्यों से विरुद्ध है।

(२) वसुनन्दि श्रावकाचार की गाथा ४०४ में पूजक को अपने में इन्द्र का सङ्कल्प करना बताया है, तदनुसार आशाधर ने भी मुख्य पूजक मे सौधर्मेन्द्र की स्थापना करना लिखा है। अब मुख्य पजक को सौधर्मेन्द्र मान लिया गया, तो वह यागमण्डल में अपने से निम्न श्रेणी के देवों की स्थापना कर और ३२ इन्द्रों में स्वयं अपनी भी स्थापना करके उनकी पूजा कैसे कर सकता है ? अतः आशाधर का पञ्चपरमेष्टी के सिवा अन्य कई देव-देवियों की स्थापना कर उनकी पूजा सौधर्मेन्द्र से कराना असङ्गत है इस तरह इन्द्र प्रतिष्ठा का विधान स्वयं उनकी कलम से निरर्थक होकर मखौल सा होगया है, जबकि वसुनन्दि का कथन सुसङ्गत है क्योंकि उन्होंने प्रतिष्ठा विधि में रागी-द्वेषी देवों को स्थान नहीं दिया है। भगवान के पूजक में इन्द्र की स्थापना से सिद्ध है कि पूज्य का स्थान इन्द्र से भी ऊँचा होना चाहिए और वे अर्हंतादि ही हो सकते हैं न कि व्यन्तरादि शासन देव जो इन्द्र से भी निम्न श्रेणी के हैं।

इस पर भी सरागी देवों की पूजा के लिए जब कुछ सज्जनों का दुराग्रह देखा जाता है तो भद्रबाहु चरित (रत्ननंदि कृत) के निम्नांकित श्लोक पर हमारी दृष्टि जाती है, उसमें

सम्राट् चन्द्रगुप्त के स्वप्नों पर भविष्यवाणी के रूप में एक स्वप्न का कुफल इस प्रकार बताया है :—

> भूतानां नर्तनं राजन्नद्राक्षी रद्भुतः ततः।
> नीच देव रता मूढाः भविष्यन्तीह मानवाः॥३८॥
> [अ० २]

अर्थ—हे राजन् जो तुमने भूतों का अद्भुत नृत्य देखा है उससे भविष्य में लोग सरागी देवों की पूजा कर मूढ़ बनेंगे।

ऐसा ही कथन आदि पुराण पर्व ४१ श्लोक ७१ में भरत चक्रवर्ती के दुःस्वप्नों का कुफल बताते हुए किया है।

(४) पुनरपि आप लिखते हैं :—

'आशाधर जी ने पूर्वाचार्यों के अनुसार ही कथन किया है देखो, आदिपुराण (पर्व २६ श्लोक १ तथा पर्व ३१ श्लोक ५३) में लिखा है— चक्रवर्ती ने चक्ररत्न की अष्ट द्रव्यों से पूजा की। पर्व ३९ में—बालक का जहाँ पर नाल गाढ़ते हैं उस भूमि की पूजा करके अर्घ चढ़ाना लिखा है।'

समीक्षा

इन सब कथनों में लौकिक दृष्टि से लौकिक कार्य सिद्धि के लिए लौकिक अङ्गों का पालन मात्र है, इनमें धार्मिक पूज्यता दृष्टि नहीं है। जबकि आशाधर जी की सरागी देवों की पूजा धार्मिक पूज्यता की दृष्टि से है, जैसाकि पूर्व में हम बता चुके हैं। अतः आपका यह सब लिखना भी गलत है। पर्व ३९ का जो आपने उल्लेख किया है, वह गलत है वह कथन पर्व ४० श्लोक १२१ से १२४ में है। उसमें कहीं भी 'पूजा अर्घ शब्द नहीं

है आपने जो पूजा करके अर्घ चढ़ाना लिखा है यह गलत है। यह सब कथन अन्य जन्म संस्कार क्रिया का है, जो लौकिक क्रिया है, अतः उसका प्रमाण व्यर्थ है।

आगे आप लिखते हैं—'(पर्व ४० में) आदिपुराण में—इन्द्राय स्वाहा, ब्राह्मणाय स्वाहा देव ब्राह्मणाय स्वाहा इत्यादि मन्त्रों से आहुति देना लिखा है'। समीक्षा सो यह भी लौकिक विवाह जात कर्मादि क्रियाओं के लिए है जो घर पर ही की जाती है। इसके सिवा इनमें कहीं भी नमः (नमस्कार) नहीं लिखा है सिर्फ स्वाहा सन्मानस्मरणार्थ है। ....'इन्द्राय स्वाहा, ब्राह्मणाय स्वाहा' ठीक ऐसे के ऐसे वाक्य महापुराण में किन्हीं भी मन्त्रों में नहीं दिये गये हैं; खैर! आशाधर जी ने प्रतिष्ठा ग्रन्थ में जो २४ यक्षयक्षियों, नवग्रह, दश दिग्पाल क्षेत्रपाल, रोहिणी जयादि देवियों की स्थापना कर पूजा करना लिखा है, इसमें से एक भी नाम जिनसेन के महापुराण में इन पीठिकादि मन्त्रों में नहीं पाया जाता है, अतः आपका आदिपुराण का प्रमाण देना गलत है।

(५) आगे आप फिर लिखते हैं:—कर्मकांड गाथा ६७१ में बताया है कि चामुण्डराय ने चैत्यालय के सामने ऊंचे स्तम्भ पर यक्ष की मूर्ति स्थापित की थी........। मङ्गलाष्टक श्लोक ४ में सरागी देव देवियों से मङ्गल कामना की गई है।

समीक्षा

गोम्मटसार की उक्त गाथा में यह भी लिखा है कि—वह यक्ष की मूर्ति सिद्धों के चरणों में शिर झुकाये हुए थी। इसी प्रकार जिन प्रतिमा के पार्श्वभाग में चमर लिये यक्ष-मूर्तियाँ होती हैं। ये सब सेवक रूप में है, स्वयम् पूज्य नहीं है, पूज्य

तो जिन मूर्ति है इसी प्रकार कुछ मूर्तियों पर गजारूढ़ इन्द्र कलश करते हुए पुष्पवृष्टि करते देव गण, दुन्दुभि बजाते किन्नर आदि उत्कीर्ण रहते हैं, ये सब जिनेन्द्र की महत्ता के द्योतक हैं और सब भगवान् के किंकर हैं। अतः यक्षमूर्ति का आपका प्रमाण अकार्यकारी है।

मंगलाष्टक का कर्ता कौन है ? किस वक्त की यह रचना है बतावें ? जब तक यह प्रमाणित नहीं होता, तब तक इस पर कैसे विचार किया जा सकता है ? आशाधरादि की मान्यता वाले किसी व्यक्ति की यह आधुनिक रचना मालूम होती है। इस तरह आपका यह उल्लेख भी अकार्यकारी है।

(३) अन्त में आप लिखते हैं :—जब तक किसी प्राचीन भण्डार में जयसेन प्रतिष्ठा पाठ की प्रति न मिल जाय तब तक इसकी प्रमाणिकता में सन्देह ही है, क्योंकि यह प्रतिष्ठा पाठ प्राचीन होता तो हर एक भण्डार में मिलता। इसके विषय में यह भी सुना जाता है कि किसी प्रतिष्ठा पाठ को हेरफेर कर के पं० जवाहरलाल जी शास्त्री और झूथालालजी ने मिल कर इसे बनाया है और इसका नाम जयसेन प्रतिष्ठापाठ रख दिया है।

समीक्षा

किसी ग्रन्थ की एक ही प्रति मिलने से वह अप्रामाणिक और अप्राचीन है, यह अद्भुत न्याय है। बहुत से ऐसे ग्रंथ हैं, जिनकी एक ही प्रति उपलब्ध है, क्या इसीसे वे अप्रामाणिक और अप्राचीन (आधुनिक) हो जायेंगे ? कदापि नहीं। जिसे जरूरत हो उसे दूसरी प्रतियों की खोज करना चाहिये। खोज करने का

परिश्रम तो किया जावे नहीं और अपने प्रमाद एवं अज्ञानता का दोष ग्रन्थ और ग्रन्थकार पर डाला जावे यह ठीक नहीं।

सम्पादक—जैनदर्शन तो जयसेन प्रतिष्ठापाठ को १२वीं शताब्दी का प्राचीन बताते हैं और आप आधुनिक। दोनों में कौन ठीक है? पहिले दोनों निर्णय करलें। आपने जो यह लिखा है कि पं० जवाहरलालजी और झूंथालालजी ने किसी प्रतिष्ठापाठ को हेर फेर कर इसे बनाया है तो इसके लिये आपके पास क्या प्रमाण है? किस प्रतिष्ठापाठ को हेर फेर कर बनाया है? उसका नाम बतायें? आप लोग कभी बाबा दुलीचन्दजी द्वारा कांटछांट किया हुआ लिखते हैं कभी क्या लिखते हैं इस तरह आप इस सद्ग्रन्थ का लोप करना चाहते हैं यह सब आपका कुप्रयास है। इस पर तुलसीदासजी का एक दोहा याद आ जाता है:—

हरित भूमि तृण संकुलित,
समुझि पड़े नहीं पंथ।
जिमि पाखंडि विवाद तें,
लुप्त होहिं सद्ग्रन्थ॥



५५

पं० जौंहरीलालजी रचित विद्यमान-विंशति तीर्थंकर-पूजा पर विचार

छपी हुई यह पूजा दो तरह की हमारे समक्ष मौजूद हैं। एक के कर्ता टौंक निवासी कवि थानसिंहजी अजमेरा है। यह पूजा वि० सं० १९३४ में बनी है और दूसरी के कर्ता कवि जौंहरीलालजी जयपुर वाले है। जिसको उन्होंने विक्रम सं० १९४९ में बनाई है। दोनों ही पूजायें हिन्दी छन्दों में लिखी गई हैं और भादवाके पर्यूषण में अक्सर पढ़ी जाती हैं। इनमें से थानसिंहजी कृत पूजा में तो विदेहक्षेत्रों के विद्यमान २० तीर्थंकरों के माता-पिता, चिह्न और जन्म नगरियों के नाम मात्र बताये हैं। किन्तु जौंहरीलालजी ने स्वरचित पूजा में ये सब बताते हुये जन्म नगरियों के नामों के साथ उनके स्थान भी लिखे हैं कि-अमुक नगरी, अमुक विदेह में सीता या सीतोदा नदी के अमुक तट पर स्थित है।

इन तीर्थंकरों का कोई विशेष चरित्र ग्रन्थ तो देखने में नहीं आया है। फिर न जाने इन पूजा-पाठोंमें उनके माता-पिता चिह्न आदिकों का कथन किस आधार पर किया गया है। खैर, बाधक प्रमाण में वे भी सब माने जा सकते हैं। परन्तु जौंहरी-

लालजी ने जो अपनी पूजा में इनके जन्म नगरियों का स्थान निर्देश किया है वह तो त्रिलोकसार आदि मान्य ग्रन्थों में वैसा लिखा नहीं मिलता है। जैसे कि उन्होंने दूसरे युग्मन्धर तीर्थंकर की जन्मनगरी विजया को सुदर्शन मेरु के पूर्व विदेह में सीता नदी के दक्षिण तट पर बताई है। किन्तु त्रिलोकसार में उक्त विदेह की सीता नदी के दक्षिण तट पर की ८ राजधानी नगरियों के जो नाम लिखे हैं उनमें विजया नाम की कोई नगरी ही नहीं है। जैसा कि उसकी निम्न गाथा से प्रगट है—

सुसीमा कुण्डला चेवापराजिद पहंकरा।
अंका पद्मावदी चेव सुभा रयणसंचया ॥७१३॥

अर्थ - सुसीमा, कुण्डला, अपराजिता, प्रभंकरा, अंका, पद्मावती, शुभा और रत्नसंचया। ये ८ नगरियें पूर्व विदेह की सीता नदी के दक्षिण तटपर हैं।

इनमें विजया नाम की कोई नगरी नहीं है। यह नगरी तो त्रिलोकसार में पश्चिम विदेह की सीतोदा नदी के उत्तर तटकी नगरियों में बताई है।

इसी तरह जौहरीलालजी ने पूजा में तीसरे बाहु तीर्थंकर की जन्म नगरी का नाम सुसीमा लिखा है और उसे पश्चिम विदेह में सीतोदा के दक्षिण तट पर बतायी है। यह नाम भी त्रिलोकसार में उक्त स्थान की नगरियों में नहीं है। जैसे—

अस्सपुरी सीहपुरी महापुरी तह य होदि विजयपुरी।
अरया विरया चेवय असोगया वीदसोगा य ॥७१४॥

अर्थ—अश्वपुरी, सिंहपुरी, महापुरी, विजयपुरी, अरजा, विरजा, अशोका, और वीतशोका। ये ८ नगरियें पश्चिम विदेह में सीतोदा नदी के दक्षिण तट पर जानना।

इनमें भी सुसीमाका नाम नहींहै। यह नाम तो पूर्वविदेह में सीता के दक्षिण तट की नगरियों में है देखो गाथा ७१३वीं।

इसके अलावा जौंहरीलालजी ने ५ वें संजातक तीर्थंकर की जन्म-नगरी का नाम अलकापुरी लिखा है। सो भी ठीक नहीं है। यह नाम तो त्रिलोकसार में किसी नगरी का ही नहीं है।

तथा जम्बूद्वीप स्थित मेरु के अलावा शेष ४ मेरु सम्बन्धी विदेह के तीर्थंकरों की जन्म-नगरियों के नाम भी जम्बूद्वीप के विदेह के क्रमकी तरह ही होने चाहिये थे। परन्तु जौंहरीलाल जी की पूजा में वह क्रम नहीं है।

इस प्रकार जौंहरीलालजी की पूजा का कथन त्रिलोकसार से भिन्न पड़ता है। इस विषय में जैसा कथन त्रिलोकसार में है वैसा ही त्रिलोकप्रज्ञप्ति, राजवार्तिक, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, हरिवंशपुराण, लोकविभाग और सिद्धांतसार (नरेन्द्रसेनकृत) में है। और वैसा ही लोकप्रकाश श्वेतांबर ग्रंथ में हैं। इस तरह जौंहरीलालजी की पूजा का कथन आचार्यप्रणीत उक्त सभी ग्रंथों के अनुकूल नहीं है। यह पूजा विक्रम सं० १९४९ में बनी है और बहुत ही आधुनिक है।

इस पूजा में ऐसा विरुद्ध कथन क्यों किया गया? इसका कारण ऐसा मालूम पड़ता है कि पूर्व पश्चिम विदेह में सीता सीतोदा के उत्तर दक्षिण तटों पर जिस क्रम से शास्त्रों में नगरियों का स्थान निर्देश किया है उसी क्रम के साथ सीमन्धरादि तीर्थंकरों की जन्म नगरियों को पूजा में बैठाया गया है, उसी से यह गड़बड़ी हुई है।

मेरुसे पूर्वमें सीता नदीका उत्तर दक्षिणतट और पश्चिम में सीतोदा का दक्षिण-उत्तर तट ये कुछ ४ स्थान विदेह में माने जाते हैं। इनका क्रम ऐसा है कि—सीता के उत्तर तट का पहिला स्थान, सीता के दक्षिण तट का दूसरा स्थान, सीतोदा के दक्षिण तट का तीसरा स्थान और सितोदा के उत्तर तट का चौथा स्थान ऐसे मेरु के प्रदिक्षणा रूप से चार स्थान शास्त्रों में विदेह के माने हैं। प्रत्येक स्थान में इस वक्त एक-एक तीर्थंकर मौजूद हैं। प्रत्येक स्थान में आठ-आठ देश होते हैं और प्रत्येक देश में एक-एक राजधानी नगरी होती है। प्रत्येक स्थान के ८ देशों की ८ नगरियों में से किसी एक नगरी में विद्यमान बीस तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकरों का जन्म हुआ है।

पं० जौंहरीलालजी ने या उनसे पूर्व और किसी कवि ने यह समझ लिया है कि जिस क्रम से विदेह में ४ स्थानों की स्थिति है उसी क्रम से उनमें सीमंधरादि तीर्थंकरों की नाम क्रम से जन्म-नगरियें हुई हैं। पहिला तीर्थंकर प्रथम स्थान की नगरियों में से किसी एक (पुण्डरीकिणी में) हुआ तो दूसरा तीर्थंकर दूसरे स्थान की नगरियों में और तीसरा तीसरे स्थान की नगरियों में व चौथा चौथे स्थान की नगरियों में होना चाहिऐ। इसी समझ के अनुसार उन्होंने पूजा में दूसरे तीर्थंकर युग्मंधर की जन्म-नगरी विजया की दूसरे स्थान सीता के दक्षिण तट पर लिख दी है और तीसरे तीर्थंकर बाहु की जन्म-नगरी सुसीमा को तीसरे स्थान सीतोदा के दक्षिण तट पर लिखी है।

इस प्रकार उन्होंने ऐसा लिखकर तीर्थंकरों और उनकी जन्मनगरियों का स्थान क्रम तो बैठा दिया किन्तु ऐसा पूर्वाचार्यों के प्रतिकूल पड़ेगा यह ख्याल उनको नहीं आया। अयोध्या को

उन्होंने पूजा में चौथे स्थान में चौथे तीर्थंकर सुबाहु की जन्मनगरी बताई है। यहां नगरी में ही गलती की गई है क्योंकि यह नगरी सीतोदा के उत्तर तट पर है, इसी तट पर विजया नगरी है जो पूजा में युग्मंधर तीर्थंकर की पहिले जन्म नगरी बताई जा चुकी है। एक ही तटपर दो तीर्थंकरों की दो जन्म नगरियें नहीं हो सकती हैं। क्योंकि विद्यमान २० तीर्थंकरों में से किसी एक तीर्थंकर का जन्म एक ही तट पर हुआ करता है ऐसा शास्त्र नियम है।

पूजा में जो नगरियों के नाम (अयोध्या को छोड़कर) और उनके साथ तीर्थंकरों के नाम लिखे हैं, उनको हम यदि सही मानकर चलें तो शास्त्रानुसार प्रथम सीमन्धर स्वामी की जन्म नगरी पुण्डरीकिणी नगरी सीता के उत्तर तट पर है जिस पर तो कोई विवाद ही नहीं है।

दूसरे युग्मंधर की जन्म नगरी विजया को सीतोदा के उत्तर तट पर माननी होगी। तीसरे बाहु की जन्म नगरी सुसीमा को सीता के दक्षिण तट पर माननी होगी और शेष बचा सीतोदा का दक्षिण तट उस पर चौथे तीर्थंकर सुबाहु की जन्म नगरी (वीतशोका) माननी होगी। सरित् देश में वीतशोका का उल्लेख उत्तरपुराण पर्व ६२ श्लोक ३६ में आचार्य गुणभद्र ने भी किया है। बाकी १६ तीर्थंकरों की जन्म नगरियें और उनके स्थान भी इसी तरह इसी क्रमसे व बाकी ४ मेरु सम्बन्धी विदेहों में समझ लेना चाहिये।

विनयविजय कृत संस्कृत के लोकप्रकाश नामक श्वेतांबर ग्रन्थ के सर्ग १७ श्लोक ३५, ३६, ५२, ५५ में सीमंधरादि ४

तीर्थंकरों का स्थान क्रमशः पुष्कलावती, वप्र, वत्स और नलिनावती (दिगम्बर ग्रन्थों में इसकी जगह सरित् नाम लिखा मिलता है) इन ४ देशों में बताया है। इन्ही ४ देशों की ४ राजधानियों के नाम क्रमशः पुण्डरीकिणी, विजया, सुसीमा और वीतशोका है जो इस लेख में ऊपर लिखी गई हैं। ये चारों नगरियें और चारों देश पूर्व-पश्चिम विदेह में सीता के उत्तर-दक्षिण तट और सीतोदा के दक्षिण-उत्तर तट पर देवारण्य व भूतारण्य की वेदी के पास के स्थानों पर हैं।

इस प्रकार पं० जौंहरीलालजी कृत विद्यमानविंशति तीर्थंकर पूजा में तीर्थंकरों की जन्मनगरियों के जो स्थान बताये गये हैं वे स्थान चाहे जौंहरीलालजी ने खुदने कल्पना करके लिखे हों या उनसे पूर्व के किसी अन्य ग्रन्थकार ने लिखे हों, यह तो निश्चित है कि उनका ऐसा लिखना पूर्वाचार्यों के ग्रन्थों से मेल नहीं खाता है।

अतः वह उपेक्षा के योग्य है। हां अगर स्थान क्रमकी अपेक्षा से तीर्थंकरों के नामों का क्रम माना जावे यानी पहिले स्थान में पहिला तीर्थंकर दूसरे स्थान में दूसरा तर्यंकर इस तरह सीमन्धरादिकों का क्रमवार होना माना जावे तो पूजा मे लिखी उनकी जन्मनगरियों के नाम गलत मानने पड़ेगे। चाहे पूजा में लिखे नगरियों के स्थान गलत हों या नगरियों के नाम गलत हों, दोनों में एक गलत जरूर है।

भारतवर्षीय दि० जैन संघ के
वर्तमान में उपलब्ध प्रकाशन

१.	कसाय पाहुडं भाग १	२४)
२.	,, ,, २	प्रेस में
३.	,, ,, १०	२४)
४.	,, ,, ११	२४)
५.	,, ,, १२	२४)
६.	,, ,, १३	२४)
७.	,, ,, १४	४०)
८.	,, ,, १५	५५)
९.	,, ,, १६	३०)
१०.	जैनधर्म	१६)
११.	तत्वार्थ सूत्र	१५)
१२.	ईश्वर मीमांसा	१०)
१३	सत्यार्थ दर्पण	५)
१४	विराग काव्य	२)
१५	रत्नावली भाग २	३०)
१६.	चारुदत्त चारित्र	१)
१७	रिलीजन एण्ड पीस (अंग्रेजी)	७)

नोट– ३००) के आर्डर पर २५ प्रतिशत छूट। पोस्टेज, पैकिंग व रेलभाड़ा अतिरिक्त।

कार्यालय :
भारतवर्षीय दि० जैन संघ
चौरासी मथुरा
(उ० प्र०) २८१००४
फोन : ६७११

॥ श्रीः ॥

ग्रन्थ-संशोधन

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
२७	प्रारम्भ	मुक्ति का	भक्ति का
५६	१७	वेही	वैसे ही
६१	प्रारम्भ	४	५
६२	६	तको	तक
७१	२४	इस म	इस सब
७२	१७	श्वभ्रया	श्वभ्राया
८४	१	जनमुनियो	जैन मुनियो
८५	५	के केई	केई
६१	२१	विमेंषय	विषय मे
६७	प्रारम्भ	६	९
६७	६	अघक	अधिक
१००	१३	वा० मा०	चा० सा०
१०४	प्रारम्भ	७	८
११६	१६	आपु	आयु
११६	प्रारम्भ	८	६
१२४	टिप्पणी	पचवर्ष	पचवर्ष
१२५	१४	मूलाबार	मूलाचार
१२६	प्रारम्भ	६	१०
१२६	२	भेटने	मेटने
१२७	७	आश्वासर	आश्वास २

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१३०	७	गृहस्थे के	गृहस्थ के
१३०	१६	क्रियाकों	क्रियाओं
१३०	१७	स्यदतः	स्यादतः
१३१	१८	श्रवकों	श्रावकों
१३२	६	बक	बव
१३६	२३	दीघ	दीर्घ
१४६	प्रारम्भ	जैनधमं	जैनधर्म में
१६०	११	महति भु जञ्येत्	महनि भु जेञ्चेत्
१६६	१५	आदि देवी को	आदि देवो
१६७	९	जिनच द्रादि	जिनचन्द्रादि
१६७	१८	किन्न अकुरा	कि अंकुरा
१६८	६	इन्द्रनंदी के	इन्द्रनंदी इनको
१७२	१४	भावसेन ने	भावसेन के
१७३	३	लेखों से	लेखन से
१७३	४	नवन में	नव वन में
२१२	टिप्पण १	बनने का	बनाने का
२१७	७	हितषिणा	हितैषिणा
२५६	१६	अन्न में	अन्त में
२७३	६	पउम चरिय	पउम चरिय में
२७७	टिप्पणी	तीनों पंक्तियां	×
३२०	टिप्पणी	卐	卐 अमर कोष कांड ३ वर्ग १ श्लो० ३६ "नग्नो-ऽवासा दिगंबरः" में नग्न आदमी के ३ नाम दिये हैं ये नाम बहरे गूंगे तिरस्कृत

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
			आदमियों के नामों के बीच में दिये हैं। अगर अमरकोश के कर्त्ता दि० जैन होते तो वे नग्नता (दि० त्व) की ऐसी अवमानना कभी नहीं करते।
३२८	२३	भारतीत	भारतीय
३६४	२०	पातंजाप	पातजल
३६४	२२	अमतचन्द्र	अमृत चन्द्र
४०१	२३	उसने	उससे
४२२	अन्तिम	वैज्ञानिक के	वैज्ञानिकों के
४३७	२४	देखिये–	×
४७५	१०	कल	काल
४७७	२३	मधुर	मधुरं
४७७	२३	दोषेरपेन	दोषैरपेत
४७८	२	सम सम	सम
,,	,,	जन	जैन
४७६	१	तियम्	तिर्यग्
४७६	१२	सज्ञा	संज्ञी
४८०	६	तदनतरं च	तदनंतर च
४८०	१८	आक्षर	साक्षर
४८२	टिप्पणी	सग्रह	धर्मसंग्रह
४८३	२	सर्वत्र के	सर्वज्ञ
४८३	५	सवज्ञस्य	सर्वज्ञस्य
४८४	६	त्यात्	स्यात्
४८४	१३	ग्रहस्थावस्था	गृहस्थावस्था

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४८६	१७	प्रतिमाधारी	प्रतिमाधारी
४६३	२०	बध	बंध
५०३	१५	तक	तर्क
५०६	४	पचास्तिकाय	पंचास्तिकाय
५०७	३	शांत	सान्त
५०७	१६	यथात्ययं	यथात्यन्तं
५०७	२१	चले हुए	जले हुए
५१७	प्रारम्भ	सभी	कभी
५१६	,,	,,	,,
५१७	८	खडिताः	खंडिताः
५१६	२	समत	समंत
५२०	१५	जनपत्रों	जैनपत्रों
५२२	६	कवि के	कवि ने
५२२	२०	एक एक	एक
५३६	४	प्रति पत्रि	प्रतिपत्ति
५४४	१४	समिदा	समिदी
५४८	६	वराग्यस्य	वैराग्यस्य
५६२	६	अकेलक	अचेलक
५६२	१४	गवेपक	गवेषक
५६३	१६	विशेष और	विशेष अन्तर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
५६४	११	किये हैं	दिये हैं
५६७	१७	प्रस्तुतः	प्रत्युतः
५६८	४	पालनको	×
५६८	२३	बनाने	बनाये
५८८	३	चतुर्थ ६३ षष्ठ अनु	चतुर्थ भक्त षष्ठ भक्त
५८९	२१	सेउ	उसे
५९६	१२	तागर	सागर
५९६	१७	सत्यमजु	सत्यभक्त को
६१९	२२	ठोरते हैं	ढोरते हैं
६१९	२३	रसानिब	रसानिव
६२१	अंतिम	मोक्षमार्ग प्रकाशक पृ.	मोक्षमार्गप्रकाशकपृ.१६४
६५८	टिप्पण ३	बताते हैं	बनाते हैं
,,	,, ८	तय है ॥ अठपहस्या	जय है ॥ अठपहर्‌या
,,	,, ९	शहरों	शहरों में
,,	,, ११	अठ पहस्या	अठ पहर्‌या
६६२	अन्तिम	पायण	पोषण
६६४	१	संघः	सघः
६६४	३	आपने	अपने
६६८	१२	निकला था	निकाला था
६६९	१०-११	पजक	पूजक
६७७	११	तीर्थंकरों का	तीर्थंकर का

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७६	१७	दूसरा तर्थंकर	दूसरा तीर्थंकर
६८०	१७	१५ रत्नावली	१५ जैन निबन्ध रत्नावली
६८०	१८	चारित्र	चरित्र

नोट :– ये थोड़ी सी गलतियां जो सरसरी तौर पर नजर आई हैं संशोधन में वे ही दी गई हैं। प्राकृत संस्कृतादि श्लोकों की तथा अनुस्वार विसर्ग, मात्रा, रेफा, कॉमा फुलस्टॉप, आदि की अन्य बहुतसी गलतियां हैं सुज्ञ पाठक ध्यान से अध्ययन करें।

—रतनलाल कटारिया



मंगलम्

जयंति त्रिजगद्व्याप्तमिथ्यात्वध्वान्तनाशिनः ।
श्रीवर्द्धमानतीर्थेशाः केवलज्ञानभास्कराः ॥१॥
प्रमाणनयनिर्णीत - वस्तुतत्त्वमबाधितम् ।
हितावह समीचीनं युक्तिमज्जिनशासने ॥२॥
कालदोषादभूत्तत्राऽपसिद्धांतविवेचना ।
युक्त्यागमविरुद्धा च विपरीतक्रियापरा ॥३॥
पक्षव्यामोह–संग्रस्ताः केचित् पण्डितमानिनः ।
यथामत्यार्हतीं वाणीमाहुः श्रद्दधतेऽपि च ॥४॥
अनाकलय्य सत्यार्थं सन्मार्गस्य विडंबनाम् ।
कृत्वैके जैनजनता-मतिं विभ्रमयन्ति च ॥५॥
सत्यासत्य-विवेकायोद्धृत्य सूक्तिसुधारसम् ।
जिनापचन्द्रः शास्त्राब्धेर्व्यतरच्चैत्किमद्भुतम् ॥६॥
सत्पथ-प्रचलनाय किचना–ऽलेखि विज्ञजनसम्मत मतम् ।
तज्जिनेन्द्रनयमिर्णिनीषवो विज्ञगोष्ठिषु विमृश्य तन्वताम् ॥७॥
शास्त्रार्थ-नवनीतेनाऽनेन नूताऽस्तु भारती ।
सतां दृग्ज्ञानचारित्रदायिनी वरदायिनी ॥८॥
मंगलं भगवान् वीरो, मंगलं जिनभारती ।
मंगलं साधवो नित्यं, मंगलं धार्मिका जनाः ॥९॥

